श्रीमद् तारण स्वामी विरचित

(वि.सं. १५०५ - १५७२)

श्री तारण तरण श्रावकाचार

भाषा टीकाकार :

जैनधर्म भूषण धर्मदिवाकर ब्र. सीतलप्रसादजी

प्रकाशकः

श्रीमती इन्द्राणी बहू, भोगाबाई, कस्तूरीबाई समैया ट्रस्ट

सागर - ४७०००२ (म. प्र.)

"वंदे श्री गुरु तारणम्"

।। शुभकामना ।।

सोलहवीं शताब्दी के महान् आध्यात्मिक संत श्रीमद् जिन तारण तरण मंडलाचार्य महाराज ने भगवान जिनेन्द्रदेव की वाणी को तात्कालिक प्रचलित भाषा में १४ ग्रन्थों की जनकल्याण हेतु रचना की थी। उन ग्रन्थों में से ९ ग्रंथों की टीकायें (श्री पंडित पूजा, श्री मालारोहण, श्री कमलबत्तीसी, श्री तारण तरण श्रावकाचार, श्री चौबीस ठाणा, श्री त्रिभंगीसार, श्री ज्ञान समुच्चय सार, श्री उपदेश शुद्ध सार तथा श्री ममलपाहुड़, भाग - १,२,३) जैनदर्शन के प्रकांड विद्वान एवं दिगंबर जैन परिषद के संस्थापक धर्मदिवाकर श्रद्धेय ब्र. सीतलप्रसादजी ने आज से ५० वर्ष पूर्व की थी, जिनका प्रकाशन श्री तारण तरण दिगंबर जैन समाज, सागर की ओर से किया गया था। शेष पांच ग्रंथों की टीकायें नहीं हो पाई थीं।

कालांतर में इन पांच ग्रंथों (श्री छद्मस्थ वाणी, श्री नाममाला, श्री खातिका विशेष, श्री सिद्ध स्वभाव और श्री शून्य स्वभाव) की टीकायें अथक् परिश्रम, लगन एवं गहन अध्ययन और चिंतन के बाद वाणीभूषण, समाजरत्न ब्र. जयसागरजी महाराज ने की। परम सौभाग्य की बात है कि श्रद्धेय ब्र. जी महाराज ने हमारे परिवार एवं तारण तरण समाज सागर की प्रार्थना को स्वीकार करके सागर में दो चातुर्मास वर्ष १९९० एवं ९१ में किये, फलस्वरूप उपरोक्त पांच ग्रंथों की टीकाओं का प्रकाशन भी उनके मार्गदर्शन में हुआ, जिसका गौरव श्री भगवानदास शोभालाल पारमार्थिक संस्थान, सागर को है, जिनका आकर्षक मुद्रण भी महावीर प्रेस, वाराणसी में हुआ, ये सभी ग्रंथ धर्मप्रेमियों को उपलब्ध हैं।

वर्तमान में श्री तारण तरण श्रावकाचार ग्रंथ का शास्त्र भंडार में अभाव होने से धर्म जिज्ञासुओं की बढ़ती हुई अभिरुचि की पूर्ति हेतु यह द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो रहा है, जिसका प्रकाशन श्री तारण तरण दि० जैन चैत्यालय ट्रस्ट कमेटी एवं श्रीमती इन्द्रानी बहु, भोगाबाई, कस्तूरीबाई समैया ट्रस्ट सागर द्वारा हो रहा है। ट्रस्ट कमेटियों के अंतर्गत जो शास्त्र-प्रकाशन का यह महत्वपूर्ण कार्य हो रहा है, यह अनुकरणीय एवं प्रशंसनीय कार्य है।

आशा है जैनागम के प्रतीक इन आध्यात्मिक ग्रंथों का स्वाध्याय करके धर्मप्रेमी मुमुक्षुजन आत्मकल्याण के मार्ग में अग्रसर होंगे।

सादर मंगलकामनाओं के साथ,

भवदीय

दिनांक १ अप्रेल १९९२

डालचन्द जैन

पूर्व सांसद चमेली चौक

सागर -४७०००२ (म. प्र.)
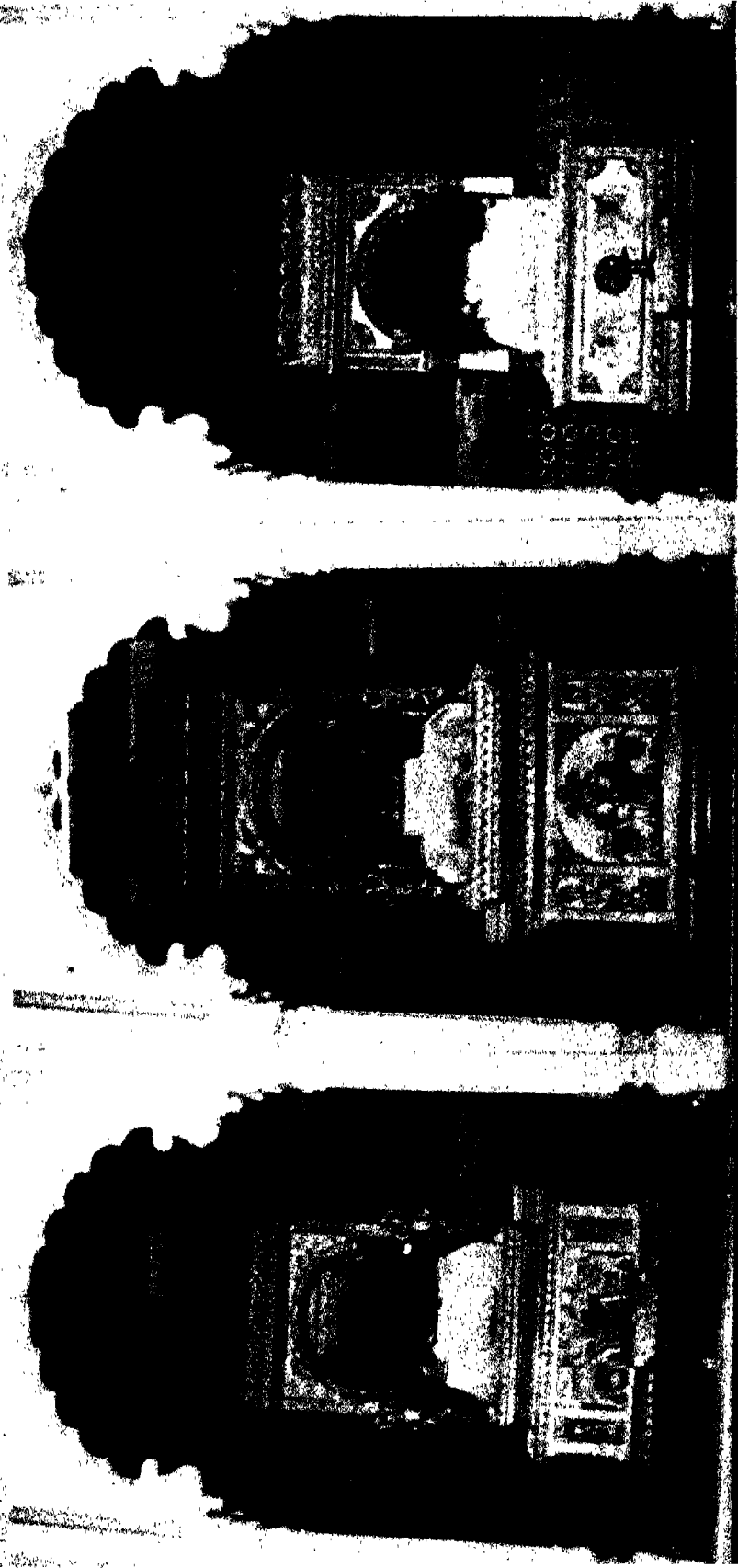
|| ॐ ||

दान की श्रेष्ठता से परमार्थवृत्ति

(ग्रन्थ प्रकाशनकर्त्ता का संक्षिप्त परिचय तथा प्रकाशकीय अभिव्यक्ति)

श्री गुरु महाराज के अनुयायी भक्तों की श्रेणी में सागर निवासी श्रीमान सेठ नन्हेंलालजी समैया का महत्वपूर्ण स्थान था। इनका कपड़े का व्यापार था। ये समाजसेवी, उदारहृदयी एवं धर्मात्मा व्यक्ति थे। इनकी मात्र चार संतान थीं। दो पुत्र एवं दो पुत्रियां। पुत्र - श्रीमान सेठ गुरूप्रसादजी एवं श्रीमान सेठ मूलचंदजी। पुत्रियां - श्रीमती कस्तूरीबाई एवं श्रीमती रेवतीबाई।

इस श्रद्धालु परिवार की हमेशा धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों में रूचि रहा करती थी। इनके शुभभावों का ही फल है, कि इन्होंने करीबन २६ कि० ग्रा० चांदी और करीबन ५ तोले सोने के द्वारा श्री विमानजी का निर्माण कराके श्री देव तारण तरण जैन चैत्यालयजी, सागर को सादर समर्पित किया था। इस आदर्शदान के उपलक्ष्य में समाज ने इन्हें सेठ की पदवी से अलंकृत किया था।

सन् १९३५ के पहले ही इन तीनों धर्ममना श्रद्धालु आत्माओं का (पिता एवं दोनों पुत्रों का) स्वर्गवास हो गया था। जनवरी सन् १९३६ में इनकी धर्मश्रद्धालु धर्मपत्नियों (श्रीमती इंद्रानी बहू, श्रीमती भोगाबाई एवं श्रीमती कस्तूरीबाई समैया) ने अपनी चल-अचल संपत्ति के द्वारा एक धार्मिक ट्रस्ट का निर्माण कराने का निश्चय किया था। इनकी भावना थी कि ट्रस्ट की आमदनी को धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों में ही खर्च किया जावे।

उक्त भावनानुसार यह क्रम गत ५५ वर्षों से सुव्यवस्थित ढंग से चल रहा है, जो दान की महत्ता का उत्कृष्ट उदाहरण है।

इस ट्रस्ट को स्थापित कराने में श्रीमान सेठ नाथूराम जी बैशाखिया, श्रीमंत सेठ भगवानदासजी एवं श्रीमान दमरुलालजी समैया का विशिष्ट सहयोग रहा है। इस ट्रस्ट में कुल १५ ट्रस्टी हैं, जिनके द्वारा ट्रस्ट कमेटी का विधिवत् संचालन होता

है।

इस ट्रस्ट के अंतर्गत श्री तीर्थक्षेत्र सूखा निसईजी में एक कमरा एवं पानी की टंकी का निर्माण कराया गया। श्री तीर्थक्षेत्र सेमरखेड़ीजी में एक कमरे का निर्माण कराया गया तथा श्री तीर्थक्षेत्र निसईजी (मल्हारगढ़) में करीबन १,००,०००/-अंकन एक लाख रुपयों की लागत से धर्मशाला निर्माण कराने की योजना क्रियान्वित की है।

इस ट्रस्ट के द्वारा करीबन ६०,०००/- अंकन साठ हजार रुपयों की राशि से धार्मिक शास्त्रों को प्रकाशित कराने का प्रावधान है, जिसके अनुसार शास्त्रों का प्रकाशन हो रहा है। 'श्री तारण तरण श्रावकाचार' ग्रंथ के द्वितीय संस्करण का प्रकाशन नागपुर में हो रहा है। 'श्री उपदेश शुद्ध सार' ग्रंथ का द्वितीय संस्करण बनारस से प्रकाशित हुआ है।

भविष्य में भी ट्रस्ट की आमदनी से इसी तरह से सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों का यथानुकूल संचालन होता रहेगा।

वर्तमान में श्री गुरु महाराज के ग्रंथों की कमी महसूस हो रही थी, लेकिन परम सौभाग्य की बात है कि समाज एवं संस्थाओं का ध्यान इस ओर गया, फलस्वरूप गत वर्ष श्री देव तारण तरण जैन ट्रस्ट, सागर के द्वारा 'श्री ज्ञान समुच्चय सार' ग्रंथ का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ।

यह हमारा सौभाग्य है कि हम सभी की प्रेरणास्वरूप वाणीभूषण समाजरत्न श्रद्धेय पूज्य ब्र. जयसारजी महाराज का सन् १९९० एवं ९१ में सागर में चातुर्मास का शुभायोजन धर्मप्रभावनापूर्वक सानंद सपन्न हुआ । समाज के गणमान्य महानुभावों की प्रेरणा एवं विनय भाव को बल मिला। फलस्वरूप ग्रंथराज श्री छदमस्थ वाणी, श्री नाममाला, श्री खातिका विशेष, श्री शून्य स्वभाव तथा श्री सिद्ध स्वभाव, इन पाँच ग्रंथों का प्रकाशन बनारस से श्रद्धेय पूज्य श्री के मार्गदर्शन में श्री भगवानदास शोभालाल पारमार्थिक संस्थान, सागर के द्वारा कराया गया है, जो कि समाज के समक्ष प्रकाशित होकर आ गये हैं।

ग्रंथ प्रकाशन में प्रूफ रीडिंग महत्वपूर्ण कार्य होता है, इस दिशा में जिन

महानुभावों का सहयोग रहा है तथा मुद्रक महोदय ने भी आकर्षक छपाई एवं बाईंडिंग आदि के द्वारा ग्रंथ को सुंदर स्वरूप दिया है। अतः ट्रस्ट कमेटी उन सभी का आभार मानती है।

प्रसन्नता की बात है कि इस ग्रंथ की १५०० प्रतियाँ श्री देव तारण तरण दिगंबर जैन चैत्यालय ट्रस्ट कमेटी, सागर द्वारा प्रकाशित हो रही हैं।

आशा है, धर्म जिज्ञासु जन इस ग्रंथ का स्वाध्याय कर आत्मकल्याण के मार्ग में अग्रसर होंगे।

श्रद्धा भावनाओं सहित धर्मानुरागी गुरूभक्त
मानकचंद जैन, अध्यक्ष
श्रीमती इंद्रानी बहू, भोगाबाई,
कस्तूरीबाई समैया ट्रस्ट,
सागर (म. प्र.)

दिनांक : १ अप्रेल १९९२
सागर(म० प्र०)

।। विषय सूची ।।

भूमिका

ग्रन्थ परिचय :–

यह श्रावकाचार ग्रन्थ किसी विशेष भाषा में नहीं है। इसमें संस्कृत-प्राकृत-देश भाषा के मिश्रित शब्द हैं। किसी खास व्याकरण के आधार पर रचित नहीं है। इसकी भाषा टीका लिखते समय हमारे पास चार प्रतियाँ थीं – तीन सागर की व एक ललितपुर की। सागर की एक प्रति प्राचीन लिखी अन्य दो की अपेक्षा शुद्ध है। ललितपुर की प्रति सबसे शुद्ध है। श्रावकाचार ग्रन्थ इस प्रति में संवत् १६५४ कार्तिक सुदी १३ का लिखा हुआ प्राचीन है। यथाशक्ति शब्द शुद्ध करके अर्थ को समझकर भाव लिखा गया है। इस ग्रन्थ में यद्यपि पुनरुक्ति कथन बहुत है, तथापि सम्यग्दर्शन तथा शुद्धात्मानुभव की दृढ़ता स्थान-स्थान पर बताई है। कोई कथन श्री कुन्दकुन्दाचार्य व श्री उमास्वामी के दिगम्बर जैन सिद्धांत के प्रतिकूल नहीं है। प्राचीन दिगम्बर जैन शास्त्राधार से ही ग्रन्थ संकलित किया गया है,हमने भावों को समझकर भाव दिखाने का प्रयत्न किया है। शब्द शुद्धि का विचार यथासंभव किया गया है। अबतक जो दिगम्बर जैन समाज में श्रावकाचार प्रचलित हैं, उनमें मात्र व्यवहारनय का ही कथन अधिक है, परन्तु इस ग्रन्थ में निश्चयनय की प्रधानतासे व्यवहार का कथन है। पढ़ने से पद-पद पर अध्यात्मरस का स्वाद आता है। इसके कर्त्ता अध्यात्म शास्त्र व व्यवहार शास्त्र के अच्छे मर्मी थे। यह बात ग्रन्थ को आद्योपांत पढ़ने से विदित हो जायगी। वे सिद्धांत के ज्ञाता थे, इसके प्रमाण में कुछ श्लोक नीचे दिये जाते हैं –

त्रिविधि पात्रं च दानं च, भावना चिन्त्यते बुधैः। शुद्ध दृष्टि रतो जीवः, अट्ठावन लक्ष त्यक्तयं।। २६७।।
नीच इतर अप तेजं च, वायु पृथ्वी वनस्पती। विकलत्रयं च योनी च, अट्ठावन लक्ष त्यक्तयं।। २६८।।

भावार्थ – जो सम्यग्दृष्टि तीन पात्रों को दान की भावना करे व शुद्धात्मा में रत हो, वह ८४ लाख योनियों में से ५८ लाख योनियों में कभी पैदा नहीं होगा। नित्य निगोद, इतर निगोद, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु – इनमें प्रत्येक में सात सात लाख तथा प्रत्येक वनस्पति के १० लाख, विकलत्रय के ६ लाख = कुल ४२+१०+६=५८ लाख योनियों में सम्यग्दृष्टि नर तिर्यंच नरक आयु बाँधने पर भी कभी नहीं जायगा। मात्र पंचेन्द्रिय उत्पन्न होगा। यह बड़ी विद्वत्ताका नमूना है। साधु का स्वरूप लिखा है –

ज्ञानचारित्र सम्पूर्ण, क्रिया त्रेपन संयुतं। पंचव्रत पंच समितिं, गुप्ति त्रयप्रतिपालनं।। ४४६।।
सम्यग्दर्शनं ज्ञानं, चारित्रं शुद्ध संयमं। जिनरूपं शुद्ध द्रव्यार्थं, साधओ साधु उच्यते।। ४४८।।

भावार्थ – जो ज्ञान-चारित्र से पूर्ण हों, श्रावक की ५३ क्रिया से संयुक्त हों, पाँच महाव्रत, पाँच समिति व तीन गुप्ति के पालक हों तथा जो शुद्ध संयम, रत्नत्रय धर्म, अरहंत के स्वरूप व शुद्ध द्रव्य को साधते हों वह साधु हैं। यह साधु का बहुत बढ़िया स्वरूप है। भोजन शुद्धि पर लिखा है –

स्वादं विचलितं येन, सम्मूर्छनं तस्य उच्यते। जे नरा तस्य भुक्तं च, तिर्यंचं नर संति ते॥११०॥

फलस्य संपूर्ण भुक्तं, सम्मूर्छन त्रस विभ्रमः। जीवस्य उत्पादनं दृष्टं, हिंसानंदी मांस दूषनं॥११२॥

भावार्थ – जिसका स्वाद चलायमान हो जावे उसमें सम्मूर्छन त्रस पैदा होते हैं। फिर भी उन्हें जो मानव भक्षण करते हैं, वे पशु समान हैं। किसी फल को पूरा बिना देखे व बिना तोड़े न खाना चाहिये, उसमें सम्मूर्छन त्रसों के उपजने की शंका है। जो बिना तोड़े खाते हैं, वे हिंसानंदी हैं व मांस के दोष को पाते हैं।

अविरत शुद्ध सम्यक्त्वी ५३ क्रियाओं में से अठारह पालता है, शेष ३५ की भावना करता है। ऐसा बड़ा ही मार्मिक व चारित्र की वृद्धिकारक कथन तारण स्वामी ने किया है। वे श्लोक हैं –

जघन्यं अव्रतं नाम, जिनउक्तं जिनागमं। सार्धं ज्ञानमयं शुद्धं, क्रिया दस अष्ट संजुतं॥१९८॥

सम्यक्तं शुद्ध धर्मस्य, मूलं गुणं च उच्यते। दानं चत्वारि पात्रं च, सार्धं ज्ञानमयं ध्रुवं॥१९९॥

दर्शन ज्ञान चारित्रैः, विशेषितं गुण पूजयं। अनस्तमितं शुद्ध भावस्य, फासूजल जिनागमं॥२००॥

एतत्तु क्रिया संजुतं, शुद्ध सम्यग्दर्शनं। प्रतिमाव्रततपश्चैव, भावना कृत सार्धयं॥२०१॥

भावार्थ – जघन्य अविरत सम्यग्दृष्टि ५३ क्रियाओं में से १८ पालता है। आठ मूलगुण - चार दान - सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की भावना - रात्रि भोजन त्याग - पानी छानकर पीना - समता के लिये जिनागम पठन - १८ क्रियाएँ हैं तथा १२ व्रत - १२ तप - ११ प्रतिमा - ३५ क्रियाओं की भावना रखता है।

अध्यात्म ज्ञान व नयों द्वारा शास्त्रज्ञान का नमूना यह है –

शुद्धं धर्म च प्रोक्तं च, चेतनालक्षणो सदा। शुद्ध द्रव्यार्थिक नयेन, धर्म कर्म विमुक्तयं॥१६८॥

भावार्थ – शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से शुद्ध धर्म चेतना का गुण है तथा कर्मरहित आत्मा का स्वभाव है।

ग्रन्थ कर्त्ता

इस ग्रन्थ के कर्ता श्री तारणतरण स्वामी थे। यह दिगम्बर जैन मुनि थे – ऐसा किन्हीं का कहना है, किन्हीं के विचार से यह ब्रह्मचारी थे। इसमें संदेह नहीं कि यह एक धर्म के ज्ञाता आत्मरमी महात्मा थे। इनके कथन से प्रगट है कि यह श्री कुन्दकुन्दाचार्य के शास्त्रों के ज्ञाता थे। इनका

जीवनचरित्र जो कुछ मिला है, वह बहुत संक्षेप से यहाँ दिया जाता है –

जैनहितैषी अंक ४ वीर सं. २४३९ को देखकर व सागर के भाइयों से मालूम कर लिखा जाता है। इसमें जो ऐतिहासिक अनुमान व हमारा निज का विचार दिखलाया गया है, उसके लिये हम स्वयं जिम्मेदार हैं। तारणतरण समाज के भाई उसके लिये जिम्मेदार नहीं हैं।

"पुष्पावती नगर में इनके पिता गढ़ासाहु रहते थे। यह परवार सेठ थे, तथा दिली के बादशाह के यहाँ किसी काम पर नियत थे। पुष्पावती नगरी पेशावर को कहते हैं, पेशावर को पुष्कलावती या पुष्पावती पहले कहते थे। मालूम होता है कि गढ़ासाहु के आधीन कोई महान् काम बादशाह की तरफ से पेशावर में होगा। गढ़ासाहुजी की धर्मपत्नी वीरश्री थी। ग्रंथकर्ता होनहार पुत्र वि. संवत् १५०५ (व सन् १४४८) अगहन सुदी ७ को जन्मे थे। जब दिहली में सन् १४४८ में अलाउद्दीन सय्यद राज्य करते थे, फिर सुलतान वहलोल लोधी सन् १४५० में बादशाह हुए, जब यह पाँच वर्ष के थे। इनके पिता के ऊपर कोई कर्म के उदय से आपत्ति आई तब यह अपना सब सामान लेकर मालवा देश में आये और गढ़ौला (जिला सागर खुरई तहसील खिमलासा के पास) में आकर डेरा किया।

वहाँ एक श्रुतमुनि विराजमान थे। उनका दर्शन करके साहुजी व सेठानी व यह पुत्र बड़े आनंदित हुए। मुनि महाराज ने पुत्र को देखकर आशीर्वाद दिया व उनके पिता को शिक्षा दी कि यह एक महात्मा है, इसको शास्त्रज्ञान व विद्या भलेप्रकार पढ़ाई जावे। वहां से चलकर टोंक राज्य के सेमरखेड़ी (वासौदा स्टेशन से सिरोंज होकर) स्थान के पास ग्राम में वसे। वहाँ एक धनाढय जैन सेठ की सहायता से व्यापार करने लगे और पुत्र को विद्या पढ़ाने लगे। यह बड़े चतुर थे। यथायोग्य विद्या लेते हुए जैंन शास्त्रों का स्वाध्याय करने लगे। इनको छोटी वय से ही वैराग्य हो गया। ऐसा मालूम होता है कि इन्होंने विवाह नहीं कराया, बहुत काल तक घर में ही श्रावक व्रत पालते रहे और सेमरखेड़ी में (जहाँ अब जंगल है व नशिया बनी है) एकांत में बैठकर ध्यान लगाते रहे। कुछ काल पीछे इन्होंने घर त्याग दिया, तब या तो ब्रम्हचारी रहे या मुनि हो गये। तथा मल्हारगढ़ (ग्वालियर स्टेट मुँगावली स्टेशन से तीन कोस) में ठहरकर अधिक ध्यान का अभ्यास करने लगे और उन्होंने यत्र-तत्र विहार कर अपने अध्यात्म गर्भित उपदेश से जैनधर्म का प्रचार किया। ऐसा कहते हैं कि उनके उपदेश से ५,५३,३१९ जनों ने जैनधर्म ग्रहण किया। ये हरएक को जैनी बनाते थे।

इनके कई प्रसिद्ध शिष्य हैं – लक्ष्मण पांडे, चिदानन्द चौधरी, परमानन्द विलासी, सुल्पसाह तेली, लुकमानशाह मुसलमान। इन्होंने मल्हारगढ़ से वि. सं. १५७२ ज्येष्ठ वदी ६ शुक्रवार को समाधिमरण करके सुगति धाम प्राप्त किया। उस समय सन् १५१५ था, दिहली में सिकन्दर लोधी का राज्य था,

जो १४८९ पर गद्दी पर बैठे थे। सुलतान वहलोल लोधी से गढ़ासाह की नहीं बनी होगी – ऐसा झलकता है।

इनके उपदेश के अनुयायी तारणतरण समाज के नाम से कहलाते हैं। वर्तमान में इस समाजवालों के घर मिरजापुर, बांदा, मध्यप्रांत, मध्य भारत में फैले हुए करीब २,००० होंगे व १०,००० मानव होंगे। ये चैत्यालय के नाम से सरस्वती भवन बनाते हैं, वेदी पर शास्त्र विराजमान करते हैं, शास्त्र की भक्ति करते हैं, शास्त्र के सामने जिनेन्द्रदेव की भी भक्ति करते हैं। दिगम्बर जैन शास्त्रों को पढ़ते हैं व विराजमान करते हैं। जिनेन्द्र प्रतिमा के रखने का व पूजने का रिवाज नहीं है, तथापि ये लोग तीर्थयात्रा करते हैं। मंदिरों में यत्र-तत्र प्रतिमाओं के दर्शन करते हैं। तारणतरण स्वामी रचित जो शास्त्र हैं, उनमें भी प्रतिमा का खण्डन नहीं हैं।

मालूम होता है उन्होंने उससमय की परिस्थिति को देखते हुए प्रतिमा स्थापन को गौण कर दिया था। वह मुसलमानी समय था, मूर्ति खण्डन का जगह जगह उपदेश होता था। लोगों को मुसलमानी धर्म में जाने से बचाने के लिये उस समय ऐसा किया होगा।

उससमय अहमदाबाद में श्वेतांबर जैनियों के भीतर एक लोकाशाह हुए थे, जिन्होंने भी वि. सं. १५०८ में ढूँढियापंथ की स्थापना की थी। ये भी मूर्ति को नहीं पूजते हैं। सिखधर्म के स्थापक नानक पंजाब में सन् १४६९ से १५३० तक हुए व कबीर शाह भी इसीसमय सन् १४४६ से १५०८ में हुए हैं। इन सबने मूर्तिपूजा को गौण किया था। तारणस्वामी का स्वर्गवास भी सन् १५१५ में हुआ था।

पाठकगण देखेंगे कि लोकाशाह, कबीर, नानक, तारणस्वामी करीब-करीब समकालीन हुए हैं। भारत की दशा उससमय अच्छी नहीं थी। मुसलमानी धर्म जोर-जुलम से फैलाया जाता था। जब ये धर्मप्रचारक हुए तब सिकन्दर लोधी का राज्य था। इसके सम्बन्ध में विंसेन्ट स्मिथ इतिहासकार लिखते हैं कि –"He enterely ruined the shrines of Mathura, converting the buildings to Muslim use & generally was extremely hostile to Hinduism."

इसने मथुरा के मंदिरों का विध्वंस किया। मकानों को मुसलमानी बना लिया। यह हिंदूधर्म का कट्टर शत्रु था। मूर्ति पूजा का घोर विरोध किया जाता था। हिंदुओं को लोभ से या भय से मुसलमान बनाया जाता था। ऐसे समय में ही गढ़ासाह भागकर मालवा की तरफ आए। संभव है अपने धर्म की रक्षार्थ ही आए होंगे। उनके विचारशील पुत्र को यह बात खटकी होगी। तब तारणतरण ने दिगम्बर जैनधर्म की रक्षार्थ वही काम किया, जो लोकाशाह ने श्वेतांबर धर्म की तथा नानक व कबीर शाह ने हिंदू

धर्म की रक्षार्थ किया। अवसर पाकर मूर्तिपूजा को गौण कर शास्त्रपूजा व गुरुपूजा की मुख्यता की। इससे साफ झलकता है कि तारणतरण स्वामी बड़े ही प्रभावशाली वक्ता व अपने समय के अध्यात्म रसिक जैन महात्मा होंगे, जिन्होंने मुसलमान होनेवाले जैनियों को रक्षित किया तथा स्वय मुसलमानों तक को जैनधर्म में दीक्षित किया। इनकी ग्रंथ रचना में आत्मानुभव की स्थान-स्थान पर प्रेरणा है।

ग्रन्थकर्ता की अन्य रचनायें :–

श्रीतारणरणस्वामी रचित १४ ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। उनका विवरण नीचे प्रकार है –

१. **श्रावकाचार** – श्लोक ४६२। २. **मालारोहण** – श्लोक ३२। ३. **पंडित पूजा** – श्लोक ३२। ४. **कमलबत्तीसी** – श्लोक ३२। ५. **उपदेश शुद्धसार** – श्लोक ५८८। इसमें भी अध्यात्मीक उपदेश है, पाँच ज्ञान का स्वरूप है, रत्नत्रय का स्वरूप है। ६. ज्ञान समुच्चय सार – ९०८। इसमें छह द्रव्य, सात तत्त्व, १४ गुणस्थान, पाँच महाव्रत, सम्यग्दर्शन आदि का अच्छा निरूपण है। उसी में दिगम्बर मुनि का स्वरूप है –

ये पंच चेल उक्तं त्यक्तं, मन वचन काय सद्‌भावं।
विज्ञान ज्ञान शुद्धं, चेल त्यक्तंति निव्बुए जंति॥४००॥
दिगम्बर नयन उत्तं, दसदिशा अंबरेण सद्‌भावं।
अम्बरं चेल विमुक्तं, दिगम्बरं ज्ञान सहकारं॥४०२॥

भावार्थ – जो पाँच प्रकार आच्छादन अर्थात् रोम के, चमड़े के वल्कल के, रुई के व रेशम के इनसे रहित हो, विज्ञान व ज्ञान में शुद्ध हो। ऐसे वस्त्र रहित अचेलक ही निर्वाण जाते हैं। दिगम्बर शब्द बताता है, जिनको १० दिशाएँ ही कपड़े हों। जैसे आकाश वस्त्र रहित है। यह दिगम्बरपना ज्ञान का सहकारी है।

७ – **ममल पाहुड़ या अमल पाहुड़** – ३२३३ श्लोक। इसमे ३२, २५,१६, १५ आदि श्लोकों के छोटे छोटे खण्ड रूप से अध्यात्मिक भजन हैं। एक अध्याय ३४ अतिशय का है, जिनको निश्चयनय प्रधान से बताया है। गगन गमन पर लिखा है –

गगन सुनन्तानन्त जिनय जिन, गम्य अगम्य परिणाम ध्रुवं।
नन्त रमन सुहज्ञान गगन जिन, गम्य अगम्य अइसय ममलं॥१८॥

भावार्थ – आकाश अनंतानंत है, उसको जीतनेवाले जिन हैं अर्थात् लोकालोक के ज्ञाता है। गम्य – कथन योग्य ; अगम्य – न कथन योग्य जो परिणमन सदा हुआ करता है, उस सबके ज्ञाता हैं, अनंतज्ञान में रमन करनेवाले श्रुतज्ञान के प्रकाशक आकाश के समान निर्मल जिन हैं। यही निर्मल अतिशय है जो गम्य अगम्य के ज्ञाता हैं। आकाश गमन अर्थात् निर्मल आकाश समान अनंतानंत ज्ञान

में जिनका गमन है, परिणमन है, सो आकाश गमन अतिशय के धारी है। बड़ा ही सुन्दर विवेचन है।

तेरह प्रकार के चारित्र का कथन करते हुए १६ श्लोक हैं। इनमें भी निश्चयनय का प्रधान कथन है। जैसे आदान निक्षेपण समिति को इस तरह कहा है, जिसका अर्थ व्यवहार में है कि हरएक वस्तु को देखकर उठाना रखना –

आद सहावेन ज्ञान रय रमनं, निक्षिपिय कम्म जिनरंज सुयं।
ज्ञान विज्ञान सु अमल रमन जिनु, भय शल्य शंक विलयंतु सुयं॥५४॥

भावार्थ – अपने आत्मा के स्वभाव के द्वारा ज्ञान में रमन करना सो आदान है। कर्मों का क्षय करना सो निक्षेपण है। इस तरह जिनेन्द्र में रञ्जायमान होनेवाला श्रुत है, जिसका आलम्बन करने से ज्ञान विज्ञानमय निर्मलभाव में रमन होता है। जिस भावश्रुत में रमन करते हुए भय, शल्य व शंका सब विला जाती है अर्थात् आत्मस्वभाव में लीनता ही आदाननिक्षेपण समिति है। बहुत ही बढ़िया तत्त्व विचार है।

८ – चौवीस ठाणा – गद्य पद्य सहित पत्र २०, इसमें निश्चयनय को लेकर गोमट्टसार की चर्चा का कुछ भाग है। एक स्थान में ६६,३३६ क्षुद्र भवों का विवरण यथार्थ वर्णन गोमट्टसार के अनुसार है। जैसे –

एकेंद्रिय के –	६६१३२	भव	अन्तर्मुहूर्त में
द्वीन्द्रिय के –	८०	भव	अन्तर्मुहूर्त में
त्रीन्द्रिय के –	६०	भव	अन्तर्मुहूर्त में
चतुरिन्द्रिय के –	४०	भव	अन्तमुर्हूर्त में
पचेन्द्रिय के –	२४	भव	अन्तर्मुहूर्त में

कुल ६६३३६ एक अन्तर्मुहूर्त में, जिनकी आयु श्वास के अठारहवें भाग होती है।

९. **त्रिभंगीसार** – श्लोक ७१। इसमें तीन तीन के समूह में बहुत सी बातें हैं। जैसे – १ – देव गुरु शास्त्र, २ – दर्शन ज्ञान चारित्र, ३ – क्षायिक शुद्ध धुव, कृत-कारित अनुमोदना, ५ – आशा स्नेह लोभ, ६ – माया मोह ममता, ७ – रूपातीत स्वधर्म आकाश, ८ – नंद-आनंद सहजानंद इसमें भी बुद्धिमानी व विद्वता झलकती है।

१० – खाति का विशेष – २ पत्रे गद्य व्यवहारपल्य, अवसर्पिणी, उत्सार्पिणी कालप्रमाण कुछ निश्वयनय प्रधान कथन भी है।

११. सिद्ध स्वभाव – १ पत्रा, निश्चय प्रधान गद्य में कुछ कथन है। १२. शून्य स्वभाव – २ पत्रे द्य। १३. नाममाला – ९ पत्रे गद्य। १४. छद्मस्थ वाणी – ९ पत्रे गद्य।

इन १४ ग्रन्थों में श्रावकाचार, पंडितपूजा, मालारोहण का उल्था मेरे द्वारा हुआ है। कमलबत्तीसी का उल्था बाबू जगरूपसहाय बी. ए., एल.एल.बी. वकील एटा (यू.पी.) द्वारा हुआ है।

इनमें से प्रथम उपदेश शुद्ध सार तथा ज्ञान समुच्चय सार का उल्था होना योग्य है। ये दोनों बहुत उपयोगी उपदेशी ग्रन्थ हैं। ममल पाहुड ग्रन्थ उच्च श्रेणी के आध्यात्मरसिक महात्माओं के ही आनंद की वस्तु है। इसकी टीका बुद्धिमानों के लिये आत्मविचार में उपयोगी होगी। चौवीस ठाणा को विचार करके गोम्मटसार से मिलाकर शुद्ध करके व और विषय जोड़कर प्रकाश योग्य है। त्रिभंगीसार भी उपयोगी है, बुद्धिमत्ता के साथ अर्थ करना योग्य है। खातिका स्वभाव, सिद्ध स्वभाव, शून्य स्वभाव में विषय बहुत अल्प है। आध्यात्मिक भाव से विचारने योग्य है। नाममाला और छद्मस्थ वाणी स्वयं तारणतरण स्वामी रचित नहीं मालूम होती हैं, पीछे से रचित हैं। कुछ कथन ऐसा भी है, जो प्राचीन दि. जैन सिद्धांत से नहीं मिलता है।

श्री तारणतरण स्वामी का समाधिस्थान **मल्हारगढ़** वेतवा नदी के तट पर बहुत रमणीय व ध्यानयोग्य है। यहाँ मकान भी सुन्दर बने हुए हैं। हमने स्वयं इस स्थान का दर्शन दो बार किया है। अन्त में ता. १५ मार्च १९३३ को किया है, वेतवानदी से १ मील किले के समान बृहत् भवन कोट सहित है, मध्य में जिनवाणी चैत्यालय है, चारों ओर यात्रियों के ठहरने का स्थान है, चारों ओर जंगल है। वेतवा नदी के तट पर तारण स्वामी का एक सामायिक करने का पक्का दालान पाषाण का बना हुआ है। नदी के मध्य में तीन चबूतरे हैं, एक वह, है जिसपर बैठकर तारणस्वामी ध्यान करते थे। भवन के पीछे लोकमान शाह के रहने का झोपड़ा व ध्यान का चबूतरा है। इस स्थान से १ मील मल्हारगढ़ ग्राम है, किला है व सरोवर है। ग्राम में कुछ परवार जैनों के घर हैं, दि. जैन मंदिर है, उसमें पार्श्वनाथ की प्राचीन दो प्रतिमाएँ दर्शनीय हैं। ध्यान के अभ्यास करनेवालों के लिये मल्हारगढ़ का तारणस्वामी महाराज का स्थान बहुत ही उपयुक्त है। नदी के मध्य में व तट पर भी ध्यान का साधन हो सकता है।

दूसरा तपस्थान सेमरखेड़ी है। इन दोनों स्थानोंपर वर्ष में एक बार तारणसमाज प्रायः एकत्र भी होती है। जिन ग्रन्थों की भाषा टीका हो जावें, उन्हें हरएक जैनी को पढ़ना चाहिये। तत्वज्ञान होने में सहायता मिलेगी। तथा दूसरे दिगम्बर जैन आचार्यों के रचित नीचे लिखे ग्रंथों को भी पढ़ना चाहिये, जिससे धर्म का बोध होकर आत्मा का कल्याण हो –

(१) रत्नकरण्ड श्रावकाचार – समंतभद्राचार्य कृत। (२) श्रावकाचार – अमितगति कृत (३) पद्मनंदी पंचविंशतिका – पद्मनंदि कृत (४) अर्थप्रकाशिका – पं. सदासुखजी कृत (५) सर्वार्थसिद्धि – पूज्यपाद आचार्य कृत (६) गोमटसार जीवकांड कर्मकांड – नेमिचन्द्र सि. चक्रवर्तीकृत (७) परमात्माप्रकाश – योगेन्द्राचार्य कृत (८) ज्ञानार्णव – शुभचन्द्राचार्य कृत (९) पंचास्तिकाय – कुदकुदाचार्य कृत। (१०)

प्रवचनसार – कुन्दकुन्दाचार्य कृत। (११) समयसार – कुन्दकुन्दाचार्य कृत। (१२)नियमसार – कुन्दकुन्दाचार्य कृत। (१३) मूलाचार – वट्टकेर स्वामी कृत। (१४) स्वामी कार्तिकेयानुपेक्षा – मुनि कार्तिकेय कृत। (१५) राजवार्तिक – अकलंकदेव आचार्य कृत। (१६) समाधिशतक – पूज्यपाद आचार्य कृत। (१७) इष्टोपदेश – पूज्यपाद आचार्य कृत।

धर्म वास्तविक स्वरूप रत्नत्रय धर्म है। निश्चय रत्नत्रय अपने ही शुद्धात्मा का सम्यक्‌श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्‌आचरण या आत्मानुभव है। इसी का साधक, परम्परा निमित्त, व्यवहार रत्नत्रय है। जिसमें जीवादि सात तत्वों का ज्ञान-श्रद्धान जरूरी है। व्यवहार चारित्र मुनि व श्रावक का उभय रूप है, पाँच महाव्रत मुनि का चारित्र है, पाँच अणुव्रत श्रावक का धर्म है। श्रावकों को देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप, दान – इन छह कर्मों का साधन श्रद्धापूर्वक करना चाहिये व मिथ्यात्व से बचना चाहिये। सम्यक्त के २५ दोष बचाने चाहिये, सात व्यसन द्यूत रमनादि से बचना चाहिये, शुद्ध भोजन करना चाहिये, पानी छानकर पीना चाहिये, रात्रि का भोजन बचाना चाहिये, मुख्यता से आत्मध्यान का अभ्यास करना चाहिये। श्रावक की ग्यारह प्रतिमा हैं, उनके द्वारा बाह्य-अभ्यंतर चारित्र की उन्नति करनी चाहिये। इस श्रावकाचार में इन ही बातों का विशेष वर्णन है। इस ग्रंथ का प्रचार हर जगह होना चाहिये। पाठकों को विशेष लाभ होगा।

आश्विन सुदी १०, वीर सं. २४५८ — **ब्रम्हचारी सीतलप्रसाद**

ता. ९-१०-१९३२, **सागर**
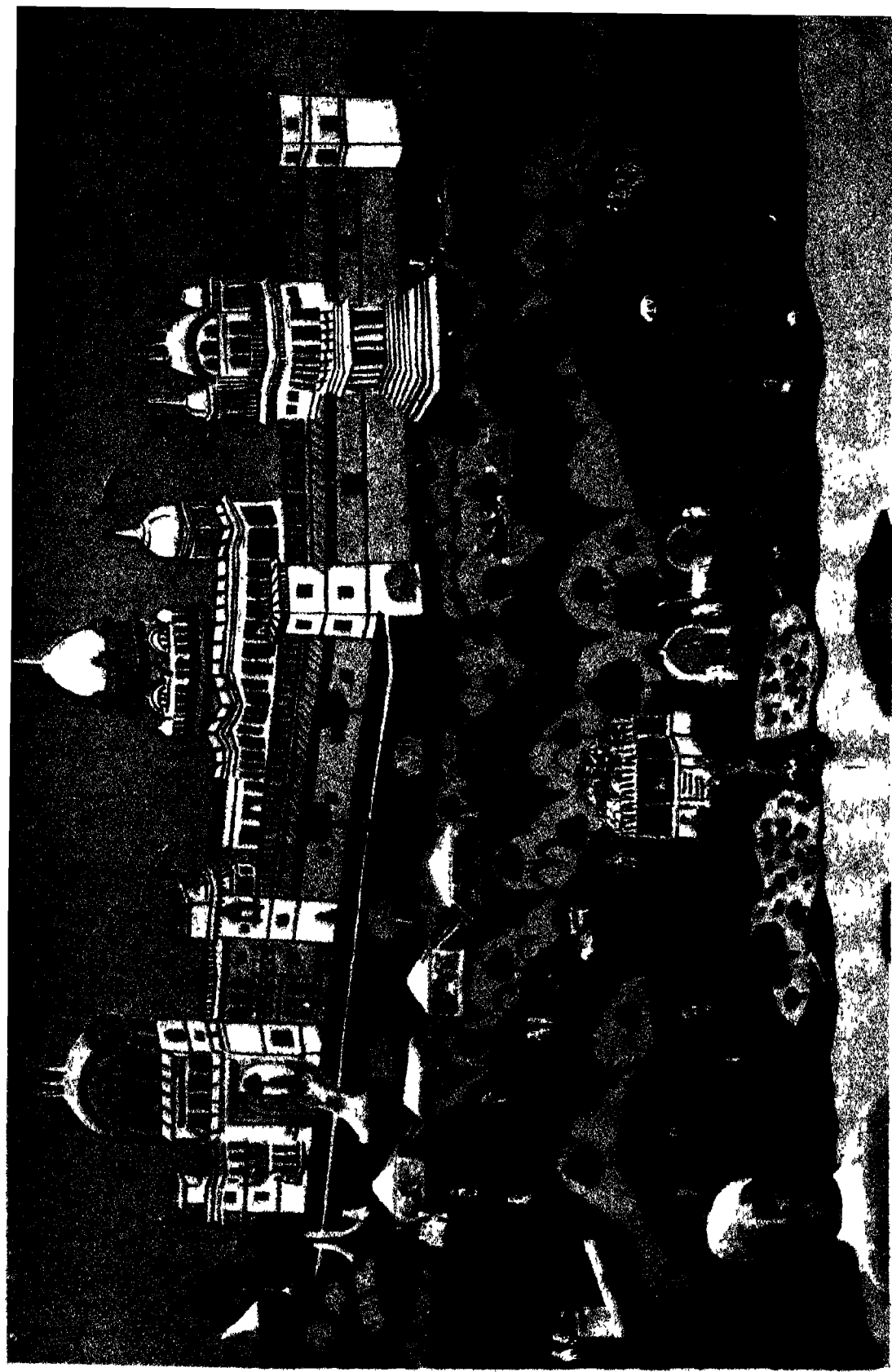
श्री १००८ तीर्थक्षेत्र श्री निसईजी, मल्हारगढ़, ग्वालियर स्टेट, श्री तारणस्वामी का समाधि स्थल

ॐ

॥ श्री तारणतरण श्रावकाचार ॥

॥ हिन्दी टीका मंगलाचरण॥

ऋषभदेव से वीर लों, चौबीसों जिनराय।
मन वच काय नमाय के, वंदहु वर वृषदाय॥
स्याद्वाद वाणी नमो, सत्य अर्थ भंडार।
परम तत्व आरूढ़ कर, करत भवोदधि पार॥
ग्रंथ रहित आतम रमी, वैरागी व्रत पूर्ण।
परम साधु गुरु वँदऊँ, होत विघ्न सब चूर्ण॥
तारण स्वामी रचित जो, ग्रंथ श्रावकाचार।
हिन्दी भाषा में लिखूँ, उत्था जन उपकार॥

अब श्री तारणतरण रचित श्रावकाचार का भाव हिन्दी भाषा मे लिखा जाता है—

॥ मंगलाचरण॥

॥ श्लोक १॥

देव देवं नमस्कृतं, लोकालोकप्रकाशकं।
त्रिलोकं अर्थ ज्योतिः, ऊंवंकारं च वंदते॥

अन्वयार्थ – (देव देवं) **चार प्रकार के देवों के देव अर्थात् इन्द्रादि द्वारा** (नमस्कृत) **नमस्कार करने योग्य** (लोकलोकप्रकाशकं) **लोक और अलोक के प्रकाशक** (त्रिलोक) **तीन लोक के** (अर्थ) **पदार्थों के लिये** (ज्योतिः) **ज्योति रूप ऐसे** (ऊंवंकारं) **ॐ को** (च वंदते) **ही वन्दना करता हूँ।**

विशेष – तारण स्वामी रचित ग्रंथ उस समय की उनकी ही भाषा में है, उनमें न तो मात्र संस्कृत है, न प्राकृत, न ठेठ हिंदी है। स्वामीजी जिस भाषा में कहते थे वही रचना लिखित मिलती है। दीर्घ काल के लेख प्रतिलेख होने से अक्षरों का व्यतिक्रम होना संभव है। यहाँ मात्र भाव ग्रहण कर पाठकों के लाभार्थ दिखलाया जाता है। ॐ शब्द को ॐ कार या ऊंवंकार कहने का रिवाज था – ऐसा मालूम होता है। ॐ शब्द में जैनियों द्वारा मान्य पाँच परमेष्ठी गर्भित हैं। हरएक प्रथम अक्षर को लेकर यह शब्द बना है। जैसे –

अरहंत का – अ

सिद्ध या अशरीरी का – अ

आचार्य का – आ

उपाध्याय का – उ

साधु या मुनि का – म्

इसतरह अ+अ+आ+उ+म्=ओम् या ॐ बन जाता है। इन पाँचों में अरहंत जीवन्मुक्त परमात्मा शरीर सहित को व सिद्ध-शरीर रहित शुद्ध परमात्मा को कहते हैं। दोनों सर्वज्ञ तथा वीतराग हैं। आचार्य, उपाध्याय, साधु – तीन प्रकार परमगुरु सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा हैं, जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिगृहत्याग – ऐसे पाँच महाव्रतों को व ईर्य्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, प्रतिष्ठापना – ऐसी पाँच समितियों को व मन-वचन-कायगुप्ति – ऐसी तीन गुप्तियों को इसतरह तेरह प्रकार चारित्र को पालते हैं। निश्चय से शुद्धात्मरमण रूप चारित्र में आरूढ़ होते हैं। जो साधु दीक्षा-शिक्षा दाता हैं, वे आचार्य हैं। जो विशेषज्ञ शास्त्र पाठ देते हैं, वे उपाध्याय हैं। जो मात्र साधन करते हैं, वे साधु हैं। चार हाथ प्रासुक भूमि देखकर दिन में चलना ईर्य्या समिति है, शुद्ध प्यारी प्रिय भाषा कहना भाषा समिति है, भिक्षा से अपने उद्देश्य से न बनाया हुआ शुद्ध भोजन लेना एषणा समिति है। पीछी कमंडल, शास्त्र व अपने शरीर को देखकर रखना उठाना आदाननिक्षेपण समिति है। निर्जंतु भूमि पर मलमूत्र करना प्रतिष्ठापना समिति है।

जगत में ये पाँच पद ही श्रेष्ठ हैं, क्योंकि ये संसार को पीठ देकर मोक्षरूप या मोक्षमार्गी हैं, आत्मीक आनन्द के विलासी हैं, इंद्रिय सुख से अत्यन्त वैरागी हैं। निश्चय से पाँचों ही आत्माएँ हैं। इसलिये लोकालोक प्रकाशक हैं व तीन लोक में भरे हुए जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल – इन छः द्रव्यों को व उनके गुणों को व उनकी पर्यायों को दीपक के प्रकाश की तरह झलकानेवाले हैं। लोक में १०० इन्द्र प्रसिद्ध हैं। भवनवासी देवों के ४० इन्द्र, व्यंतर देवों के ३२ इन्द्र, स्वर्गवासी देवों के २४ इन्द्र, ज्योतिषी देवों के २ इन्द्र, चन्द्रमा और सूर्य, मनुष्यों में चक्रवर्ती, पशुओं में

अष्टापद – ये सब अपने मन-वचन-काय से इन पाँच पदवी धारकों को नमस्कार करते हैं। व्यवहार नय से लोकालोक प्रकाशकपना अरहंत व सिद्धों के हैं। आचार्य उपाध्याय साधु को भेदविज्ञान है। श्रुतज्ञान के द्वारा लोकालोक के प्रकाशक हैं। केवलज्ञान के सन्मुख हैं। भावी नैगमनय से ये तीनों भी परमात्मा कहे जा सकते हैं। ग्रंथ की आदि में इनको भावपूर्वक नमन करने से भक्त का भाव निर्मल हो जाता है। उसके भावों से सांसारिक विकार निकल जाता है। परिणामों की विशुद्धि होती है, जिससे पापों का क्षय होता है, पुण्य का लाभ होता है। इसी कारण सज्जन पुरुष किसी भी कार्य की आदि में इष्टदेव का स्मरण रूप मंगलाचरण करते हैं। जिससे कार्य में विघ्नकारक कारण शमन हो सकें।

भावार्थ – यहाँ इन्द्रादि से पूज्य, सर्वज्ञमई परमात्मा को नमस्कार किया गया है, जो ॐ शब्द में गर्भित है।

॥ श्लोक २॥

ऊं वं ह्रियं श्रियं चिंते, शुद्धसद्भावपूरितं।
संपूर्णं सुयं रूपं, रूपातीत बिंदुसंयुतं॥

अन्वयार्थ – (शुद्धसद्भावपूरितं) शुद्ध सत्तामई भाव से भरे हुए (संपूर्णं सुयं रूपं) संपूर्ण श्रुत रूप (रूपातीत) अमूर्तीक ऐसे (बिंदुसंयुतं) बिंदु सहित (ऊं वं ह्रियं श्रियं) ॐ, ह्रीं, श्रीं को (चिंते) चिंतवन करता हूँ।

विशेष – ॐ ह्रीं श्रीं ये तीन मंत्र पद हैं – ॐ में ऊपर लिखे प्रमाण पाँच परमेष्ठी गर्भित हैं। ह्रीं में चौबीस तीर्थंकर गर्भित हैं। ह से चार तथा र से दो का बोध होता है, बाँयें से लिखने से २४ का ज्ञान होता है। श्री लक्ष्मी को कहते हैं। आत्मा के ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि स्वभाव को ही आत्मा की लक्ष्मी कहते हैं। इस लक्ष्मी के धारी परमात्मा को भी श्री कहते हैं।

ग्रंथकार का लक्ष्य एक शुद्ध आत्मा की ओर भक्तिपूर्ण है, इसलिये उसने शुद्ध आत्मा को ही चिंतवन किया है। आलम्बन के लिये ॐ ह्रीं श्रीं तीन मंत्र पद कहे हैं। शुद्ध आत्मा में सदा ही स्वभावों की सत्ता रहती है। जैसे मिश्री मिष्ठता से, नीम कटुकता से, खटाई आम्लपने से, लवण खारपने से परिपूर्ण भरा है, वैसे ही आत्मा अपने ज्ञानादि स्वभावों से परिपूर्ण भरा है। यही शुद्ध आत्मा संपूर्ण श्रुतज्ञान रूप इसीलिये कहा गया है कि सम्पूर्ण श्रुतज्ञान का सार आत्मा का ज्ञान है। अथवा ज्ञान ज्ञानी – आत्मा से अलग नहीं है। जो श्रुतज्ञान को जानता है, वह आत्मा को जानता है। जो आत्मा को जानता है, वह सर्व श्रुतज्ञान को जानता है। ऐसा ही कथन परम अध्यात्म समुद्र के

पारगामी श्री कुंदकुंद महाराज ने श्री समयसारजी में किया है –

जो हि सुदेणभिगच्छदि, अप्पाणमिणतु केवल सुद्ध। त सुद केवलिमिमिणो, भणति लोगप्पदीवयरा॥९॥

जो मुदणाण सव्व, जाणदि सुदकेवली तमाहु जिणा। सुदणाण माद सव्व, जम्हा सुदकेवली नम्हा॥१०॥

भावार्थ – **जो कोई निश्चय से भावश्रुत के द्वारा आत्मा को असहाय और शुद्ध जानता है, उसको लोक स्वरूप के प्रकाशक परम ऋषि श्रुतकेवली कहते हैं। जो कोई सर्व द्वादशांग श्रुतज्ञान को जानता है, उसको जिनेन्द्रदेव (व्यवहारनय से) श्रुतकेवली कहते हैं, क्योंकि सर्व ही श्रुतज्ञान आत्मा में है व आत्मारूप है, इसीलिये आत्मज्ञानी ही श्रुतकेवली हैं या श्रुतकेवली आत्मज्ञानी हैं। शुद्ध आत्मा में पौद्गलिक कोई विकार व कोई संयोग नहीं है, इसलिये वह रूपातीत अर्थात् अमूर्तीक हैं। ग्रंथकार ने भावों की शुद्धि के लिये ही इस श्लोक में भी अपने ही आत्मा के शुद्ध स्वभाव का स्मरण किया है।**

॥ श्लोक ३॥

नमामि सततं भक्त्या, अनादि सादि शुद्धये।
प्रतिपूर्णं अर्थं शुद्धं, पंचदीप्ति नमाम्यहं॥

अन्वयार्थ – (अह) **मैं** (मनत) **निरन्तर** (भक्त्या) **भक्ति पूर्वक** (प्रतिपूर्ण) **पूर्ण और** (शुद्ध) **शुद्ध** (अर्थं) **पदार्थ को** (पचदीप्ति) **जो पॉच परमेष्ठी पदों में प्रकाशमान हो रहा है** (अनादि मादि शुद्धयं) **प्रवाह की अपेक्षा अनादि, बंधने-छूटने की अपेक्षा सादि – ऐसे कर्मों से शुद्ध होने के लिये** (नमामि नमामि) **बार बार नमन करता हूँ।**

विशेष – **यहाँ भी अरहंत आदिं पाँचों पदों के भीतर निश्चय नय से जो एक रूप ही शुद्ध आत्मा है, उसी को नमस्कार किया गया है। वह परिपूर्ण है। अपने सम्पूर्ण गुण व पर्यायों को लिये हुए पूर्ण कुंभ की तरह भरा हुआ है। उसमें कोई अपूर्णता के कारक कर्मों के विकार नहीं हैं। वह राग-द्वेषादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म व शरीरादि नोकर्म से रहित है। इसी से वह शुद्ध है। वह अभावरूप नहीं हैं, किंतु सद्भाव रूप है। स्वानुभव से निश्चय किया जाता है, इसी से वह अर्थ है। गुणों में तल्लीनता रूप भावस्वरूप भक्ति है। वचनरूप व काय-नमनरूप द्रव्यभक्ति है। दोनों से मैं बारबार नमन करता हूँ। ऐसा कहकर ग्रंथकार ने अपनी गाढ़ श्रद्धा परमात्मा के तत्व में झलकाई है। कोई भी कार्य हो, किसी न किसी भी हेतु से किया जाता है। ग्रंथकार ने बताया है कि मैंने जो शुद्धात्मा का स्मरण किया है व उसके स्वरूप में अपने उपयोग को जोड़ा हैं, वह इसी प्रयोजन से है कि मेरे आत्मा के साथ बंधरूप कर्मों का नाश हो जावे। उनसे मैं शुद्ध हो जाऊँ। कर्म सूक्ष्म पुद्गल स्कंध**

हैं। संसारी जीवों के साथ प्रवाह या संतान की अपेक्षा अनादि सम्बन्ध है। कभी भी आत्मा कर्म रहित संसार में न था, तथापि कर्म का संयोग एक तरह का नहीं चला आ रहा है। कर्मों का संयोग या बंध कुछ काल के लिये होता है। आठ कर्मों में मोहनीय कर्म की स्थिति सबसे अधिक है। मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर की है। मोहनीय कर्म के स्कंध बंधन के पीछे इतने काल के भीतर सब अवश्य झड़ जायेंगे। इस अपेक्षा विचार किया जावे तो कर्मों का सम्बन्ध आदि अन्त सहित भी है।

ग्रंथकार ने जैन सिद्धांत का यथार्थ भाव अनादि व सादि शब्दों को देकर बता दिया है। यदि एकांत से अनादि सम्बन्ध माना जाय तो वह कभी छूट नहीं सकता। यदि एकांत से सादि सम्बन्ध माना जावे तो यह मानना पड़ जायेगा कि कभी आत्मा शुद्ध था, फिर यह अशुद्ध हुआ। दोनों दोषों का निराकरण इन दो शब्दों के द्वारा हो जाता है। यही वस्तु का स्वरूप भी है। अनादि जगत में अनादि से ही बीज-वृक्ष की तरह जीव और कर्म का सम्बन्ध है, जैसे किसी बीज से वृक्ष होता है, उस वृक्ष से फिर बीज होता है, फिर बीज से वृक्ष होता है। यद्यपि नवीन-नवीन बीज व वृक्ष होता है, तथापि यह कार्य बराबर सदा से चला आता है। यदि हम कहें कि पहले वृक्ष ही था या पहले बीज ही था तो बाधा आती है कि बीज बिना वृक्ष कैसे या वृक्ष बिना बीज कैसे? बीज-वृक्ष का सम्बन्ध अनादि भी है, सादि भी है। इसीतरह जीवों के अशुद्ध भावों से कर्म का संयोग होता है। कर्म-संयोग से अशुद्ध भाव होते हैं, यह कार्य सदा से हो रहा है, इसलिये अनादि सम्बन्ध है। परन्तु पुराना कर्म झड़ता है नया आता है, इसलिये सादि सम्बन्ध है। इसी से शुद्धता भी हो सकती है। जब नवीन कर्म बन्ध के कारण राग-द्वेष-मोह को न किया जावे, तब नया बन्ध न होगा व पुराना बन्ध वीतरागता के प्रभाव से नष्ट हो जायेगा, फिर आत्मा शुद्ध हो जायगा। तत्त्वार्थसार में अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं:—

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः। कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः॥७॥

भावार्थ — बीज तथा वृक्ष के अनादि सम्बन्ध चले आने पर भी यदि बीज को जला दिया जावे, तो फिर उससे वृक्ष का पैदा होना बंद हो जायेगा, इसी तरह कर्मों के बीजों को जला देने पर फिर संसार का कारणभूत राग-द्वेष-मोहरूपी अंकुर नहीं पैदा होगा।

ग्रंथकार ने दिखलाया है कि शुद्धात्मा की भक्ति, किसी विषय व कषाय की पुष्टि के लिये या लौकिक धन-पुत्रादि के लिये नहीं करनी चाहिये। मात्र कर्मबंध काटने के लिये व स्वयं शुद्ध होने के लिये ही करनी चाहिये। जैसा कि तत्वार्थसूत्र की आदि में मंगलाचरण है—

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृतां। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये॥

भावार्थ – मैं मोक्षमार्ग के नेता, कर्म पर्वतों के चूर्ण कर्ता व सर्व तत्त्वों के ज्ञाता परमात्मा को उनही गुणों की प्राप्ति के लिये अर्थात् कर्म क्षय करके शुद्ध होने के लिये नमन करता हूँ।

॥ श्लोक ४॥

परमेष्टी परं ज्योति, आचर्नंतचतुष्टयं।
ज्ञानं पंचमयं शुद्धं, देवदेवं नमाम्यहं॥

अन्वयार्थ – (अहं) मैं (परमेष्टी) परमपद में रहनेवाले (परं ज्योति) परम-ज्योति स्वरूप (आचर्नंतचतुष्टयं) अनंत चतुष्टय में आचरण करनेवाले (पचमयं ज्ञानं) पंचम केवलज्ञानमई (शुद्धं) शुद्ध वीतराग (देवदेवं) देवों के देव परमात्मा को (नमामि) नमस्कार करता हूँ।

विशेषार्थ – यहाँ भी परमात्मा को नमस्कार किया गया है। जो उत्कृष्ट पद मोक्ष में विराजमान हैं, अपने स्व-पर प्रकाशक ज्ञान से जो दीपक की ज्योति की तरह चमक रहे हैं, जो केवलज्ञानमई हैं। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय – ये चार ज्ञान क्षयोपशमरूप विभावज्ञान हैं, जबकि केवलज्ञान शुद्ध स्वभावरूप ज्ञान है। राग-द्वेषादि व ज्ञानावरणादि कर्मों से रहित शुद्ध हैं।
ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य – इन चार मुख्य गुणों में सदा परिणमन कर रहे हैं। इसमें अरहंत तथा सिद्ध दोनों को स्मरण किया गया है।

॥ श्लोक ५॥

अनंत दर्शनं ज्ञानं, वीर्जनंत अमूर्तयं।
विश्वलोकं सुयं रूपं, नमाम्यहं, ध्रुवशाश्वतं॥

अन्वयार्थ – (अहं) मैं (अनंत दर्शनं) अनंत दर्शनमयी (ज्ञानं) अनंत ज्ञानमयी (वीर्जनंत) अनंत वीर्यमयी (अमूर्तयं) अमूर्तीक (विश्वलोकं) सर्व को देखनेवाले (सुयं रूपं) श्रुतज्ञानमयी अर्थात् श्रुतज्ञान के कर्ता अथवा श्रुतज्ञान द्वारा अनुभव करने योग्य (ध्रुव) अविनाशी (शाश्वतं) अनंतकाल रहनेवाले परमात्मा को (नमामि) नमस्कार करता हूँ।

विशेष – यहाँ भी परमात्मा को नमस्कार करके व उनके गुणों को स्मरण करके यह बताया है कि वे ध्रुव हैं अर्थात् कभी उनका क्षय नहीं होगा तथा शाश्वत हैं अर्थात् अनंत काल तक एक रूप रहेंगे, उनमें कोई स्पर्श, रस, गंध, वर्ण जो पुद्गल के गुण हैं, वे नहीं हैं, इसी से वे अमूर्तीक हैं। वे अनंत दर्शन व अनंत ज्ञान के धारी हैं। एक ही काल में ही सामान्य-विशेष रूप सर्व पदार्थों के

ज्ञाता-दृष्टा हैं, स्व-पर प्रकाश करते हुए व आत्मीक आनन्द का विलास करते हुए कभी भी उनको निर्बलता नहीं होती है, इसी से वे अनंत वीर्य स्वरूप हैं। हम अल्पज्ञानी श्रुतज्ञान के द्वारा उनको पहचान करके व भेदज्ञान द्वारा पर से भिन्न अपने ही आत्मा को शुद्ध द्रव्यरूप देख करके उनका अनुभव कर सकते हैं, इसलिये वे श्रुतरूप हैं अथवा सम्पूर्ण श्रुत के कर्ता वे ही अरहंत भगवान हैं, इसलिये श्रुतरूप हैं। वास्तव में जो अपने आत्मा को पहचानता है, वही अरहंत तथा सिद्ध परमात्मा को जान सकता हैं। जैसे कर्दम से मिले हुए जल में भी जल का स्वभाव यदि देखा जावे तो निर्मल ही झलकता है, उसीतरह शरीर व कर्ममल के भीतर रहे हुए भी अपने आत्मा को यदि आत्मारूप शुद्ध दृष्टि से देखा जावे तो यही शुद्ध आत्मा या परमात्मा झलकता है।

॥ श्लोक ६ ॥

नमस्कृत्वा महावीरं, केवलं दृष्टि दृष्टितं ।
व्यक्तरूपं अरूपं च, शुद्धं सिद्धं नमाम्यहं ॥

अन्वयार्थ – (अहं) **मैं** (महावीर) **चौबीसवें तीर्थंकर श्री महावीर भगवान को** (नमस्कृत्वा) **नमस्कार करके** (केवलं दृष्टि दृष्टितं) **केवलज्ञान रूपी नेत्रों के द्वारा प्रत्यक्ष देखे हुए** (व्यक्तरूपं) **प्रकट प्रकाशमान आत्मस्वरूप धारी** (च अरूपं) **और अमूर्तिक** (शुद्धं) **व शुद्ध रागादि रहित** (सिद्धं) **सिद्ध भगवान को** (नमामि) **नमस्कार करता हूँ।**

विशेष – **इस श्लोक में प्रथम – तारण स्वामी ने उससमय जिनका शासन वर्त रहा था – ऐसे श्री महावीर भगवान को नमस्कार किया है। श्री महावीर स्वामी ने अपनी दिव्यध्वनि से मोक्ष का यथार्थ स्वरूप व मोक्ष का यथार्थ मार्ग झलकाया है, जिसको श्रुतज्ञान द्वारा भव्य जीव जानकर व अपने आत्मा का अनुभव करके परम आनन्द पाते हैं,। उनका उपकार कभी भुलाने योग्य नहीं है। वे महावीर इसीलिये हैं कि राजकुमार होते हुए भी राज्य के प्रपंच में नहीं फँसे। दीक्षा लेकर धर्मध्यान और शुक्लध्यान की खड्ग से उन्होंने मोहरूपी वैरी का संहार किया, फिर ज्ञानावरणादि तीन घातीया कर्मों का नाश किया तथा कर्मविजयी हो अपना महावीरपना साक्षात् प्रगट किया।**

ग्रंथकर्ता का लक्ष्य बार-बार शुद्ध आत्मा की तरफ जाता है, इसलिये उन्होंने आठ कर्म रहित श्री सिद्ध भगवान को नमन किया है। जो सर्व परद्रव्यों से व परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले रागादि विकारों से व सर्व भेदों से रहित अभेद एक रूप शुद्ध हैं। यद्यपि वे पुद्गल की तरह स्पर्श, रस, गंध, वर्ण धारी नहीं हैं, इसलिये इन्द्रियों के द्वारा देखने योग्य नहीं हैं, तथापि वे अनुभव करनेवाले

सम्यग्दृष्टि महात्माओं के अनुभव में व्यक्तरूप हैं। श्रुतज्ञान के बल से स्वसंवेदन में आ जाते हैं अथवा उनके आत्मा का स्वरूप सर्व कर्मों के आवरणों से रहित प्रकाशमान है। तथा उन सिद्ध भगवान का प्रत्यक्ष दर्शन केवलज्ञानरूपी नेत्र के ही द्वारा होता है। पाँच ज्ञानों में मति-श्रुत-ज्ञान तो आत्मा आदि अमूर्तिक पदार्थों को परोक्ष रूप से जान सकते हैं, अवधि व मनःपर्यय ज्ञान अमूर्तिक शुद्ध पदार्थ को जान नहीं सकते, मात्र केवलज्ञान में ही ऐसी शक्ति है, जो आत्मा को शुद्ध जैसा का तैसा प्रत्यक्ष देख सके। भावार्थ यह है कि जिस शुद्ध आत्मा को केवलज्ञानी प्रत्यक्ष देखते हैं, उसी शुद्ध आत्मा को अल्पज्ञानी श्रुतज्ञान से प्राप्त भेद-विज्ञान रूपी नेत्र द्वारा देखें, जाने और उसका अनुभव पाकर स्वात्मानंद भोगें। शुद्धात्मा का ध्यान, मनन, चिंतवन ही वीतरागता को बढ़ानेवाला है व राग-द्वेष विभावभावों को मिटानेवाला है।

॥ श्लोक ७-८ ॥

केवलीनंत रूपी च, सिद्धचक्रगणं नमः ।
वोच्छामि त्रिविधं पात्रं, केवलि दृष्ट जिनागमं ॥
साधओ साधुलोकेन, ग्रंथ चेल विमुक्त यं ।
रत्नत्रयं मयं शुद्धं, लोकालोक विलोकितं ॥

अन्वयार्थ – (केवलीनंत रूपी च) तथा अनंत केवलज्ञानादि गुण स्वभाव के धारी (सिद्धचक्रगणं) सिद्ध चक्रों के समूह को (नमः) नमस्कार हो। (त्रिविधं) तीन तरह के (पात्रं) धर्म के पात्र हैं, उनका स्वरूप (वोच्छामि) कहूँगा। वे तीन हैं (केवलि) प्रथम तो केवली भगवान अरहंत-सिद्ध, (दृष्ट जिनागमं) दूसरे केवली भगवान द्वारा देखा हुआ व कहा हुआ जिन-आगम, (साधुलोकेन) तीसरे साधु महाराज जिन्होंने (ग्रंथ चेल विमुक्त यं) परिग्रह और वस्त्र का त्याग किया है, (लोकालोक विलोकितं) लोक और अलोक को देखनेवाले (शुद्धं) शुद्ध वीतराग (रत्नत्रयं मयं) रत्नत्रयमयी धर्म का (साधओ) साधन किया है।

विशेषार्थ – यहाँ फिर भी ग्रंथकार ने भक्ति से भरपूर हो अनंत-ज्ञान-सुख-वीर्यादि पवित्र गुणधारी अनंत सिद्धों को नमस्कार किया है। जैन सिद्धांत का यह भाव है कि जो कोई आत्मा कर्म बंधनों को काटकर व सर्व विकारों से छूटकर शुद्ध आत्मा हो जाता है। पुद्गल के बंध से रहित हो केवल आत्मद्रव्य मात्र रह जाता है। मल रहित सुवर्ण के समान स्वच्छ हो जाता है, वही परमात्मा आराधन करने योग्य होता है। अनंत जगत में ऐसे अनंत जीव सिद्ध परमात्मा हो चुके हैं। वे सब गुणों

में समान होने पर भी सत्ता की अपेक्षा व अपने-अपने पृथक्-पृथक् आत्मप्रदेशों की अपेक्षा भिन्नभिन्न हैं। मुक्त होने पर वे एक दूसरे में समाकर अपनी सत्ता नहीं खो बैठते हैं। इसतरह अनंत सत्ताधारी सिद्धों को यहाँ नमन किया गया है। फिर ग्रंथकार यह प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं पहले तीन तरह के धर्मधारी पात्रों का स्वरूप कहूँगा। पात्र बर्तन को कहते हैं। देव धर्म के पात्र हैं। शास्त्र धर्म का पात्र है, क्योंकि उसमें धर्म का वर्णन है। गुरु धर्म के पात्र हैं, क्योंकि वे धर्म का साधन करते हैं। केवलज्ञानी अरहंत व सिद्धदेव धर्म पात्र हैं। अरहंत का कहा हुआ जिन-आगम-शास्त्र धर्म पात्र है। सर्व परिग्रह रहित, वस्त्र रहित, अचेल काया निर्ग्रंथ साधु, जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रमयी धर्म का साधन करते हैं, वे गुरु धर्म पात्र हैं। यह धर्म व्यवहार नय से तीन रूप है, निश्चय नय से शुद्ध अभेद एक निज आत्मा की परिणति है। वह परिणति लोकालोक के छः द्रव्यों को परोक्ष रूप से जानने वाली है, क्योंकि श्रुतज्ञान में सर्व पदार्थों का स्वरूप है। उस श्रुत को जाननेवाला साधु का आत्मा है। इसलिये रत्नत्रयमई आत्मा ज्ञान से भरपूर पूर्ण संतुष्ट है। इस शुद्ध आत्मिक भाव को मोक्ष साधक जानकर साधन करनेवाले साधु होते हैं, वही गुरु हैं। प्रयोजन यह है कि जो श्रावक धर्म का लाभ करना चाहें, उनको प्रथम ही सच्चे देव-शास्त्र-गुरु पर श्रद्धा लानी चाहिये।

॥ श्लोक ९-१० ॥

सु सम्यक्तं ध्रुवं दृष्टं, शुद्ध तत्व प्रकाशकं।
ध्यानं च धर्म शुक्लं च, ज्ञानेन ज्ञानलंकृतं ॥
आर्त्त-रौद्र परित्याज्यं, मिथ्यात् त्रय न दृष्टते।
शुद्ध धर्ममयं भूत्वा, गुरुं त्रैलोक्यवंदितं ॥

अन्वयार्थ – (शुद्ध तत्व प्रकाशक) **शुद्ध आत्मतत्व को प्रगट करनेवाला** (ध्रुव) **अविनाशी** (सु सम्यक्त) **निर्मल सम्यग्दर्शन** (च) **और** (ज्ञानेन) **आत्मज्ञान के द्वारा** (ज्ञानलकृत) **ज्ञान की शोभा बढानेवाला** (धर्म शुक्ल च ध्यान) **धर्म तथा शुक्लध्यान** (दृष्ट) **जिनके द्वारा अनुभव किया गया,** (आर्त्त-रौद्र परित्याज्य) **आर्त्त तथा रौद्र ध्यान छोड़ दिया गया।** (मिथ्यात् त्रय) **तीन प्रकार का मिथ्या – दर्शन अर्थात् मिथ्यात्व, सम्यक्-मिथ्यात्व तथा सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व** (न दृष्टते) **जिनमें नहीं दिखलाई पड़ता है।** (शुद्ध धर्ममय भूत्वा) **जो शुद्ध आत्मधर्म स्वरूपमयी हो गये हैं** (त्रैलोक्यवदित) **ऐसे तीन लोक से वंदना योग्य** (गुरु) **गुरु होते हैं।**

विशेषार्थ – यहाँ साधु महाराज की विशेष महिमा बताई हैं। उनमें निश्चय सम्यग्दर्शन होता है, जो शुद्ध आत्मा के तत्व को सर्व परद्रव्यों से भिन्न प्रकाशित करता है। सम्यक्त्व के बिना बाहरी चारित्र पालने पर भी साधुपना नहीं हो सकता है। फिर वे धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान का आराधन करते हैं, ये दोनों ध्यान मोक्ष के साधक हैं। साधुओं के सात गुणस्थान होते हैं। छठवें (छटे) तथा सातवें गुणस्थान में तो धर्मध्यान होता है। फिर आठवें से बारहवें तक शुक्लध्यान होता है। आत्मज्ञान में स्थिरता को ध्यान कहते हैं। जहाँ आत्मा का ज्ञान, ज्ञान से ही अलंकृत होता है। जहाँ आत्मा का ज्ञान ज्ञानचेतना रूप परिणमन करता है, वहीं धर्म तथा शुक्लध्यान होता है। धर्मध्यान में कुछ सरागता है। शुक्लध्यान में ऐसी निर्मलता है कि साधु को कोई राग का विकल्प नहीं होता है। बुद्धिपूर्वक चंचलता भी नहीं है। प्रथम शुक्लध्यान में जो योग द्वारा शब्द व ध्येय पदार्थ की पलटना होती है, वह अबुद्धिपूर्वक पूर्व अभ्यास से हो जाती है। ध्याता मुनि का उपयोग तो शुद्ध आत्मा की परिणति की तरफ ही रहता है। यद्यपि साधु का आहार-विहारादि छठवें गुणस्थान में होता है, इसलिये सराग भाव छठवें में है। सातवें अप्रमत्त गुणस्थान में वीतराग भाव की मुख्यता है, तथापि आठवें के मुकाबले में वहाँ अल्प वीतरागता या कुछ सरागता है। दूसरे शुक्लध्यान में चंचलता नहीं है। इसी से केवलज्ञान का लाभ होता है। साधु को संसार का कारण आर्त व रौद्रध्यान नहीं होना चाहिये। शोक व दुःख भावरूप आर्त्तध्यान हैं, उसके चार भेद हैं – इष्ट वियोग से, अनिष्ट के संयोग से, किसी पीड़ा से, व भोगों की आगामी प्राप्ति की चिन्ता – से इसप्रकार यह संक्लेशभाव चार तरह का है। दुष्ट भाव को रौद्रध्यान कहते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी व परिग्रह में आनन्दित होना चार प्रकार का रौद्रध्यान है। साधु में तीन प्रकार का मिथ्यात्व नहीं होना चाहिये। जिससे बिलकुल मिथ्या श्रद्धा हो, वह मिथ्यात्व है। जिससे सच्ची-झूठी मिली हुई श्रद्धा हो, वह सम्यक्-मिथ्यात्त्व है। जहाँ सम्यक्त्व में मात्र दोष या अतीचार लगे, वह सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व है। गुरु महाराज शुद्ध तत्त्व के अनुभव में ऐसे मगन रहते हैं, मानो उन रूप ही हो गए हैं। ऐसे धर्म के पात्र गुरु, इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि सर्व तीन लोक के बड़े-बड़े पुरुषों द्वारा वन्दनीक हैं। श्रावक को उचित है कि ऐसे निर्ग्रंथ गुरु की भक्ति करें तथा उनसे सत्य उपदेश का लाभ करें।

॥ श्लोक ११ ॥

सार सारस्वती दृष्टं, कमलासने संस्थितं ।
ॐ वं ह्रियं श्रियं सुयं, ति अर्थ प्रतिपूर्णितं ॥

अन्वयार्थ – (कमलासने) **अर्हंत भगवान के हृदय कमलरूपी आसन में** (मस्थित) **भले प्रकार विराजित** (ॐ वं ह्रियं श्रियं) **ॐ, ह्रीं, श्रीं** (ति अर्थं) – **इन तीन अर्थों से** (प्रतिपूर्णित) **परिपूर्ण** (सुयं) **ऐसी श्रुतज्ञान मई** (सार सारस्वती) **उत्तम सरस्वती या जिनवाणी** (दृष्ट) **देखने योग्य है।**

विशेषार्थ – **जिनवाणी में वही ज्ञान है, जो अर्हंत भगवान के भीतर शोभायमान है। लोक में कमल के मध्य में सरस्वती को विराजमान करते हैं, यहाँ उसी अलंकार को लेकर यह कहा गया है कि अर्हंत के हृदयरूपी कमल में यह जिनवाणी विराजित है। ॐ ह्रीं श्रीं – ये तीनों ही मंत्र पंच परमेष्टी, चौबीस तीर्थंकर तथा केवलज्ञानादि लक्ष्मी के क्रम से वाचक हैं, जैसा पहले कहा है। इन तीनों के भावों को वह जिनवाणी भले प्रकार दिखलाने वाली है। यह वाणी सार है, क्योंकि सार तत्त्व जो आत्मा है, उसको झलकाने वाली है। भगवत् द्वारा प्रकाशित ध्वनि को सुनकर गणधर देवादि उस ध्वनि के भाव को धारण करते हैं। उसी से द्वादशांग की रचना होती है। उसी का सार परंपरा से जिन-आगम से आया हुआ, अब तक आचार्यों की परम्परा से मिलता है। ऐसी सरस्वती या जिनवाणी ही जैन शास्त्र मानने योग्य है।**

॥ श्लोक १२ ॥

कुज्ञानं त्रि विनिर्मुक्तं, मिथ्या छाया न दृष्टते।
सर्वज्ञं मुखवाणी च, बुधप्रकाशं शाश्वती ॥

अन्वयार्थ – (कुज्ञान त्रि) **तीन अज्ञान-कुमति, कुश्रुत, कुअवधि से अथवा संशय, विमोह, विभ्रम से** (विनिर्मुक्त) **रहित है।** (मिथ्या छाया) **मिथ्यादर्शन की छाया** (न दृष्टते) **जहाँ नहीं दिखलाई पड़ती है** (सर्वज्ञ मुखवाणी च) **तथा वह वाणी सर्वज्ञ के मुख से प्रकट हुई है,** (बुधप्रकाश) **व गणधर देवादि बुधजनों के द्वारा प्रकाशित होती है** (शाश्वती) **तथा नित्य प्रवाहरूप सदा से चली आ रही है।**

विशेषार्थ – **केवलज्ञान द्वारा जिन पदार्थों को सर्वज्ञ भगवान ने देखा है, उन्हीं का प्रकाश उनकी दिव्यध्वनि के द्वारा होता है। उसको सुनकर गणधरदेव द्वादशांग रचना करते हैं, उसी के अनुसार अन्य बुद्धिमान आचार्य और शास्त्र रचते हैं, इसतरह वह ज्ञान अबतक प्रकाशित होता रहा है। जो सर्वज्ञ का ज्ञान है, उसमें कुमति, कुश्रुत व कुअवधिपना बिलकुल नहीं है, क्योंकि तीनों ही कुज्ञानों में मिथ्यात्व की छाया पड़ती है। सर्वज्ञ के ज्ञान में मिथ्यादर्शन की छाया नहीं दिखलाई पड़ती है, उसीतरह जिस ज्ञान को शास्त्रों में भरा जाता है, वह श्रुतज्ञान भी सम्यग्ज्ञान है। उसमें भी मिथ्यात्व की छाया नहीं है और न उसमें ज्ञान के तीन दोष हैं – संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय। यह वस्तु ऐसी है कि नहीं है – यह संशय है। वस्तु को कुछ का कुछ निश्चय कर लेना – विपर्यय है।**

वस्तु के जानने में आलस्य – अनध्यवसाय है। तथा यह श्रुतज्ञान प्रवाह की अपेक्षा नित्य है, सदा ही केवलज्ञानियों के द्वारा प्रगट होता रहा है और विद्वान आचार्यों द्वारा शास्त्रों में गूँथा जा रहा है। विदेह क्षेत्र में नित्य ही रहता है, क्योंकि वहाँ सदा ही तीर्थंकरों का अस्तित्व रहता है। केवलज्ञान यद्यपि एकाकी है, तथापि उसमें अन्य चार मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय सम्यग्ज्ञानों का विषय गर्भित है, परंतु तीन कुमति आदि कुज्ञानों का विषय नहीं है, क्योंकि वहाँ केवली की आत्मा में क्षायिक सम्यक्त्व है, मिथ्यात्व का अंश मात्र भी नहीं है। जो जिनवाणी सर्वज्ञ मुख से प्रगट हुई है व गणधरादि द्वारा प्रकाशित होती रहती है, वही प्रमाणभूत है।

॥ श्लोक १३ ॥

कुज्ञानं तिमिरं पूर्ण, अंजनं ज्ञानभेषजं।
केवली दृष्ट स्वभावं च, जिन सारस्वती नमः॥

अन्वयार्थ – (कुज्ञान) **मिथ्याज्ञान रूपी** (तिमिर) **अंधकार से** (पूर्ण) **पूर्ण जो भाव है, उसको मिटाने के लिये** (ज्ञानभेषज) **ज्ञानरूपी औषधि** (अजन) **अंजन के समान है।** (केवलि दृष्ट स्वभावं च) **केवली द्वारा देखे हुए स्वभावों को प्रकाश करनेवाली ऐसी** (जिन सारस्वती) **जिनेश्वर की वाणी सरस्वतीदेवी को** (नमः) **नमस्कार हो।**

विशेषार्थ – जिनवाणी वही सच्ची है जो उन ही पदार्थों को वैसा ही प्रकाशित करे, जैसा केवलज्ञानी ने जाना है। यह वाणी ज्ञान की स्थापनारूप है। शब्दों में ज्ञान भरा जाता है। यह श्रुतज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान उन व्यक्तियों के लिये अंजनरूप औषधि है, जिनके भीतर कुज्ञान का अंधेरा छाया हुआ है। जिनवाणी को ध्यान से पढ़ने से, विचारने से, अनुभव करने से अज्ञान मिट जाता है, सम्यग्ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। जैसे आँख में रोग हो, धुंधलापन हो ;जिससे पदार्थ ठीक न दिखता हो, या और का और दिखता हो तब चतुर वैद्य द्वारा डाला हुआ अंजन उस दोष को मेट देता है तब पदार्थ ठीक-ठीक जैसा का तैसा दिखलाई पड़ता है। इसीतरह अज्ञानियों के हृदय में जो संशय, विपर्यय, अनध्यवसायरूप दोष है, वह जिनवाणी के यथार्थ अभ्यास से मिट जाता है ; तब जो एकांतरूप पदार्थ का ज्ञान था, वह अनेकांतरूप पदार्थ का ज्ञान हो जाता है। हरएक पदार्थ अनेक स्वभावों को रखनेवाला है। जिस पदार्थ के जो जो यथार्थ स्वभाव हैं वे मालूम पड़ जाते हैं। मोक्षमार्ग में सहकारी आत्मा का यथार्थ ज्ञान है। यह आत्मा सर्व अनात्मा से – पुद्गल धर्म अधर्म काल आकाश से, रागादि कर्मजनित भावों से व अन्य आत्माओं से भिन्न अपने ही निज शुद्ध स्वभावरूप है। यह

स्वसंवेदन रूप ज्ञान मोक्ष का उपाय है वह ज्ञान जिस जिनवाणी से मिलता है, उसको हमारा नमस्कार हो।

॥ श्लोक १४॥

देवं श्रुतं गुरुं वन्दे, ज्ञानेन ज्ञानलंकृतं।
वोच्छामि श्रावकाचारं, व्रतं सम्यग्दृष्टितं॥

अन्वयार्थ – (ज्ञानेन) **आत्मज्ञान के द्वारा** (ज्ञानलकृतं) **जहां ज्ञान की शोभा हो रही है ऐसे** (देव) **सर्वज्ञदेव को** (श्रुतं) **उनकी जिनवाणी को** (गुरु) **उसके अनुसार चलनेवाले गुरु को** (वंदे) **नमस्कार करता हूँ।** (व्रत सम्यग्दृष्टित) **बारह व्रत और सम्यग्दर्शन रूप** (श्रावकाचार) **श्रावकों के आचार को** (वोच्छामि) **कहूँगा।**

विशेषार्थ – **ग्रंथकार ने देव, शास्त्र, गुरु को वंदना करके अपनी गाढ़ श्रद्धा झलकाई है, उनको स्मरण करते हुए उनमें आत्मज्ञान की शोभा पर ही लक्ष्य दिया है। वास्तव में तत्वखोजी अरहंत-सिद्ध में भी शुद्ध आत्मा को देखता है, शास्त्रों के भीतर भी शुद्ध आत्मा का ही दर्शन करता है व गुरु महाराज के भीतर भी शुद्ध आत्मा को देखता है अथवा उनके द्वारा शुद्ध आत्मा का बोध प्राप्त करता है। इस वंदना द्वारा यह बात बताई गई है कि मैं सम्यक्‌दर्शन तथा व्रतरूप जो श्रावकों का – गृहस्थों का आचरण है, उसका व्याख्यान करते हुए वही कहूँगा जो देव, शास्त्र, गुरु के द्वारा प्रकाशित है व जिसको सुनकर, जिसको समझकर व जिस पर आचरण करने से मुमुक्षु जीव को आत्मज्ञान सहित पञ्चम देशविरति गुणस्थान का लाभ हो जावे तथा वह सच्चा जैनी श्रावक हो जावे।**

॥ श्रावकाचार का प्रारम्भ ॥

॥ संसार–शरीर–भोग का स्वरूप ॥

॥ श्लोक १५॥

संसारे भय दुःखानां, वैराग्यं येन चिंतये।
अनृतं असत्यं जानंते, असरनं दुःखभाजनं॥

अन्वयार्थ – (भय दुःखानां) **भय और दुःखों से भरे हुए** (संसारे) **संसार में** (येन) **उस मुमुक्षु द्वारा** (वैराग्यं) **वैराग्यभाव** (चिंतये) **चिंतवन किया जाता है।** (अनृतं) **यह संसार मिथ्या है,** (असत्यं) **असत्य है,** (असरनं) **अशरण है,** (दुःखभाजनं) **दुखों का भाजन है।**

विशेषार्थ – **जो कोई अपना हित करना चाहे उसको पहले यह विचारना चाहिये कि मेरी वर्तमान दशा कैसी है। यदि यह बुरी है तो इसको दूर करना ही चाहिये। वह स्वहित प्रेमी विचारता है कि मैं संसारी हूँ। जिस संसार में भ्रमण कर रहा हूँ यह सदा भयरूप है। हर एक शरीर में रहते हुए मरण का भय व दुःखों के आने का भय, रोगी होने का भय, सुख के साधक माने हुए स्त्री–पुत्रादि धन–लक्ष्मी के छूट जाने का भय लगा रहता है। तथा यह संसार दुःखों से भरा हुआ है। शारीरिक व मानसिक अनेक दुःख ही दुःख हैं। चिंता व इच्छा व तृष्णा का दाह बड़ा भारी दुःख है। अज्ञानी प्राणी जिन विषय भोगों के द्वारा इस तृष्णा के दाह को मिटाना चाहता है उतना अधिक वह तृष्णा के दाह को बढ़ा लेता है। जन्म, जरा, मरण, शोक, क्लेश, व क्रोधादि कषाय आदि द्वारा संसार में सदा दुःख ही है। अनेक व्याधियों के होने पर यदि कोई रोग कुछ देर के लिये कम हो जाता है उसको सुख मान लिया जाता है, परंतु वह सुख नहीं है किंतु दुःख की कुछ कमी मात्र है। यह विषय–सुख आगामी दुःख बढ़ाने का कारण है। कर्मों की पराधीनता का संसार में बड़ा दुःख है। इसीलिये चाहा हुआ काम नहीं होता। होते हुए सुखों में बाधा आ जाती है। इच्छित पदार्थ नहीं मिलते। वे सदा एक से नहीं रहते, यह उनको एक–सा रखना चाहता है, तब बहुत क्लेशित होता है। स्त्री–पुत्रादि जब इच्छानुकूल नहीं चलते हैं तब वज्र के प्रहारवत् दुःख होता है। नरक व पशु व मानवगति तो दुःखरूप हैं ही, देवगति में भी मानसिक दुःख अधिक है, ईर्ष्याभाव व वियोगभाव कृत शोक हैं। इसको असत्य स्वप्नसम देखना चाहिये। जैसे सोते में स्वप्न देखा जाता है, जागने पर कुछ नहीं रहता, वैसे किसी शरीर में रहते हुए**

जिन-जिन चेतन व अचेतन पदार्थों का सम्बन्ध होता है उनके वियोग होने पर व अपना मरण आने पर उनका संयोग स्वप्न के समान हो जाता है। यह संसार असत्य इसलिये है कि जिन-जिन को अपनाया जाता है वे सब पर हैं। स्वार्थवश परस्पर कुछ स्नेह करते हैं। यदि अपने स्वार्थ में हानि आती है तो उसीसमय बैरी हो जाते हैं। संसार में जो कुछ दिखलाई पड़ता है वह सब पर्याय है, अवस्था है, जो अवश्य बदलनेवाली है। उसको स्थिर मानना यही असत्य है। धन, जीतव्य, कुटुम्ब, राज्य, रूप, बल, यौवन, आदि सदा बना रहेगा, यह बुद्धि बिलकुल मिथ्या है। सूर्य की धूप व छाया को एक स्थल पर थिर मानना मात्र भ्रम है, असत् है। फिर यह संसार अशरण है। मरण से कोई बचा नहीं सकता। तीव्र कर्म के उदय से कोई रक्षित नहीं कर सकता। अकेला ही मरना पड़ता है, अकेला ही रोगी, धनहीन व कुटुम्बहीन होना पड़ता है। इसतरह संसार का स्वरूप विचार कर इससे वैराग्य चिंतवन करना चाहिये तब ही श्रावकधर्म के साधन में प्रीति हो सकेगी। श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चय में कहते हैं —

जीवितं विद्युतातुल्यं संयोगाः स्वप्नसन्निभाः। सन्ध्यारागसमः स्नेहः शरीरं तृणबिन्दुवत्॥१५०॥
शक्रचापसमा भोगाः सम्पदो जलदोपमाः। यौवनं जलरेखेव सर्वमेतदशाश्वतम्॥१५१॥

भावार्थ — यह जीवन बिजली के समान क्षणभंगुर है, स्त्री-पुत्रादि का संयोग स्वप्न के समान है, मित्रादि से स्नेह सन्ध्या समय की लाली के समान नाशवंत है। शरीर तृण पर रखी हुई जल की बूंद के समान पतन होनेवाला है, कामभोग इन्द्रधनुष्य के समान क्षणिक हैं, सम्पदायें मेघों के समान बिला जानेवाली, जवानी जल की रेखा समान मिट जाती है। यह सर्व पदार्थ अनित्य हैं। ऐसे अनित्य संसार-चरित्र में लुभा जाना मूर्खता है, यही मूर्खता महान दुःखों का हेतु है। इसलिये बुद्धिवान को इनसे वैराग्य का चिन्तवन करना चाहिये।

॥ श्लोक १६ ॥

असदशाश्वतं दृष्टं, संसारं दुःख भीरुदं।
शरीरं अनित्यं दृष्टं, अशुच्यमेध्यपूरितं॥

अन्वयार्थ — (संसारं) इस चतुर्गति भ्रमण रूप संसार को (असत्) असत्य — अयथार्थ कल्पित (अशाश्वतं) क्षणभंगुर — नाशवंत व (दुःखभीरुदं) दुःख तथा भय को देनेवाला (दृष्टं) देखना चाहिये। (शरीरं) इस शरीर को (अनित्यं) न रहनेवाला — क्षणिक, (अमेध्यपूरितं) मल-मूत्रादि का भरा हुआ (अशुचिं) अपवित्र (दृष्टं) देखना चाहिये।

विशेषार्थ — जो अपना सच्चा हित चाहें उन ज्ञानी जीवों को विचारना चाहिये कि यह संसार जैसे असत्य, अनित्य व दुःख और भय का ठिकाना है वैसे यह शरीर भी अनित्य और अपवित्र मलादि

का भरा हुआ है। संसार में वास आकुलता देनेवाला है, निरन्तर क्लेशित व भयवान रखनेवाला है तथा यह मानव का शरीर जिसमें यह मानव रहकर जीवन के दिन पूर्ण करता है, बिलकुल अनित्य है, आयुकर्म के आधीन है, आयुकर्म के खिर जाने से छूट जायगा तथा पाप के उदय से रोगी व निर्बल हो जाता है तथा दिन पर दिन पुराना पड़ता है, इसमें बुढापा आ जाता है। अकालमृत्यु के कारण मिलने पर शीघ्र ही छूट जाता है तथा यह अपवित्र भी है, माता के रुधिर व पिता के वीर्य से इसकी उत्पत्ति हुई है तथा यह दो ऑख, दो नाक छिद्र, एक मुँह, दो कान व दो मध्य के उपांग – इन नव द्वारों से निरन्तर मल ही बहता है। इसके करोड़ों रोओं से भी मल ही निकलता है, भीतर हड्डी, चरबी, रुधिर, मॉस, कीड़े आदि से व मल-मूत्र से भरा हुआ है। यदि बाहर की खाल का ऊपर का भाग निकाल डाला जावे, तो यह शरीर ऐसा घिनावना हो जायगा कि आप ही अपने तन को न देख सकेगा तथा उसे काकादि व मक्खी आदि नोच-नोच कर खा लेंगे। ऐसे नाशवंत, गलनशील तथा महा अपवित्र शरीर में राग करके आत्मा का अहित न करना चाहिये। यह शरीर फिर न प्राप्त हो ऐसी मुक्ति का यत्न करना चाहिये। सारसमुच्चय में कहा है :

मर्वशुचिमय कायं नश्वरं व्याधिपीडितं। को हि विद्वान् रतिं गच्छेद्यस्यास्ति श्रुतमगम ॥१५३॥

भावार्थ – यह शरीर पूर्णपने अपवित्र है, नश्वर है, रोग पीडित है, जो शास्त्रज्ञ है वह विद्वान् ऐसे शरीर में किसतरह स्नेह करेगा?

॥ श्लोक १७॥

भोगं दु:खं अतीदुष्टं, अनर्थं अर्थलोपितं।
संसारे स्रवते जीव:, दारुणं दु:खभाजनं॥

अन्वयार्थ – (भोग) पॉचों इन्द्रियों के भोग (दु ख) आकुलता रूप दु:ख ही के कारण हैं, (अतीदुष्ट) अती दुष्ट स्वभाव वाले हैं। (अनर्थ) जीवन बुरा करने वाले हैं (अर्थलोपित) आत्मा के सच्चे कार्य को लोप करने वाले हैं। इन्हीं के कारण (समार) चार गतिरूप संसार में (जीव) यह जीव (दारुण) भयानक (दु खभाजन) दु:खों का पात्र होकर (स्रवतं) भ्रमण किया करता है।

भावार्थ – पॉचों इन्द्रियों के भोगों में आसक्त बुद्धि अज्ञानी जीवों के होती है इसलिये ग्रंथकार कहते हैं कि इन भोगों के कारण प्राणी को आकुलतामयी दु:ख ही होता है। उनकी प्राप्ति के लिये दु:ख, प्राप्त होने पर भोगने की तृष्णारूप दु:ख, भोगकर तृष्णा बढ़ाने का दु:ख, भोग्य वस्तुओं के छूट जाने पर उनके वियोग का दु:ख – इसतरह ये भोग रोग के समान दु:खरूप ही हैं, तथा ये अति दुष्ट स्वभावधारी हैं, जो इन भोगों से अधिक राग करते हैं वे भोगों के लिये अन्याय

कार्य करके – अन्याय से धनादि सामग्री एकत्र करके महान पापकर्म बांधते हैं। पाप के फल से घोर दुःख उठाते हैं, कभी-कभी अन्याय का फल राज्यदंडादि यहां भी पा लेते हैं।

जिससे प्रेम करो वही दुःख में डाले यही दुष्ट की दुष्टता है। ये भोग तृप्ति तो देते नहीं, उल्टी तृष्णा की दाह बढ़ाकर जीव को महान अनर्थ करते हैं तथा जो इनके मोह में अंधा हो जाता है वह अपने आत्मा के कार्य को लोप कर देता है। वह कभी धर्म में दिल नहीं लगाता है। उसे आत्मा की बात भी नहीं सुहाती है। वह मोक्षमार्ग का साधन न करके मानव जन्म को विफल खोता है। इन भोगों की आसक्ति से तीव्र कर्म बाँधकर जीव निगोद, नरक व एकेन्द्रियादि तिर्यंच पर्यायों में उत्पन्न होकर अति भयानक चिन्तवन में न आवें – ऐसे कष्टों को भोगता है। सारसमुच्चय में कहते हैं–

वरं हालाहलं भुक्तं विषं तद्भवनाशनं। न नु भोगविषं भुक्तमनन्तभवदुःखदं॥७६॥
इन्द्रियप्रभवं सौख्यं सुखाभासं न तत्सुखं। तच्च कर्म विबन्धाय दुःखदानैकपण्डितम्॥७७॥

भावार्थ – हालाहल विष खा लेना अच्छा है, उससे इसी जन्म का नाश होगा, किन्तु इन्द्रिय भोगों की आसक्तिरूप विष का सेवन ठीक नहीं, क्योंकि इससे अनन्त भवों में दुःख उठाना पड़ता है। इन्द्रियों के भोग द्वारा होनेवाला सुख सुखाभास है, सुख-सा दिखता है वह सच्चा सुख नहीं है उससे तो ऐसा कर्मबन्ध होता है जो महान दुःखरूप फलता है, ऐसा विचारकर ज्ञानी को भोगों से वैराग्य रखना चाहिये।

॥ संसार का कारण॥

॥ श्लोक १८॥

अनादी भ्रमते जीवः, संसारे सार-वर्जिते।
मिथ्यात् त्रितय संपूर्ण, सम्यक्तं शुद्धलोपनं॥

अन्वयार्थ – (सारवर्जिते) सार रहित असार (संसारे) संसार में (अनादी) अनादि काल से (जीवः) यह जीव (सम्यक्तं शुद्धलोपनं) शुद्ध सम्यग्दर्शन को लोप करनेवाले (मिथ्यात् त्रितय संपूर्ण) तीन प्रकार के मिथ्यात्व से भरा हुआ (भ्रमते) भ्रमण करता रहता है।

विशेषार्थ – ऊपर दिखाया है उसतरह यह संसार जो दुःखरूप है जिसमें क्षणिक व अशुचि शरीर प्राप्त होता है व जिसको इन्द्रियों के भोग दुःख के कारण हैं, बिलकुल सार रहित है अर्थात् इसमें रमण करने से कोई स्थिर सुख व शान्ति नहीं प्राप्त होती है। जैसे केले के खम्भे को छीलने से पत्ता ही पत्ता मिलता है– सार अर्थात् गूदा नहीं मिलता है। चाहे कितनी भी गूदे के पाने की आशा की जावे। उसीतरह इस संसार में सर्वत्र आकुलता व क्लेश ही मिलता है, कहीं भी सुख-शांति नहीं

मिलती, चाहे कितनी भी सुख-शांति पाने की आशा की जावे। इस असार संसार में अनादि काल से यह जीव मिथ्यात्व के उदय से भ्रमण कर रहा है। मिथ्यात्व कर्म सम्यक्त्व का विरोधी है। शुद्ध आत्मप्रतीति रूप सम्यग्यदर्शन को मिथ्यात्व ने छिपा रक्खा है। इस मिथ्यात्व रूपी दर्शनमोह के नशे में यह प्राणी भूला हुआ सच्चे सुख को नहीं पहचान सकता, न अपने आत्मा के असली स्वरूप को जानता है। भ्रम से त्यागने योग्य संसार को ग्रहण करने योग्य मानता रहता है, विषय की लालसा से दारुण कष्ट पाते हुए पड़ा रहता है। अनादिकालीन जीव के साथ तो एक मिथ्यात्व का ही संसर्ग है। परंतु जब किसी जीव को एक दफे उपशम सम्यग्दर्शन हो जावे और फिर वह छूट जावे तब उसकी सत्ता में तीन प्रकार का मिथ्यात्व या दर्शनमोह हो जाता है – मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व व सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व, क्योंकि वे तीनों ही शुद्ध सम्यक्त्व या क्षायिक सम्यक्त्व के घातक हैं इसलिये ग्रंथकर्ता ने सामान्य से कह दिया है कि इन तीन शत्रुओं के कारण यह जीव सम्यक्त्व का प्रकाशन करके भ्रमण करता रहता है।

॥ श्लोक १९॥

मिथ्यादेवं गुरुं धर्मं, मिथ्या माया विमोहितं।
अनृतमचेतरागं च, संसारे भ्रमणं सदा॥

अन्वयार्थ – (मिथ्यादेवं गुरु धर्मं) मिथ्या देव, मिथ्या गुरु, मिथ्या धर्म, (मिथ्या) मिथ्यात्व भाव व (माया) मायाचार इन दोनों से (विमोहितं) अचेतपना, (अनृतं) मिथ्या वचन (अचेतरागं च) और अचेत अर्थात् जो चैतन्य नहीं है अनात्मा है उसमें रागभाव के कारण (सदा) अनादि से अनंतकाल तक (संसारे) संसार में (भ्रमण) जीवों का भ्रमण हुआ करता है।

विशेषार्थ – यहाँ बताया है कि इस संसार में जीवों के भ्रमण होने व कष्ट उठाने का क्या-क्या मूल कारण है। धर्म में प्रेरक सच्चे देव, गुरु, धर्म हैं वैसे ही अधर्म में प्रेरक मिथ्या देव, गुरु, धर्म हैं। रागी, द्वेषी, संसार कार्यों में आसक्त, जिनमें न सर्वज्ञपना है न वीतरागता है, वे सब ही मिथ्या देव हैं, विषय कषायों की पुष्टि करनेवाले व अपने को महान मान के पुजवाने वाले, भक्तों के मन प्रसन्न रखने वाले, आत्मज्ञान शून्य, आरम्भ-परिग्रह में लीन सर्व ही मिथ्या गुरु हैं। वीतराग-विज्ञान या आत्मज्ञान और वैराग्य से विरुद्ध राग-द्वेष व हिंसा पोषक श्रद्धान-ज्ञान-आचरण सब मिथ्या धर्म हैं। इनकी श्रद्धा व भक्ति मोक्षमार्ग से दूर रखती है, इसीतरह अनादि से चला आया हुआ अगृहीत मिथ्यात्व भाव कि मै पशु हूँ, मनुष्य हूँ, देव हूँ, नारकी हूँ, इत्यादि अहंकार भाव तथा मेरा तन है, धन हैं, मेरी स्त्री है, मेरे पुत्र हैं, मेरा राज्य है, इत्यादि ममकार भाव संसार में फँसानेवाले हैं। मायाचार भी

जीव को अचेत रखता है। विषयभोग की तृष्णा में फँसा हुआ जैसे मकड़ी जंतुओं को फँसाने के लिये जाल बनाती है इसीतरह रात-दिन दूसरों को ठगने के लिये संसारी प्राणी मायाचार करते रहते हैं। माया उनकी प्रकृति-सी हो गई है। मिथ्यात्वभाव व मायाचार ने परिणामों को मूढ़ व मोही बना रखा है। अपना इष्ट-प्रयोजन सिद्ध करने को मिथ्यावचनों का कहना व मिथ्या उपदेश देना, अपने को व दूसरों को गुमराह कराने वाला है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप के सिवाय जितना भी अचेत भाव या अनात्मभाव है अर्थात् अशुद्ध आत्मपरिणति, लोभ व मान की पुष्टि, कामभाव, व्यवहार धर्म जैसे पूजा, पाठ, जप, तप, गृही या साधु का धर्म इत्यादि में राग अचेतराग है। आत्मा के शुद्ध प्रेम से बाहर है। ये सब कारण ही इस जीव को चार गति रूप संसार में भ्रमण करानेवाले हैं

॥ श्लोक २०॥

अनृतं विनाशी चित्ते, असत्ये उत्साहं कृतं।
अज्ञानी मिथ्या सहियं, शुद्धबुद्धं न चिंतए॥

अन्वयार्थ – (अनृतं) मिथ्या वचन या मिथ्या उपदेश (चित्ते) चित्त में भरा हुआ (विनाशी) आत्मा का घात करने वाला है। इससे (असत्ये) मिथ्या मार्ग में (उत्साहं कृतं) उत्साह हो जाता है। (मिथ्या सहियं) मिथ्या धर्म को रखने वाला (अज्ञानी) ज्ञानशून्य प्राणी (शुद्धबुद्धं) शुद्ध-बुद्ध परमात्मा को (न चिंतए) नहीं चिन्तवन करता है।

विशेषार्थ – मिथ्यादेव के आश्रय से व मिथ्या गुरु के द्वारा जो मिथ्यात्व का उपदेश मन में भर जाता है वह उपदेश आत्मा के भावों को ऐसा विपरीत बना देता है जिससे उसका संसार बढ़ता जाता है, वह आत्मज्ञान को न पाता हुआ आत्मा को राग-द्वेष-मोह में फँसाए रखता है जिससे आत्मा का बहुत बुरा होता है। यह भव-भव में भटककर जन्म-जरा-मरण की घोर वेदनाएँ सहन करता है। जो उपदेश यथार्थ आत्मा को बताकर राग-द्वेष-मोह छुड़ानेवाला व आत्मा के शुद्ध स्वभाव की तरफ ले जाने वाला हो तथा अहिंसा की तरफ प्रेरक हो वह तो सत्य है, इसके विरुद्ध जो कुछ उपदेश है वह असत्य है। वस्तु कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य, कथंचित् अभेद, कथंचित् भेद इत्यादि अनेक रूप है। वस्तु सदा स्वभाव को न त्यागने की अपेक्षा नित्य है। सदा परिणमनशील होने की अपेक्षा अनित्य है। दोनों ही स्वभाव वस्तु में हैं। वस्तु अपने गुण व पर्यायों का अखण्ड पिंड है, इससे अभेद है। गुणों की व पर्यायों की भिन्नता की अपेक्षा भेदरूप है। इस तरह यथार्थ वस्तु को बताने वाला उपदेश सत्य है। इसके सिवाय एक ही पक्ष का आग्रह करने वाला उपदेश असत्य है। मिथ्यात्व पाँच तरह का है इन पांचों तरह के मिथ्यात्व का पोषक सर्व उपदेश व वचन असत्य है।

(१) एकांत मिथ्यात्व – अनेक स्वभाव वस्तु में होते हुए भी उसे एक स्वभाव रूप ही मान बैठना कि वस्तु नित्य ही है अथवा अनित्य ही है इत्यादि।

(२) विपरीत मिथ्यात्व – वस्तु का स्वरूप उल्टा मान लेना। जैसे – हिंसा करने में, पशुबलि में, विषय-कषाय का पोषण करने में जो अधर्म है उसमें धर्म मान लेना।

(३) संशय मिथ्यात्व – पदार्थ कैसा है, उसका निर्णय न करके शंकाशील रहना कि आत्मा है या नहीं, परलोक है या नहीं, पुण्य–पाप है या नहीं।

(४) विनय मिथ्यात्व – सत्य-असत्य की परीक्षा न करके सर्व ही देवों की, सर्व ही गुरुओं की, सर्व ही धर्मों की भक्ति में भाव रखना। मूढ़ता से यह समझना कि हम सबको मानेंगे, इससे हमारा हित होगा। मूढ़ भक्ति को ही हित मानना, धर्म मानना।

(५) अज्ञान मिथ्यात्व – धर्म को जानने का उत्साह न रखके मूर्ख रहना व देखा-देखी बिना समझे हुए किसी भी क्रिया को करते हुए धर्म मान लेना।

इन पाँच तरह के मिथ्यात्वों का पोषक वचन सर्व आत्मा का घातक है। इन्हीं के कारण असत्य मार्ग में शिष्यों का उत्साह बढ़ जाता है। वे बिचारे मिथ्यात्व सहित होकर सम्यग्ज्ञान को न पाते हुए अज्ञानी रहते हैं, उनको कभी यह चिंतवन नहीं होता कि मैं तो वास्तव में शुद्ध–बुद्ध स्वभाव हूँ, मैं ज्ञाता–दृष्टा वीतराग हूँ। तथा कर्म–मैल से मैं अशुद्ध हो रहा हूँ। परमात्मा कर्म–मैल रहित शुद्ध–बुद्ध परम आनंदमयी हैं। मुझे भी अपने आत्मा को ऐसा ही विश्वास में लाकर अंतरात्मा होना चाहिये और परमात्मा का आराधन करके परमात्मा हो जाना चाहिये। यह बुद्धि विपरीत कारणों के होने से नहीं जगती है।

॥ श्लोक २१॥

मिथ्यादर्शनं ज्ञानं, चरनं मिथ्या उच्यते।
अनृतं रागसंपूर्णं, संसारे , दुःखबीजकं॥

अन्वयार्थ – (रागसंपूर्णं) संसार के राग से भरा हुआ (अनृतं) मिथ्या भाव (मिथ्यादर्शनं ज्ञानं) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा (मिथ्याचरनं) मिथ्याचारित्र (उच्यते) कहा जाता है। ये ही (संसारे) संसार में (दुःखबीजकं) दुःखों के उत्पन्न करनेवाले बीज हैं।

विशेषार्थ – संसार असार है, शरीर अपवित्र है, इन्द्रियों के भोग अतृप्तिकारी व नाशवंत हैं। इनमें वैराग्यभाव को न लाकर इन्हीं में राग होना सो राग संपूर्ण मिथ्याभाव है। विषयभोगों के लालच से आत्मा के आनन्द देनेवाले धर्म की श्रद्धा न करके उससे उल्टे धर्म की श्रद्धा करना मिथ्यादर्शन है।

इस मिथ्यादर्शन की संगति में जितना भी ज्ञान होता है वह सब ज्ञान मिथ्याज्ञान कहा जाता है। यदि कोई ग्यारह अंग नौ पूर्व का पाठी बड़ा भारी जैन शास्त्र का ज्ञाता भी हो, परंतु अंतरंग में मिथ्यादर्शन हो, भोगों की तरफ आस्था हो, वीतरागता पूर्वक शुद्ध आत्मीक भाव की रुचि न हो तो उसका सर्व ज्ञान वस्तुस्वभाव को शास्त्र के आश्रय से (अनुभव से नहीं) ठीक बताने पर भी उसके लिये मिथ्याज्ञान ही हो रहा है। जैसे दूध लाभकारी मीठा होता है परंतु यदि कड़वी तुंबी में रख दिया जाय तो अहितकारी हो जाता है उसीतरह यह ज्ञान मिथ्यात्व की संगति में मिथ्याज्ञान ही कहा जाता है। संसारवर्द्धक विषयभोगों की अंतरंग तृष्णावश आत्मज्ञान व वैराग्य शून्य जो कुछ भी साधु व गृहस्थ का धर्माचरण है – तप, जप, व्रत है वह सब मिथ्याचारित्र है। ये ही तीन घोर पापकर्म के बंध के कारण हैं। इन्हीं से जीव एकेन्द्रियादि में जन्म लेकर अज्ञानतम में बेखबर सोया पड़ा रहता है। चारों गतियों में भ्रमण कराने के ये ही तीन मूल बीज हैं। जन्म, मरण, रोग, शोक, वियोग आदि दु:खों के ये ही कारण हैं। सच है जिसके साथ प्रीति होगी उसी का संसर्ग रहेगा। संसार की प्रीति संसारवर्द्धक है। संसार से वैराग्य संसार-नाशक है।

समाधिशतक में पूज्यपादस्वामी कहते हैं –

देहान्तरगतेर्बीज देहे ऽस्मिन्नात्मभावना। बीज विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना॥७४॥

भावार्थ – इस शरीर में आत्मा की भावना ही बारंबार शरीर पाने का बीज है। जबकि आत्मा में ही आत्मा की भावना देह रहित होने का बीज है।

संसार के कारण ये ही तीन हैं। स्वामी समंतभद्राचार्य ने रत्नकरंड श्रावकाचार में कहा है –

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा विदु, यदीय प्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धति ॥३॥

भावार्थ – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को धर्म के स्वामियों ने धर्म कहा है। इनके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र संसार की परिपाटी बढ़ानेवाले हैं।

॥ मिथ्यात्व का स्वरूप ॥

॥ श्लोक २२॥

मिथ्या संयमं हृदये, चित्ते मिथ्या तप सदा।
अनंतानंत संसारे, भ्रमते अनादिकालियं॥

अन्वयार्थ – (हृदये) मन में (मिथ्यासयम) मिथ्यात्व सहित संयम का पालना (चित्ते) चित्त में (मिथ्या तप) मिथ्यात्व सहित तप का आचरना (सदा) सदा ही (अनादिकालियं) अनादिकाल से (अनंतानंतससारे) इस अपार अनंतानंत संसार में (भ्रमते) भ्रमण कराने वाले हैं।

विशेषार्थ – मिथ्या-चारित्र के भीतर मिथ्या-संयम व मिथ्या-तप भी गर्भित हैं। तथापि शिष्यों को विशेष बोध होने के लिये उन्हें अलग कहा गया है। महाव्रत और अणुव्रत रूप से संयम दो प्रकार है। अहिंसादि पाँचों व्रतों को पूर्ण पालना महाव्रत है, इसको आचरने वाले साधु होते हैं। इन्हीं को अपनी शक्ति के अनुसार अपूर्ण पालना अणुव्रत है। तथा संयम के इंद्रिय संयम व प्राणी संयम ऐसे दो भेद भी हैं। स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों को व मन को वश रखना इन्द्रिय संयम है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा त्रस – इन छह प्रकार के संसारी जीवों की रक्षा करना प्राणी संयम है। तप बारह प्रकार का है – छह बाहरी, छह अंतरंग। १ उपवास, २ ऊनोदर, ३ वृत्तिपरिसंख्यान-भिक्षा को जाते हुए प्रतिज्ञा, ४ रस परित्याग, ५ विविक्तशय्यासन–एकांत में शयन व आसन रखना, ६ कायक्लेश अर्थात् शरीर का सुखियापना मिटाने को कठिन-कठिन तप करना, ये छह बाहरी तप हैं। १ प्रायश्चित, २ विनय, ३ वैय्यावृत्य, ४ स्वाध्याय, ५ व्युत्सर्ग (ममता त्याग), ६ ध्यान – ये ६ अंतरंग तप हैं। जो कोई साधु, साधु का संयम पाले, बारह प्रकार का तप तपे अथवा श्रावक अपने योग्य संयम पाले व यथाशक्ति तप तपे परंतु चित्त में सम्यक्त्व न हो मिथ्यात्व हो तो वह सब संयम मिथ्या-संयम है व सब तप मिथ्या-तप है। यदि अभिप्राय आत्मशुद्धि का है तब तो संयम व तप सम्यक्त्व सहित होने से यथार्थ हैं। यदि अभिप्राय किसी प्रकार की आशा का है ; ख्याति, लाभ, पूजा, बढ़ाई की चाह है, स्वर्गादि सम्पदा, चक्रवर्ती आदि के क्षणिक सुख पाने की अभिलाषा है तो बाहर से ठीक पाला हुआ भी संयम व तप मिथ्या संयम व तप है। मिथ्यात्व के त्यागे बिना संयम व तप साधना करते हुए भी यह जीव अनादिकाल से अनंत संसार करता चला आ रहा है व अनंतकाल तक करता रहेगा। क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना संसार का क्लेश मिट नहीं सकता।

॥ श्लोक २३॥

मिथ्यात्व दुष्टसंगेन, कषाये रमते सदा।
लोभं क्रोधं मयं मानं, गृहीतानंत बंधनं॥

अन्वयार्थ – (मिथ्यात्व दुष्टसंगेन) मिथ्यादर्शन रूपी दुष्ट बैरी की संगति से यह जीव (सदा) सदा (कषाये) कषाय के भीतर (रमते) रंजायमान होता है। वे कषायें (गृहीतानंत बंधनं) अनंतकाल तक बंध की परम्परा चलाने वाली अथवा मिथ्यात्व के बंधन को पकड़े रहने वाली चार हैं (लोभ क्रोध मय मान) क्रोध, मान, माया और लोभ।

विशेषार्थ – मिथ्यादर्शन जीव का महान बैरी है। इसकी संगति से यह संसारी जीव कषाय के उदय में तन्मय होकर रंजायमान हो जाता है। क्रोध के उदय में मैं क्रोधी, मान के उदय में मैं मानी,

माया के उदय में मैं मायावी, लोभ के उदय में मैं लोभी – ऐसा मानता रहता है ;कभी भी उसके भीतर यह बुद्धि नहीं होती है कि ये कषाय मेरा स्वभाव नहीं हैं, यह कर्मकृत विकार है, या रोग है इसका प्रसंग त्यागने योग्य है क्योंकि उस अज्ञानी को अपने शुद्ध आत्मद्रव्य की बिलकुल खबर नहीं है। रमने का भाव यही है कि जब जिस कषाय का जोर होता है तब उसी के अनुसार कार्य भी करने लग जाता है। क्रोध के कारण बैर बाँधकर दूसरे की बुराई करने में ही हर्ष मानता है। मान के कारण अपनी महत्ता प्रगट करने में व दूसरों को नीचा दिखाने में ही राजी रहता है। माया के कारण अपने विश्वासपात्र मित्रों को भी ठग लेता है। लोभ के वशीभूत हो न्याय-अन्याय का विचार छोड़कर धन एकत्र करता है। इंद्रियों की भोग-सामग्री जमा करता है। अंधा हो भोग-लिप्त हो जाता है। मांसाहार में, मदिरापान में तन्मय रहता है, शिकार खेलने में हर्ष मानता है, चोरी, ठगाई, लूटपाट करके अपनी चतुराई मानता है, जुआ खेलकर कभी हर्ष कभी विषाद करता है, हार-जीत के मद में धर्म कर्म भूल जाता है, स्वच्छन्द हो वेश्यागामी व परस्त्रीरत हो जाता है। मिथ्यादृष्टि के अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ का उदय प्रायः सदा ही रहता है। ये कषायें जो अनंत मिथ्यात्व उसको पुष्ट करनेवाली हैं व उसके पीछे-पीछे रहनेवाली हैं तथा ऐसा कर्म का बँध कराने वाली हैं जिससे बंध की परम्परा दीर्घकाल तक चली जावे, कठिनता से छूटे। ये अनंतानुबंधी कषायें जीव को अन्याय से ग्लानि मिटा देती हैं। ये सम्यक्दर्शन और स्वरूपाचरणचारित्र दोनों को घात करने वाली हैं। यद्यपि सासादन गुणस्थान में मिथ्यात्व का साथ कुछ देर के लिये नहीं रहता है परंतु ये कषायें तुरंत मिथ्यात्व को बुला लेती हैं। सम्यक्त्व से गिरते हुए अधिक से अधिक छह आवली काल तक ही सासादन गुणस्थान रहता है फिर तुरंत मिथ्यात्व गुणस्थान मिथ्यात्व के उदय से आ जाता है। कभी अनंतानुबंधी को अन्य कषायरूप करनेवाला अर्थात् विसंयोजना करनेवाला जीव ग्यारहवें गुणस्थान तक चढ़ के यदि मिथ्यात्व में आता है तो एक आवली तक अनंतानुबंधी का साथ नहीं रहता है, मिथ्यात्व अकेला ही उदय में रहता है परंतु आवली पीछे उदय होने लगता है। इसलिये ये कषायें मिथ्यात्व को साथी बना लेती हैं या मिथ्यात्व इनको अपना साथी बना लेता है। सम्यक्त्वभाव पाने के लिये इन कषायों का मिथ्यात्व के साथ दमन करना जरूरी है।

॥ कषायों का स्वरूप॥

॥ श्लोक २४॥

लोभं कृतं अशुद्धस्य, शाश्वतं दृष्टते सदा।
अनृते कृत आनंदं, अधर्म सारभंजनं॥

अन्वयार्थ – (लोभ कृतं) लोभ को करने वाला जीव (सदा) सदा (अशुद्धस्य) अशुद्ध भाव या पर्याय को (शाश्वत) नित्य रहने वाली (दृष्टते) देखता है। (अनृते) मिथ्या मन-वचन-काय की प्रवृत्ति में (कृत आनदं) आनन्द मानता रहता है (अधर्मं) यह लोभ अधर्म है – पाप है (सारभंजनं) सार जो आत्मधर्म है, उसको खंडन करने वाला है।

विशेषार्थ – यहाँ अनन्तानुबन्धी लोभ का स्वरूप बताया है। इस लोभ के उदय से यह प्राणी जो अशुद्ध क्षणभंगुर पर्याय है उसके लिये मानता है कि सदा बनी रहे। जीतव्य, यौवन, धन, स्त्री, पुत्र, बल, रूप, अधिकार, इन्द्रिय, भोग इत्यादि अशुद्ध कर्मजनित संयोगों को तथा अशुद्ध रागभाव को, कामभाव को – विषयलम्पटता को, मानभाव को—अपनी प्रतिष्ठा को इत्यादि सर्व ही अशुद्ध भावों को नित्य रखना चाहता है। ये अनित्य हैं – ऐसी समझ को भूल जाता है। तथा मिथ्यात्व के उदय से जो मन-वचन-काय की मिथ्या – प्रवृत्ति करता है। जैसे मिथ्यादेवों की आराधना, मिथ्यागुरु की सेवा, मिथ्याधर्म का पालन, हिंसादि विशेष आरंभ की प्रवृत्ति, युद्धादि क्रिया, पर का बिगाड़, परिग्रह संचय, पर को ठगना, परस्त्री भोग, अभक्ष्य भक्षण आदि। उनमें आनन्द मानता रहता है। वास्तव में यह लोभ महान अधर्म है। सर्व ही पापों का यही मूल कारण है। राज्य के लोभ में पुत्र पिता तक का घात कर डालता है। इंद्रिय-विषय के लोभ से घोर पापों की प्रवृत्ति में फँस जाता है। यह लोभ ही सार रूप धर्म व सार रूप आत्मीक सुख को नाश करता है। एक शास्त्र-ज्ञाता भी आत्महित को समझता हुआ भी गृहस्थी के लोभ में पड़ा हुआ संयम को ग्रहण नहीं कर पाता है। लोभ के समान कोई बैरी नहीं है। श्री अमितगति आचार्य सुभाषित रत्नसंदोह में कहते हैं –

दुःखानि यानि नरकेष्वतिदुःसहानि, तिर्यक्षु यानि मनुजेष्वमरेषु यानि।
सर्वाणि तानि मनुजस्य भवन्ति लोभा, दित्याकलय्य विनिहन्ति तमत्र धन्यः॥८०॥

भावार्थ – नरक में जो अति दुःसह दुःख होते हैं व तिर्यंचों में, मानवों में व देवों में जो-जो कष्ट होते हैं वे सब लोभ-कषाय के कारण होते हैं – ऐसा समझकर जो लोभ को मारता है वही धन्य है।

॥ श्लोक २५॥

कोहाग्निः जलते जीवः, मिथ्यात्वं घृत तेलयं।
कोहाग्नि कोपनं कृत्वा, धर्मरत्नं च दग्धये॥

अन्वयार्थ – (कोहाग्निः) क्रोध की आग (जीवः जलते) जब जीव के भीतर जल उठती है तब (मिथ्यात्वं) मिथ्यात्व भाव (घृत तेलयं) घी और तेल के समान पड़कर (कोहाग्नि कोपन कृत्वा) क्रोध

की अग्नि को बढ़ा देता है तब यह क्रोध की आग (धर्मरत्नं च) धर्मरूपी रत्न को भी (दग्धये) जला देती है।

विशेषार्थ – यहाँ अनंतानुबंधी क्रोध का स्वरूप बताया है। यह क्रोध जब उदय हो उठता है तब मिथ्यात्व का भाव उस क्रोध की आग को भड़काने के लिये घृत या तेल का काम करता है। जैसे आग पर घी या तेल डालने से आग बढ़ जाती है ऐसे ही मिथ्यात्वभाव क्रोध को प्रबल कर देता है, जिस के वशीभूत हो यह प्राणी ऐसा अंधा हो जाता है कि अपने प्रियजनों को भी प्राण रहित करने को तैयार हो जाता है। दूसरे का सर्वस्व नाश किये बिना चैन नहीं पाता है। घोर हिंसा में प्रवृत्ति कर बैठता है। क्रोध की आग से दीर्घकाल से पाला हुआ धर्म नष्ट हो जाता है। द्वीपायन मुनि ने क्रोध के आवेश में द्वारिका को भस्म करके अपने धर्म का भी विनाश किया। बैरी द्वारा कष्ट दिये जाने पर जो साधु क्रोध की अग्नि भड़का लेते हैं वे धर्म को जला बैठते हैं। क्रोध के आवेश में बड़ा भारी क्लेश होता है, मन क्लेशित व मैला हो जाता है, वचन कठोर व अविचार पूर्ण निकलते हैं, काया कांपने लग जाती है, शरीर का रुधिर सूखने लगता है, पर का घात करते हुए व अपना अपघात करते हुए भी नहीं रुकता है, शास्त्रज्ञान को भूल जाता है, ज्ञान का लाभ, ध्यान का उपयोग नहीं कर सकता है, आत्मा को तीव्र कर्मबंध से जकड़ता है, दीर्घकाल से पालन पोषण किया हुआ धर्मवृक्ष क्रोध की आग से क्षणमात्र में भस्म हो जाता है। अमितगति महाराज कहते हैं –

वैरं विवर्धयति सख्यमपाकरोति, रूपं विरुपयति निन्द्यमतिं तनोति।
दौर्भाग्य मानयति शातयते च कीर्तिं, रोषो S त्र रोषसदृशो नहि शत्रुरस्ति॥

भावार्थ – यह क्रोध बैर को बढ़ा देता है, मित्रता को नाश कर देता है, शरीर के रूप को बिगाड़ देता है, बुद्धि को निंदनीय व हिंसक बना देता है, दुर्भाग्य या पाप को लाकर खड़ा कर देता है, यश को मिटा देता है। यहाँ क्रोध के समान कोई शत्रु नहीं है।

॥ श्लोक २६॥

मानं च अनृते रागं, माया विनाश दृष्टते।
अशाश्वतं भावं वृद्धिः, अधर्मं नरयं पतं॥

अन्वयार्थ – (अनृते) मिथ्या अवस्थाओं में (रागं) राग करना (मानं) मान होने का (माया) व मायाचार होने का कारण है। इन दोनों कषायों से (विनाश) आत्मा का नाश (दृष्टते) दिखलाई पड़ता है। (अशाश्वतं भावं) पर्याय बुद्धिका क्षणिक भाव (वृद्धिः) बढ़ता जाता है (अधर्मं) अधर्म होता है (नरयं पतं) और नरक में पतन होता है।

विशेषार्थ – आत्मा के शुद्ध स्वरूप के सिवाय शेष सर्व पर्यायें नर-पशु-देव-नारक सम्बन्धी अंतरंग और बहिरंग मिथ्या हैं, स्वप्नसम हैं, परिवर्तनशील हैं, अज्ञानी जीवों का उन्ही में राग होता है, वे राज्य, धन, कुटुम्ब, अधिकार, भोगादि के तीव्र अभिलाषी होते हैं। इन पदार्थों के स्वामित्व में उनको अभिमान होता है। वे दूसरों को तुच्छ दृष्टि से देखते हैं तथा इनही के बढ़ाने, प्राप्त करने, रक्षा करने आदि के लिये ही उनको मायाचार करना पड़ता है। अनेक प्रकार प्रपंच रचकर दूसरों को ठगने में प्रवृत्त होना पड़ता है। ये कषायें आत्मा के भावों का ऐसा बिगाड़ कर देती हैं कि उसके भीतर पर्याय बुद्धि का भाव बढ़ता जाता है। जो पदार्थ नित्य नहीं रहनेवाले हैं उनको नित्य बनाए रखने का रागभाव बढ़ता जाता है। वृद्ध होने पर भी उनसे ममता नहीं छूटती है। अनित्य पदार्थों में इसतरह मोह करने से धर्म को भूल जाता है, अधर्म में रत हो जाता है, अन्याय कार्य करने लग जाता है। जिससे तीव्र कर्म बाँधकर नरक में पतन हो जाता है। इन दोनों कषायों का दृष्टांत रावण का जीवन है। रावण ने मायाचार से सती सीता को हरण किया। उसमें राग करके अनेक प्रपंच किये। अहंकार करके रामचंद्र से युद्ध किया। फल यह हुआ कि वह नर्क चला गया।

सुभाषितरत्नसंदोह में कहा है –

नीति निरस्यति विनीतिमपाकरोति। कीर्ति शशाकधवला मलिनी करोति।।
मान्यान्न मानयति मानवशेन हीन। प्राणीति मानमपहन्ति महानुभाव ।।४४।।

भावार्थ – हीन बुद्धिधारी प्राणी मान के वश में पड़कर नीति को तोड़ देता है, अनीति को पुष्ट करता है, चंद्रमा समान निर्मल यश को मैला कर देता है, मान्य महापुरुषों को भी नहीं मानता है – ऐसा जानकर महान पुरुष मान नहीं करते हैं

शीलव्रतो यम तप, शम सयुतो ऽपि। नात्राश्नुते निकृति शल्यधरो मनुष्य ।।
आत्यान्तिकी श्रियमवाद्य सुखस्वरूपा। शल्यान्वितो विविध धान्य धनेश्वरो वा।।५८।।

भावार्थ – शील, व्रत, उद्यम, तप, शांतभाव से संयुक्त होने पर भी मायाचारी मानव इस जगत में बाधा रहित मोक्ष का आनन्द नहीं भोंग सकता है उसीतरह जिसतरह नानाप्रकार धन-धान्य से पूरित मानव कांटा लगने पर दुःखी रहता है।

।। तीन मूढ़ता का स्वरूप।।

।। श्लोक २७।।

मिथ्या मायादि संपूर्णः, लोकमूढ़रतो सदा।
लोकमूढ़स्य जीवस्य, संसारे भ्रमनं सदा।।

अन्वयार्थ – (मिथ्यामायादि सम्पूर्णः) मिथ्या पर्यायों के सम्बन्ध से या मिथ्यात्व के उदय के साथ-साथ जो माया, मान, क्रोध, लोभ कषाय होते हैं उनसे पूर्ण यह जीव (सदा लोकमूढरतो) सदा जगत सम्बन्धी मूढ़ता या मोह में रत रहा करता है। (लोकमूढस्य जीवस्य) लोक की मूढ़ता में फँसे हुए जीव का (सदा) हमेशा ही (संसारे) इस संसार में (भ्रमन) भ्रमण रहता है।

विशेषार्थ – मिथ्यात्व के साथ होनेवाले अनंतानुबन्धी कषायों के साथ यह जीव जगत की विनाशीक पर्यायों में रागी-द्वेषी-मोही होता हुआ लोक में मूढ़ बना रहता है। जो आत्महित के कार्य हैं उनसे विमुख रहता है, संसारवर्द्धक कार्यों में लवलीन रहता है। धर्म की वृद्धि व सच्चे परोपकार में धन नहीं खर्च करता है। नामवरी के लिये व विषय-कषाय की पुष्टि के लिये धन को बहुत जल्द खर्च करता है। अध्यात्म-विषय से रुचि न करके अन्य कथाओं मे फँसा रहता है। ऐसा मूर्ख मोही प्राणी अनंतानुबंधी और मिथ्यात्व के कारण चारों गति में भ्रमण कराने वाले कर्मों को बाँधकर लेश्या के अनुसार नीची-ऊंची गति में जाकर हरएक शरीर में इन्द्रियों की इच्छाओं में फँसा हुआ घोर कष्ट उठाया करता हैं। जबतक इस मूढ़ता को न छोड़े तबतक संसार से पार होने का मार्ग नहीं मिलता है। यही मोही जीव लोकमूढ़ता में भी फँस जाता है। लोगों की देखादेखी अधर्म को धर्म मानकर सेवन करने लगता है और उससे लौकिक लाभ की कामना करता है।

लोकमूढ़ता का स्वरूप रत्नकरंड श्रावकाचार में स्वामी समन्तभद्र कहते हैं–

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकनाश्मनाम्। गिरिपातोग्निपातश्च, लोकमूढ निगद्यते॥२२॥

भावार्थ – धर्म समझकर नदी या समुद्र में स्नान करना, बालू पाषाण आदि का ढेर करना, पर्वत से गिरना, अग्नि में जलकर मरना लोकमूढ़ता कही जाती है। जो विधवा स्त्री पति के साथ आग में जलकर पतिव्रत धर्म मानती है वह भी लोमूढता ही है। यदि वृथा प्राण न देकर पति के गुणों को स्मरण करते हुए धर्म, समाज व जाति की सेवा करे। संतोष से ब्रम्हचर्य व्रत पाले तो उसका सतीपना यथार्थ है। जिन लौकिक क्रियाओं से कोई वीतराग भाव अथवा आत्मा सम्बन्धी भावों का स्मरण न हों वे सब लोकमूढ़ता में गर्भित हैं।

॥ श्लोक २८॥

लोकमूढ़रतो येन, देवमूढस्य दिष्टते।
पाषंडी मूढ़संगेन, निगोयं पतितं पुनः॥

अन्वयार्थ – (लोक मूढरतः) जो लोकमूढ़ता में फँसा हुआ जीव है (येन) उसके (देवमूढस्य) देव मूढ़ता (दिष्टते) दिखलाई पड़ती है (पुनः) तथा (पाषंडी मूढ़संगेन) पाखंडी मूढ़ता के संग से (निगोयं)

निगोद में (पतनं) वह जीव गिर जाता है।

विशेषार्थ – मिथ्यादृष्टि के तीन मूढ़ता पाई जाती है। वह मूढ़ता से किसी लौकिक आशा के कारण रागी-द्वेषी देवों को पूजने लग जाता है तथा जो साधु सच्चे साधु नहीं हैं उनकी मान्यता करने लग जाता है। तीव्रकषाय के कारण वह निगोद में चला जाता है। पंचेन्द्रिय से एकेन्द्रिय साधारण वनस्पति में जाकर जन्म ले लेता है। इसी को निगोद में जन्म लेना कहते हैं, जहाँ ज्ञान बहुत अधिक ढ़का हुआ होता है। उस निगोद से निकलना फिर अनंतकाल में दुर्लभ हो जाता है। जो मूर्खता करे वह ज्ञान को बिगाड़कर अज्ञानी हो जाये इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। यहाँ दिखलाया है कि हे भव्य पुरुषों ! यदि वृक्षादि की पराधीन पर्यायों में जाने से बचना हो तो लोक-मूढ़ता के साथ-साथ देव-मूढ़ता व पाखंडी-मूढ़ता को भी त्यागो। इनका स्वरूप रत्नकरण्ड मे ऐसा कहा है –

वरोपलिप्सयाशावान्, रागद्वेषमलीमसा। देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते॥२३॥

भाषार्थ – सांसारिक सुख की आशा करके किसी वर पाने की इच्छा से राग-द्वेष से मलीन देवताओं की जो पूजा करना है वह देवमूढ़ता कही जाती है। वीतराग सर्वज्ञ अरहंत और सिद्ध भगवान के सिवाय और सर्व ही सराग व अल्पज्ञ हैं उनको पूज्यनीय मानकर इस भाव से भक्ति करना कि ये देवी-देवता प्रसन्न होकर हमारा इच्छित काम कर देंगे, देवमूढ़ता है। आत्मासिद्धि के लिये व अपने आत्मा के भावों को शुद्ध करने के लिये कोई भी बुद्धिमान रागी-द्वेषी देवी-देवताओं की उपासना नहीं करता है। जो कुछ भी पूजा-पाठ इनका लोक में देखा जाता है वह सब लौकिक आशा से ही देखा जाता है। कोई धन की, कोई पुत्र की, कोई अधिकार की, कोई जय पाने की इत्यादि भिन्न-भिन्न इच्छाओं के वशीभूत हो मूढ़ लोग ऐसी मनोती मांगते हैं कि यदि हमारा काम सिद्ध हो जावेगा तो हम यह चढ़ावेंगे या इसतरह भक्ति करेंगे। कदाचित् अपने पुण्य के उदय से कार्य सिद्ध हो जाता है तो वह अज्ञानी ऐसा मान लेता है कि देवी-देवता की कृपा से ही मेरा काम हुआ है, बस, उसकी देवमूढ़ता और बढ़ जाती है, वह और अधिक कुदेवों का भक्त बन जाता है। सम्यक्त्वी को न तो लौकिक कार्यों की इच्छा ही होती है और न वह इस इच्छा से किसी रागी-द्वेषी देव-देवी की पूजा भक्ति करता है। जो अपना कल्याण चाहें उसको कभी भी रागी-द्वेषी देवों की उपासना न करनी चाहिये। यदि कदाचित् कोई इन्द्र-धरणेन्द्र यक्ष-यक्षिणी आदि साक्षात् सामने आ जावें तो सम्यक्त्वी जीव उनके साथ वैसा ही योग्य वर्ताव करेगा जैसा साधर्मी मानवों के साथ करता है। जितने इन्द्रादि देव-देवी होते हैं, वे चौथे गुणस्थान मे अधिक नहीं चढ़ सकते। इसलिये उनके साथ वही वर्ताव करना उचित होगा जो चौथे गुणस्थान सम्बन्धी श्रद्धावान मानव के साथ होगा। यथायोग्य आसन दान आदि करेगा उनको उसतरह कभी पूजेगा नहीं, जिसतरह श्री वीतराग भगवान की पूजा उपासना की जाती है। रागी-द्वेषी

देवों की मूर्ति बनाकर पूजना बिलकुल देवमूढ़ता है। ऐसी मूढ़ता से वह मूढ़ प्राणी वीतराग देव की उपासना में शिथिल हो जाता है –

पाखंडी मूढ़ता का स्वरूप रत्नकरंड में कहा है–

सग्रन्थारंभहिंसानां ससारावर्तवर्तिनाम्, पाषण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम्॥२४॥

भावार्थ – परिग्रह, आरंभ तथा हिंसा कर्म में लीन संसार के भंवर में घूमनेवाले भेषी साधुओं की पूजा व भक्ति करना पाखंडी मूढ़ता जानना चाहिये। निर्ग्रंथ दिगम्बर जैन साधु के सिवाय अन्य परिग्रह सहित साधुओं की भक्ति करना मूढ़ता है। मोक्षमार्ग में सहकारी निर्ग्रंथ आत्मरमी जैन साधु हैं, उन्ही की भक्ति मुमुक्षु जीव को करनी चाहिये। व किसी भी प्रयोजन से उनके सिवाय अन्य आरंभी परिग्रहवान साधुओं की भक्ति न करनी चाहिये। ये तीन मूढ़ताएँ जीव को निगोद में ॥ डालनेवाली हैं॥

॥ सम्यक्त्व के २५ दोष॥

॥ श्लोक २९॥

अनायतन मदाष्टं च, शंकादि अष्ट दूषनं।
मलं संपूर्ण जानंतं, सेवनं दुःखदारुणं॥

अन्वयार्थ – (अनायतन) छह अनायतन (च) और (मदाष्ट) आठ मद (शकादि अष्टदूषनं) शंका आदि आठ दोष (सपूर्ण मल) इनमें तीन मूढ़ता को मिलाकर सर्व पच्चीस मल (जानत) जानना चाहिये (संवनं) इन पच्चीस मलों का सेवना (दारुण दु ख) भयानक दुःखों का कारण है।

विशेषार्थ – सम्यग्दृष्टि को सच्चे देव, शास्त्र, गुरु में भक्ति रखते हुए सम्यक्त्व को मलीन करनेवाले पच्चीस दोषों को बचाना चाहिये। उनमें तीन मूढ़ता पहले कह चुके हैं। छह अनायतन हैं वे धर्म के स्थान नहीं हैं। वे छह हैं–कुदेव, कुशास्त्र व कुगुरु और इन तीनों के भक्त – इन छहों की संगति, परिणामों को सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा से गिरानेवाली है। इसलिये श्रद्धा की रक्षा के हेतु रागी-द्वेषी देव तथा उनके भक्तों की संगति, भेषी साधु व उनके भक्तों की संगति, मिथ्यात्व पोषक शास्त्र व धर्माचरण व उनके कहनेवालों की संगति ऐसी नहीं करनी चाहिये जिससे लाचार होकर कुदेव, कुधर्म व कुगुरु की भक्ति करनी पड़े। लौकिक व्यवहार मनुष्यता की दृष्टि से हर एक मानव से रखा जा सकता है। परंतु मिथ्याभाव पोषक व संसारवर्द्धक प्रवृत्ति में सहयोग करना मिथ्याभाव की अनुमोदना करना है। इससे अपना भी बिगाड़ है व उनका भी बिगाड़ है। सत्य का अनुयायी स्वयं रहना चाहिये व सत्य की ही अनुमोदना करनी चाहिये। इससे यह अभिप्राय नहीं है कि

हम दूसरे धर्मवालों से प्रेम न रखें। साधारण प्रेम सर्व मानवों से रखते हुए जिन धार्मिक प्रवृत्तियों के सहयोग से आत्मकल्याण हो उनसे सहयोग करते हुए जिनसे विषय-कषाय की पुष्टि हो व मिथ्यात्व में व अन्याय में प्रवृत्ति हो उनसे अलग रहते हुए मध्यस्थभाव रखना चाहिये। द्वेषभाव कभी भी किसी से नहीं रखना चाहिये।

आठ प्रकार का मद करना भी सम्यक्त्व में दोष है। ये आठ मद हैं। जैसा रत्नकरंड में कहा है –

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः। अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः॥२६॥

भावार्थ – मदनाशक सर्वज्ञदेव ने कहा है कि ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप, शरीर रूप – इन आठों के आश्रय से मान करना आठ मद हैं।

सम्यक्त्वी संसार शरीर भोगों से अत्यन्त उदास रहता है, वह मोक्ष का व आत्मीक परमानन्द का प्रेमी है इसलिये वह कर्मों के द्वारा उत्पन्न हुई अवस्थाओं से अपने को बड़ा नहीं मानता है। इसलिये वह आठ तरह का मद नहीं करता है। मैं बहुत शास्त्र का जाननेवाला हूँ – ऐसा घमंड करना ज्ञानमद है। मैं बहुत अधिकार रखता हूँ, प्रतिष्ठित हूँ – ऐसा घमंड करना पूजामद है। मैं ऊँचे वंश का मेरे पिता, महा पिता ऐसे हैं – यह घमंड करना कुलमद है। मेरी माता पक्ष के मामा, नाना ऐसे ऐसे हैं – यह घमंड करना जातिमद है। मैं बड़ा बलवान हूँ, चाहे जिसे वश कर सकता हूँ – यह घमंड करना बलमद है। मैं बड़ा धनवान हूँ, इसतरह गरीबों को तुच्छ दृष्टि से देखकर धन का घमंड करना ऋद्धिमद है। मैं बड़ा तपस्वी हूँ, बहुत व्रत उपवास करता हूँ ऐसा मद करना तपमद है। मैं बहुत रूपवान सुंदर हूँ – ऐसा घमंड करना शरीरमद है। ज्ञानी जीव धनादि की शक्ति होने पर उसे परोपकार में खर्च करता है तथा जैसे वृक्ष पर जितने अधिक फल आते हैं वह नम्रीभूत हो जाता है उसीतरह जितनी भी शक्ति, विद्या, धन आदि की ज्ञानी में बढ़ती जाती है उतना ही वह अधिक नम्र व विनयवान हो जाता है और उस शक्ति से स्व-पर का उपकार करता है।

सम्यक्त्वी शंका आदि आठ दोष अपने में नहीं लगाता है। वे आठ दोष हैं: –

(१) शंका – जैन के तत्वों में शंका रखना – सम्यक्त्वी जैनधर्म के तत्वों में दृढ़ श्रद्धानी होता हुआ शंका नहीं रखता है। यदि कोई बात समझ में नहीं आती है तो विशेष ज्ञानी से पूछकर निर्णय करता है तथा सम्यक्त्वी निर्भय रहता है। धर्मसाधन को किसी के भय से छोड़ता नहीं है। भय सात तरह का होता है –

१ – इहलोक भय – इस लोक मे लोग मुझे निंदेंगे या मेरी हानि हो जायगी ऐसा भय।

२ – परलोक भय – परलोक में नरक, पशु आदि दुर्गति में चला जाऊँगा ऐसा भय।

३ – वेदना भय – मुझे रोगादि हो जायेंगे तो क्या करूँगा ऐसा भय।

४ – अरक्षा भय – मेरा कोई रक्षक नहीं है, संकटों से कौन बचाएगा ऐसा भय।

५ – अगुप्त भय – मेरा माल कोई चोरी ले जायगा तो क्या करूँगा ऐसा भय।

६ – मरण भय – मेरा मरण न होने पावे ऐसा भय।

७ – अकस्मात् भय – कोई अकस्मात् आपत्ति मेरे पर न आ जावे ऐसा भय।

सम्यक्त्वी वीर सिपाही के समान इस संसार में निर्भय रहता है। रोगादि से बचने का यथार्थ उपाय तो करता है जैसे सिपाही युद्ध में अपने को बचाने का उपाय रखता है परन्तु सिपाही भयवान व कायर नहीं होता है इसीतरह सम्यक्त्वी अपना भाव साहसपूर्ण रखता है। रोग, मरण, द्रव्यहरणादि आपत्ति को कर्मजनित फल जानकर संतोष रखता है। इसतरह निःशंकित अंग पालता है।

(२) कांक्षा – भोगों की इच्छा – सम्यक्त्वी इंद्रिय भोगों को अथिर व अतृप्तिकारी जानकर उनकी इच्छा नहीं रखता है, न उनमें सुख पाने की श्रद्धा रखता है। आत्मीक सुख को सुख जानता है। इसतरह निःकांक्षित अंग पालता है।

(३) विचिकित्सा – घृणा – सम्यक्त्वी रोगी, शोकी, क्षुधातुर किसी भी मुनि, श्रावक व अन्य प्राणी को देखकर उनसे घृणा नहीं करता है, किंतु दयाभाव लाकर उनकी सेवा करता है। मल-मूत्रादि का भी स्वरूप जानकर उनसे बचता तो अवश्य है परन्तु ग्लानि भाव नहीं रखता है। इसतरह निर्विचिकित्सित अंग पालता है।

(४) मूढदृष्टि – मूढताई से श्रद्धा रखना – सम्यक्त्वी लोगों की देखा-देखी मूर्खता से किसी देव, गुरु, शास्त्र या धर्म को नहीं मानता है, इसतरह अमूढदृष्टि अंग पालता है।

(५) अनुपगूहन – दूसरों के दोष निन्दाभाव से प्रगट करना। सम्यक्त्वी पर इसतरह के दोषों को प्रगट करने की आदत नहीं रखता है। वह जानता है कि प्रमाद व कषाय के उदय से प्राणियों से दोष बन जाया करते हैं। इससे दयाभाव लाकर दोषी के दोष छुड़ाने का यत्न करता है, इसतरह उपगूहन अंग पालता है।

(६) अस्थितीकरण – धर्म में अपने व दूसरों को स्थिर न करना – सम्यक्त्वी अपने मन को समझाकर सदा उसे धर्म में दृढ़ रखता है वैसे ही वह अन्य स्त्री व पुरुषों को भी धर्मसाधन में दृढ़ रहने का उपाय करता रहता है – इसतरह स्थितीकरण अंग पालता है।

(७) अवात्सल्य – साधर्मी भाई-बहनों से प्रेम न रखना – सम्यक्त्वी सर्व साधर्मियों को इस प्रेमभाव से देखता है जिसतरह गाय अपने वत्स (बछड़े) को देखती है तथा प्रेमालु होकर उनके कष्टों में सहाई होता है, इसतरह वात्सल्य अंग पालता है।

(८) अप्रभावना – धर्म की प्रभावना न करना – सम्यक्त्वी सदा ही धर्म की उन्नति चाहता है।

जिसतरह बने अज्ञान को मिटाकर जैनशासन का महात्म्य प्रकाशित करता है, इसतरह प्रभावना अंग को पालता है।

इसतरह तीन मूढ़ता, छह अनायतन, आठ मद, आठ शंकादि दोष – इन २५ दोषों के स्वरूप को भले प्रकार जानता है तथा समझता है कि इनके सेवन से ऐसा पापकर्म बँधेगा जिससे भयानक दुःख भोगना पड़ेगा। निर्मल सम्यक्त्व इस लोक व परलोक में सुखी रखनेवाला है।

॥ मिथ्यात्व के त्याग का उपाय ॥

॥ श्लोक ३०॥

मिथ्यामतिरतो येन, दोषं अनंतानंत यं।
शुद्ध दृष्टि न जानंतः, सेवते दुःख दारुणं॥

अन्वयार्थ – (मिथ्यामतिरतो) **जो मिथ्यात्व भाव में व मिथ्याज्ञान में लवलीन है वह** (येन) **इस मिथ्यामति के कारण** (अनंतानंत य दोषं) **अनंतानंत दोष का भाजन है।** (शुद्ध दृष्टि) **शुद्ध आत्मदृष्टि को व सम्यग्दर्शन को** (न जानंतः) **न जानता हुआ** (दारुण दुःख) **भयानक दुःखों को** (सेवते) **भोगता है।**

विशेषार्थ – **यहाँ यह बताया है कि जगत में जितने भी दोष हैं उन सबसे बड़ा दोष मिथ्यात्व का है, इसके बराबर कोई पाप नहीं है। मिथ्यात्वी जीव अनगिनती दोषों का पात्र बन जाता है व अनंत दोषरूप भावों को किया करता है। इसे अपने शुद्ध आत्मीक भाव की श्रद्धा नहीं होती है। यह अपने को रागी, द्वेषी, मोही जाना करता है व कर्मजनित भावों में लीन होकर महान घोर कर्म का बंध करता है, नरक-निगोद का पात्र होता है, दीन-दुखी पशु व मानव पैदा होता है व नीच देव हो जाता है। मिथ्यात्व इतना बड़ा दोष है कि इसके साथ में स्वर्ग में रहना भी बुरा है।**

सारसमुच्चय में कहते हैं–

वरं नरकवासोऽपि सम्यक्त्वेन समायुक्तः। न तु सम्यक्तहीनस्य निवासो दिवि राजते॥३९॥

भावार्थ – **सम्यग्दर्शन सहित नरक में रहना भी ठीक है किन्तु सम्यक्त्व बिना मिथ्यात्व सहित स्वर्ग में रहना भी ठीक नहीं है। और भी लिखा है –**

मिथ्यात्वं परमं बीजं संसारस्य दुरात्मनः। तस्मात्तदेव भोक्तव्यं मोक्षसौख्यं जिघृक्षुणा॥५२॥

भावार्थ – **इस भयानक दुष्ट संसार का सबसे बड़ा बीज मिथ्यात्व है, इसलिये जो मोक्ष के सुख की इच्छा रखता है उसे उचित है कि इसका त्याग कर दे।**

॥ श्लोक ३१-३२॥

वैराग्ये भावनां कृत्वा, मिथ्या त्यक्तं त्रिभेदयं।
कषायं त्यक्त चत्वारि, प्राप्यते शुद्ध दृष्टितं॥
मिथ्या सम्यक् मिथ्यात्वं, सम्यक्प्रकृतिर्मिथ्ययं।
कषायं चत्वनंतानं, त्यक्तते शुद्धदृष्टितं॥

अन्वयार्थ – (वैराग्ये) संसार-शरीर-भोगों से वैराग्य की (भावना) भावना को (कृत्वा) करते हुए (त्रिभेदय) तीन भेदरूप (मिथ्या) मिथ्यात्व (त्यक्त) छोडना चाहिये तथा (चत्वारि) चार (कषाय) कषाय को (त्यक्त) तजना चाहिये। तब (शुद्ध दृष्टित) शुद्ध दृष्टि को या सम्यग्दर्शन को (प्राप्यते) प्राप्त किया जा सकेगा। (मिथ्या) मिथ्यात्व (सम्यक् मिथ्यात्व) सम्यक् मिथ्यात्व (सम्यक्प्रकृति मिथ्यय) सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व। ये तीन प्रकार का मिथ्यात्व तथा (अनतान) अनंतानुबन्धी (चतु) चार (कषाय) कषाय (त्यक्तते) – इन सातों को त्याग कर देने पर (शुद्ध दृष्टित) शुद्ध दृष्टि या सम्यग्दर्शन होता है।

विशेषार्थ – इन दो श्लोकों में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय बताया गया है। सम्यग्दर्शन आत्मा का एक विशेष गुण है। उसकी प्रगटता से आत्मा को अपने असली शुद्ध स्वरूप का सच्चा ज्ञान, श्रद्धान व उसके अनुभव करने की या ध्यान करने की शक्ति पैदा हो जाती है। जैसे तेली को तिलों में तेल, धान्य में कृषक को चावल, खान से निकले हुए माणक के पत्थर में जौहरी को माणिक-रत्न, सोने-चांदी के मिले हुए आभूषण में सर्राफ को सोना, दूध-पानी के मिश्रण में हंस को दूध, मटीले पानी में विवेकी को निर्मल पानी, सरोवर में जल से पृथक् कमल, व्यंजन में साग से भिन्न नमक, नाटक में भेषी पात्र के भीतर ज्ञाता को उसका असली मनुष्यपना, मैले कपड़े में विवेकी को असली कपड़ा मैल से अलग दिखता है – ऐसे सम्यग्दर्शन के प्रताप से ज्ञानी को अपना आत्मा सर्व अनात्मा से, राग-द्वेषों से, संकल्प-विकल्पों से, शरीरादि से व अन्य लोक के द्रव्यों से पृथक् ही दिखता है।

इस सम्यक्दर्शन को रोकनेवाले सात कर्म हैं। चार अनंतानुबन्धी कषाय क्रोध, मान, माया, लोभ और तीन प्रकार का दर्शन मोहनीय कर्म – मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व। अनादिकाल से जिसको सम्यक्त्व नहीं हुआ है उसके सम्यक्त्व को रोकनेवाले मात्र पाँच ही कर्म हैं। दो अंत के दर्शनमोह नहीं हैं। परन्तु जिसके सम्यक्त्व हो चुका है और छूट गया है उस सादि मिथ्यादृष्टि के सम्यक्त्व को रोकनेवाले सातों ही कर्म हो सकते हैं। क्योंकि सर्वप्रथम उपशम

सम्यक्त्व होने पर मिथ्यात्व कर्म के तीन भाग हो जाते हैं।

जो आत्मा के सच्चे स्वरूप को और का और झलकावे व जिससे जीवादि सात तत्वों के स्वरूप का सच्चा भाव न प्रगटे वह मिथ्यात्व कर्म है। जिसके उदय से जीवादि तत्वों का व आत्मा का सच्चा व झूठा मिला हुआ श्रद्धान हो वह सम्यक्मिथ्यात्व है। जिसके उदय से या असर से जीवादि तत्वों का व आत्मा का सच्चा श्रद्धान तो रहे परंतु उस श्रद्धान में चल, मल, अगाढ – तीन प्रकार के दोष लगें उस को सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व कहते हैं –

चल दोष यह है कि अरहंत, सिद्ध आदि परमात्माओं का स्वभाव एक समान होने पर भी किसी से अधिक व किसी से कम लाभ जाने। जैसे यह विश्वास रखे कि शांति लाभ करने में शांतिनाथजी अधिक उपकारी होंगे। रक्षा करने में पार्श्वनाथजी अधिक लाभकारी होंगे आदि।

जिसप्रकार शुद्ध सुवर्ण भी मल के निमित्त से मलिन कहा जाता है उसीतरह सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से जिसमें पूर्ण निर्मलता न हो वह मल दोष है। मल अतीचार को कहते हैं। पाँच प्रकार का अतीचार कभी-कभी लग सकता है। १ – किसी तत्व में शंका हो जाना, २ – भोगाभिलाष हो जाना, ३ – रोगी आदि देखकर ग्लानि हो उठना, ४ – मिथ्यादृष्टि की मिथ्या क्रिया की महिमा मन में करने लगना, ५ – मिथ्यादृष्टि की मिथ्या क्रिया की वचन से प्रशंसा करने लगना।

अगाढ दोष यह है कि सर्व धर्म के स्थान चैत्यालयादि बराबर होने पर भी अपने बनाए हुए में अधिक राग करना, अन्य में कम करना इत्यादि।

ये मात्र स्थूल दृष्टांत हैं। सूक्ष्म चल, मल व अगाढ दोष अनुभवगम्य हैं।

पत्थर की लकीर समान न मिटनेवाला क्रोध, पत्थर के खंभ समान न नमनेवाला मान, बाँस की जड़ के समान तीव्रतम टेढ़ापन माया, मजीठ के रंग समान न मिटनेवाला लोभ, अनंतानुबन्धी चार कषाय के दृष्टांत हैं। इन सम्यग्दर्शन के बाधकों को दूर करने का उपाय वैराग्य की भावना है। यह भावना कि एक शुद्ध आत्मा ही सार है, उपादेय है, मोक्ष ही सार है, संसार असार है। भोग रोग के समान शरीरों का सम्बन्ध कारावास के समान है। प्रथम तो मुमुक्षु को सच्चे देव, शास्त्र, गुरु पर पक्का श्रद्धान लाना चाहिये। उन्ही की भक्ति करनी चाहिये। प्राण कंठगत होनेपर भी कुदेवादि की भक्ति न करनी चाहिये। फिर इनकी भक्ति में चार काम करने चाहिये।

(१) श्री जिनेन्द्रदेव – अरहंत-सिद्ध की गाढ भक्ति, उनके गुणों की स्तुति, (२) शास्त्र की भक्ति में शास्त्र का भले प्रकार नित्य अभ्यास करते हुए शास्त्र के अर्थों का धारण, मनन, विचार, (३) आत्मज्ञानी गुरुओं की संगति – उनसे तत्वों का स्वरूप समझना, (४) एकांत में बैठकर नित्य प्रातःकाल व सायंकाल सामायिक करते हुए आत्मा को सबसे भिन्न विचार करना। इन – चार उपायों

को बराबर करते रहना चाहिये।

शास्त्र के द्वारा जीवादि सात तत्वों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करना चाहिये क्योंकि इनका स्वरूप-ज्ञान सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में परम उपकारी है। सात तत्वों के व्यवहार-ज्ञान के लिये श्री उमास्वामी कृत तत्वार्थसूत्र और निश्चयज्ञान के लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत पंचास्तिकाय, प्रवचनसार तथा समयसार ग्रंथों का भलेप्रकार अभ्यास करना चाहिये। यहाँ प्रकरण पाकर सात तत्वों का कुछ स्वरूप कहा जाता है –

(१) जीव तत्व – यह जीव ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यादि गुणधारी अमूर्तीक है। प्रत्येक जीव की सत्ता भिन्न-भिन्न है, यह अनादि-अनंत अविनाशी है। स्वभाव से यह रागादि का व कर्मबंध का न कर्ता है, न उनके फल का भोक्ता है। मात्र अपनी वीतराग परिणति का कर्ता व आत्मीक आनंद का भोक्ता है। जब संसार में कर्मबंध सहित होता है तब यह कर्मों के उदय से राग, द्वेष, मोह में परिणमन करके कर्मों का बंध करता है और उनका फल सुख-दुःख स्वयं भोगता है। यह जीव अपनी उन्नति व अवनति में स्वय स्वतंत्र हैं। यदि यह पुरुषार्थ करे तो कर्म काट सकता है। अशुद्ध भावों से आप ही बंधता है, शुद्ध भावों से आप ही निर्वाणरूप हो जाता है। हरएक शरीर में शरीराकार रहता है यद्यपि इसमें लोकप्रमाण फैलने की शक्ति है। इसी से इसके प्रदेश असंख्यात कहलाते हैं।

(२) अजीव तत्व - जीवपना, चेतनपना जिनमें न हो – ऐसे पांच द्रव्य अजीवतत्व में गर्भित हैं।

(क) पुद्गल—जिसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण पाया जाता है। यह परमाणु व स्कंधरूप से जगत में व्यापी है। जिन द्रव्यकर्मों का बंध होता है वे भी पुद्गल हैं। यह स्थूल शरीर भी पुद्गल हैं। इन्द्रियगोचर शब्दादि सब पुद्गल हैं।

(ख) धर्मास्तिकाय – यह एक अमूर्तीक लोकव्यापी अखंड द्रव्य है। जीव-पुद्गल जब स्वयं गमन करते हैं, तब यह उदासीनरूप से सहायता करता है।

(ग) अधर्मास्तिकाय – यह एक अमूर्तीक लोकव्यापी अखंड द्रव्य है। जीव-पुद्गल जब स्वयं ठहरते हैं, तब यह उदासीनरूप से सहायता करता है।

(घ) कालद्रव्य – अमूर्तीक अणुरूप द्रव्य संख्या में असंख्यात हैं, लोकव्यापी हैं। इनकी सहायता से सब द्रव्यों में परिणमन या अवस्था से अवस्थांतर होता है।

(ङ) आकाशद्रव्य – जो अनंत है, यह सब द्रव्यों को अवकाश देता है। जहाँ तक अन्य पाँच द्रव्य भरे हैं उसको लोक या लोकाकाश कहते हैं। इसके बाहर अनंत आकाश को अलोक या अलोकाकाश कहते हैं।

(३) आस्रवतत्व – कर्म पुद्गलों का आत्मा के पास खिंचकर आने को आस्रव कहते हैं। मन,

वचन, काय की क्रिया करते हुए आत्मा में चंचलता होती है इसी से कर्म का आस्रव होता है। यदि शुभ मन, वचन, काय की प्रवृत्ति होती है तो मुख्यता से पुण्यकर्म का और यदि अशुभ मन, वचन, काय की प्रवृत्ति होती है तो पापकर्म का आस्रव होता है।

(४) बंध तत्व – आए हुए कर्म पुद्गलों का जीव के प्रदेशों के साथ कुछ काल के लिये ठहर जाना बंध है। कषाय अधिक होती है तो अधिक काल के लिये, कषाय कम होती है तो कम काल के लिये ये कर्म ठहरते हैं। इसी के भीतर-भीतर अपना फल दिखाकर कर्म झड़ जाते हैं।

(५) संवर तत्व – आने वाले कर्म पुद्गलों को रोक देना संवर है, जिन जिन मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से कर्म पुद्गल आते हैं उन उन को रोकने से कर्म पुद्गल नहीं आते हैं। मिथ्यात्वभाव को रोकने के लिये सम्यग्दर्शन, अविरत भाव को रोकने के लिये अहिंसादि पाँच व्रतों का पालन, प्रमाद रोकने के लिये अप्रमाद भाव, कषाय रोकने के लिये वीतराग परिणती, योगों को रोकने के लिये मन, वचन, काय की गुप्ति संवर के करनेवाले हैं। जब कर्म आएंगे नहीं तो उनका बंध नहीं होगा।

(६) निर्जरा तत्व – कर्म पुद्गलों के जो बंध हुए हैं उनको शीघ्र ही आत्मा के पास से दूर कर देना निर्जरा है। यह निर्जरा तप के द्वारा किये हुए आत्मध्यान के बल से जो वीतरागता पैदा होती है उससे होती है। आत्मध्यान से भव-भव के बांधे कर्म एकदम गिरने लगते हैं। इसे अविपाक निर्जरा कहते हैं। जो कर्म अपने समय पर पक कर फल देते हैं उसे सविपाक निर्जरा कहते हैं।

(७) मोक्ष तत्त्व – नए कर्मों को रोकते हुए, पुराने कर्मों को दूर करते हुए व बंध के कारणभूत भावों का निरोध होते हुए सर्व कर्मों से जीव का रहित हो जाना मोक्ष तत्त्व है।

इन सात तत्वों में व्यवहार नय से जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष ग्रहण करने योग्य है परंतु निश्चय नय से इनमें से अपने एक शुद्ध आत्मा को ही ग्रहण करना चाहिये, अन्य सर्व को त्याग करने योग्य मानना चाहिये। ऐसा निश्चय में लाकर जब ऊपर लिखित चार उपायों को नित्य करता रहेगा, अधिक ध्यान सामायिक में लगाएगा व वैराग्य की भावना भाएगा कि मेरे शुद्ध आत्मा के सिवाय और सब मेरा नहीं है, संसार असार है, शरीर अशुचि है, भोग रोग के समान है, आठ कर्म का संयोग संसार में जन्म-मरणादि दुःखों का कारण है, तब भावना भाते-भाते मुख्यता से आत्मा का चिंतवन करते-करते एक समय ऐसे भाव चढ़ जाते हैं कि उनके प्रभाव से सम्यदर्शन के विरोधक ऊपर लिखित सात या पाँच प्रकृतियों का उपशम होकर सबसे प्रथम उपशम सम्यग्दर्शन का लाभ होता है। तब अपने शुद्ध स्वरूप का सच्चा भाव हो जाता है। सच्चा अनुभव हो जाता है। आत्मा का आनंद झलक जाता है कि जो आत्महित करना चाहें उनको उचित है कि वे सत्य की प्राप्ति के लिये तत्वों के मनन का पुरुषार्थ सदा करते रहें।

॥ सम्यग्दर्शन का स्वरूप॥

॥श्लोक ३३॥

सप्तप्रकृतिविच्छेदात्, शुद्धदृष्टिश्च दृष्टते।
श्रावकं अव्रतं जैनः, संसारदुःखपरान्मुखं॥

अन्वयार्थ – (मप्त प्रकृति) ऊपर लिखित सातों प्रकृतियों के (विच्छेदात्) सर्वथा क्षय या नाश हो जाने से (शुद्धदृष्टिश्च) शुद्ध आत्मदृष्टि ही अर्थात् शुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शन ही (दृष्टते) आत्मा में दिखलाई पड़ता है। (श्रावकं अव्रतं) वह अविरति श्रावक होता है (जैनः) वही जैनी है (संसार दुःख परान्मुख) वही संसार के दुःखों से विपरित सुख का भोगनेवाला है।

विशेषार्थ – सबसे पहले उपशम सम्यक्त्व होता है। इसकी स्थिति अंतर्मुहूर्त काल है। फिर यदि सम्यक्प्रकृति का उदय हो आता है तो क्षयोपशम सम्यग्दर्शन हो जाता है। इसकी स्थिति अधिक से अधिक छ्यासठ सागर है। जब अधिक वैराग्य भावना होती है व केवली या श्रुतकेवली का समागम होता है तब सातों प्रकृतियों के नाश से क्षायिक सम्यक्त्व पैदा हो जाता है। सम्यक्त्वी जीव चौथे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थान में रहता हुआ यद्यपि व्रतों का आचरण नहीं कर पाता है तथापि भावों में इस के वैराग्य व धर्मप्रेम, श्रद्धा व दया यथार्थ होती है। प्रशम (शांतभाव), संवेग (वैराग्य), आस्तिक्य (श्रद्धा), अनुकम्पा (दया) ये इसके लक्षण बाहर प्रगट रहते हैं। इसको संसार के दुःख नहीं होते हैं। यह अशुभ कर्मों का बंध नहीं करता है। यदि पहले अन्य आयु नहीं बांधी हो तो देव आयु ही बांधकर स्वर्ग में उत्तम देव होता है। तथा यह क्षायिक सम्यक्त्वी जीव तीसरे भव या चौथे भव में अवश्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है। क्षायिक सम्यक्तवी की अपूर्व महिमा है। अन्य दो सम्यक्त्व यद्यपि छूटनेवाले हैं तो भी एक बार जिसको उपशम सम्यदर्शन हो जाता है वह अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन काल से अधिक संसार में नहीं रहता है। सम्यक्त्व का लाभ होना मोक्ष की कुंजी हाथ में आ जाना है।

॥ श्लोक ३४॥

सम्यकदृष्टिनो जीवः, शुद्धतत्त्वप्रकाशकः।
परिणामं शुद्धसम्यक्तं, मिथ्यादृष्टि परान्मुखं॥

अन्वयार्थ – (सम्यक्दृष्टिनो जीवः) सम्यग्दर्शन का धारी जीव (शुद्धतत्वप्रकाशकः) शुद्ध आत्मतत्व का प्रकाश करनेवाला हो जाता है। (सम्यक्तं) सम्यग्दर्शन (शुद्ध परिणाम) आत्मा का शुद्ध

स्वभाव है या शुद्ध परिणाम है (मिथ्यादृष्टि परान्मुखं) **जो मिथ्यादर्शन से विपरीत है।**

विशेषार्थ – **उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक कोई भी सम्यक्त्व हो। जो महात्मा सम्यग्दर्शन को प्रगट कर लेता है वह शुद्ध आत्मा का सच्चा श्रद्धान, ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त कर लेता है। आत्मदर्शन करने का जो नेत्र मुद्रित था सो खुल जाता है। यह सम्यग्दर्शन आत्मा का एक मुख्य गुण है। मिथ्यादर्शन के उदय से अन्यथा परिणमन कर रहा था सो उसके उदय न होने से यथार्थ चमक जाता है। अंधकार और प्रकाश का जैसा विरोध है वैसा मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का विरोध है। मिथ्यादृष्टि संसारासक्त है तब सम्यग्दृष्टि स्वाधीनता का प्रेमी हो जाता है। आत्मानंद का स्वादी हो जाता है।**

॥ श्लोक ३५॥

सम्यक्देवं गुरुं भक्तः, सम्यक्धर्म समाचरः।
सम्यक्तं तु वेदंते, मिथ्या त्रिविध मुक्तयं॥

अन्वयार्थ – (सम्यक्देवं गुरुं भक्तः) **सच्चे देव व सच्चे गुरु का भक्त व** (सम्यक्धर्म समाचरः) **सच्चे धर्म का आचरण करनेवाला सम्यक्दृष्टि जीव** (मिथ्या त्रिविध) **तीन प्रकार मिथ्यात्व से** (मुक्तयं) **छूटा हुआ** (सम्यक्तं तु) **सम्यग्दर्शन का ही** (वेदंते) **अनुभव करता है।**

विशेषार्थ – **सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व पाकर मात्र संतोषी व आलसी नहीं हो जाता है। वह निरंतर श्री अरहंत व सिद्ध परमात्मा की भक्ति करता है। निर्ग्रंथ दिगम्बर गुरु की सेवा करके उनसे सच्चा उपदेश सुनता रहता है। सच्ची आत्मबोध कारक धर्म-क्रियाओं का आचरण करता रहता है। स्वाध्याय सामायिक का अभ्यास करता रहता है। जिन-जिन निमित्त व आलम्बनों से परिणाम अशुभ से बचकर शुभ में वर्ते जिससे शुद्ध आत्मा के चिंतवन का अवसर मिले – ऐसा उद्यम सदा करता रहता है। यह सम्यक्त्वी अंतरंग से आत्मीक शुद्ध भाव का ही अनुभव चाहता है। संसार-सुख का प्रेमी नहीं रहा है।**

॥ श्लोक ३६॥

सम्यक्दर्शन शुद्धं, ज्ञानं आचरणसंयुक्तं।
सार्द्ध त्रिति संपूर्णं, कुज्ञानं त्रिविधि मुक्तयं॥

अन्वयार्थ – (सम्यक्दशन शुद्धं) **शुद्ध सम्यग्दर्शन** (संयुक्तं) **सहित** (ज्ञानं) **ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। उसी के** (सार्द्धं) **साथ** (आचरण) **चारित्र सम्यक्चारित्र हैं** (त्रिती संपूर्णं) **तीनों की पूर्णता या एकता ही मोक्षमार्ग है** (त्रिविधि) **तीन प्रकार** (कुज्ञानं) **कुज्ञान अर्थात् संशय-विमोह-विभ्रम से** (मुक्तय) **रहित है।**

विशेषार्थ – जब सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान हो जाता है तब न तो कोई संशय का कुज्ञान है न विपरीतपने का है और न विभ्रम या अनध्यवसाय या ज्ञान में आलस्य का कुज्ञान है। इन तीन ज्ञान के दोषों से रहित सम्यग्ज्ञान यथार्थ ज्ञान है। शुद्ध सम्यक्दर्शन सहित चारित्र ही सम्यक्चारित्र है। बिना आत्मश्रद्धा प्राप्त हुए अनेक शास्त्रों का ज्ञान रखते हुए भी मिथ्याज्ञान कहलाता है। इसीतरह आत्मानुभव के बिना सर्व ही मुनि व श्रावक का व्यवहार चारित्र है, वह मिथ्याचारित्र कहलाता है। मोक्षमार्ग रत्नत्रय स्वरूप है। जहां सम्यग्ज्ञान सम्यक्दर्शन व सम्यक्चरित्र की एकता प्राप्त हो जाती है यही अभेद या निर्विकल्प अनुभव ही वास्तव में मोक्षमार्ग है। सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय सम्यग्ज्ञान व स्वरूपाचरण चारित्र भी होता ही है। फिर आगे आत्मानुभव के प्रताप से चारित्र बढते बढते यथाख्यात चारित्र हो जाता है तथा ज्ञान बढते-बढते केवलज्ञान हो जाता है। सम्यक्त्व बिना सब शून्य ही है।

॥ श्लोक ३७॥

सम्यक्तं संयमं दृष्टं, सम्यक्तप सार्द्धयं।
परिणै प्रमाणं शुद्धं, अशुद्धं सर्व तिक्तयं॥

अन्वयार्थ – (सम्यक्तं संयमं) सम्यग्दर्शन सहित संयम सम्यक्संयम (दृष्टं) देखा गया है। (सार्द्धयं) उसी के साथ तप (सम्यक्तप) सम्यक् तप है। तब ही (सर्व अशुद्धं) सर्व अशुद्ध ज्ञान को (तिक्तयं) छोडकर (शुद्धं प्रमाणं) शुद्ध प्रमाणरूप ज्ञान (परिणै) परिणमन करता है।

विशेषार्थ – संयम सम्यक्त्व की उपस्थिती में ही सम्यक्संयम नाम पाता है। यदि सम्यग्दर्शन न हो और संयम-नियम-व्रत-प्रतिज्ञा कितनी भी की जावे सब मिथ्या-संयम नाम पाता है।

किंतु यदि संयम आचरण करते हुए सम्यग्दर्शन होगा तो वह संयम सम्यक् संयम होगा। इसी तरह १२ प्रकार का तप-ध्यानादि तब ही अपने नाम को रखते हैं जब उनके साथ सम्यग्दर्शन हो। प्रमाण-नय का ज्ञान यदि मिथ्यादर्शन सहित है, आत्मा की यथार्थ श्रद्धा रहित है तो वह कुज्ञान या अशुद्ध ज्ञान है । परंतु सम्यग्दर्शन के साथ वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि दोनों मति-श्रुतज्ञान से कदाचित् पदार्थों को एक-सा जानते हैं तो भी मिथ्या अभिप्राय जो संसार की रोचकता (रुचि) उस सहित सर्व ज्ञान कुज्ञान है। परंतु सम्यक् अभिप्राय सहित सर्व ज्ञान सुज्ञान है।

॥ श्लोक ३८॥

षट्कर्म शुद्ध सम्यक्तं, सम्यक्तं अर्थ शाश्वतं।
सम्यक् शुद्धं ध्रुवं सार्द्धं, सम्यक्तं प्रति पूर्नितं॥

अन्वयार्थ – (शुद्ध) शुद्ध भावना के साथ (षट्कर्म) मुनि या श्रावक के छह कर्म (सम्यक्तं मार्द्ध) सम्यग्दर्शन सहित ही होते है। (शाश्वतं) अविनाशी (अर्थ) पदार्थ (सम्यक्तं) सम्यग्दर्शन है। (सम्यक्) सम्यक्त्व (शुद्ध) शुद्ध है (धुवं) व ध्रुव है (सम्यक्तं) यही सम्यक्त्व (प्रति पूर्नितं) संपूर्ण व यथार्थ हैं।

विशेषार्थ – यहाँ बताया है कि निश्चय सम्यग्दर्शन आत्मा का एक शुद्ध अविनाशी गुण है इस भाव को लिये हुए ही सम्यग्दर्शन परिपूर्ण है। इस निश्चय सम्यक्त्व में शुद्ध आत्मा की ओर लक्ष्य रहता है। इस लक्ष्य में ही शुद्ध भावना होती है। सम्यक्त्व रहित सर्व भावना अशुद्ध कहलाती है। जहाँ शुद्ध आत्मतत्व की भावना है वहीं मुनि या श्रावक के नित्य छह कर्म यथार्थ कहे जाते हैं। उन कर्मों के करने का फल मुनि या श्रावक किसी अशुद्ध लौकिक लाभ को नहीं चाहता है। उसके यही भावना रहती है कि इनके द्वारा शुद्ध आत्मा में ध्यान चला जावे।

मुनियों के छह नित्यकर्म हैं। १ प्रतिक्रमण – पिछले दोषों को दूर करने की सच्ची भावना, २ प्रत्याख्यान – आगामी दोषों से बचने की भावना, ३ संस्तुति – तीर्थंकरादि की स्तुति करना, ४ वन्दना – किसी एक की मुख्यता करके नमस्कार करना, ५ सामायिक – समताभाव पाने को ध्यान करना, ६ कायोत्सर्ग – शरीर से ममत्व त्यागना।

श्रावक के छह कर्म हैं – देवपूजा, गुरुभक्ति, शास्त्र-स्वाध्याय, तप या सामायिक, संयम, और दान। तात्पर्य यह है कि मुनि हो या श्रावक सबको अपने-अपने नित्य-कर्म मात्र शुद्ध आत्मा की भावना के हेतु से ही करने चाहिये। तब ही ये सम्यक् हैं।

॥ श्लोक ३९॥

सम्यक् देव उपासंते, रागद्वेष विमुक्तयं।
अरूपं शाश्वतं शुद्धं, स्वयं आनंदरूपयं॥

अन्वयार्थ – सम्यग्दृष्टि जीव निश्चय से (रागद्वेष विमुक्तयं) राग-द्वेषादि भावों से रहित परम वीतराग (अरूप) वर्णादि रहित अमूर्तीक (शाश्वत) अविनाशी (शुद्धं) कर्मादि मल रहित शुद्ध (आनंदरूपयं) आनंदरूप (स्वयं) जो आप स्वयं – है ऐसे (सम्यक् देव) यथार्थ परमात्मा की (उपासंते) सेवा करता है।

विशेषार्थ – यहाँ बताया है कि यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीव व्यवहारनय से अरहंत-सिद्ध को पूज्यनीय देव मानता है तथापि निश्चय से अपने आपको देव मानकर उसी की आराधना करता है। यह आत्मा जो शरीर में बस रहा है वह निश्चय से राग-द्वेषादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्म, शरीरादि नो-कर्म से भिन्न है। स्पर्श, रस, गंध व वर्ण रहित अमूर्तीक है। अनादि से अनंतकाल रहनेवाला

अविनाशी है तथा सदा ही आनन्दरूप है। वास्तव में जो अपने आत्मा को यथार्थ जैसा का तैसा द्रव्य रूप, सर्व परद्रव्यों से व परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले भावों से भिन्न अनुभव करता है, वही सम्यग्दृष्टि है।

॥श्लोक ४०॥

देवं देवाधिदेवं च, नंत चतुष्टै संजुतं।
ॐकारं च वेदंते, तिष्टतं शाश्वतं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (च) तथा (देवाधिदेवं) देवों का देव जो (नंत चतुष्टै संजुतं) अनंत चतुष्टय सहित है (शाश्वतं) अविनाशी है (ध्रुवं) द्रव्य अपेक्षा एकरूप है (ॐकारं च तिष्टतं) जो ॐ शब्द में भी विराजित है – ऐसे (देवं) परमात्मा को (वेदंते) अनुभव करता है।

विशेषार्थ – सम्यक्त्वी यह भी अनुभव करता है कि ॐ शब्द में जो अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु ये पाँच परमेष्ठी हैं उनके भीतर भी निश्चय से वही शुद्धात्मा है जैसा कि मेरे शरीर के भीतर शुद्धात्मा है। द्रव्यदृष्टि करके देखा जावे तो कोई भेद नहीं है। द्रव्यार्थिक नय से सदा ही एकरूप टंकोत्कीर्ण रहनेवाला है। सदा ही उसमें अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख, अनंतवीर्य – ये चार अनंत चतुष्टय विराजमान हैं। शुद्ध निश्चयनय की मुख्यता से देखते हुए सर्व ही आत्माएं सर्व ही अवस्थाओं में एक शुद्ध निर्विकार देखने में आती हैं। इस दृष्टि में नर-नारक तिर्यंच-देव के सब भेद, संसारी-सिद्ध के भेद, गुणस्थान व मार्गणा के सब भेद लोप हो जाते हैं, यही दृष्टि समताभाव जागृत करती है। शत्रु-मित्र, स्वामी-सेवक, पूज्य-पूजक, ध्याता-ध्येय का विकल्प मिटाती हैं। वीतरागताका आदर्श जमाती है। सर्व क्लेशों का शमन करती है।

योगसार में योगेन्द्राचार्य कहते हैं –

सुद्धप्पा अरु जिणवरहं भेउ म किमपि वियाणि।
मोक्खह कारण जाइया णिच्छइ एउ वियाणि ॥२०॥

भावार्थ – शुद्ध आत्मा में और जिनेन्द्र में भेद कुछ भी न जानो। हे योगी !निश्चयनय से यही भाव मोक्ष का कारण है – ऐसा समझ।

॥ श्लोक ४१॥

ॐकारस्य ऊर्धस्य, अर्घ सद्भाव तिष्ठते।
ॐ वं ह्रियं श्रियं वंदे, त्रिविधिअर्थं च संजुतं॥

अन्वयार्थ – (ऊर्धस्य) श्रेष्ठ (ॐकारस्य) ॐ मंत्र के भीतर (अर्ध) श्रेष्ठ (सद्भाव) सत्तारूप पदार्थ शुद्ध आत्मा (तिष्ठते) विराजमान है। वह (ॐ ह्रिय श्रिय) ॐ ह्रीं श्रीं (त्रिविधि अर्थ च संजुतं) इनके तीन प्रकार भावों को लिये हुए हैं, उसको (वंदे) नमस्कार करता हूँ।

विशेषार्थ – तीन लोक में परम पद अरहंतादि पाँच ही हैं जिनको सर्व इन्द्रादि, चक्रवर्ती आदि पुनः पुनः नमस्कार करते हैं उन्ही का वाचक णमोकार मंत्र है व उन्ही का वाचक यह ॐ मंत्र है। इसलिये यह ॐ महामंत्र है, सर्व मंत्रों में श्रेष्ठ है। इसके भीतर जो पाँच परमेष्ठी गर्भित हैं उन पाँचों ही के भीतर परम पदार्थ शुद्धात्मा शोभायमान हो रहा है। ॐ का अर्थ जैसे इस पदार्थ में गर्भित है वैसे ही ह्रीं व श्रीं का भी है। ह्रीं से चौबीस तीर्थंकरों का संकेत है, इनके भीतर भी वही शुद्धात्मा है तथा श्रीं से अनंत चतुष्टय लक्ष्मी का बोध होता है। यह लक्ष्मी इस ही शुद्धात्मा में विद्यमान है। इसलिये मैं ॐ मंत्र से जानने योग्य अपने ही भीतर विराजित परम पदार्थ सत्तारूप शुद्ध आत्मा को वन्दना करता हूँ अर्थात् उसी में तन्मय होकर अनुभव करता हूँ। यही भाव वन्दना परम मंगलरूप व मोक्षहेतु है।

॥ श्लोक ४२॥

देवं च ज्ञानरूपेण, परमेष्ठी च संजुतं।
सो अहं देहमध्येषु, यो जानाति स पंडितः॥

अन्वयार्थ – (ज्ञानरूपेण) परम सहज स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान की अपेक्षा (परमेष्ठी च सजुत) अरहंतादि पाँच परमेष्ठी सहित (च देव) जो कोई परमात्मा देव है (सो) वही (अह) मैं (देहमध्येषु) इस अपने शरीर के मध्य मे तिष्ठता हूँ। (यो) जो कोई सम्यग्दृष्टी (जानाति) ऐसा अनुभव करता है (स) वही (पडित) पंडित है।

विशेषार्थ – पंडा अर्थात् प्रज्ञा या विवेकबुद्धि जिसके हो वह पंडित कहलाता है। जो पंडित है वह सम्यग्दृष्टि है, जो सम्यग्दृष्टि है वही पंडित है, अन्य कोई व्याकरण न्याय साहित्य छंद अलंकार का ज्ञाता महावादी शास्त्रज्ञ पंडित नहीं है। यदि धुरंधर शास्त्रज्ञ होते हुए वह सम्यग्दृष्टि है, आत्मज्ञानी है तो वह सच्चा पंडित है। यदि आत्मानुभवी नहीं है तो वह शास्त्रज्ञ है तो भी अपंडित है। सम्यग्दृष्टि की दृष्टि द्रव्य की ओर मुख्यता से रहती है वह जब स्वाभाविक ज्ञान आदि गुणों की अपेक्षा आत्मा पदार्थ का अवलोकन करता है तो उसे अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु – इन पाँच परमेष्ठियों के भीतर जो शुद्धात्मा दिखलाई पड़ता है वैसा ही शुद्धात्मा उसे अपने इस शरीर में विराजित दिखलाई पड़ता है, जो शरीर में तिष्ठे हुए अपने आत्मा को ही द्रव्यदृष्टि से परमात्मा रूप देखता है इसमें और पाँच परमेष्ठी की आत्माओं में कोई भेद नहीं देखता है। समानता का भाव पाता है वही यथार्थ ज्ञानी सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गी है।

योगसार में कहते हैं –

जोपरमप्पासोजिहउंजोहउंसो परमप्पु। इउ जाणेविणु जोइआ अण्ण न करहु वियप्पु ॥२२॥

भावार्थ – **जो परमात्मा है सो ही मैं हूँ, जो मैं हूँ सो ही परमात्मा है ऐसा समझकर हे योगी ! और दूसरा कोई भेद-विकल्प तू न कर। वास्तव में सोहं मंत्र का भाव इस श्लोक में बताया गया है। सोहं का जप व सोहं का ध्यान परमात्मा और देह में विराजित आत्मा में एकता करा देता है और शुद्ध साम्यभाव में ले जाता है।**

॥ श्लोक ४३॥

कर्म अष्ट विनिर्मुक्तं, मुक्तिस्थाने य तिष्ठते।
सो अहं देहमध्येषु, यो जानाति सः पंडितः॥

अन्वयार्थ – (अष्टकर्म विनिर्मुक्तं) **आठों कर्मों से रहित सिद्ध भगवान** (मुक्तिस्थाने य) **सिद्धक्षेत्र में** (तिष्ठते) **विराजते हैं** (सो) **वही** (अहं) **मैं** (देहमध्येषु) **इस शरीर के बीच में हूँ** (यो) **जो तत्वज्ञानी** (जानाति) **ऐसा पहचानता है** (सः) **वही** (पंडितः) **पंडित है।**

विशेषार्थ – **द्रव्यार्थिक नय से देखा जावे तो सर्व ही आत्माएँ समान गुणधारी शुद्ध हैं। यद्यपि प्रदेशों की अपेक्षा या व्यक्तिपने की अपेक्षा हर एक आत्मद्रव्य की सत्ता भिन्न-भिन्न रूप है तथापि गुण व स्वभावों की अपेक्षा सब एकरूप हैं। इसी दृष्टि से जब ज्ञानी देखता है तो सिद्ध भगवान में और अपने शरीर में विराजित आत्मा में कोई भेद नहीं देखता है। सिद्ध भगवान का आत्मा ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के बन्धन से रहित शुद्ध है वैसे ही यह आत्मा जो कर्मसंयोग की अपेक्षा संसारी झलकता है वही द्रव्यदृष्टि से कर्मों से भिन्न सिद्धवत् शुद्ध प्रतीति में आता है। सिद्ध भगवान का निवास लोकाकाश के अग्रभाग में तनुवातवलय के भीतर है वहाँ वे पुरुषाकार चैतन्यमयी अपने आप में मगन परम गम्भीर आत्मरस वेदन करते हुए परम कृत्यकृत्य समदर्शी विराजमान हैं। इस अपने आत्मा का निवास उस आकाश में है जो इस शरीर से व्याप्त है। सिद्धक्षेत्र भी आकाश है। शरीर का क्षेत्र भी आकाश है। इसकारण यदि शरीर को ही शुद्धात्मा का सिद्धक्षेत्र कहें तो कोई आपत्ति नहीं। स्वरूप से वह आत्मा जैसा शरीर में है वैसा सिद्धक्षेत्र में है। शुद्ध सुवर्ण की डली रत्न पिटारी में रखी हुई जैसी है वैसे ही वह कीचड़ में सनी हुई है। वह कीचड़ में पड़ी हुई सुवर्णपने को कभी खोती नहीं। वैसे यह आत्माराम कार्माण, तैजस, औदारिकादि शरीरों के भीतर रहता हुआ भी अपने आत्मद्रव्य के स्वभाव को कभी त्यागता नहीं है। इसतरह जो सिद्धवत् अपने आत्मा को अपनी देह के भीतर अनुभव करता है वही पंडित है। अन्य कोई मात्र शब्दों का ज्ञाता पंडित नहीं है किंतु जड़ मूर्ख**

है। योगसार में कहते हैं –

सत्थ पढ़ंतह ते वि जड अप्पा जे ण मुणंति। तिह कारण ऐ जीव फुडु ण हु णिव्वाण लहंति॥५२॥

भावार्थ – जो कोई आत्मा को नहीं पहचानते हैं वे शास्त्रों को पढ़ते हुए भी जड़ हैं। इसी कारण से वे शास्त्रज्ञानी ग्यारह अंग नौं पूर्व के पाठी तक भी निर्वाण को नहीं पा सकते हैं।

॥ श्लोक ४४॥

परमानंद संदृष्टाः, मुक्तिस्थाने य तिष्ठते।
सो अहं देहमध्येषु, सर्वज्ञं शाश्वतं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (परमानन्द सदृष्टाः) परम आनन्द को अनुभव करनेवाले सिद्ध भगवान (मुक्तिस्थाने य) मोक्षक्षेत्र में (तिष्टते) विराजमान हैं (सो) उसी के समान (अहं) मैं (सर्वज्ञं) सर्व का जाननेवाला (शाश्वतं) अविनाशी (ध्रुवं) अपने स्वभाव को स्थिर रखनेवाला (देहमध्येषु) अपनी देह के मध्य में हूँ।

विशेषार्थ – सिद्ध भगवान निरंतर परमानन्द का अनुभव करते रहते हैं और सिद्धालय में विराजमान हैं उसीतरह मेरा यह आत्मा यद्यपि कर्मों के बन्धन के कारण संसारी पर्याय रख रहा है और पराधीन है तथापि जब मैं इस अपने आत्मा को भी शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से देखता हूँ तो इसमें व सिद्ध में कोई अन्तर नहीं पाता हूँ। सिद्ध भी ध्रुव हैं, मैं भी ध्रुव हूँ। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी अपने आत्मा में सर्व ही आत्मीक गुणों का विलास देखकर परम संतोष पा रहा है और पुनः पुनः देह के भीतर ही अपने आत्मादेव को देखकर आराधन करता है।

॥ श्लोक ४५॥

दर्शनज्ञान संयुक्तं, चरणं वीर्य अनन्त यं।
अमूर्तं ज्ञानसंशुद्धं, देहे देवलि तिष्ठते॥

अन्वयार्थ – (दर्शनज्ञान संयुक्तं) अनन्तदर्शन अनन्तज्ञान सहित (चरणं वीर्य अनन्त यं) अनन्त वीर्य तथा वीतरागचारित्र सहित (अमूर्तं) अमूर्तीक (ज्ञान) ज्ञानाकार (संशुद्धं) परम शुद्ध देव (देहे देवलि) देहरूपी मंदिर में (तिष्ठते) विराजमान हैं।

विशेषार्थ – इस शरीररूपी मंदिर के भीतर जो आत्मा है वही निश्चय से परमात्मा देव है। उसमें अनंत दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य, सुख गुण जो सिद्धों में प्रगट हैं सो सब विराजमान हैं। यह परमात्मा देव यद्यपि कर्मों की वर्गणाओं से हरएक प्रदेश में छाए हुए होने के कारण मूर्तीक-सा हो रहा है

तथापि स्वभाव से देखा जाय तो इसके साथ पौद्गलिक कर्मों का कोई सम्बन्ध नहीं है, यह तो रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित अमूर्तीक है। यह शरीर के आकार है परंतु ज्ञानाकार है। मूर्ती के आकार रहित है। ज्ञानी महात्मा अपने ही शरीर को मंदिर मानकर उसमें परमात्मा की परम शांत ज्ञानमयी स्फटिक मूर्तिवत् आकृति का दर्शन करके परम संतोषित होते हैं। उसकी भावना भाते-भाते कभी उसी स्वरूप में एकाग्र हो जाते हैं और स्वानुभव का आनन्द लेते हैं। यही मोक्ष का उपाय है।

योगसार में कहते हैं –

अप्पसरूवह जो रमइ छंडवि सहु ववहारु। सो सम्माइट्ठी हवइ लहु पावइ भवपारु ॥८८॥

भावार्थ – जो सर्व व्यवहार छोड़कर अपने आपके शुद्ध स्वरूप में रमण करता है वही सम्यग्दृष्टि जीव शीघ्र ही संसार से पार हो जाता है।

॥ श्लोक ४६ ॥

अर्हंतदेव तिष्ठंते, ह्रींकारेन शाश्वतं।
ॐवं ऊर्ध सद्भावं, निर्वानं शाश्वतं पदं॥

अन्वयार्थ – (ह्रींकारेन) ह्रीं इस मंत्र पद में (शाश्वतं) सदा ही (अरहन्तदेव) अरहन्तदेव चौबीस तीर्थंकर स्वरूप (तिष्ठंते) विराजमान हैं। (ॐ वं) ॐ इस मंत्र पद के भीतर (ऊर्ध) श्रेष्ठ (सद्भावं) सत्तारूप आत्मा पदार्थ (निर्वानं) निर्वाण स्वरूप या सिद्ध स्वरूप (शाश्वतं पदं) अविनाशी पद धारी विराजमान हैं।

विशेषार्थ – यहाँ फिर भी यह स्मरण कराया है कि ॐ ह्रीं मंत्र पदों का ध्यान आत्मा की भावना के लिये उपयोगी है। पहिले कहा जा चुका है कि ह्रीं में चौबीस तीर्थंकर व ॐ में अरहन्तादि पांचो परमेष्ठी गर्भित हैं। इन सबमें यदि निश्चय से देखा जावे तो एक अविनाशी मोक्षपद का धारी सत्तारूप पदार्थ शुद्ध आत्मा विराजमान है। तात्पर्य यह है कि इन मंत्र पदों का आश्रय लेकर हमको सर्व विकार रहित शुद्ध आत्मा का ही चिंतवन, मनन व अनुभव करना चाहिये। निर्वाण कोई परवस्तु नहीं है जिसे कहीं से प्राप्त करना है, निर्वाण न कोई परक्षेत्र है जहां कहीं इसे जाना है। निर्वाण तो इस अपने आत्मा का ही स्वयं स्वभाव है व आत्मा ही निर्वाणक्षेत्र है। व्यवहार से सिद्ध परमात्मा को निर्वाण स्वरूप कहते हैं व सिद्धक्षेत्र को निर्वाणपुर कहते हैं। परंतु निश्चय से देखा जावे तो यह आत्मा आप ही निर्वाण स्वभाव है व आप ही निर्वाण का क्षेत्र है। ज्ञानी सम्यक्त्वी को सर्व संकल्प-विकल्प त्यागकर निश्चिंत हो भीतर प्रवेश करके आप अपने ही आत्मा का पवित्र दर्शन करके सच्ची भक्ति में लगे रहना चाहिये तो शीघ्र ही वह सम्यक्त्वी निर्वाणपुर में चला जाता है।

॥ आत्मा के तीन भेद ॥

॥ श्लोक ४७-४८॥

आत्मा त्रिविधिं प्रोक्तं, परु अंतर्बहिरप्ययं।
परिणामजं च तिष्ठंते, तस्यास्ति गुणसंयुतं॥
आत्मा परमात्मतुल्यं च, विकल्पं यत्र क्रीयते।
शुद्धभाव थिरीभूतं, आत्मानं परमात्मनं॥

अन्वयार्थ – (आत्मा) आत्मा (त्रिविधं) तीन प्रकार (प्रोक्तं) सिद्धांत में कहा गया है (परु) परमात्मा (अंतर) अंतरात्मा (बहिरप्यय) बहिरात्मा। ये तीनों भेद (परिणामज) परिणमन या पर्यायों के द्वारा (तिष्ठंते) होते हैं। (तस्य) इनमें से जो (गुणसयुतं) सर्व आत्मीक गुणों से पूर्ण हैं, जहाँ (आत्मा च परमात्मा) आत्मा और परमात्मा (तुल्य) शुद्ध निश्चय नय से बराबर हैं (यत् विकल्पं) ऐसा विचार या भेद (न) नहीं (क्रियते) किया जाता है। (शुद्ध भाव) शुद्ध स्वभाव में (थिरीभूत) थिरता व मग्नता को प्राप्त (आत्मानं) आत्मा को (परमात्मनं) परमात्मा कहते हैं।

विशेषार्थ – शुद्ध निश्चयनय से या शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टि से यदि देखा जावे तो सर्व ही सिद्ध या संसारी आत्माएं एक समान शुद्ध ही देखने में आएंगी। परंतु यदि भिन्न-भिन्न अवस्था, जो आत्मा के साथ संयोग प्राप्त कर्मों के निमित्त से हो रही है उसकी अपेक्षा से देखा जावे तो इस अशुद्ध निश्चय नय अथवा व्यवहार नय या पर्यायार्थिक नय से जगत के भीतर आत्मा की तीन अवस्थाएं दिखलाई पड़ेंगी। परमात्मा, अंतरात्मा और बहिरात्मा। शुद्ध सिद्ध कृतकृत्य आत्मा को परमात्मा कहते हैं। जो अंतरंग में आत्मा को आत्मा, आत्मा के साथ संयोग प्राप्त द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म को अनात्मा कहते हैं। जो अंतरंग में आत्मा को आत्मा, आत्मा के साथ संयोग प्राप्त द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म को अनात्मा अनुभव करता है ऐसा – सम्यग्दृष्टी जीव तत्वज्ञानी अंतरात्मा है। जो आत्मा और अनात्मा की यथार्थ भेद बुद्धि से रहित है। संसार के विषयों में तन्मय है। शुद्ध आत्मा के अनुभव से शून्य है। आत्मा के स्वभाव से विपरीत किंचित् भी विभाव को या परमाणु मात्र भी परवस्तु को आत्मा की जो मानता है वह बहिरात्मा अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है। चौदह गुणस्थानों की अपेक्षा विचार किया जावे तो तेरह वें चौदहवें गुणस्थानवती संयोगकेवली और अयोगकेवली अरहंत भगवान परमात्मा हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान से लेकर क्षीण मोह बारहवें गुणस्थान पर्यंत अंतरात्मा हैं। इनमें से अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य अंतरात्मा हैं, देशविरत व प्रमत्तविरत दो गुणस्थानधारी मध्यम अंतरात्मा

हैं, सातवें से बारहवें तक शुद्धोपयोगी उत्कृष्ट अंतरात्मा हैं। गुणस्थानों से बाहर श्री सिद्ध भगवान तो साक्षात् शरीरादि रहित परमात्मा हैं। आत्मा में परिणमन शक्ति है। सर्वथा कूटस्थ नित्य नहीं है। आत्मा में वैभाविक शक्ति भी है जिससे यह कर्म के उदय के निमित्त से स्वभाव से विभावरूप परिणमन कर जाता है। जैसे जल में उष्णरूप होने की शक्ति है। अग्नि का निमित्त मिलने पर उष्णरूप परिणमन कर जाता है। निमित्त न हो तो स्वभाव में शीतल ही बना रहता है। अनादिकाल से संसार में संसारी आत्माएँ कर्मों के साथ दूध-पानी के समान मिली हुई चली आ रही हैं। कर्मों के उदय जनित भावों का परिणमन होता रहता है। जहाँ तक मिथ्यात्व कर्म का, अनंतानुबंधी कषाय का व सम्यक्-मिथ्यात्व का उदय है – ऐसे मिथ्यात्व, सासादन व मिश्र गुणस्थानों में शुद्ध स्वभाव में रंचमात्र भी परिणमन नहीं है, अशुद्ध या मिश्रित भावों में परिणममन है। अतएव इन तीन गुणस्थानवालों को बहिरात्मा कहते हैं। जहाँ सम्यग्दर्शन का लाभ हो गया वहाँ शुद्ध स्वभाव में परिणमन की शक्ति प्राप्त हो गई परंतु चारित्रमोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अंतराय कर्म के उदय से यथाख्यात चारित्र तथा केवलज्ञान प्रगट नहीं हुआ वहाँ तक अंतरात्मा रूप परिणमन है। चार घातीय कर्मों के नाश होने पर आत्मा भावों की अपेक्षा सर्वज्ञ वीतराग आनन्दमय हो जाता है तब आत्मा का परमात्मारूप यथावत् परिणमन है। इसे परमात्मारूप परिणमन कहते हैं।

परमात्मा सम्पूर्ण आत्मीक गुणों से परिपूर्ण है। साधक अवस्था में छठे गुणस्थान पर्यंत यह विचार किया जाता था कि मेरा आत्मा शुद्ध निश्चयनय से परमात्मा के तुल्य है। अब जब परमात्मपद प्राप्त हो गया तो वहां यह विकल्प बिलकुल भी नहीं रहा। निर्विकल्प वीतराग परमानन्दमय शुद्ध स्वभाव में जो स्थिर हो गया है उसे ही परमात्मा कहते हैं।

समाधिशतक में पूज्यपादस्वामी कहते हैं –

बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तर । चित्तदोषात्म विभ्रान्तिः परमात्मातिनिर्मलः॥ ५॥
निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः। परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः॥ ६॥

भावार्थ – जिसकी शरीर आदि में अर्थात् सर्व आत्मा के सिवाय अन्य पदार्थों में या भावों में आत्मापने की भ्रांति है वह जीव बहिरात्मा है। जिसके भीतर से यह भ्रांति निकल गई है कि चित्त के दोष रागादि आत्मा हैं अर्थात् जो कर्म सम्बन्धी रचना से आप को भिन्न अनुभव करता है वह अंतरात्मा है। जो अति पवित्र कर्म-कलंक रहित आत्मा है वह परमात्मा है। परमात्मा के अनेक नाम हैं – कर्ममल रहित है इस से निर्मल है, सर्व कर्म रहित है इससे केवल है, परम शुद्ध स्वभाव को सिद्ध कर लिया है इससे सिद्ध है, सर्व कर्मादि से जुदा है इस से विविक्त है, आप आप का स्वामी स्वाधीन है इससे प्रभु है, कभी स्वभाव से रहित न होगा इसी से अक्षय है, उत्कृष्टादि पद में विराजित है इससे

परमेष्ठी है, संसारी जीवों की अपेक्षा उत्कृष्ट है इससे परात्मा है या परमात्मा है। इन्द्रादि को असम्भव ऐसे अंतरंग और बहिरंग परम ऐश्वर्य सहित है इससे वह ईश्वर है, आत्मा के शत्रु रागादि व कर्मबन्ध को जिसने जीत लिया है इसलिये वह जिन है। प्रयोजन यह है कि मुमुक्षु जीव को बहिरात्म बुद्धि त्यागकर अंतरात्मा होकर परमात्मा का ध्यान करना योग्य है।

॥ श्लोक ४९ ॥

विज्ञानं यो विजानन्ते, अप्पा परपरीक्षया ।
परिचये अप्प सद्भावं, अन्तरात्मा परीक्षयेत् ॥

अन्वयार्थ – (यो) **जो कोई** (अप्पापर) **आत्मा और परकी** (परीक्षया) **परीक्षा करके** (विज्ञानं) **दोनों के विशेष ज्ञान को अर्थात् भेदविज्ञान को** (विजानन्ते) **विशेष सूक्ष्मता से जानता है। तथा** (अप्प सद्भाव) **आत्मा के सत्तारूप शुद्ध स्वभाव का** (परिचये) **परिचय पाता है।** (अंतरात्मा) **वही अंतरात्मा है – ऐसा** (परीक्षयेत्) **पहचानना चाहिये ।**

विशेषार्थ – **यहाँ अंतरात्मा का स्वरूप बताया है। आत्मा और कर्म पुद्गल शरीरादि दूध-पानी की तरह मिल रहे हैं या पानी और मिट्टी के समान एकमेक हो रहे हैं। लक्षणभेद से दोनों को भिन्न-भिन्न पहचानना चाहिये। आत्मा का निज स्वभाव ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यमय अमूर्तीक पवित्र है तथा कर्म आदि पुद्गल सब मूर्तीक स्पर्श, रस, गंध, वर्णमय चेतनता रहित हैं व राग-द्वेषादि विकार के कारण हैं। इसतरह अपनी बुद्धि से प्रमाणज्ञान से व नय के द्वारा दोनों को भिन्न-भिन्न कर जो आत्मा नहीं है सो मैं नहीं हूँ इसतरह पर से उदासीन होकर जो अपने आत्मा के यथार्थ शुद्ध स्वरूप को पहचानता है और उसी के स्वाद की रुचि प्राप्त करता है उसे अंतरात्मा जानना चाहिये।**

॥ श्लोक ५० ॥

बहिरप्पा पुद्गलं दृष्ट्वा, रचनं आनंद भावना।
परपंचं येन तिष्ठंते, संसारे स्थिति वर्द्धनं॥

अन्वयार्थ – (बहिरप्पा) **बहिरात्मा** (पुद्गल) **पुद्गल को** (दृष्ट्वा) **देखकर** (आनन्द भावना) **आनन्द की भावना को** (रचनं) **रचता है** (येन) **इस जड़ में मग्नता की भावना से** (परपंच) **जगत का प्रपंच** (तिष्ठते) **बना रहता है तथा** (ससारे स्थिति) **संसार में उसकी स्थिति** (वर्द्धन) **बढ़ती जाती है।**

विशेषार्थ – **शरीर पुद्गल है, पाँच इंद्रियों के द्वारा भोगने योग्य विषय, स्त्री का तन, भोजन, सुगंध, सुन्दर तन व अचेतन पदार्थ, नानाप्रकार के मनोहर गान आदि सब पुद्गल हैं। इंद्रियों के द्वारा यहीं पदार्थ देखने में जानने में आते हैं इनको मनोज्ञ देखकर मन में रंजायमान हो जाता है और**

अमनोज्ञ देखकर मन में क्लेशित हो जाता है। तब जो-जो पदार्थ इस अज्ञानी को इष्ट लगते हैं, उनकी प्राप्ति के लिये और जो-जो अनिष्ट लगते हैं, उनसे बचने के लिये नानाप्रकार मायाचार व आरंभ व हिंसादि पापों में फंसा रहता है। विषयलम्पटी होकर अन्याय सेवन करता है, अभक्ष्य भक्षण करता है, रागी-द्वेषी देवों की आराधना करता है। दूसरों को घोर कष्ट पहुँचा करके व ठगी करके भी अपना स्वार्थ सिद्ध करता है, घोर पापों में मन, वचन, काय की प्रवृत्ति होने से वह दीर्घ स्थितिवाले कर्मों को बाँधता रहता है जिससे उसके संसार की स्थिति बढती जाती है।

॥ श्लोक ५१ ॥

बहिरप्पा परपंचार्थं, त्यक्तंति प्रविचक्षणाः।
अप्पाधर्म पयं तुल्यं, देवदेवं नमस्कृतं॥

अन्वयार्थ – (बहिरप्पा) बहिरात्मा (परपचार्थं) जगत के प्रपंच के कारण (पयं तुल्यं) दूध के तुल्य (अप्पा धर्म) आत्मस्वभाव रूपी धर्म को (देवदेव नमस्कृत) जिसको देवों के देव इन्द्रादि नमस्कार करते हैं (त्यक्तति) छोड़ बैठते हैं।

विशेषार्थ – बहिरात्मा अज्ञानी इतने मूर्ख होते हैं कि अपने हितकारी धर्म की ओर पीठ देकर उसको छोड़ बैठते हैं। जैसे कोई मूर्ख पुष्टिकारक दूध को जो पीने को मिल रहा है छोड़कर चला जाय तथा काक के समान अशुद्ध मल के स्वाद में रंजायमान हो जावे वैसे ही यह आत्मीक स्वभावरूप जो अभेद रत्नत्रयमयी धर्म है उसकी तरफ से बेखबर रहता है। यह धर्म वह है कि जो इसको धारते हैं या जो इसके स्वामी हैं ऐसे अरहंत-सिद्ध को व साधुओं को इन्द्रादि देव नमन करते हैं, जो सम्यकदृष्टि श्रावक हैं या अव्रती हैं उनकी भी भक्ति या सेवा इन्द्रादि देव करते हैं। जिस आत्मीक धर्म से संसार के क्लेश मिट जाते हैं व आत्मा परमात्मा हो जाता है व जिससे इस जन्म में भी सुख-शांति मिलती है उसको छोड़कर मल के समान विषयों के जाल में बहिरात्मा पड़ जाता है। उसको जगत का प्रपंच ही अच्छा लगता है। वह इंद्रियों के भोगों में व स्त्री-पुत्रादि में व लोगों से प्रतिष्ठा पाने में व स्वार्थ सिद्ध करने में ही मगन रहता हैं। ज्ञान-वैराग्य की बात उसको विष-तुल्य भासती है। संसारिक विकथा उसको अमृत समान मालूम होती है।

॥ सुदेव-कुदेव का स्वरूप ॥

॥ श्लोक ५२ ॥

कुदेवं प्रोक्तं जैनैः, रागादिदोषसंयुतं।
कुज्ञान त्रिति संपूर्णं, ज्ञानं चैव न दिष्टते॥

अन्वयार्थ – (रागादि दोष सयुत) जो राग-द्वेष आदि दोषों से पूर्ण हैं (कुज्ञान त्रिति संपूर्णं) व तीन कुज्ञान के धारी हैं जिनमें (ज्ञान चैव) सम्यग्ज्ञान भी (न दिष्टते) नहीं दिखलाई पड़ता है उनको (जैनैः) जैनों ने या जैनाचार्यों ने (कुदेव) कुदेव (प्रोक्त) कहा है।

विशेषार्थ – वीतराग-सर्वज्ञ देव अरहंत तथा सिद्ध हैं उनके सिवाय जगत की माया में लिप्त लोगों ने अनेक रागी-द्वेषी यक्ष, क्षेत्रपाल, चंडिका, काली, पद्मावती, भूत, पिशाच, सूर्य, चंद्रमा तारे, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी देवों को देव मान के पूजना प्रारंभ कर दिया है। ये सब संसारी प्राणी हैं। इनमें प्रायः सम्यग्दर्शन नहीं है क्योंकि सम्यग्दृष्टि मर कर इनमें पैदा नहीं होता है। किसी को वहां सम्यक्त्व हो वा न हो। अधिकतर वे सब देव भाव मिथ्यात्वी होने से कुमति, कुश्रुत व कुअवधि तीन कुज्ञान के धारी हैं। उनमें सम्यग्ज्ञान नहीं दिखलाई पड़ता है। जगत के प्राणी किसी वर की इच्छा से ही इन देवों की स्थापना करके पूजा करते हुए अपने अनादि अगृहीत मिथ्यात्व को दृढ़ करते हैं। यदि इनमें कोई सम्यकदृष्टि भी हो तो भी उसको साधर्मी भाई या बहन के समान सम्मान देना चाहिये। दीन होकर परमात्मा के तुल्य किसी भी रागी-द्वेषी देव की या इन्द्र की या अहमिन्द्र की पूजा करना मिथ्यादर्शन है। श्री अमितगति आचार्य श्रावकाचार में कुदेवों को कहते हैं–

रागवंतो न सर्वज्ञा यथा प्रकृतिमानवाः। रागवतश्च ते सर्वे न सर्वज्ञास्ततः स्फुटम्॥७२-४॥
आश्लिष्टास्ते ऽखिलैर्दोषैः कामकोपभयादिभिः। आयुधप्रमदाभूषा कमंडल्वादियोगतः॥॥ ७३ ॥

भावार्थ – जो राग सहित हैं वे सर्वज्ञ नहीं, वे संसारी मनुष्यों के समान हैं। जो कल्पित रागी-द्वेषी देव हैं वे सर्व सर्वज्ञ नहीं हैं यह प्रगट है। जो कोई आयुध, स्त्री, आभूषण, कमंडल आदि उपकरण रखते हैं वे अवश्य काम, क्रोध, भय आदि मल सहित हैं अतएव कुदेव हैं। बहिरात्मा इनकी सेवा करता रहता है और धन, पुत्र आदि की कामना में व्याकुल रहता है। उसे वीतराग मार्ग नहीं सुहाता। इसी से वह वीतराग सर्वज्ञ की भक्ति कदाचित् देखा-देखी करता भी है तो उतनी भक्ति से नहीं करता है जितनी भक्ति कुदेवों की करता है।

॥ श्लोक ५३ ॥

मायामोह ममत्वस्थाः, अशुभभाव रताश्च ये।
तत्र देवं हि जानंते, यत्र रागादि संजुतं॥

अन्वयार्थ – (माया मोह ममत्वस्था.) जो अज्ञानी बहिरात्मा मायाचार, मोह व ममत्व में लीन हैं (च ये) और जो (अशुभभाव रता.) अशुभ भावों में रंजायमान हैं वे (यत्र) जिनमें (रागादि संजुतं) राग आदि का संयोग है (तत्र) उनको (हि) निश्चय से (देव) अपना देव (जानंते) जानते हैं।

विशेषार्थ – अज्ञानी मिथ्यादृष्टी जीव संसार के मोह से व ममत्व से पागल होकर मायाचार करने में तत्पर रहते हैं व हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, क्रोधादि कषाय के अशुभ भावों में रंगे रहते हैं उनको वे ही देव पसंद आते हैं जो राग-द्वेष से परिपूर्ण हैं। वे उनसे अपनी मनोकामना की सिद्धि चाहते हैं वे उनको खूब मिठाई आदि चढ़ाते हैं। घंटों उनके सामने नाक रगड़ते हैं कि उनका काम हो जावे। उनको लक्ष्मी पुत्र आदि की आशा होती है जिस आशा को ये रागी-द्वेषी देव पूर्ण कर देंगे – ऐसा विश्वास उन अज्ञानी जीवों को रहता है। इससे वे कुदेवों की भक्ति में राजी रहते हैं। वीतराग – सर्वज्ञ भगवान की भक्ति में दिल नहीं लगाते हैं। वे इस बात को भूल जाते हैं कि धन, पुत्र आदि का लाभ बिना पुण्य कर्म की सहायता के नहीं हो सकता है। कोई भी रागी-द्वेषी देव किसी को पुण्य नहीं दे सकता। उनकी भक्ति वृथा ही मिथ्यात्व के पाप में फँसाने वाली है। प्राणियों को लौकिक धनादि के लिये बाहरी उपाय योग्य उद्यम आदि करना चाहिये व अंतरंग उपाय पाप के क्षय करने के लिये वीतराग – सर्वज्ञ देव की भक्ति करना चाहिये।

॥ श्लोक ५४ ॥

आर्त्तरौद्रं च सद्भावं, माया मद क्रोध संयुतं।
करनं अशुद्ध भावस्य, कुदेवं अनृतं परं॥

अन्वयार्थ – (कुदेवं) रागी-द्वेषी देव-देवी आदि (आर्त्तरौद्रं च सद्भाव) आर्तध्यान व रौद्रध्यान से पूर्ण रहते हैं। (माया मद क्रोध संयुत) माया, अहंकार तथा क्रोध सहित होते हैं। (अशुद्ध भावस्य करन) शुद्ध भावना को न पाकर निरंतर अशुद्ध भाव किया करते हैं। (पर अनृत) इन कुदेवों का पूजना महान मिथ्यात्व है।

विशेषार्थ – जिन देवों में मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय है – ऐसे कुदेव कषाय-वासना से वासित होते हैं। इष्ट देवी आदि का व अपनी विभूति का मरते समय वियोग होने पर बड़ा भारी आर्तध्यान करते हैं। दूसरों के पास अधिक सम्पत्ति देखकर उनको अनिष्ट संयोग जनित आर्तध्यान होता है। बड़े देवों कार्य के द्वारा सेवा दिये जाने पर, उनका वाहन आदि बनने पर उनको मानसिक पीड़ा रूपी आर्तध्यान होता है। विषयभोग की चाह से जलते रहते हैं व सदा भोग चाहते हैं इससे निदान आर्तध्यान भी होता है। अपने पास प्राप्त सम्पत्ति में मगनता होने से परिग्रहानंदी रौद्रध्यान करते हैं। किसी से पूर्वजन्म का वैर हो तो हिंसानंदी चौर्यानंदी ध्यान द्वारा उसको छिपाकर कष्ट देना चाहते हैं। कौतुक के लिये ये व्यंतरादि असत्य व हंसी के वचनों को कहकर मृषानंदी रौद्रध्यान करते हैं, अन्य मानवों को दुःखित करके सुख मानते हैं। संक्लेश भावधारी

असुरकुमार देव तीसरे नरक तक जाकर नारकियों को आपस में लड़ाकर प्रसन्न हो हिंसा का ही ध्यान करते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ चारों कषायों के धारी हैं। शुद्ध भाव की प्राप्ति उनको स्वप्न में भी नहीं होती है क्योंकि जिनके निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं हैं उनको आत्म परिणमन रूप शुद्ध भाव हो नहीं सकता है। वे निरंतर राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्ध भाव को ही किया करते हैं। अतएव ये कुदेव मिथ्यादेव हैं, उनकी आराधना मिथ्यादर्शन है, महान पापबंध का कारण है, मोक्षमार्ग से दूर रखनेवाली है।

॥ श्लोक ५५ ॥

अनन्तदोषसंयुक्तं, शुद्धभावं न दिष्टते।
कुदेवं रौद्र आरूढं, आराधे नरयं पतं॥

अन्वयार्थ – (कुदेव) रागी-द्वेषी कुदेव (अनन्त दोष संयुक्तं) अनन्त दोषों को रखनेवाले हैं। वहाँ (शुद्ध भाव) शुद्ध भाव (न दिष्टते) नहीं दिखलाई पड़ता है वे (रौद्र आरूढं) रौद्रध्यान में आरूढ हैं। (आराधे) उनकी भक्ति करने से (नरयं पत) नरक में गिरना होगा।

विशेषार्थ – रागी-द्वेषी देव संसारी साधारण मानवों के समान अनंत दोषों से परिपूर्ण है। जिनमें मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी कषाय हो उनमें दूषित भाव अनेक प्रकार के हो सकते हैं। वहाँ शुद्ध आत्मीक अनुभव रूप भाव किसतरह हो सकता है। वे परिग्रह में मगन हैं, रात-दिन विषयों में लीन हैं। अतएव रौद्रध्यान में आरूढ़ हैं। ऐसे कुदेवों की भक्ति जो करते हैं वे तीव्र लोभी होते हैं। तीव्र ममता होने से वे नरक आयु को बांधकर नरक चले जाते हैं। कुदेवों की आराधना यहाँ तो कुछ फल देती नहीं। उल्टा पाप का बंध करती है, मन को मैला बनाती है, सच्चे देवों की आराधना से विमुख रखती है, परलोक में यह दीन-हीन दशा में पटक देती है, जिससे नरक, निगोद व पशु गति के घोर दुःख सहने पड़ते हैं। जो संसार के महान कष्टों से बचना चाहें उनको कुदेवादि की भक्ति नहीं करनी चाहिये।

॥ श्लोक ५६ ॥

कुदेवं ये हि पूजंते, वंदना भक्ति तत्पराः।
ते नरा दुःख सह्यंते, संसारे दुःखभीरुहे॥

अन्वयार्थ – (ये हि) जो कोई (कुदेव) कुदेवों को (वन्दना भक्ति तत्परा) उनकी वंदना व भक्ति में लीन होकर (पूजते) पूजते हैं (ते नरा) ये मानव (दु खीभीरुहे) दुःख और भय को उत्पन्न करनेवाले (ससारे) संसार में (दु ख) दुःखों को (सह्यते) सहन करते हैं।

विशेषार्थ – रागी-द्वेषी देवी-देव आदि की वंदना-भक्ति करना, शीरनी चढ़ाना, आरती उतारना, पूजा करनी, आदि सब क्रिया करनेवाले के अनंतानुबंधी कषाय के कारण तीव्र पाप का बंध होता है। एकेंद्रियादि कीटादि पशु पर्याय में, दीन-हीन मानव में, दीन देवों में, या दुःख भाजन नरक के जीवों में उत्पन्न होने के योग्य पापकर्म का बन्ध हो जाता है। दुर्गति में जाकर महान् कष्ट भोगना पड़ता है। संसार तो क्लेश और भय का भरा हुआ है। ये अज्ञानी प्राणी जब उसी में तन्मय हैं तब इसे दुःख ही दुःख मिलें इसमें क्या आश्चर्य है? मिथ्यात्व के फल से ही नीच अवस्था होती है। अतएव जो इस भयानक दुःखी समुद्र में क्लेश उठाना नहीं चाहते हैं किंतु सुख-शांति पाना चाहते हैं उनको उचित है कि वे भूलकर भी रागी-द्वेषी देवों की भक्ति न करें।

॥ श्लोक ५७ ॥

कुदेवं ये हि मानंते, कुस्थानं येऽपि जायते।
ते नरा भयभीतस्थाः, संसारे दुःखदारुणे॥

अन्वयार्थ – (ये हि) जो कोई (कुदेवं) रागी-द्वेषी देवों को (मानंते) मानते हैं। (येऽपि) जो कोई (कुस्थानं) कुदेवों के स्थानों में – मंदिर, मठ आदि में (जायंते) भक्ति के लिये जाते हैं या संगति करते हैं (ते नरा) वे मानव (दुःखदारुणे) अत्यन्त दुःखमयी (संसारे) संसार में (भयभीतस्थाः) भयभीत रहते हैं।

विशेषार्थ – कुदेवों की भक्ति श्रद्धापूर्वक करना या श्रद्धा के बिना भी देखा-देखी करना या उन कुदेवों की भक्तियोग्य स्थान में जाकर बैठना, संगति करना परिणामों में मिथ्यात्व को दृढ़ करनेवाला है तथा निर्विकल्प आत्मसमाधि मयी रत्नत्रय धर्म से व परम वैराग्यमय मोक्षमार्ग से दूर रखनेवाला है, संसार के मोह में पटकने वाला है, तीव्र धनादि परिग्रह से राग बढ़ाकर तीव्र पाप का बन्ध करानेवाला है, अतएव जो बहिरात्मा अज्ञानी मानव ऐसी मूढ़ता करते हैं वे इस चार गतिमयी अनेक शारीरिक व मानसिक दुःखों से भरे हुए संसार में सदा भय को पाते हैं। उनको सदा ही मरण भय, रोग भय, जरा भय, परलोक भय आदि अनेक प्रकार के भय रहते हैं। वे पर्याय बुद्धि शरीर में आपा मानने वाले – कदाचित् शरीर छूट जावे, बिगड़ जावे, धन चला जावे, कहीं स्त्री न मर जावे, कहीं पुत्र का वियोग न हो जावे, कहीं रोग न हो जावे, कहीं अपमान न हो जावे, कहीं समाज के लोग अप्रसन्न न हो जावे, कहीं राजा रुष्ट न हो जावे, कहीं अकस्मात् न आ जावे इत्यादि भय से आकुल-व्याकुल रहते हुए जीवन बिताते है।

॥ श्लोक ५८ ॥

मिथ्यादेवं च प्रोक्तं च, ज्ञानं कुज्ञान दृष्टते।
दुर्बुद्धिः मुक्तिमार्गस्य, विश्वासं नरयं पतं॥

अन्वयार्थ -- (मिथ्यादेव च) **मिथ्यादेवों का या कुदेवों का स्वरूप** (प्रोक्त च) **इसतरह कहा गया।** (ज्ञान) **इनको सुदेव रूप से जानना** (कुज्ञान) **कुज्ञान** (दृष्टते) **कहा जाता है।** (मुक्तिमार्गस्य) **मोक्ष के मार्ग की ओर** (दुर्बुद्धि) **मिथ्याबुद्धि इनके कारण होती है** (विश्वास) **इनका विश्वास करना** (नरय पत) **नरक में डालने वाला है।**

विशेषार्थ -- वीतराग-सर्वज्ञ का विशेषण जिनमें न प्राप्त हो वे सर्व ही पूज्यनीय देव नहीं हैं। वे सर्व ही रागी-द्वेषी संसारी है। उनका स्वरूप यहां संक्षेप में कहा गया है। इनको सुदेव समझना, पूज्य मानना, मिथ्याज्ञान है। इस ज्ञान के कारण मोक्षमार्ग की तरफ बुद्धि नहीं दौड़ती है। मोक्षमार्ग वीतराग-विज्ञानमय है जिसमें अपने शुद्ध आत्मा की दृढ़ श्रद्धा तथा अतींन्द्रिय आनन्द की श्रद्धा और विषयसुख की अश्रद्धा होना आवश्यक है। कुदेवों की भक्ति प्रायः संसारिक प्रयोजन वश ही की जाती है। संसार के विषय-सुख में जो आसक्त हैं वे इन्द्रिय भोगने योग्य पदार्थों को स्थिर रखने के लिये व उनके साधक धन के समागम के लिये व उनके विरोधक कारणों को मिटाने के लिये निरंतर आकांक्षावान होते हैं। वे नानाप्रकार के जगत में प्रचलित कुदेवों को इन लौकिक विभूति का देनेवाला मानकर पूजते हैं। उन पर दृढ़ विश्वास लाते हैं उनमें परिग्रह का तीव्र मोह होता है इसलिये वे नरक-आयु बांधकर नरक में जाकर तीव्र दुःख उठाते हैं।

॥ श्लोक ५९ ॥

सुदेवं न उपासंते, क्रियते लोकमूढयं।
कुदेवे याहि भक्तिश्च, विश्वासं नरयं पतं॥

अन्वयार्थ -- (सुदेव) **जो सच्चे देव श्री वीतराग-सर्वज्ञ भगवान को** (न) **नहीं** (उपासते) **पूजते हैं व** (लोकमूढय) **लोकमूढ़ता करते हैं।** (कुदेवे) **रागी-द्वेषी देवों में** (याहि भक्तिश्च) **जो कुछ भी उनकी भक्ति है या** (विश्वास) **विश्वास है, यह** (नरय पत) **नरक में डालनेवाला है।**

विशेषार्थ -- जो अज्ञानी बहिरात्मा है उनको आत्मा की चर्चा ही नहीं रुचती है। वे विषयासक्त हैं उनको विषय-वासना का त्याग कराने का उपदेश देनेवाले अरहंत भगवान के वाक्यों में श्रद्धा नहीं आती है। इसलिये वे कभी सच्चे देवों की आराधना नहीं करते हैं। यदि देखा-देखी करते भी हैं

तो श्रद्धा बिना वह भक्ति परिणामों में संसार से वैराग्य व मोक्ष में प्रीतिभाव नहीं पैदा कर सकती है। वहाँ भी जो लौकिक प्रयोजन की आकांक्षा करते हुए ही भक्ति करते हैं, उनके भावों में वीतरागता की गंध भी नहीं होती है। ऐसे मूढ प्राणी लोकमूढता में फँसे रहते हैं, इस जगत की अवस्था को थिर रखना चाहते हैं। स्वप्नमय संसार को सच्चा समझ लेते हैं। क्षणिक पदार्थों की तीव्र वांछा करके उनकी प्राप्ति कुदेवों से होगी – ऐसा मानकर कुदेवों की खूब भक्ति करते हैं, उनमें दृढ विश्वास रखते हैं। यही गृहीत मिथ्यात्व तीव्र पापबंध कराकर नरक में डालनेवाला है।

॥ श्लोक ६० ॥

अदेवं देव उक्तं च, अंधं अंधेन दृष्यते।
मार्गे किं प्रवेशं च, अंधकूपे पतंति ये॥

अन्वयार्थ – (अदेवं) जिनमें देवपना बिलकुल नहीं है ऐसों को (देवं) देव (उक्तं च) कहा जाता है। उनको देव मानना ऐसा है जैसे (अंध) अन्धे को (अंधेन) अंधे द्वारा (दृष्यते) मार्ग दिखाया जावे तो (किं) किसतरह (मार्गे) मार्ग में (प्रवेश च) प्रवेश हो सकेगा? (ये) ये अदेव तो (अंधकूपे) अंधे कूप में (पतंति) डाल देते हैं।

विशेषार्थ – यद्यपि कुदेवों के भीतर अदेव भी गर्भित हैं। तथापि जिनमें देवपना, दीप्तमानपना, व देवगतिपना विद्यमान है अतः वे देव हैं, उनमें वीतराग-सर्वज्ञपना न होने से वे रागी-द्वेषी देव हैं अतएव कुदेव हैं। इनके सिवाय जिनमें देवपना बिलकुल भी न हो उनको कुदेव कहते हैं, जैसे तिर्यंचगति वाले प्राणियों को देव मान लेना, जैसे - गौ को देव मानना, मोर को पूजना, हाथी-घोड़ा पूजना, पीपल पूजना, बड़ पूजना, तुलसी वृक्ष पूजना, अग्नि पूजना, समुद्र पूजना, नदी पूजना, वायु को देव मानना आदि। तथा जो मात्र जड़-अचेतन हैं जिनसे देवपन का कुछ भी बोध नहीं होता है उनको देव मान कर पूजना, जैसे कलम, दावत, थैली, घर की व दूकान की देहली व कहीं इधर-उधर पड़े हुए पत्थर को देव मान कर पूजना, तलवार को पूजना, चक्की-चूल्हा पूजना, चाक पूजना, घड़ों को पूजना इत्यादि सर्व को देव मानना, ये सर्व अदेव हैं। क्योंकि इनमें न राग-द्वेष सहित कुदेवों का भाव है और न वीतराग-सर्वज्ञ के स्वरूप का झलकाव है ;ये तो मात्र कल्पना किये हुए देव हैं। इन अदेवों की भक्ति करना व इनसे सुख होना मानना ऐसी ही मूढता है कि जैसे कोई अंधा हो और वह मार्ग भूल जावे तब दूसरा अंधा कहे कि चलो मैं मार्ग बता दूँगा। अंधा अंधे को ले चला। उस बतानेवाले अंधे को भी मार्ग नहीं मालूम था। ऐसा अंधा मार्गप्रदर्शक उस दूसरे अंधे को ले जाकर आगे एक अंध कूप में गिरा देता है व आप भी गिर जाता है। मार्ग को न जाननेवाले अंधे से अंधे को मार्ग किसतरह मिल

सकता है। ये पशु व वृक्ष आदि व अचेतन जड़ आदि जिनसे सुदेवपने का किंचित् भी बोध नहीं होता है स्वयं अज्ञानी हैं व ज्ञान रहित हैं। स्वयं संसार में पड़े हैं, दुःख उठा रहे हैं या बिलकुल अचेतन हैं उनकी भक्ति सिवाय भक्त को अंधा रखने के और क्या लाभ दे सकती है। जो लोग संसारासक्त हैं वे इन अदेवों को भी धन की, पुत्र की, जय की, निरोग होने की इत्यादि लालसा के वशीभूत हो पूजते हैं और अपने मिथ्यात्व को दृढ़ करते हैं।

श्री अमितगति महाराज ने श्रावकाचार में अदेवों का कुछ स्वरूप बताया है:–

मूशलं, देहली चुल्ली पिप्पश्चंपको जलम्।
देवा यैरभिदीयते वर्ज्यन्ते तै· परे ऽत्रके॥ ९६ ॥

भावार्थ – मूसल, देहली, चूल्हा, पीपल, चंपा, जल आदि को जो देव कहते हैं जिनमें देवपना किसी भी तरह नहीं हैं उनको भी जो देव मान कर पूजते हैं वे चाहे जिसको देव मान लें उनसे कोई बचा नहीं है। तात्पर्य यह है कि अदेवों को देव मानना बिलकुल ही अंधपना है।

॥ श्लोक ६१ ॥

अदेवं देव दृष्टंते, मानंते मूढ संगतेः।
ते नरा तीव्र दुःखानि, नरयं तिर्यंचं पतं॥

अन्वयार्थ – (मूढसंगतेः) मूढ मिथ्यादृष्टियों की संगति से जो (अदेवं) अदेवों को (देवं) देव (दृष्टंते) देखते हैं व (मानंते) मानते हैं (ते नरा) वे मानव (नरयं) नरकगति के (तिर्यंचं) व तिर्यंच गति के (तीव्रदुःखानि) तीव्र दुःखों को (पतं) पाते हैं।

विशेषार्थ – बहुधा जगत में देखा-देखी व कुल परम्परा से मूढ भक्ति चल पड़ी है। लोक में यह मूढ़ता है कि यदि जल को या नदी को पूजेंगे व उसमें स्नान करेंगे तो हमारे पाप धुल जायेंगे, अग्नि को पूजेंगे तो दुःख जल जायेंगे, रुपयों को पूजेंगे तो रुपया मिलेगा, बही खाता पूजेंगे तो बहुत हिसाब-किताब लिखा जायगा, बहुत धन का लाभ होगा, पीपल पूजेंगे तो पति जीवित रहेगा इत्यादि मूढ़ता के भाव जमाकर चाहे जिसको पूजना यह लोगों की मूढ़ता जगत में फैली है। देखा-देखी दूसरे भी मानने लग जाते हैं। एक ब्राह्मण फूलों को लिये हुए नदी स्नान करने जाते थे। मार्ग के एक तरफ दुर्गंधकारक मल पड़ा था। मल की ओर दृष्टि न पड़े इसलिये उस ब्राह्मण ने कुछ फूल उसपर डाल दिये और आगे चला गया। पीछे के आनेवालों ने देखा कि ब्राह्मण ने यहाँ फूल चढ़ाए हैं, तब उन्होंने भी उसपर फूल चढ़ा दिये। फूलों का ढेर देखकर जो कोई उधर आवे वह फूल चढ़ावे और मान्यता

मांगे। कुछ आदमियों में से किसी की मान्यता उसके पुण्य के उदय से पूर्ण हो गई तब वह मूढ मानने लगा कि इसी फूल देवता ने हमारा काम पूर्ण किया है यह उसका और भी दृढ़ श्रद्धालु हो जाता है और अपना अनुभव मित्रों को कहता है। उसके इस मूढ उपदेश से फूल देवता के और भी अधिक भक्त बढ़ गए। किसी समझदार ने एकांत में फूल हटाकर देखा तो वहां मल को देखा और मूर्खता पर पछतावा किया। इसी दृष्टांत से जगत में कुदेव या अदेव पूजा चल पड़ी है। देखा-देखी लोग अदेव को देव मान लेते हैं और पूजते हैं। इस अंधभक्ति से घोर पापकर्म बाँधते हैं जिससे नरकगति में या तिर्यंचगति में जाकर स्वयं नारकी हो जाते हैं या पीपल, नीम, करोंदा, आम के वृक्ष हो जाते हैं। जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, पृथ्वीकायिक जीव हो जाते हैं। फिर पतंगादि व भेड़, बकरी आदि होकर घोर दुःख को सहन करते हैं। अतएव अदेवों की भक्ति नहीं करनी चाहिये।

॥ श्लोक ६२ ॥

अनंतकाल भ्रमनं च, अदेवं देव उच्यते।
अनृतं अचेत दिष्टंते, दुर्गतिगमनसंजुतं॥

अन्वयार्थ – जो (अदेव) अदेवों को (देव) देव (उच्यते) कहते हैं उनका (अनतकाल) अनंतकाल तक (भ्रमनं) संसार में भ्रमण होगा। यह अदेव (अनृतं) मिथ्यारूप माने हुए देव हैं (अचेत) सम्यग्ज्ञान से रहित जड़ हैं (दिष्टंते) ऐसे दिखलाई पड़ते हैं (दुर्गतिगमनसंयुत) इनकी भक्ति खोटी गति में गमन का कारण है।

विशेषार्थ – जो मिथ्या उपदेश के देनेवाले ऐसा उपदेश करते हैं कि गौ, हाथी, घोड़ा, आदि पशु को देव मानकर पूजो, या पीपल, बड़, तुलसी आदि वृक्षों को देव मानकर पूजो, या चाकू, मूसल, चूल्हा, देहली, तलवार, कलम दावात, बही, आदि व कंकड़-पत्थर आदि को देव मानकर पूजो वे मिथ्यात्व में फँसानेवाले अनंत संसार के कारण हैं। जिनके देखने से व जिनके गुणों से वीतराग भाव नहीं झलकता है वे सब आकृतियाँ अदेवों में गर्भित हैं। जो सच्चे देव की ओर जाने से रोकनेवाले हैं वे अदेव हैं, उनकी भक्ति का जो उपदेश देते हैं वे मिथ्यात्व के प्रचार करने से अनंतकाल तक संसार में भ्रमण करेंगे। इनमें किसी भी तरह देवपना नहीं है। इनको देव मानना मिथ्या है। इन माने हुए देवों में अर्थात् पशु आदि पीपलादि में तो सम्यग्ज्ञान नहीं है, यद्यपि अपने योग्य मति-श्रुतज्ञान है। तथा कलम, दावात, तलवार, कागज आदि में ज्ञान की शून्यता ही है, वे जड़ हैं। इनकी भक्ति मात्र अंध भक्ति है, निरर्थक है, तथा पाप बंध कराकर दुर्गति में ले जानेवाली है।

॥ श्लोक ६३ ॥

अनृतं तु सत्य मानंते, विनाशं यत्र जायते।
ते नरा थावरं दुःखं, इन्द्रियाधीन भाजनं॥

अन्वयार्थ – (यत्र) **जहां** (विनाश) **नाश** (जायते) **होता है ऐसे** (अनृतं तु) **मिथ्या को ही जो** (सत्य) **सच** (मानंते) **मान बैठते हैं** (ते नरा) **वे मानव** (थावरं) **स्थावरकाय सम्बन्धी** (इन्द्रियाधीन) **एक स्पर्शनेन्द्रिय के आधीन** (दुःखं) **क्लेशों के** (भाजनं) **पात्र होते हैं।**

विशेषार्थ – **मिथ्या को सच मान लेना बड़ा भारी अज्ञान है। इसीसे प्राणी का नाश होता है। यदि कोई रज्जू को सर्प माने तो वृथा भयभीत हो दुःख उठावे। जो सांसारिक क्षणिक सुख को सुख माने ;वे भी अज्ञान से दुःख उठावे, जो मिथ्यादेवों को, कुदेवों को तथा अदेवों को देव माने उनका इस जन्म में भी नाश होगा, वे धर्म से वंचित रहेंगे तथा उन्हें परलोक में दुर्गति के महान दुःख प्राप्त होंगे क्योंकि अज्ञान की सेवा अज्ञानरूप ही फलती है। इसलिये ऐसे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि एकेंद्रिय जाति नामा कर्म बांधकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति ऐसी एकेन्द्रिय स्थावर पर्याय में चले जाते हैं जहां स्पर्शनेन्द्रिय के विषय के आधीन रहते हुए अत्यन्त पराधीन रहते हैं। चलने-फिरने की शक्ति न होने से वे सर्दी, गरमी, तेज पवन, पाला, वर्षा आदि के निमित्त मिलने पर बहुत वेदना को पाते है। वृक्षों को कोई काटता है, छीलता है, नोचता है। उनको परकृत घोर वेदना सहनी पड़ती है, वे मूक हैं अपने दुःख को कह नहीं सकते। घोर अज्ञान में जीवन बिताते हैं। मिथ्यात्व की तीव्रता से ऐसे निमित्त में पहुँच जाते हैं कि स्थावर काय से त्रस होना, द्वीन्द्रियादि से पंचेन्द्रिय होना, पचेंद्रिय से मानव होना अत्यन्त दुर्लभ है। अतएव जो स्थावरों के कष्टों में आत्मा को नहीं डालना चाहते हैं उनको भूलकर भी अदेवों की भक्ति नहीं करनी चाहिये। न कुदेवों की भक्ति से राग-द्वेष को बढ़ाना चाहिये। जो संसार के भीतर रहते हुए साताकारी सम्बन्ध चाहते हैं उनको उचित है कि सर्वज्ञ-वीतराग भगवान को छोड़कर अन्य किसी कुदेव या अदेव की उपासना या भक्ति न करें।**

॥ श्लोक ६४ ॥

मिथ्यादेवं अदेवं च, मिथ्यादृष्टी च मानते।
मिथ्यात्वी मूढ़दृष्टिश्च, पतितं संसार भाजनं॥

अन्वयार्थ – (मिथ्यादृष्टि च) **मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा ही** (मिथ्यादेव) **रागी-द्वेषी कुदेवों को** (च) **और** (अदेव) **अदेवों को** (मानते) **मानता है।** (मिथ्यात्वी) **मिथ्यादृष्टि** (मूढदृष्टिश्च) **मूढता के भावों में**

फँसा हुआ (संसारभाजनं) **संसाररूपी कूप में** (पतितं) **पड़ा रहता है।**

विशेषार्थ – **अनंत संसार को भ्रमण का कारण मिथ्यात्व है। जो संसार में आसक्त है वही संसार में भ्रमण करता है। जो शरीर का रागी है, विषय-भोगों का लोलुपी है वह रात-दिन विषय की तृष्णा में फँसा हुआ विषय-सामग्री मिलने पर हर्ष व वियोग पर विषाद किया करता है। वह इंद्रिय सुख को ही अमृत समझता है। जैसे मृग मृगतृष्णा में चमकती हुई रेत को भ्रम से जल समझकर आकुल-व्याकुल होता है, प्यास बुझाने के स्थान पर अधिक बढ़ा लेता है ऐसे ही यह मूढ प्राणी आत्माधीन अतीन्द्रिय सुख को न पहचानकर इंद्रिय सुखों में तन्मय होता हुआ दुःख भोगता हुआ तृष्णा की दाह बढ़ा लेता है। यह मूर्ख प्राणी दुःख, आकुलता व बंध के कारण इंद्रिय सुख को सुख मानकर उसी के कारण नाना प्रकार उपाय करता है। बहुत से मिथ्या उपाय भी करता है। उन ही मिथ्या उपायों में कुदेवों का व अदेवों का पूजन है। इस भक्ति में अपनी शक्ति को व अपने धन को वृथा खोता है और बहुत पाप संचय करता है। नरक, निगोद, पशुगति में व दीन-हीन मनुष्यगति में व कांतिहीन छोटे देवों में पैदा हो अनेक शारीरिक और मानसिक दुःख उठाता है। जैसे अंधकूप में गिर जाने पर निकलना बड़ा कठिन है वैसे भयानक संसार में पतन होने पर इससे निकलने का साधन जो सम्यग्दर्शन है उसका पाना कठिन है – ऐसा जानकर कुदेवों की व अदेवों की भक्ति कभी नहीं करनी चाहिये।**

॥ सुगुरु–कुगुरु का स्वरुप ॥

॥ श्लोक ६५ ॥

सम्यक्गुरु उपासंते, सम्यक्तं शाश्वतं ध्रुवं।
लोकालोकं च तत्वार्थं, लोकितं लोकलोकितं॥

अन्वयार्थ – **ऊपर मिथ्यादेवों का स्वरूप बताकर सच्चे देव श्री अरहंत-सिद्ध भगवान की भक्ति करने की प्रेरणा की है। अब सच्चे गुरु का स्वरूप कहते हैं।** (सम्यक्) **सच्चा** (गुरु) **गुरु** (शाश्वत) **अविनाशी** (ध्रुवं) **अन्यरूप न होनेवाले स्वाभाविक** (सम्यक्तं) **सम्यग्दर्शन को** (च) **और** (लोकलोकितं) **लोक में प्रकाशित या प्रसिद्ध परम उपयोगी** (लोकालोकं) **लोक व अलोक स्वरूप** (तत्वार्थं) **सर्व तत्वार्थ को** (उपासंते) **भलेप्रकार धारण करते हैं।**

विशेषार्थ – **सच्चा गुरु वही है जो सम्यकदृष्टि व सम्यग्ज्ञानी हो। स्वाभाविक अविनाशी सम्यग्दर्शन आत्मा की एक वचन अगोचर परिणति है या आत्मा का एक विशेष गुण है। जिसके प्रगट होने से आत्मा का अनुभव हो जाता है। यह गुण सदा ही आत्मा में रहता है परंतु दर्शनमोह और**

चारित्रमोह के आवरण से ढका हुआ होता है, यह कभी मिटता नहीं। ऐसे निश्चय सम्यग्दर्शन का लाभ जिनको हो वे ही सच्चे गुरु हैं तथा जो जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष – इन सातों तत्वों को यथार्थ जानकर यथार्थ श्रद्धान करनेवाले हों, इनका श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है क्योंकि सात तत्वों के मनन से भी निश्चय सम्यक्त्व की प्रगटता होती है। ये सात तत्व सर्व लोकालोक का स्वरूप बता देते हैं। लोकालोक जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल और आकाश इन – छह द्रव्यों का समुदाय है इनका सच्चा स्वरूप ज्ञानी गुरु जानते हैं। सर्व सिद्धों का स्वरूप पहचानते हैं। सर्व संसारी जीवों के आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष कैसे होते हैं। इस सर्व भेद को जानते हैं। ये ही सच्चे तत्व हैं जिसको सर्वज्ञ भगवान ने प्रतिपादन किया है। ये ही सर्व बुद्धिमान लौकिक जनों को माननीय हैं। इन तत्वों के भीतर से सद्गुरू शुद्ध आत्मतत्व को भिन्न पहचानकर उसी का अनुभव करनेवाले हैं।

श्री समन्तभद्राचार्यने रत्नकरण्ड में गुरु का स्वरूप बताया है–

विषयाशावशातीतो निरारम्भो अपरिग्रह :। ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशयते।।

भावार्थ – जो सच्चे सम्यक्त्वी साधु इंद्रिय-विषयों की तृष्णा से शून्य हैं, आरंभ व धन-धान्यादि परिग्रह के त्यागी हैं, ज्ञान में, आत्मध्यान में व तप करने में लीन हैं, बड़े तपस्वी हैं वे ही गुरु मानने योग्य हैं।

।। श्लोक ६६ ।।

ऊर्ध अधो मध्यं च, ज्ञानदिष्टिं समाचरेत्।
शुद्ध तत्त्व स्थिरी भूत्वा, ज्ञानेन ज्ञान लंकृतं।।

अन्वयार्थ – वे सच्चे गुरु (ऊर्ध) ऊपर सुमेरू पर्वत के ऊपर से सिद्ध लोक व अलोकाकाश तक (अधो) नीचे सुमेरू पर्वत के नीचे से सात नरक व लोकांत व अलोकाकाश तक (मध्य च) तथा मध्य लोक में जितनी सुमेरू पर्वत की ऊंचाई है। इसतरह तीन लोक और अलोक में (ज्ञानदिष्टि) सम्यग्ज्ञान या भेदज्ञान की दृष्टि का (समाचरेत्) व्यवहार करते हैं। व (शुद्ध तत्त्व) शुद्ध आत्मीक तत्त्व में (स्थिरी भूत्वा) निश्चल रमण करते हुए (ज्ञानेन) आत्मज्ञान के द्वारा (ज्ञान) ज्ञान की (लकृत) शोभा बढ़ाते हैं।

विशेषार्थ – यहां भी गुरु महाराज का स्वरूप बताया है। वे गुरू व्यवहार और निश्चयनय से लोक व अलोक को ऊपर-नीचे-मध्य में सर्व ओर देखने वाले हैं। व्यवहार नय से छह द्रव्यों की शुद्ध तथा अशुद्ध पर्यायों को देखते हैं और निश्चय नय से छह द्रव्यों के द्रव्य स्वभाव को भिन्न-भिन्न

यथार्थ रूप से जानते हैं, उनमें अपने आत्मा का यथार्थ स्वरूप पहचानते हैं। और अपने शुद्ध आत्मीक स्वभाव में स्थिर हो जाते हैं। आत्मा के ज्ञान से अपने सर्व ज्ञान को सुशोभित करते हैं। अर्थात् सर्व संकल्प-विकल्प को त्याग कर व सर्व ज्ञान के भेदों को गौण कर मात्र शुद्ध आत्मीक परिणति रूप ही परिणमते हैं। स्वानुभव द्वारा आत्मा का ही अद्वैत भाव पाते हैं, ऐसे गुरु मानने योग्य हैं।

॥ श्लोक ६७ ॥

शुद्धधर्म च सद्‌भावं, शुद्ध तत्त्व प्रकाशकं।
शुद्धात्मा चेतनारूपं, रत्नत्रयालंकृतं॥

अन्वयार्थ – (शुद्धधर्म) तथा शुद्ध आत्मीक धर्म (सद्‌भावं) सत्तारूप भाव है। शुद्ध आत्मा की परिणति विशेष है (शुद्ध तत्त्व प्रकाशक) यही शुद्ध आत्मा के स्वरूप को झलकाने वाला है। (शुद्धात्मा) शुद्ध आत्मा (चेतनारूपं) चेतनारूप है (रत्नत्रयालकृत) और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र – इन रत्नत्रय से विभूषित है।

विशेषार्थ – जिस शुद्ध तत्व का अनुभव श्री सद्‌गुरु करते हैं उसको यहाँ बताया है। सम्यग्दर्शन आत्मा का स्वभाव है, सम्यग्ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, सम्यक्‌चारित्र आत्मा का स्वभाव है। जब आत्मा राग, द्वेष, मोह त्यागकर व मन, वचन, काय के व्यापारों से हटकर निर्विकल्प वीतराग-समाधि में जम जाता है तब वहाँ ये तीनों निश्चय रत्नत्रय शोभा बढ़ाते हैं। इस अवस्था को ज्ञान-चेतना कहते हैं। अर्थात् यहाँ शुद्ध आत्मा के स्वभाव का ही स्वाद लिया जा रहा है, कर्म के स्वाद का लेना बद है, यही शुद्धात्मा का स्वरूप भीतर झलकता है। यही शुद्ध धर्म या निश्चय धर्म है जिसको धारने से ही जीव उत्तम सुख व मोक्ष को पाता है, यह धर्म पर-धम नहीं है, आत्मा का सत्तारूप भाव है। आत्मा का अमिट स्वभाव है। इसतरह जो सर्व प्रपंचजाल मे उदास रहते हुए आत्मीक शुद्ध परिणति में रमण करते हैं वे ही श्रीगुरु हैं।

॥ श्लोक ६८ ॥

ज्ञानेन ज्ञानमालम्ब्यं, कुज्ञानं त्रिविधि मुक्त्यं।
मिथ्या माया न दिष्टंते, सम्यक्तं शुद्ध दिष्टते॥

अन्वयार्थ – (ज्ञानेन) आत्मज्ञान के द्वारा (ज्ञान) ज्ञान को (आलम्ब्य) आलम्बन करते हुए (कुज्ञान त्रिविधि) तीन कुज्ञान संशय, विमोह, विभ्रम या कुमति, कुश्रुत, कुअवधि (विमुक्तय) छूट जाते हैं। तब (मिथ्या माया) मिथ्यात्वभाव व मायाचार या संसार का ममत्व (न दिष्टते) नहीं दिखलाई पड़ता है किन्तु (शुद्ध सम्यक्त) शुद्ध निश्चय सम्यग्दर्शन (दिष्टते) दिखलाई पड़ता है।

विशेषार्थ -- श्रीगुरू की आत्मानुभव की परिणति की महिमा बताई है कि जब आत्मा का यथार्थ ज्ञान ज्ञान को ग्रहण कर लेता है अर्थात् सर्वांग शुद्ध आत्मा का ही स्वाद आता है तब वहाँ कोई संशय या विपरीतता या अनध्यवसाय (ज्ञान में बेपरवाही) ये तीन दोष नहीं रहते हैं न ऐसे आत्मानुभवी के भीतर कुमति, कुश्रुति व कुअवधि ये तीन मिथ्या ज्ञान रहते हैं। उससमय मिथ्या दर्शन का नाम तक नहीं है न वहाँ कोई ममता है न कोई प्रकार का मायाचार है। वहीं शुद्ध या यथार्थ सम्यग्दर्शन दिखलाई पड़ता है। तब ही वह साधु शुद्ध आत्मीक तत्व में जमा हुआ होता है। वास्तव में संसार से पार करनेवाली शुद्ध आत्मा की दृष्टि है। जिसने भेद-विज्ञान के द्वारा अपने आत्मा को सर्व अन्य आत्माओं से व परमात्माओं से तथा अन्य पुद्गलादि पाँच अजीव द्रव्यों से व उन औपाधिक भावों से जो मोहनीय कर्म के द्वारा होते हैं उनसे भिन्न जानकर अनुभव किया है, उसी ने ही शुद्ध आत्मीक भाव पाने का मंत्र पा लिया है। जो श्रीगुरु इसतरह आत्मीक शुद्ध परिणति में लगनेवाले हैं व उसी के भीतर दूसरों को भी लगानेवाले है वे ही सच्चे गुरु मानने योग्य हैं।

॥ श्लोक ६९ ॥

संसारे तारने चिंते, भव्यलोकैक तारकः।
धर्म्मस्य अप्पसद्भावं, प्रोक्ततं जिन-उक्ततं॥

अन्वयार्थ -- (भव्यलोकैक तारकः) भव्य जीवों के एक मात्र अद्वितीय उपकारी संसार-तारक गुरु (समार तारने) संसारी प्राणियों को तारने का उपाय (चिते) विचारते रहते हैं व (जिन उक्तित) श्री जिनेंद्र भगवान ने जैसा कहा है वैसा (अप्पसदभावं) आत्मा का शुद्ध स्वभावरूप (धर्मस्य) धर्म का (प्रोक्तित) विशेष व्याख्यान करते हैं।

विशेषार्थ -- यहाँ पर भी सच्चे गुरु का स्वरूप बताया है। सच्चे गुरु भव्यजीवों को सच्चा मार्ग बतानेवाले जहाज के समान होते हैं। जैसे जहाज आप तिरता है तथा दूसरों को तारता है वैसे ही आत्मज्ञानी गुरु तरन-तारन होते हैं। वे दया बुद्धि लाकर जब शुभोपयोग में होते हैं तब यही विचारते रहते हैं कि ये संसार के प्राणी संसार में मग्न होते हुए रात-दिन दुःख उठा रहे हैं। जन्म, मरण, जरा, रोग, शोक, वियोग से व तृष्णा की महान् ज्वाला से पीड़ित हैं, उनका उद्धार कैसे हो। उन्होंने मिथ्यात्वरूपी मदिरा पी रखी है इससे उन्मत्त होकर आत्मा के बोध से विमुख हैं। क्षणभंगुर जगत की माया में मोहित हुए सच्चे सुख का भोग नहीं पा रहे हैं। आकुलता व चिंता से तड़फ रहे हैं। इनको किसतरह सम्यग्दर्शन रूपी औषधि पिलाई जावे जिससे इनकी मूर्छा दूर हो जावे। जब कभी ऐसे गुरु अवसर पाते हैं, व्यवहारधर्म के साथ-साथ निश्चयधर्म का भी उपदेश करते हैं क्योंकि बिना निश्चय को जाने कभी भी आत्मा के शुद्ध स्वरूप का बोध नहीं हो सकता और बोध हुए बिना सम्यक्त्व प्रगट

नहीं हो सकता। परंतु ये श्रीगुरु श्री अर्हंत भगवान के उपदेश के परम श्रद्धावान हैं। जैसा उन्होंने आत्मा का सच्चा स्वरूप बताया है उसी तरह ये श्रीगुरु आत्मा का शुद्ध स्वरूप भव्य जीवों को समझाते हैं। अर्थात् यथार्थ धर्म बताते हैं। व्यवहारधर्म मात्र निश्चय-धर्म की प्राप्ति के लिये निमित्त कारण हैं। धर्म तो वास्तव में आत्मा का स्वभाव है और वह अभेद रत्नत्रय स्वरूप शुद्धोपयोग है, आत्मानुभव है, ज्ञानानंद का भोग है, सहज समाधि है, मन व वचन से अगोचर एक स्वसंवेदन ज्ञान है।

धन्य हैं ऐसे श्रीगुरु जो आत्मज्ञानामृत का स्वयं पान करते हुए भव्य जीवों को भी उसी अमृत का पान कराने का मार्ग बताते हैं।

॥ श्लोक ७० ॥

ज्ञानं त्रितय उत्पन्नं, ऋजु विपुलं च दिष्टते।
मनपर्ययं च चत्वारि, केवलं शुद्ध साधकं॥

अन्वयार्थ – **श्रीगुरुओं के** (ज्ञानं त्रितय) **सुमति, सुश्रुत, सुअवधि ये तीन सम्यग्ज्ञान** (उत्पन्नं) **पैदा हो जाते हैं। तथा** (ऋजु विपुलं च) **ऋजु मनःपर्यय ज्ञान और विपुल मनःपर्यय ज्ञान भी** (दिष्टते) **दिखलाई पड़ता है। उनके कभी** (मनःपर्ययं च) **मनःपर्यय ज्ञान को लेकर** (चत्वारि) **चार ज्ञान भी दिखलाई पडते हैं। वे श्रीगुरु** (शुद्ध केवलं) **शुद्ध क्षायिक केवलज्ञान के** (साधकं) **साधनेवाले होते हैं।**

विशेषार्थ – **यहाँ श्रीगुरु के अनेक भेद झलका दिये हैं। इसके पहले यही बताया था कि श्रीगुरु सर्व तत्त्वों के यथार्थ ज्ञाता सम्यगदृष्टि, आत्मानुभवी व सत्य धर्म के उपदेश देनेवाले होते हैं। अर्थात् मति-श्रुत सम्यग्ज्ञान के धारक होते हैं। कोई कोई परम गुरु तप व ध्यान के बल से अवधिज्ञान को उत्पन्न करके तीन सम्यग्ज्ञान के धारी हो जाते हैं। अथवा कोई अवधिज्ञान को न पाकर ऋजुमति तथा विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान अथवा दोनों को पाकर मति, श्रुत, मनःपर्यय ऐसे तीन ज्ञान के धारी होते हैं। कोई-कोई अवधि और मनःपर्यय दोनों ऋद्धियों को पाकर चार ज्ञान के धारी हो जाते हैं। श्रीगुरु अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान पाने की भावना नहीं करते हैं, तप द्वारा ये स्वयं झलक जाते हैं ;वे तो मात्र शुद्ध केवलज्ञान के साधक होते हैं, जो केवलज्ञान आत्मा का स्वभाव है और ज्ञानावरणीय कर्म से ढका हुआ है। श्रीगुरु की दृष्टि शुद्ध आत्मस्वरूप पर रहती है। शुद्धात्मानुभव ही वास्तव में केवलज्ञान का साधक है अवधि-मनःपर्यय केवलज्ञान के साधक नहीं है क्योंकि ये मात्र रूपी पदार्थ को ही जान सकते हैं।**

पाँच इंद्रिय और मन के द्वारा जो पदार्थों का सीधा ज्ञान अपनी शक्ति के अनुसार परोक्ष होता है उसको मतिज्ञान कहते हैं। जैसे शब्द सुनना, सुगन्ध जानना, घट को देखकर जानना इत्यादि।

मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थ के सम्बन्ध से दूसरे पदार्थ को जानना वह श्रुतज्ञान है जैसे जीव शब्द सुनकर व लिखा देखकर जीवपदार्थ का बोध होना

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा सहित पुद्गलों का व संसारी जीवों का स्वरूप बिना इंद्रिय तथा मन की सहायता के प्रत्यक्ष जान लेना अवधिज्ञान है। जैसे किसी के द्वारा पिछले-अगले जन्म की बातों का प्रत्यक्ष देख लेना।

किसी के मन, वचन, काय द्वारा किये हुए कार्य को व विचार को जो कोई अपने मन में चितवन कर रहा हो व कर चुका हो व करेगा उस सर्व विषय को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा में आत्मा द्वारा प्रत्यक्ष जान लेना मनःपर्यय ज्ञान है। जैसे कोई साधु श्री रामचन्द्र का चरित्र चिंतवन कर रहा हो, मनःपर्यय ज्ञानवाला साधु उस साधु के चिंतवन किये हुए विषय को मनःपर्यय ज्ञान से जान सकता है। इस ज्ञान का विषय पर के मनोगत पदार्थ ही हैं। केवलज्ञान शुद्ध स्वाभाविक ज्ञान है जो सर्व द्रव्यों की सर्व पर्यायों को एक समय में यथार्थ प्रत्यक्ष जान सकता है।

चार ज्ञान तक एक साथ हो सकते हैं। केवलज्ञान अकेला ही होता है। चार ज्ञानधारी तक को गुरु कहते हैं। श्री तीर्थंकर भगवान के जितने गणधर होते हैं वे सभी चार ज्ञानधारी होते हैं। श्री महावीर भगवान के ११ गणधरों में श्री गौतमस्वामी मुख्य थे, इन गणधरों से लेकर मात्र दो ज्ञान मति-श्रुत धारी तक जितने आरम्भ परिग्रह त्यागी, आत्मज्ञानी, आत्मध्यानी, शुद्ध तत्व के अनुभव कर्ता व यथार्थ धर्म के उपदेष्टा साधु हैं वे सर्व गुरु पूजने योग्य, भक्ति करने योग्य हैं। गुरुपद में आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेष्ठी गर्भित हैं –

॥ श्लोक ७१-७२ ॥

रत्नत्रय स्वभावं च, अरूपी ध्यानसंयुतं।
साक्षस्य व्यक्तरूपेन, केवलं पूतं ध्रुवं॥
कर्म त्रिविधि निर्मुक्तं, व्रत तप संयम युतं।
शुद्धतत्त्वं च आराध्यं, दृष्टं सम्यक्दर्शनं॥

अन्वयार्थ – **वे सच्चे गुरु** (रत्नत्रय स्वभावं च) **रत्नत्रय स्वभावमयी** (शुद्धतत्त्वं च) **शुद्ध आत्मतत्व का ही** (आराध्यं) **आराधन, मनन या अनुभव करते हैं।** (अरूपी ध्यानसंयुतं) **जहाँ रूपातीत ध्यान हो रहा है** (साक्षस्य) **जहां आत्मा का** (व्यक्तरूपेन) **प्रगट रूप से स्वसंवेदन है,** (केवलं) **वह तत्व पर के सहाय रहित केवल है** (पूतं) **पवित्र है,** (ध्रुवं) **अविनाशी है** (कर्म त्रिविधि) **तीन प्रकार के कर्म – द्रव्यकर्म,**

भावकर्म, नोकर्म से (निर्मुक्तं) रहित है। (व्रत तप संयम युतं) वहीं व्रत, तप व संयम भी है व जहां (दृष्टं) साक्षात् (सम्यग्दर्शनं) सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ – श्री गुरु शुद्ध आत्मतत्व का ध्यान करते हैं। उसी का अनुभव करते हैं। उसी की भावना भाते हैं। उसी का पाठ करते हैं। क्योंकि शुद्ध आत्मा की ओर दृष्टि वीतराग भाव को उत्पन्न करनेवाली है। राग-द्वेष मैल को काटनेवाली है। कर्म की निर्जरा करनेवाली है। यही तत्व साक्षात् मोक्ष साधक है, शुद्ध आत्मतत्व का अनुभव रूपातीत ध्यान से होता है, जहाँ सिद्ध स्वरूप को अपने आत्मा में धारण किया जाता है व आपको सिद्धरूप अनुभव किया जाता है, वहीं रूपातीत ध्यान है,इस अनुभव के समय आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष रूप से व्यक्त है। इससमय उपयोग पाँच इंद्रिय तथा मन से बाहर होकर आत्मस्थ हो जाता है, इसी को आप से आपका ज्ञान या स्वसंवेदन ज्ञान कहते हैं। वहाँ मात्र केवल एक आपका ही अनुभव है। पर-पदार्थ की ओर किंचित् भी ध्यान नहीं है। यह आत्मतत्व का अनुभव पवित्र है। राग-द्वेष मल से रहित है तथा ध्रुव है, सदाकाल चलनेवाला है। यदि कोई साधु शुद्धोपयोग में जमकर क्षपकश्रेणी चढ़े तो फिर अनंतकाल तक यह स्वानुभव बना रहता है। जहाँ शुद्धात्मा का अनुभव है वहाँ साक्षात् सम्यग्दर्शन है। उपयोगमय सम्यग्दर्शन है। जब कभी कोई सम्यगदृष्टि अन्य कार्यों की तरफ उपयोगवान होता है, आत्मा की तरफ उपयोगवान नहीं होता हैं। तब उसके सम्यग्दर्शन लब्धिरूप से रहता है, द्रव्य निक्षेप रूप रहता है, भावनिक्षेप रूप नहीं होता है। स्वानुभव में भावनिक्षेप रूप है। जिस आत्मतत्व की आराधना की जाती है वह ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, राग-द्वेषादि भावकर्म, शरीरादि नोकर्म – इन तीन कर्म से रहित शुद्ध है। व जब साधु इस तत्व का अनुभव करते हैं तब उनकी आत्मा में निश्चय से व्रत है तप है तथा संयम है। इससे यह दिखलाया है कि जहाँ निश्चय रत्नत्रय होता है वहाँ व्यवहार-रत्नत्रय स्वयं प्राप्त है। व्यवहार रत्नत्रय के द्वारा ही निश्चय-रत्नत्रय प्राप्त होता है। शुद्धात्मा ही उपादेय है यह निश्चय सम्यग्दर्शन है। शुद्धात्मा ही का यथार्थ ज्ञान निश्चय सम्यग्ज्ञान है। शुद्धात्मा ही में तन्मयता निश्चय सम्यक्चारित्र है। शुद्धात्मा के अनुभव में तीनों अभेदरूप से हैं तब वह साधु यद्यपि विकल्प रहित है तो भी उसकी धारणा में सात तत्व का, देव-गुरु-शास्त्र का सच्चा विश्वासरूप व्यवहार सम्यग्दर्शन है। व इन ही तत्वों का यथार्थ ज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान है। तथा अहिंसादि पाँच महाव्रतों में आरूढ़पना है। इच्छा निरोधरूपी तप है तथा सामायिक नाम का संयम है। आत्मध्यान करते हुए व्यवहार व निश्चय दोनों रत्नत्रय का लाभ हो रहा है – ऐसा ही द्रव्यसंग्रह में श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती करते हैं–

दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि ज मुणी णियमा। तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह॥४७॥

भावार्थ – दोनों ही प्रकार के मोक्षमार्ग को मुनि नियम से ध्यान करते हुए पा लेता है इसलिये

तुम लोग प्रयत्न-चित्त होकर ध्यान का भले प्रकार अभ्यास करो। आत्मध्यानी को व्रतादि में आरूढ़ रहना चाहिये। जैसा वहीं कहा है-

तवसुदवदव चेदा ज्झाणरहधुरधरो हवे जम्हा। तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह॥५७॥

भावार्थ – क्योंकि तप करनेवाला, शास्त्रज्ञानी तथा व्रतवान आत्मा ध्यानरूपी रथ की धुरी को चलानेवाला होता है इसलिये ध्यान की सिद्धि के लिये इन तीनों में रत सदा रहना योग्य है।

॥ श्लोक ७३ ॥

तस्य गुणं गुरुश्चैव, तारनं तारकं पुनः।
मान्यते शुद्ध दृष्टिश्च, संसारे तारनं सदा॥

अन्वयार्थ – (तस्य) उस शुद्ध आत्मीक तत्व की आराधना का (गुण) फल यह है कि (गुरुश्चैव तारन) वह उस अनुभव करनेवाले गुरु को भी संसार से तार देता है (पुन) तथा इसी तत्व के धारी गुरु (तारक) अन्य भव्य जीवों को संसार-समुद्र से तारने को जहाज के समान हो जाते हैं (मान्यते) वे ऐसा मानते हैं कि (शुद्ध दृष्टिश्च) कि शुद्ध आत्मतत्व की दृष्टि ही (सदा) सदा ही (ससारे तारन) संसार से पार उतारने वाली है।

विशेषार्थ – श्री गुरु तरन-तारन कहाते हैं। वे आप भी ससार-समुद्र से तरते हैं व दूसरों को भी तारते हैं। यह जहाज जिसपर चढ़कर वे आप तरते हैं व दूसरों को भी ले जाते हैं – एक शुद्ध आत्मीक तत्व का अनुभव है। उसी में यह गुण है कि जो उसका शरण ले वह कर्मों को काटकर, विघ्नों का नाशकर सीधा मोक्ष द्वीप को चला जावे। श्रीगुरु को यह दृढ़ श्रद्धान है कि मात्र निश्चय रत्नत्रयमयी शुद्ध आत्मतत्व की दृष्टि ही, व उसी का स्वसंवेदन ज्ञान व साक्षात्कार ही संसार-समुद्र से तारने की शक्ति रखनेवाला एक अनुपम जहाज है, इसके सिवाय और कोई जहाज या उपाय हो नहीं सकता है। वे श्रीगुरु इसी तत्व की आराधना का शिष्यों को उपदेश करते हैं, सच्चा मोक्षमार्ग बताते हैं, व आप भी इसी का अनुभव करते हुए वीतरागी हो जाते हैं और यदि तद्भव मोक्ष होने की योग्यता हुई व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव हुआ तो मुक्त हो परमात्मापद पर पहुँच जाते हैं। यहाँ यह दिखाया है कि ऐसे आत्मानुभवी महाव्रतों के धारी, तपस्वी, संयमी गुरु को ही सच्चा गुरु मानो। इसी गुरु की सेवा भक्ति करो तब ही सच्चा आत्मधर्म मिलेगा व मोक्षमार्गपर गमन हो सकेगा। अन्य किसी संसारासक्त ख्याति-लाभ-पूजादिकी चाह धारी आत्मानुभव रहित साधु को कभी सुगुरु नहीं मानना चाहिये।

॥ श्लोक ७४ ॥

यावत् शुद्ध गुरुं मान्यो, तावत् विगतविभ्रमः।
शल्यं निकंदनं येन, तस्मै श्रीगुरुभ्यो नमः॥

अन्वयार्थ – (यावत्) **जबतक** (शुद्धगुरुं) **शुद्ध आत्मा के अनुभवी, चारित्र से शुद्ध – ऐसी गुरु की** (मान्यः) **मान्यता रहेगी, भक्ति, पूजा व प्रतिष्ठा, संगति की जायगी** (तावत्) **तबतक** (गतविभ्रमः) **कोई मिथ्याभाव नहीं रहेगा** (येन) **जिस गुरु ने** (शल्यं) **माया, मिथ्या, निदान – तीन शल्यों को** (निकंदनं) **नष्ट कर दिया है।** (तस्मै) **उस** (श्रीगुरुभ्यो) **श्रीगुरु को** (नमः) **नमस्कार हो।**

विशेषार्थ – **जो कोई भव्यजीव चारित्रवान, व्रत, तप, संयम के धारी, शुद्ध आत्मा के अनुभवी गुरु की सेवा करेगा उनही को सच्चा तरन तारन गुरु मानेगा, वह सदा संसार के मोह से दूर रहेगा। जबतक वह ऐसे सद्गुरु का भक्त होगा तबतक वह अवश्य मिथ्यामार्ग से बचा रहेगा, उसको आत्मतत्व में व मोक्षमार्ग में कोई भ्रम या शंका नहीं पैदा होगी। श्रीगुरु का उपदेश शंका को निवारनेवाला सदा मिलता रहेगा। जो कोई ऐसे सच्चे गुरु का शरण छोडेगा वह संसारमार्गी होकर भ्रम में पड़ जायगा, शंकाशील हो जायगा, मोह में फँस जायगा। यह सच्चे गुरु शल्य रहित होते हैं। मायाचार करके कभी कोई मन, वचन, काय की क्रिया नहीं करते हैं। जो साधु के अट्ठाईस मूलगुण प्राचीन दिगम्बर जैन आचार्यों ने बताए हैं उनको भलेप्रकार पालते हैं वे २८ मूलगुण श्री वट्टकेरस्वामी ने मूलाचार में इस भांति कहे हैं–**

पचय महव्वयाइ समिदीओ पच जिणवरुद्दिट्ठा। पंचेविंदियरोहा छप्पि य आवासया लोचो॥२॥
अच्चेलकभण्हाणं खिदिसयणमदंतघसणं चेव। ठिदि भोयणेयभत्त मूलगुणा अट्ठवीसा दु॥३॥

भावार्थ – **श्रीगुरु नीचे प्रकार साधु के २८ मूलगुण पालते हैं –**

५ – महाव्रत - अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग।

५ – समिति - ईर्य्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, प्रतिष्ठापना।

५ – इंद्रियों का निरोध।

६ – आवश्यक नित्यकर्म - सामायिक, स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग।

१ – केशों का लोंच अर्थात् मस्तक, दाढ़ी, मूछों के बालों को हाथों से ही नोंच डालना।

१ – अचेलक - वस्त्रादि कोई आवरण शरीर पर न रखकर नग्न रहना।

१ – अस्नान - जलादि से स्नान नहीं करना।

१ – क्षितिशयन - पृथ्वी पर शयन करना।

१ – अदंतघसन - दांतों को घसने के लिये दंतवन न करना।

१ – स्थिति भोजन - खड़े होकर भोजन हाथों में करना।

१ – एकभुक्त - २४ घंटों में दिन में एक बार भोजन करना।

कुल २८ मूलगुण साधु के हैं।

श्रीगुरु व्रत-तप-संयम सहित होते हैं। यह बात ऊपर के श्लोकों में कही है इसीलिये यह २८ मूलगुण रूप साधुव्रत के धारी होते हैं। अनशनादि बारह प्रकार का तप पालते हैं व मुख्यता से सामायिक रूप आत्मसंयम में व व्यवहार में इंद्रिय व मन का निरोध रूप तथा छः काय के प्राणियों की दयारूप संयम में प्रवर्तते हैं। ऐसे निर्ग्रंथ आत्मरमी साधु ही परम गुरु मानने योग्य हैं। उनके चारित्र में कोई मायाचार का भाव नहीं होता है, न कोई मिथ्याभाव होता है। वे पूर्ण श्रद्धा सहित रहते हैं, माया मिथ्या सहित न व्रत पालते हैं, न कोई निदान करते हैं, न कोई भोगाभिलाष है, न स्वर्गादि अहमिंद्रादिकी चाह है, न मोक्ष की चाह रखकर आकुल होते हैं – परम निस्पृह हैं। आत्मानुभव के आनंद के लिये ही ध्यान करते हैं। किसी तरह का प्रशस्त या अप्रशस्त निदान नहीं करते हैं कि हमारे साधन का यह फल होना ही चाहिये।

तत्वार्थसूत्र में श्री उमास्वामी महाराज ने कहा है– "निःशल्यो व्रती" (सातवाँ अध्याय, सूत्र १८) व्रती तीन शल्य से रहित होता है। शल्य कांटे के समान चुभती है। निर्मल व्रत को नहीं पालने देती है। जो शल्य रहित व्यवहार व निश्चय रत्नत्रय के पालक हैं वे ही सच्चे सद्‌गुरु हैं, उनके चरणों को बार-बार नमस्कार हो।

॥ श्लोक ७५ ॥

कुगुरुं अगुरुं प्रोक्तं, मिथ्यारागादिसंयुतं।
कुज्ञानं प्रोक्तं लोके, कुलिंगी अशुभभावना॥

अन्वयार्थ – (मिथ्यारागादिसंयुतं) मिथ्यात्व तथा राग-द्वेषादि भावों को धरने वाले (कुगुरुं) कुगुरु (अगुरु) यथार्थ गुरु नहीं – ऐसा (प्रोक्तं) कहा गया है। वे (कुलिंगी) जिनमुनि के यथार्थ भेष को छोड़कर अनेक अयोग्य भेषों को रखनेवाले हैं। (अशुभ भावना) उनकी भावना अशुभ रहती है।

विशेषार्थ – अब यहाँ कुगुरु या अगुरु का स्वरूप कहना प्रारंभ किया है। जो लक्षण सुगुरु के पहले बता चुके हैं वे लक्षण जिनमें न हों वे ही कुगुरु हैं तथा वे ही अगुरु हैं, वे गुरु मानने योग्य नहीं हैं। क्योंकि उनके भीतर व्यवहार व निश्चय दोनों ही प्रकार के सम्यग्दर्शन नहीं है। वे अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व व गृहीत मिथ्यात्व से ग्रसित हैं। जो भक्ति व पूजा करे उस पर राग करनेवाले तथा जो भक्ति व पूजा न करे उस पर द्वेष करनेवाले हैं। तीन-लोक जीवादि छह द्रव्यों का समुदाय है। इस

सम्बन्ध में उनका ज्ञान ठीक नहीं है तथा ये संसार को त्यागने योग्य - दुःखरूप नहीं समझते हैं, वे मोक्ष को उपादेय तथा सुखरूप नहीं जानते हैं। अपनी बढ़ाई, महिमा, मिष्ट खान-पान आदि भावों में तल्लीन हैं। शुद्ध आत्मीक आनन्द का स्वाद नहीं पा रहे हैं। उनको शुद्धस्वरूप की भावना नहीं है और न शुभोपयोग ही है। क्योंकि जो शुभभाव शुद्धोपयोग की श्रद्धा रहित है वह शुभोपयोग वास्तव में नहीं है, सम्यग्दृष्टि के ही असली शुभोपयोग होता हैं। मिथ्यादृष्टि का शुभभाव मिथ्यात्व की कालिमा को लिये हुए है, संसार का कारण है। इसलिये उसको वास्तव में अशुभ उपयोग कहते हैं। कुलिंगी भेषधारी साधुओं के संसार की ही व कषाय-पुष्टि की ही भावना है इसलिये उनमें गुरुपना रंचमात्र भी नहीं है — ऐसा जानना योग्य है।

॥ श्लोक ७६ ॥

कुगुरुः रागसम्बन्धः, मिथ्यादृष्टी च दिष्टते।
रागद्वेषमयं मिथ्या, इन्द्रियविषयसेवनं॥

अन्वयार्थ — (कुगुरुः) कुगुरु (रागसम्बन्धः) रागभावों से अपना सम्बन्ध रखता है तथा (रागद्वेषमयं) राग-द्वेष से पूर्ण (मिथ्या) असत्य (इन्द्रियविषयसेवनं) पाँच इन्द्रियों के विषयों की सेवा किया करता है (च) इसीलिये (मिथ्यादृष्टी) मिथ्यादर्शन सहित (दिष्टते) दिखलाई पड़ता है।

विशेषार्थ — सुगुरु जब अपना प्रेम व अपना कर्तव्य वैराग्य चिंतवन तथा आत्मविचार में रखते हैं तब कुगुरु अपना प्रेम रागवर्द्धक कार्यों में रखते हैं। सुगुरु जब पाँच इंद्रियों के विषयों से विरक्त होते हैं तब कुगुरु इन्हीं में अनुरक्त होते हैं। स्पर्शनेन्द्रिय के वशीभूत हो सुन्दर गद्दे-तकिये वस्त्रों का स्पर्श व काम के वशीभूत हो सुन्दर स्त्रियों का स्पर्श करते हैं, रसना इंद्रियवश बहुत ही इष्ट अनेक प्रकार खाद्य को भक्षण करते हैं, घ्राण इंद्रिय के वश हो, अत्तर फूलेल लगाते हैं, पुष्पमालाओं से अपने अंग को सज्जित रखते हैं। चक्षु इंद्रिय के वशीभूत हो, रागभाव साधक स्त्री आदि व सुन्दर नगरादि व उपवनादिका दर्शन करते हैं, श्रोत्र इंद्रिय के वशीभूत हो मनोहर गान वादित्र सुनते रहते हैं। ये इंद्रियों के विषयसेवन इसलिये मिथ्या हैं कि इनसे सुख व तृप्ति होने के स्थान में तृष्णा की दाह और आकुलता बढ जाती है तथा वे राग-द्वेष को बढा देते हैं, मनोज्ञ विषयों में राग बढता है तथा जब जो उनके बाधक हैं उनसे द्वेष होता है-साधकों से राग होता है। जिनके संसार के क्षणिक पदार्थों में व झूठ इंद्रिय सुख में रंजायमानपना होगा, वे किसतरह सच्चे तत्व के श्रद्धालु हो सकते हैं।वास्तव में वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं किंतु मिथ्यादृष्टि हैं।

॥ श्लोक ७७ ॥

मिथ्यासमय मिथ्या च, प्रकृतिमिथ्या प्रकाशए।
शुद्धदृष्टिं न जानंते, कुगुरुसंग विवर्जए॥

अन्वयार्थ – कुगुरु (मिथ्यासमय) मिथ्या आगम को (च) तथा (मिथ्याप्रकृति) मिथ्या वस्तु के स्वभाव को (मिथ्या) मिथ्या वचनों द्वारा (प्रकाशए) प्रकाशते रहते हैं। (शुद्धदृष्टीं) शुद्ध आत्मा के तत्व को (न जानंते) नहीं जानते हैं, न ही अनुभव करते हैं। (कुगुरुसंग) ऐसे कुगुरुओं का संग (विवर्जए) दूर से छोड़ देना चाहिये।

विशेषार्थ – वास्तव में स्याद्वाद नय गर्भित अनेकांत ही आगम है। जिसमें वस्तु को अनेक स्वभावरूप जैसी की वैसी दिखलाया गया हो। वस्तु किसी अपेक्षा नित्य है किसी अपेक्षा अनित्य है, किसी अपेक्षा एक है किसी अपेक्षा अनेक है इत्यादि अनेक स्वभावों को रखनेवाला पदार्थ हुआ करता है, उस पदार्थ को यथार्थ अपेक्षा से यथार्थ जो कहे तथा जिसमें आत्मा की शुद्धि का व अहिंसा का व मोक्ष का व मोक्षमार्ग का यथार्थ स्वरूप दिखलाया गया हो तथा जो प्रमाण से अबाधित हो, वैराग्य से पूर्ण हो वही सच्चा आगम या समय है। इसके विपरीत एकांत वस्तु को कहनेवाला, मिथ्या संसार के पूजा-पाठ में फँसानेवाला, आत्मा के अनुभव व वैराग्य से दूर रखनेवाला, हिंसा के कार्यों में धर्म बतानेवाला, मोक्ष व मोक्षमार्ग से विपरीत कथन करनेवाला जो प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रमाण से बाधा को प्राप्त हो – रागवर्द्धक हो सो सब मिथ्या आगम हैं। कुगुरु ऐसे ही आगम का व्याख्यान करते हैं, मनोरंजक कथाओं से श्रोताओं को राजी करके उनके अनुकूल कथन करके उनसे विषयों की प्राप्तिरूप स्वार्थ को सिद्ध करना चाहते हैं। वस्तु का स्वभाव मिथ्या कहते हैं। उनकी सर्व वाणी मिथ्यात्वरूप होती हैं क्योंकि उनके भीतर मिथ्यातत्वों की श्रद्धा है व वे स्वयं मिथ्यात्व से गृसित हैं,विषयानुरागी हैं, आत्मानंद के स्वाद से रहित हैं, शुद्ध आत्मा के तत्व को जानते ही नहीं हैं, अनुभव करना तो दूर रहो। ऐसे संसारासक्त कुगुरुओं की संगति करना उचित नहीं है।

॥ श्लोक ७८ ॥

कुगुरुं कुज्ञानं प्रोक्तं, शल्यं त्रिदोषसंयुतं।
कषाय वर्धनं नि यं, लोक मूढस्य मोहितं॥

अन्वयार्थ – (कुगुरुं) कुगुरु को (कुज्ञानं) मिथ्याज्ञान धारी (शल्यं त्रिदोष संयुतं) तीन शल्यरूपी दोष सहित (नित्यं) सदा (कषायवर्धनं) कषायों को पोषनेवाले (लोकमूढस्य) लोक मूढता में (मोहितं) मोहित (प्रोक्तं) कहा गया है।

विशेषार्थ – कुगुरु के सम्यक्त्व के अभाव में सच्चा ज्ञान नहीं होता है वे मिथ्या मतिज्ञान व मिथ्या श्रुतज्ञान के धारी होते हैं। यदि कदाचित् सर्वज्ञकथित जिन-आगम को भी जानते हैं तोभी शुद्ध आत्मा की श्रद्धा बिना उनका ज्ञान मिथ्या ही होता है। वे स्वयं अपने ज्ञान से अपना भला नहीं कर सकते हैं। और वे सर्वज्ञ प्रणीत आगम को नहीं जानते हैं – एकांत आगम के ज्ञाता हैं, उनके तो व्यवहार में भी मिथ्या तत्वों का ज्ञान होता है। कुगुरु के तीन शल्य पाई जाती हैं जो महा दोष युक्त हैं। माया, मिथ्या, निदान – ये तीन कांटे हैं। जैसे कांटा चुभ जावे तो शरीर में चैन नहीं पड़ती है वैसे ये तीन कांटों में से एक भी कांटा हो तो धार्मिक क्रिया फलदायी नहीं होती है। माया शल्य के वशीभूत हो कुगुरु मात्र अपना महत्व जमाने के लिये धार्मिक क्रियाओं को करते हैं। शुद्धात्मा के प्रकाश के लिये नहीं करते हैं। भीतर से तो वैराग्य नहीं है न आत्मरंजक भाव है परंतु बाहर से लोगों को कुछ साधुपना दिखलाते हैं वे वास्तव में नट के समान प्रदर्शक हैं, साधक नहीं। मिथ्या शल्य के वशीभूत हो यथार्थ रुचि के बिना धार्मिक क्रियाओं को कर लेते हैं। जैसे रुचि बिना भोजन लाभकारी नहीं होता है वैसे मिथ्या रुचि सहित धर्म का कार्य आनन्दप्रद व परिणामों को शुद्धता में बढ़ानेवाला नहीं होता है। देखादेखी क्रिया करना मिथ्या शल्य के दोष से पूर्ण है। निदान शल्य के वशीभूत हो आगामी भोगाभिलाष, स्वर्गप्राप्ति की भावना होती है – स्वात्माधीन अतीन्द्रिय अनंत सुखरूप मोक्ष की भावना नहीं होती। जिनके हृदय में ये तीन या दो या एक भी शल्य हो वे व्रती नहीं हो सकते हैं। श्री अमितगति महाराज ने श्रावकाचार में शल्यों का स्वरूप कहा है–

निकर्तितुं वृत्तवनं कुठारी, संसारीवृक्षं सवितुं धरित्री।
बोधप्रभां ध्वंसयितुं त्रियामा, माया विवर्ज्या कुशलेन दूरं॥४९-७॥

भावार्थ – माया शल्य चारित्र वन के काटने को कुल्हाड़ी समान है। संसाररूपी वृक्ष उपजाने को पृथ्वी समान है। ज्ञानरूपी प्रकाश के नाशने को रात्रि के समान है। जो अपना हित चाहें उसको मायाशल्य दूर से ही छोडना चाहिये। बहुधा किसी असत्य पक्ष के चलाने को मायाचार से धर्मक्रियाएं कीं व कराई जाती हैं जिनको करना उचित नहीं है। उनकी पुष्टि मायाशल्य से की जाती है। भीतर जानता है कि ये अयोग्य है, शास्त्रोक्त नहीं है, फिर भी पक्ष के मोहवश उनकी पुष्टि करता है – यह मायाशल्य का नमूना है। मिथ्याशल्य का स्वरूप इस भांति कहा है –

न बुध्यते तत्त्वमतत्वमंगी, विमोह्यमानो रभसेन येन।
त्यजंति मिथ्यात्वविषं पटिष्ठाः, सदा विभेदं बहुदुःखदायि॥ ५१-७॥

भावार्थ – इस मिथ्यात्व विष के वश में पड़कर यह जीव तत्व-कुतत्व की परीक्षा नहीं करता है। मोहित होता हुआ, अतिशय करके मिथ्या तत्वों का ही पक्षपाती रहता है। यह मिथ्यात्व अनेक

भेदरूप है व बहुत दुःखों का देनेवाला है। आत्म-हितैषी पंडितों को उचित है कि इस मिथ्यात्व के विष को त्याग देवें। निर्मल बुद्धि करके तत्व को समझकर सच्ची रुचि सहित धर्म को पालें।

प्रशस्तमन्यच्च निदानमुक्त, निदानमुक्तैर्व्रतिनामृषीन्द्रैः।
विमुक्तिसंसारनिमित्तभेदाद्, द्विधा प्रशस्तं पुनरभ्युदायि॥ २०-७ ॥

भावार्थ – निदान के त्यागी मुनिराजों ने व्रती भव्यों के लिये निदान के दो भेद कहे हैं–एक प्रशस्त, दूसरा अप्रशस्त। जो मोक्ष के लिये वांछा – वह एक तरह का प्रशस्त है व जो संसार के निमित्तों की वांछा – वह दूसरी तरह का प्रशस्त है। मेरे कर्मों का अभाव हो, मैं शीघ्र मुक्ति को जाऊँ – यह मुक्ति निमित्त प्रशस्त निदान है। मुझे धर्म के साधक कुल, जाति, देश, शरीर, धनादि मिलें – यह संसार-निमित्त प्रशस्त निदान है।

अप्रशस्त निदान भोगों की व मान पाने की इच्छा को कहते हैं। ये खोटा निदान तो व्रती को छोड ही देना चाहिये। प्रशस्त निदान विकल्प अवस्था में कदाचित् हो सकता है, परन्तु निर्विकल्प अवस्था का बाधक जानकर यह भी त्यागने योग्य है। व्रती को किसी प्रकार की इच्छा न करके समभाव से चारित्र पालना चाहिये। सम्यग्दृष्टि मुक्ति को अपने पास ही समझता है। उसको दूर से लाना नहीं है। इसलिये उसकी भी चाह नहीं करता है तब शुभ गति की चाह भी क्यों करेगा? भोगों की चाह करना तो महान विपरीत निदान शल्य है। कैसे हैं भोग, यहीं कहा है–

ये पीडयते परिचर्यमाणाः, ये मारयते बत पोष्यमाणा।
ते कस्य सौख्याय भवंति भोगा, जनस्य रोगा इव दुर्निवाराः॥ २७-७ ॥

भावार्थ – इन भोगों को सेवन करने से ये पीड़ा पैदा करते हैं। इनको पुष्ट करने से ये अपना घात करते हैं, ये भोग – नहीं मिटने वाले रोग के समान हैं। इनसे किसी भी मनुष्य को सुख नहीं हो सकता है। भोग का निदान आत्मा का महान बुरा करनेवाला है।

उन कुगुरुओं के मिथ्याज्ञान के कारण क्रोध, मान, माया, लोभ – इन चारों कषायों की वृद्धि नित्य होती रहती है। साधुपना कषायों के घटाने के लिये धारण किया जाता है परंतु अज्ञानी साधु उल्टी अपनी कषाय बढ़ा लेते हैं। यदि कोई विनय नहीं करे व आज्ञा के अनुसार पदार्थ न लावे तो उनको क्रोध आ जाता है। जैसे जैसे उनकी भक्ति मूढ़ लोग करते हैं वैसे वैसे उनका मान बढ़ता जाता है। विषयभोग और मान पाने का लोभ भी बढ़ता जाता है। इस मान व लोभ के वशीभूत हो माया कषाय का प्रयोग भी बढता जाता है। ये कुगुरु लोक की मूढता में फँसे रहते हैं। जैसे मूढ जीव स्त्री-पुत्रादि में आसक्त हैं वैसे ये अपनी गद्दी, अपने शिष्य, अपने मान में आसक्त हैं। प्रशंसा के भूखे हैं। साधारण जनता को अपना भक्त जानकर उनसे अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। ऐसे कुगुरु दूर से ही छोड़ने लायक हैं।

॥ श्लोक ७९ ॥

इन्द्रियाणां मनो नाथः, प्रसरंतं प्रवर्तते।
विषयं विषम दिष्टं च, तन्मतं मिथ्याभूतयं॥

अन्वयार्थ – (मनः) **मन** (इंदियाणा) **पांचो इंद्रियों का** (नाथः) **नाथ है।** (प्रसरन्त) **जितना इसे फैलाया जाय यह** (प्रवर्तते) **वर्तता है या दौडता है** (विषम) **भयानक व कठिन** (विषयं) **विषयों को** (दिष्टं च) **देखा करता है** (तत्) **इस मन को** (मिथ्याभूतय) **मिथ्याभूत या मिथ्या काम करनेवाला** (मत) **कहा गया है।**

विशेषार्थ – **जिनके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व स्वरूपाचरण की शक्ति नहीं है उनका मन जगत के पदार्थों में मोही होता हुआ रात-दिन दौडा करता है। मनवाले प्राणियों के मन ही मुख्य स्वामी रूप से कार्य करनेवाला है। मन की प्रेरणा से इंद्रियाँ काम करती हैं। यह मन ऐसा चंचल या अनर्थ काम करनेवाला है कि बडे-बडे कठिन इंद्रियों के विषयों की तरफ अपनी दृष्टि डालता है। उनको प्राप्त करने की व उनको भोगने की चाहना किया करता है। यदि इस चंचल घोडे पर लगाम न हो तब तो यह कहां-कहां जाता है इसकी कोई मर्यादा नहीं। यह इन्द्र की सम्पदा चाहता है, इन्द्राणी व अप्सराओं के साथ भोग चाहता है, स्वर्ग के रत्नमयी महलों का निवास चाहता है, इन्द्र की सभा चाहता है जहाँ अनेक देव-देवी प्रणाम कर रहे हों। अनेक देवियों से अपनी सेवा कराना चाहता है, चक्रवर्ती नारायण प्रतिनारायण की विभूति चाहता है, राजा महाराजों की, सेठ साहूकारों की विभूति देखकर अपनाना चाहता है, सुन्दर-सुन्दर स्त्रियों को देखकर उनको भोगना चाहता है। अच्छे अच्छे महल बाग बगीचे देखकर सुनकर व बड़े-बड़े नगरों की रमणीकता जानकर व सुनकर उनमें सैर करना चाहता है। बड़े-बड़े धनिकों की विभूति अपने पास हो जाय – ऐसा विचार करता है। मै सब पर आज्ञा करने लगूँ – ऐसा प्रभुत्व चाहता है। मैं कभी बूढा न होऊँ, मरूँ नहीं, रोगी न होऊँ, वियोगी न होऊं, मेरी स्त्री सदा आज्ञाकारिणी रहे, बहुत से पुत्र-पुत्री होवें, खूब धन कमाऊँ, उनके विवाह में खर्च करके, खूब अपना नाम करूँ इत्यादि अनगिनती हवाई-भावों को बनाया करता है। तीन लोक में बेधड़क पहुँच जाता है। तीन लोक के इंद्रिय विषयों को अपनाना चाहता है। अपनी शक्ति व योग्यताका कुछ भी विचार न करके अपने को दौडाया करता है। इसका सारा विचार स्वप्न समान मिथ्या होता है। वृथा ही अपध्यान करके यह परिणामों को रागी-द्वेषी बना देता है जिससे वृथा ही पापकर्म का बंध होता है। इस मन को ज्ञानियों ने नपुंसक व अनर्थकारी व मिथ्यारूप तथा एक प्रकार का मोह ग्रसित कहा है। बृहत् सामायिक पाठ में श्री अमितगति आचार्य मन का चरित्र कहते हैं–**

भजसि दिविजयोषा यासि पातालमंग। भ्रमसि धरणिपृष्ठं लिप्स्यसे स्वांतलक्ष्मीम्॥
अभिलषसि विशुद्धा व्यापिनी कीर्तिकाता। प्रशममुखसुखाब्धि गाहसे त्वं न जातु॥२८॥

भावार्थ – **हे मन !तू देवियों को भोगना चाहता है, कभी पाताल में जाता है, कभी सारी पृथ्वी पर घूमता है, मनमानी लक्ष्मी चाहता है, जगतव्यापिनी निर्मल कीर्ति चाहता है, तू चाह की दाह में ही जला करता है किंतु सुख शांतिमय समुद्र में कभी भी गोता नहीं लगाता है।**

॥ श्लोक ८० ॥

उत्साहं मिथ्या कृत्वा, अभावं असुखं परं।
माया मोह असत्यस्य, कुगुरुः संसारभाजनं॥

अन्वयार्थ – (कुगुरु) **कुगुरु मन के द्वारा** (मिथ्या) **झूठा** (उत्साह) **उत्साह** (कृत्वा) **करके** (अभाव) **इच्छानुकूल पदार्थ को न पाते हुए** (पर) **घोर** (असुखं) **दुःख को भोगते हैं** (माया मोह असत्यस्य) **माया, मोह, असत्य के भाजन होते हुए** (संसारभाजनं) **संसार के ही पात्र बने रहते हैं।**

विशेषार्थ – **ऊपर के श्लोक में जो मन का स्वरूप बताया है उसप्रकार के मन के धारी कुगुरु होते हैं। मन में अति दुर्लभ उत्साह होता है कि ऐसी ऐसी वस्तु प्राप्त होवें। जब वह नहीं मिल सकती हैं तो बड़ा भारी कष्ट भोगता है, चिंता में फँसा रहता है, मिथ्यादर्शन के कारण कुगुरु में मायाचार, मोह व असत्य धर्म का वास होता है। न तो वे तत्व को निर्णय करते हैं, न संसार के मोह को हटाते हैं, मिथ्या तत्व की श्रद्धा करते हुए, विषयों की वांछा रखते हुए, माया में फँसे हुए, ऐसे कुगुरु संसार ही में भ्रमण किया करते हैं। ऐसे कुगुरु पाषाण की नाव के समान हैं – आप भी डूबते हैं व औरों को भी डुबाते हैं। जबतक अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यादर्शन रूपी विष का वमन न किया जावे तबतक संसार-शरीर-भोगों से वैराग्य तथा आत्मरुचि नहीं पैदा होती है। इसीलिये मन चंचल रहकर विषयों के वन में भ्रमण करता रहता है। वे कुगुरु बाहरी दिखावटी धर्म को ही अपनी इच्छा की पूर्ति का साधन बना लेते हैं। जो अपना हित चाहें उनको उचित है कि ऐसे कुगुरुओं की भक्ति व संगति न करें।**

॥ श्लोक ८१ ॥

आलापं असुहं वाक्यैः, आर्तिरौद्र समाचरेत्।
क्रोधमायामदं लोभं, कुलिंगी कुगुरुं भवेत्॥

अन्वयार्थ – (कुलिंगी) **खोटे भेषधारी** (कुगुरुं) **कुगुरु** (असुहं वाक्यैः) **अशुभ या न सुहाने योग्य वचनों से** (आलापं) **बात करते हैं।** (आर्तिरौद्र) **आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान का** (समाचरेत्) **व्यवहार**

करते हैं। (क्रोधमायामदं लोभं) क्रोध, मान, माया, लोभ – ये चार कषायें (भवेत्) कुगुरु में होती हैं।

विशेषार्थ – कुगुरु भेषधारी साधुओं के भीतर आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान रहा करता है क्योंकि जब उनको शुद्ध आत्मीक तत्व की प्रतीति नहीं है तथा अतीन्द्रिय सुख का अनुभव नहीं होता है तब वहां धर्मध्यान असंभव है। धर्मध्यान के अभाव से दो खोटे ध्यान किसी न किसी रूप में रहते हैं।

इष्ट परिग्रह, विषय, दास आदि के वियोग में उनको इष्टवियोगज आर्तध्यान हो आया करता है मन के अनुकूल न चलनेवाले व मन के अनुसार न वर्तनेवाले शिष्यों के कारण व अनिष्ट स्थान-भोजन-पान-वस्त्रादि के लाभ से उनको अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान होता है। शरीर में रोगादि होने पर तीव्र पीड़ा की चिंता में पड़ जाते हैं व इससे पीड़ा-चिंतवन आर्तध्यान होता है। पाँच इंद्रियों के भोगों की इच्छा रहती है कि आगामी इस लोक व परलोक में मनोज्ञ इन्द्रियों के भोगने योग्य पदार्थ प्राप्त हों। इसतरह निदान आर्तध्यान रहता है। जीवदया न होने से प्रमाद सहित आचरण करते हुए या अपना कोई मनोरथ पर की हिंसा करके या पर को बाधा देकर भी सिद्ध होता जाने तो गुरु के हिंसानंदी रौद्रध्यान हो जाता है। अपना स्वार्थ सिद्ध करने को मिथ्या वचन बोलते हुए व उससे काम सिद्ध होते हुए मृषानंदी रौद्रध्यान हो जाता है। कुगुरु बहुधा गुप्त रीति से इंद्रियों के विषय-सेवन करते हैं इससे चौर्यानंदी रौद्रध्यान हो जाता है। परिग्रह में अनुरागी, मोही होने से अपने पास परिग्रह बढ़ता हो व दूसरों के धनादि की वृद्धि हो रही है – ऐसा देखकर परिग्रहानंद रौद्रध्यान हो जाता है।

कुगुरु साधुओं का वचन स्वार्थ को लिये हुए अशुभ ही होता है। उनका उपदेश जीवों को मोक्षमार्ग में लगाने के स्थान में संसारमार्ग में लगा देता है। क्रोधादि चारों कषायों की प्रबलता इनके होती है – ऐसे गुरु कुगुरु हैं।

॥ श्लोक ८२ ॥

कुगुरु पारधी सदृशं, संसार बन आश्रयं।
लोक मूढस्य जीवस्य, अधर्मं, पासिबंधनं॥

अन्वयार्थ – (कुगुरु) खोटे गुरु (पारधी) पक्षी पकडनेवाले के (सदृशं) समान होते हैं जो (संसार बन आश्रयं) संसार रूपी वन में आश्रय करनेवाले (लोक मूढस्य) लोक मूढता में फँसे (जीवस्य) जीवों को (अधर्मं) मिथ्या धर्मरूपी (पासिबंधन) जाल में फाँसकर बाँध लेते हैं।

विशेषार्थ – जैसे पक्षी पकडनेवाले चिडीमार जंगल में पक्षियों को पकडने के लिये जाल बिछाकर उसमें उनको खींचनेवाला अन्नादि पदार्थ डाल देते हैं, उसके मोह से पक्षीगण अपना स्वार्थ सधेगा इस भाव से विश्वास करके जाल के भीतर आ जाते हैं और तुरन्त फँस जाते हैं, निकल नहीं

सकते, बन्धन में पड़कर पराधीन हो कष्ट सहते हैं। इसीतरह कुगुरु संसार वन में घूमनेवाले भ्रमनेवाले अज्ञानी प्राणियों को अधर्म रूपी जाल में फँसाने के लिये मीठे-मीठे वचनों से संसारवर्द्धक, विषय-कषाय-पोषक उपदेश देकर उनको फँसा लेते हैं। वे और भी पराधीन हो संसार में दीर्घकाल घूमकर कष्ट उठानेवाले हो जाते हैं। यदि कोई ऐसा उपदेश कर दे कि पशुओं की बलि देवताओं को चढ़ाने से देवता प्रसन्न होते हैं, बलि देकर मांस का प्रसाद खाने व बांटने से पुण्य होता है, लौकिक काम सिद्ध हो जाते हैं, प्राणी स्वर्ग में जाते हैं, तो यह कुगुरु प्राणियों को अधर्म के जाल में फँसा देते हैं। कोई यदि ऐसा उपदेश कर दे कि गंगा-यमुना में स्नान करने मात्र से पाप धुल जाते हैं। अज्ञानी लोग ऐसा मानकर स्नान में ही धर्म समझने लगते हैं। अपनी सर्व शक्ति लगाकर दूर-दूर से स्नान करने आते हैं। जल-स्नान एक आरंभ का कार्य है। जिसमें स्थावर व त्रस जीवों की हिंसा होती है, इसमें धर्म मानना भूल है। स्नान करके परमात्मा का भजन किया जाय तो धर्म हो सकता है। परंतु इस बात को न समझकर स्नान से ही धर्म मानकर रूढ़ियों के वश में पड़ जाते हैं, इसीतरह यदि कोई उपदेश कर दे कि अग्नि में जल जाने से सतीपना होता है या अग्नि जलाकर काय को क्लेश देने मात्र से धर्म व तप होता है तो यह उपदेश मिथ्या है। जीते हुए शीलव्रत पालना सती धर्म है। पाँच इन्द्रियों को जीतकर आत्मध्यान करना धर्म व तप है। इस सत्य को न पाकर लोग मिथ्या क्रिया में फँस जाते हैं। सती होनेवाली के वस्त्राभूषण उनके गुरुओं को मिल जाते हैं। लोभ के वशीभूत हो कुगुरु ऐसा उपदेश कर देते हैं जो अपने पिता के नाम से श्राद्ध करे, उस दिन गुरुओं को सोना, चांदी, जवाहरात दे तो उसके पिता को परलोक में यह सब मिल जाता है। इत्यादि कषायवश बहुत से ऐसे मार्ग कुगुरु चला देते हैं जिसमें अधर्म होता है परंतु धर्म मान लिया जाता है। रागी-द्वेषी देवों की आराधना कुगुरुओं के उपदेश से ही चल पड़ी है। उनका उपदेश होता है कि इन कुदेवों की मान्यता करो, प्रसाद चढ़ाओ, इनको आभूषण चढ़ाओ, सोना-चांदी चढ़ाओ तो बड़ा भारी कष्ट दूर होता है, खेती फलती है, पुत्र होता है, आदि आदि अनेक लोभों में फँसाकर जगत के प्राणी मार्गच्युत कर दिये जाते हैं। यह सब कुगुरुओं के उपदेश का कुफल है।

॥ श्लोक ८३ ॥

पतंते ते बने जीवा:, पारधी वृषजालकं।
विश्वासं अहं बन्धे:, लोकमूढ: न पश्यति॥

अन्वयार्थ – (तें जीवा:) **वे भोले प्राणी** (बने) **इस संसार वन में** (पारधीवृषजालकं) **कुगुरु पारधी के धर्म के नाम से फैलाए हुए अधर्म के जाल में** (विश्वांस) **विश्वास करके** (पतंते) **गिर जाते हैं** (अहं

बंधेः) मैं बँध जाऊँगा, इस बात को (लोकमूढः) संसारासक्त प्राणी (न पश्यति) नहीं देखता है।

विशेषार्थ – जैसे पारधी के जाल में पक्षी निवास करके फँस जाते हैं वैसे मूढ प्राणी कुगुरु पारधी के अधर्मरूपी जाल में विश्वास करके फँस जाते हैं। उनको मूढता के वश यह ध्यान नहीं आता है कि यह धर्म नहीं है यह तो अधर्म का जाल है, यहां जावेंगे तो बँध जावेंगें।

मूढ लोग रात-दिन धन की, पुत्र की, यश की, रोग रहित रहने की, न मरने की चिंता में लगे रहते हैं। उनको आत्मा के कल्याण का बिलकुल खयाल नहीं होता है। लौकिक पूजन के सिद्ध करने के लिये वे कुगुरुओं की बातों में फँस जाते हैं। उस पर विश्वास करके कुदेवों को मानने लगते हैं। अधर्म को आचरने लगते हैं। मिथ्या तप करके घोर कष्ट उठाते हैं। विषयों के भोग की तृष्णा को बढ़ा लेते हैं। इष्ट के वियोग में घोर आकुलता करते हैं। हिंसाकारी अनेक यज्ञों को रचाते हैं। घोर आरम्भ करते हैं। वैराग्यमई पूजा-पाठ को छोडकर रागवर्द्धक पूजा पाठ व लीला में फँस जाते हैं। इंद्रियों को प्रिय ऐसे नाचने-गाने में धर्म मान लेते हैं। युद्धादि की कथाओं को पढकर रंजायमान होने में ही धर्म समझ लेते हैं। वीतराग-विज्ञानमय शुद्ध आत्मा की परिणति धर्म है – इस बात का न उपदेश पाते हैं न इसतरफ मन, वचन, काय को ले जाते हैं। यह सब कुगुरु के उपदेश का प्रताप है।

॥ श्लोक ८४-८५ ॥

कुगुरुं अधर्म विश्वस्ताः, अदेवं कृतताडनं।
विकहा रागमय जालं, पाश विश्वास मूढयं॥
बने जीवा रुदन्त्येवं, अहं बद्धं एक जन्मयं।
अगुरं लोक मूढस्य, बन्धनं जन्म जन्मयं॥

अन्वयार्थ – (कुगुरुं) खोटे गुरु का व (अधर्म) खोटे धर्म का (विश्वस्ताः) विश्वास करते हुए (अदेवं) कुदेवों के द्वारा (कृतताड़नं) ताडन किए हुए अर्थात् कुदेवों को भक्ति में भय के कारण लगे हुए (विकहा) विकथा (रागमय) का रागस्वरूप (जालं) जाल, जिसकी (विश्वासमूढयं) विश्वास मूढतारूपी (पाश) रस्सी है उसमें फँसे हुए (लोकमूढस्य) लोक मूढता के कारण (अगुरं) कुगुरुओं के द्वारा (जन्म जन्मयं) जन्म-जन्म में (बंधनं) घोर बंधन प्राप्त करते हैं। जबकि (बने) वन में (जीवा) पक्षीगण या मृगगण (अहं बद्धं) हम बंध गए हैं (एवं) ऐसा (एक जन्मयं) एक जन्म में ही (रुदन्ति) रुदन करते हैं।

विशेषार्थ – यहाँ दिखलाया है कि पारधी के जाल में फँसकर पशुओं को एक जन्म में ही रुदन कर-करके दुःख उठाना पडता है, परन्तु जो कुगुरु पारधी के जाल में फँस जाते हैं वे जन्म-जन्म में

दुःख उठाते हैं। मूढ प्राणी संसार-शरीर-भोगों के लोलुपी होते हुए कुगुरु के अधर्ममय उपदेश का और कुगुरु का विश्वास कर लेते हैं। अनेक कुदेवों को व अदेवों को पूजते-फिरते हैं। भय यह रखते हैं कि यदि उनको न मानेंगे तो ये हमसे नाराज होकर हमारा अनिष्ट कर देंगे। इसतरह कुदेव, कुगुरु, कुधर्म को मानते हुए चार विकथाओं के राग में फँसे रहते हैं। विकथाओं का राग जाल है। उसमें मूढताई से विश्वास करना यही इस जाल की रस्सी है जिसमें मूढ प्राणी फँस जाते हैं। धर्म कथा की रुचि न रखते हुए स्त्री कथा, भोजन कथा, चोर कथा, व राज कथा आदि अनेक मिथ्या पापयुक्त कथाओं के पढने-सुनने में लग जाते हैं। अधर्म पोषक अनेक कथाओं पर विश्वास कर लेते हैं। कुगुरु-जन मूढ लोगों को अधर्म में फँसाने के लिये ऐसी राग वर्द्धक व भय देनेवाली कथाएँ रच देते हैं जिससे उनको यह भय हो जाता है कि यदि हम इस मार्ग पर न चलेंगे तो हमारा बहुत अहित होगा।

वास्तव में जिन कथाओं से आत्म परिणति आत्मा की शुद्धि के मार्ग में लग जावे — संसार-शरीर-भोगों से वैराग्यरूप हो जावे ; जीवदया, परोपकार व चारित्र में दृढ़ हो जावे, हिंसादि पापों से विरक्त हो जावे, स्नेह के जाल से निकलने का भाव दृढ कर सके ; मानव जीवन को सफल कर सके वे तो यथार्थ कथाएँ हैं। इनके सिवाय सर्व विकथाएँ हैं। विकथाओं का विश्वास करके मिथ्यात्व का आराधन यहाँ करके घोर पाप बांधते हैं, मर कर दुर्गति में जाते हैं, महान कष्ट उठाते हैं। मिथ्यात्व के समान कोई बंधन नहीं है, कोई जालनहीं है। इस जाल में फँसा प्राणी भव-भव में कष्ट पाता है फिर उस भोले जीव को मनुष्य जन्म अनेक जन्मों में भी मिलना दुर्लभ हो जाता है। तथा सच्चे गुरु का समागम तो बड़ा ही कठिन हो जाता है।

प्रयोजन यह है कि जो अपना हित करना चाहें वे कुगुरुओं की संगति से अपनी रक्षा करें।

॥ श्लोक ८६ ॥

अगुरस्य गुरुं मान्याः, मूढ दृष्टिं च संगताः।
ते नरा नरयं यांति, शुद्ध दृष्टि कदाचन॥

अन्वयार्थ — (अगुरस्य) **मिथ्या गुरु को** (गुरुं) **गुरु** (मान्याः) **माननेवाले,** (मूढदृष्टिं च सगता) **मिथ्यादृष्टिपने की संगति करनेवाले** (ते नरा) **जो मनुष्य हैं वे** (नरय) **नरक** (याति) **जाते हैं, उनको** (शुद्धदृष्टि) **शुद्ध सम्यग्दृष्टि** (कदाचन) **कभी नहीं होती है। अर्थात् उन्हें सम्यग्दर्शन का लाभ कठिन है।**

विशेषार्थ — **ऊपर जो कुछ कुगुरु का स्वरूप कहा गया है, इसतरह के जो कुगुरु संसार में फँसानेवाले हैं उनकी जो भक्ति करते हैं, उनके मिथ्या उपदेश को मान कर मूढता से कुदेवों की व कुधर्म की आराधना करते हैं वे बहु आरम्भ व बहु परिग्रह के आसक्तिवान जीव नरक-आयु बांधकर**

नरक जाते हैं। उनको सम्यग्दर्शन का लाभ मिलना ऐसा दुर्लभ है कि मानों कभी होगा ही नहीं। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उनको सम्यग्दर्शन कभी न होगा। परन्तु यह तात्पर्य है कि उनको सम्यक्त्व का लाभ बहुत दुर्लभ है। उनके तीव्र मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी कषाय का बंध पड जाता है जिससे एक तो उनको सच्चे आत्मतत्व के उपदेश पाने का अवसर नहीं मिलता। यदि कदाचित् अवसर भी मिले तो उनका भाव नहीं जमता। गाढ मिथ्यात्वभाव वाले को धर्मोपदेश उसतरह कटुक भासता है जैसे पित्तज्वर वाले को मीठा भोजन कडुआ मालूम होता है। ऐसा जानकर मिथ्या देव-गुरु-धर्म का आराधन कभी करना योग्य नहीं है।

॥ श्लोक ८७ ॥

अनृतं अचेतं प्रोक्तं, जिनद्रोही वचलोपनं।
विश्वासं मूढजीवस्य, निगोयं जायते ध्रुवं॥

अन्वयार्थ — (वचलोपनं) **जिनेन्द्र की आज्ञा को छिपाकर उपदेश करना** (अनृतं) **मिथ्या** (अचेतं) **अज्ञानरूप** (जिनद्रोही) **जिनेद्र से विपरीत** (प्रोक्तं) **कहा गया है।** (विश्वासं) **उसपर विश्वास करनेवाले** (मूढजीवस्य) **मूर्ख बहिरात्मा को** (ध्रुवं) **निश्चय से** (निगोयं) **निगोद में** (जायते) **जन्म लेना पड़ता है।**

विशेषार्थ — **जिनेन्द्र भगवान ने जैसा अनेकांत स्वरूप वस्तु को बताया है व शुद्धोपयोग को धर्म बताया है, संसार-शरीर-भोगों से वैराग्य सिखाया है, अहिंसा पालने का मुख्य कर्तव्य समझाया है। इत्यादि श्रीजिन का जो उपदेश है उस उपदेश को लोपकर जैन गुरु नाम धराकर जो ऐसे गुरु द्वारा उससे विपरीत राग-द्वेष वर्धक व मिथ्यात्व पोषक उपदेश किया जाना वह मिथ्या है, अज्ञानरूप है और श्री जिनेन्द्र भगवान के साथ मानों द्वेष करना है। मूढ जीव उन गुरुओं के कथन पर विश्वास कर लेते हैं और उनके अनुसार चलने लगते हैं। अज्ञानरूप धर्म की क्रिया से वे घोर ज्ञानवरणी कर्म का बंध करते हैं और ऐसी पर्याय में चले जाते हैं जहां लब्ध्यपर्याप्त अवस्था में अक्षर के अनंतवें भाग अति तुच्छ ज्ञान रह जाता है। इस पर्याय को निगोद कहते हैं। निगोद में चले जाने पर फिर वहाँ से निकलना बहुत दुर्लभ होता है। जैसे — मकान, मठ, खेत, बाग आदि को रखते हुए, शय्या, गद्दी, तकिये आदि पर शयन करते हुए, अतर-फुलेल लगाते हुए, पुष्प-मालाओं को सूंघते हुए, रागवर्द्धक कथा-संलाप करते हुए, पालकी पर चढकर चलते हुए भी अपने को दिगम्बर जैन का गुरु मानकर लोगों से उसी के समान भक्ति करवाना, अपने को आचार्य समझना, अपने आडम्बर के लिये लोगों को तंग करके पैसा लेना आदि क्रियाएं श्रीजिन-वचन को उल्लंघन करनेवाली हैं। जिनवाणी में परिग्रह-आरम्भ रहित परम वैराग्यवान इंद्रिय-विजयी शुद्ध-आत्मरमी को जिन-साधु कहा है परन्तु यह अपने को जैन साधु मानकर जिन आज्ञा लोपकर विपरीत कहता, मानता व चलता है व भक्तों को भी यही विश्वास**

कराता है। ऐसे जिन-द्रोही मिथ्यावादी कुगुरु पाषाण की नौका समान स्वयं भी भवसागर में डूबते हैं व भक्तों को भी डुबाते हैं – निगोद में उनको जन्म लेना पडता है।

॥ श्लोक ८८ ॥

दर्शनभ्रष्ट गुरुश्चैव, अदर्शनं प्रोक्तं सदा।
मान्यते मिथ्यादृष्टिः, शुद्ध दृष्टिः न मान्यते॥

अन्वयार्थ – (दर्शनभ्रष्ट) **सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट** (गुरुश्चैव) **गुरु के ही** (सदा) **नित्य** (अदर्शन) **मिथ्यादर्शन** (प्रोक्त) **कहा गया है। ऐसे मिथ्यात्व सहित गुरु को** (मिथ्यादृष्टि) **मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा** (मान्यते) **माना गया है** (शुद्ध दृष्टि) **सम्यग्दृष्टी** (न मान्यते) **नहीं माना गया है।**

विशेषार्थ – **जो जिन-आज्ञा को उल्लंघन करके और का और जाने-माने व उपदेश करे उसकी जिन-वचनों पर श्रद्धा न होने से वह व्यवहार सम्यग्दर्शन से भी रहित है, निश्चय सम्यग्दर्शन तो उसके पास हो ही नहीं सकता। ये कुगुरु सदा ही मिथ्यादर्शन रूपी घोर मैल से लिप्त रहते हैं। उनको जिनेन्द्र के उपदेश का भय नहीं रहता है। वे मनमानी चलाते हैं, स्वच्छंद वर्तन करते हैं। कभी-कभी ऐसे गुरू निश्चयनय के एकांत को पकडकर अपने को तत्वज्ञानी, शुद्धोपयोगी, बंध व मोक्ष से रहित मान बैठते हैं और मन, वचन, काय की क्रिया से आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसा निश्चय से मानकर व्यवहार मार्ग में चलते हुए व्रत, तप, शील आदि की कुछ भी परवाह नहीं रखते हुए मनमाना आचरण करके अपना संसार बढाते हैं। जिनेन्द्र की आज्ञा तो यह है कि स्वानुभव के लिये निश्चय-दृष्टि से जगत को देखो तब अपना व पर का आत्मा शुद्ध एकाकार दीखेगा। इससे साम्यभाव आयेगा। समाधि का लाभ होगा। परन्तु जब स्वानुभव नहीं हो और व्यवहार मार्ग का आलम्बन लेना पडे, व्यवहार में वर्तन करना पडे तब निश्चयनय को गौण कर व्यवहार नय को मुख्यता से व्यवहार करना चाहिए। अपने पाप-कर्म का बंध भी देखना चाहिये। अरहंत व सिद्धों को बंध रहित देखना चाहिये। उनकी भक्ति करनी चाहिये। अशुभ भावों से बचने के लिये शील व व्रत पालना चाहिये, संयम से रहना चाहिये, जिन-आज्ञा के अनुसार व्यवहार चारित्र यथोचित पालना चाहिये, तथापि दृष्टि निश्चयनय पर रखते हुए शुद्ध भावों में जमने का उद्यम रखना चाहिये। व्यवहार मार्ग का एकांत भी मिथ्यात्व है, निश्चय नय का एकांत भी मिथ्यात्व है। दोनों नयों को जानकर उनका प्रयोग यथा अवसर जो लेता है वही यथार्थ जिन-आज्ञा का माननेवाला है, वही सच्चा सम्यग्दृष्टि जैन साधु है, वही शुद्ध आत्मध्यान से कर्मों की निर्जरा करता है। जो ऐसा तो करे नहीं, सामायिक व ध्यान का अभ्यास**

करे नहीं व अपने को परमात्मावत् मान कर संतुष्ट हो जावे और स्वच्छंदरूप से इंद्रियों के विषयों में वर्ते और माने कि मेरे इस रागरूप वर्तन से कुछ भी बंध न होगा वह जिन-आज्ञा लोपी है क्योंकि जैन-सिद्धांत में कहा है कि जहाँ तक सूक्ष्म लोभ का भी उदय दसवें गुणस्थान तक है वहाँ तक कर्म का बंध होता है। कषायों से रंजित परिणाम होते हुए-कृष्ण, नील, कापोत, पीत व पद्म लेश्या सम्बन्धी राग भाव होते हुए अपने को व्यवहार नय से या पर्याय दृष्टि से बंध न मानना श्री जिनेंद्र की आज्ञा को प्रगट रूप से अमान्य करके विपरीत श्रद्धान रखकर मिथ्यात्व को ही पोषण करना है।

श्री. अमृतचन्द्र आचार्य समयसार कलश में कहते हैं—

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्यादित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलम्बंतां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥५-७॥

भावार्थ — जो रागी होते हुए भी ऐसा माने कि मैं तो सम्यग्दृष्टि हूँ मुझे तो कभी बंध हो ही नहीं सकता और मुँह फुलाए रहकर घमंड में रहे और चाहे जैसा आचरण करे अथवा बाहर से ईर्या आदि पाँच समिति को भी पाले तो भी वह पापी ही है, सम्यक्त्व से खाली है क्योंकि उसको आत्मा व अनात्मा का सम्यक् भेदज्ञान नहीं हुआ है।

मोक्षमार्गी स्याद्वादी है जो ज्ञान और क्रिया दोनों के साथ यथासम्भव मैत्री रखता हुआ चलता है। वहीं कहा है—

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां, यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री-पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः॥२१-११॥

भावार्थ — जो स्याद्वाद में चतुर है व संयम में निश्चल है और उपयोगवान होकर निरंतर आत्मा की भावना करता है वह ज्ञानदृष्टि व क्रियादृष्टि इनमें परस्पर तीव्र मैत्री रखता हुआ इस मोक्षमार्ग की भूमि को आश्रय करनेवाला है। वही आचार्य अमृतचन्द्र पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहते हैं—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति। येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥२१२॥

भावार्थ — जितने अंश परिणामों में सम्यग्दर्शन है उतने अंश बंध नहीं होता है। जितने अंश रागभाव है उतने अंश बंध होता है। इस बात को सम्यक्त्वी भलेप्रकार जानता है व उसीप्रकार आचरण करता है, रागादि के निमित्तों से भी बचता है, वीतरागमय रहने का ही पुरुषार्थ करता है। जो ऐसा स्वयं रहे, ऐसा कहे वही सच्चा गुरु है। इससे विपरीत कुगुरु है। मूढ़ लोग ऐसे कुगुरु को गुरु मान करके ठगाए जाते हैं परंतु सम्यग्दृष्टि ज्ञानी ऐसे को कभी गुरु नहीं मानते हैं।

॥ श्लोक ८९-९० ॥

कुगुरुं संगते येन, मान्यते भय लाजयं।
आशासस्नेहलोभेन, ते नरा दुर्गतिभाजनं॥
कुगुरुं प्रोक्तं येन, वचनं तदविश्वासनं।
विश्वासं ये च कुर्वंति, ते नरा दुर्गतिभाजनं॥

अन्वयार्थ – (येन) **जो कोई** (कुगुरु) **कुगुरु की** (संगते) **संगति करते हैं। तथा** (भय लाजयं) **भय, लाज,** (आशा) **आशा,** (सस्नेहं) **प्रेम** (लोभेन) **व लोभ के कारण** (मान्यते) **उनकी प्रतिष्ठा करते हैं** (ते नरा) **वे मनुष्य** (दुर्गति भाजनं) **कुगति के पात्र हैं।** (कुगुरु) **कुगुरु द्वारा** (येन प्रोक्त) **जो कुछ कहा गया** (तत् वचनं) **वह वचन** (अविश्वासन) **विश्वास करने योग्य नहीं है** (येच) **और जो कोई** (विश्वासं) **उनका विश्वास** (कुर्वंति) **करते हैं** (ते नरा) **वे मनुष्य** (दुर्गति भाजन) **कुगति के पात्र हैं**

विशेषार्थ – **जिन कुगुरुओं का स्वरूप ऊपर कहा गया है वे सब मोक्षमार्ग के सच्चे स्वरूप के न स्वयं श्रद्धावान हैं और न उसको यथार्थ कहते हैं। किन्तु एकांत, विपरीत, संशय व अज्ञान व विनय मिथ्यात्व के पोषक उनके वचन होते हैं, वे वचन विश्वास करने योग्य नहीं हैं। जो कोई मूढ मनुष्य कुगुरु को कुगुरु मानते हुए भी किसी के भय से व कोई लाज से या कोई आशा से व किसी के स्नेहवश या लोभ के कारण उनकी भक्ति करते हैं, उनको मानते हैं व उनकी संगति करते हैं या उनके वचनों पर विश्वास करते हैं वे मानव मिथ्यात्व की पुष्टि या अनुमोदना के दोषी होते हुए घोर पाप बाँधकर नरक-निगोद-पशु गति आदि में जाकर कष्ट पाते हैं। स्वामी समन्तभद्राचार्य ने भी रत्नकरण्ड में कहा है–**

भयाशास्नेहलोभाच्च, कुदेवागमलिंगिनाम्। प्रणाम विनय चैव न कुर्य शुद्धदृष्टय ॥३०॥

भावार्थ – **सम्यग्दृष्टि भय, आशा, स्नेह, लोभ से भी कभी कुदेव, कुशास्त्र व कुगुरु को प्रणाम व विनय नहीं करेगा।**

सम्यग्दृष्टि वही है जो परिणामों से उज्वलता रक्खे, जो जैसा हो उसको वैसा माने पूजे। सम्यक्त्वी धर्म का प्यासा है। जहाँ सच्चा धर्म मिलेगा वहाँ वह आदर करेगा। जहाँ इसके विपरीत धर्म का भाव है वहाँ उसकी भक्ति कभी हो नहीं सकती है क्योंकि वह धर्म, अधर्म को पहचानता है।

सम्यग्दृष्टी को लोभी, भयवान आदि नहीं होना चाहिये। कभी-कभी कोई-कोई यह विचारते हैं कि हम अमुक राजा या सेठ के यहाँ काम करते हैं, ये जिस देवता की भक्ति करते हैं यदि हम नहीं करेंगे तो ये हमारी आजीविका हर लेंगे अथवा अमुक राजा की यह आज्ञा है कि अमुक कुदेव को जो नहीं मानेगा उसको दण्ड मिलेगा तो सम्यक्त्वी प्राण जाने के भय से या आजीविका जाने के भय से कभी भी अपनी श्रद्धा से विपरीत देव या गुरु की भक्ति नहीं करेगा। यदि दस ऐसे आदमियों के साथ में है जो कुदेवों के भक्त हैं वे कुदेवों की पूजा-भक्ति कर रहे हैं उससमय यह सोचे कि मैं यदि नहीं करूँगा तो मैं निर्लज्ज कहलाऊँगा। इसलिये लाज के भय से करने लग जावे, ऐसा सम्यक्त्वी नहीं करेगा। यदि कोई कुगुरु ऐसी आशा दिलावे कि जो कोई मेरी भक्ति करेगा वह शीघ्र बहु धन कमावेगा तो भी वह सम्यक्त्वी धन की आशा से ऐसी मूढ़ता नहीं करेगा। किसी मित्र के साथ बहुत स्नेह है वह कुदेव का भक्त है वह जब कुदेवों की भक्ति कर रहा है तब यह सोचे कि यदि मैं भी भक्ति न करूँगा तो मित्र का स्नेह कम हो जायगा, इस स्नेह के वश श्रद्धा न होते हुए भी कुदेव की पूजा करने लग जावे, ऐसा सम्यक्त्वी नहीं करेगा।

स्वर्गादि व पुत्रादि के लोभ से सम्यक्त्वी कुगुरु आदि की भक्ति नहीं करेगा। सम्यग्दृष्टि जौहरी है, वह रत्न परीक्षक है। जहाँ रत्न सच्चा होता है वहीं वह सच्चा रत्न मानता है व वहीं वह उसकी वैसी प्रतिष्ठा करता है।

लौकिक व्यवहार धार्मिक व्यवहार से भिन्न है। धार्मिक व्यवहार में सम्यक्त्वी धर्म पद्धति से व्यवहार करेगा। परंतु लौकिक व्यवहार में लौकिक रीति से व्यवहार करेगा। लौकिक व्यवहार को लौकिक मानते हुए व लोक में प्रचलित लौकिक विनय करते हुए सम्यक्त्वी को श्रद्धान में कोई दोष नहीं आ सकता। जैसे राजा, हाकिम, बड़े नगरसेठ आदि के पास जाते हुए व उनके अपने यहाँ आने पर वह यथायोग्य विनय प्रणाम करेगा। यदि लौकिक विनय न की जाय तो लोक व्यवहार बिगड़ जायगा। लौकिक विनय करने से धार्मिक श्रद्धा में बाधा नहीं आती है। हनुमान, सुग्रीव आदि बड़े पुरुषों ने राजाओं के दरबार में जाते हुए यथायोग्य विनय किया था। व्यवहार में कटुकता व द्वेष न फैल जाय ऐसी सम्हाल सम्यक्त्वी रखता है। परस्पर प्रेम, विनय जो लोकप्रसिद्ध है उसको वह करता हुआ सर्व को सुखदाई व हितकारी रहेगा। जहाँ धर्म की दृष्टि से कुदेव, कुगुरु व कुशास्त्र व कुधर्म की विनय का भाव आयगा उसको वह नहीं करेगा। किसी भय व आशा व लाज व स्नेह व लोभ के वश में नहीं पड़ेगा। जो शिथिल श्रद्धालु हो मिथ्यात्व की अनुमोदना करेंगे वे अवश्य मिथ्यात्व का बंध करके दुर्गति के पात्र होंगे।

॥कुधर्म का स्वरूप॥

॥ श्लोक ९१-९२ ॥

कुगुरुं ग्रंथसंयुक्तं, कुधर्मं प्रोक्तं सदा।
असत्यं सहितं हि सः, उत्साहं तस्य क्रीयते॥
तत् धर्मं कुमति मिथ्यात्वं, अज्ञानं रागबंधनं।
आराध्यं येन केनापि, संसारे दुक्खकारणं॥

अन्वयार्थ – (ग्रंथसयुक्त) **परिग्रहधारी** (कुगुरुं) **कुगुरु ने** (सदा) **सदा** (कुधर्मं) **कुधर्म को** (प्रोक्तं) **कहा है** (सः हि) **वह कुधर्म निश्चय करके** (असत्य सहित) **असत्य से मिला हुआ है** (तस्य) **इसमें असत्य का** (उत्साहं) **उत्साह या प्रेरकपना** (क्रीयते) **किया गया है।** (तत् धर्मं) **ऐसा धर्म** (कुमति) **मिथ्या मतिज्ञान** (अज्ञानं) **मिथ्या श्रुतज्ञान रूप** (मिथ्यात्वं) **मिथ्यादर्शन है** (रागबधन) **राग के बंधन स्वरूप है** (येन केनापि) **जिस किसी ने भी** (आराध्यम्) **ऐसे कुधर्म का आराधन किया** (संसारे) **वह संसार में** (दुःखकारणं) **दुःखों का भाजन हो गया।**

विशेषार्थ – **अब कुधर्म का स्वरूप कहते हैं – संसारवर्द्धक धर्म के स्वरूप के उपदेशदाता कुगुरु ही होते हैं जो अंतरंग, बहिरंग, परिग्रह के धारी हैं। मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरूषवेद, नपुंसकवेद – ये १४ प्रकार अंतरंग परिग्रह व क्षेत्र, मकान, चांदी, सोना, धन, धान्य, दासी, दास, कपड़े, बर्तन – ये १० प्रकार बहिरंग परिग्रह – इन २४ प्रकार परिग्रह के धारी तथा इनकी ममता के फंदे में फँसे हुए कुगुरुओं का उपदेश किया हुआ धर्म कभी सत्य नहीं हो सकता। वह बाहर से सत्य-सा दीखने पर भी असत्य से मिला हुआ होता है। जब तक धर्म का उपदेष्टा वैराग्यवान निस्पृही व यथार्थ ज्ञाता तथा सर्वज्ञ-वीतराग की परम्परा से कहे हुए तत्त्वों का मनन करनेवाला न होगा तबतक वह वीतराग विज्ञानमयी शुद्ध आत्मतत्व बोधक, कषाय-विध्वंसक उपदेश दे नहीं सकता। ऐसे उपदेशे हुए धर्म में असत्य की ही तरफ प्राणियों को उत्साहित किया जाता है। सत्य एक शुद्धात्मा स्वरूप मोक्ष है। वह कुधर्म मोक्ष से विपरीत संसार की तरफ ले जानेवाला है। कुमति कुश्रुतमयी मिथ्याज्ञान से वह पूर्ण है। वह सम्यग्दर्शन से विपरीत मिथ्यादर्शन का वर्द्धक है। वीतरागता को उत्पन्न करने की अपेक्षा वह राग-द्वेष के बंधन में फँसानेवाला है। ऐसा कुधर्म जो कोई भी है, उसकी सेवा जो कोई करेंगे, वे अवश्य संसार में दुःख उठावेंगे।**

॥ श्लोक ९३ ॥

अधर्मं धर्म संप्रोक्तं, अज्ञानं ज्ञान उच्यते।
अनित्यं शाश्वतं वदते, अधर्मं संसार भाजनं॥

अन्वयार्थ — (अधर्मं) **जो धर्म वास्तव में नहीं है उसे** (धर्म) **धर्म** (संप्रोक्तं) **बताता है,** (अज्ञानं) **जो वास्तव में यथार्थ ज्ञान नहीं है उसको** (ज्ञानं) **ज्ञान** (उच्यते) **कहता है** (अनित्यं) **जो नित्य नहीं है उसको** (शाश्वतं) **नित्य** (वदते) **कहता है** (अधर्मं) **ऐसा मिथ्याधर्म** (संसार भाजनं) **संसार का बढानेवाला है।**

विशेषार्थ — **अहिंसा धर्म है, हिंसा अधर्म है — यह बात सर्व ज्ञानियों को मान्य है तथापि इस कुधर्म में हिंसा को धर्म बता दिया गया है। पशुओं की बलि चढानेसे देवता प्रसन्न होंगे, पुण्य बंध होगा — ऐसा कह दिया गया है। यथार्थ ज्ञान वस्तु का अनेकांत स्वरूप है। वस्तु किसी अपेक्षा नित्य किसी अपेक्षा अनित्य, किसी अपेक्षा एक किसी अपेक्षा अनेक, किसी अपेक्षा सत् किसी अपेक्षा असत्है। कभी वस्तु का नाश नहीं होता है इस अपेक्षा नित्य है, अवस्थाओं का परिणमन उत्पाद-व्यय रूप होता है इस अपेक्षा वस्तु अनित्य है, वस्तु अनेक गुणों का अखण्ड पिंड है इस अपेक्षा एक रूप है। सर्व गुण वस्तु में सर्वत्र व्यापक हैं इस अपेक्षा वस्तु अनेक रूप है। वस्तु अपने स्वभाव की अपेक्षा सत् है, उसमें पर के स्वभावों का अभाव है इसलिये असत् है। ऐसा होते हुए भी जो धर्म एकांत ही माने, नित्य ही माने, अनित्य ही माने, एक रूप ही माने या अनेक रूप ही माने इत्यादि मान्यता को सत्य नहीं कहा जा सकता। वह कुधर्म एकांत ज्ञान का पोषक है। अथवा परमात्मा कृतकृत्य सर्वज्ञ वीतरागी है ऐसा कहते हुए भी इसको जगत का निर्माता व जगत का संहारकर्ता व दुःख-सुख का दाता कहना प्रगट अयथार्थ ज्ञान है। जो नित्य आनन्दरूप कृतकृत्य होगा वह संसार की रचना करने व बिगाडने में अपने को नहीं फँसा सकता है। यह सब मिथ्याज्ञान का प्रकार है। संसार में जितनी कर्म जनित अवस्थाएँ हैं वे अनित्य हैं, नित्य मात्र एक निर्वाण है, जहाँ से फिर कभी आत्मा का पतन नहीं होता है। ऐसा होते हुए भी अनित्य ऐसा जो स्वर्गवास व भोगों का समागम आदि उसको नित्य कहना, यह सब कुधर्म है। जो ऐसे धर्म के श्रद्धावान हैं वे पत्थर की नौका में चढते हुए संसार में डूबते हैं, वे पार नहीं पा सकते हैं।**

॥ श्लोक ९४ ॥

कुगुरुं अधर्मं प्रोक्तं, कुलिंगी अधर्मे स्थितं।
मान्यते अभव्य जीवेन, संसारे दुक्खकारणं॥

अन्वयार्थ – (कुगुरु) कुगुरु के (प्रोक्त) कहे गये (अधर्म) अधर्म को व (अधर्मे) कुधर्म में (स्थित) चलनेवाले (कुलिगी) मिथ्याभेषी साधु को (अभव्य जीवेन) अभव्य जीव (मान्यते) श्रद्धान करके पूजता है। यह मान्यता (ससारे) इस संसार में (दुक्खकारण) दुःखों का कारण है।

विशेषार्थ – यहाँ अभव्य जीव से प्रयोजन उस जीव की तरफ है जो मूढ बुद्धि है, संसार की रूचि वाला है, विषय-कषायों का प्रेमी है, ऐसा जीव ऐसे ही धर्म को चाहता है जिससे अपना लौकिक प्रयोजन सिद्ध हो सके। धन-पुत्रादि की वृद्धि हो, जगत में यश हो, विषय-भोगों के कारणभूत पदार्थों का सम्बन्ध हो उसे आत्मानुभवरूप शुद्ध धर्म नहीं रुचता है। इसलिये ऐसा मूढ प्राणी असत्य धर्म की व ऐसे अधर्म के उपदेशदाता कुलिंगी गुरु की श्रद्धा कर लेता है और बड़ी भक्ति से उनकी आराधना करता है, जिससे पाप बांधकर संसार में उस पाप का फल दुःख भोगता है। जगत में देखा जावे तो करोडों प्रकार के देवी-देवताओं का स्थापन कुलिगी गुरुओं ने नाना नामों से कर रखा है। उनके द्वारा नाना प्रकार के लौकिक फलों के पाने का लोभ दिया जाता है। मूर्ख प्राणी उस लाभ की आशा से कि हमारे लौकिक स्वार्थ सिद्ध होंगे, उन स्थापनाओं की बडी भक्ति करते हैं। व उनके उपदेश दाताओं की बड़े भाव से प्रतिष्ठा करते हैं। दूर-दूर देशांतर से इसी लोभ में आते हैं। बडा भारी परिश्रम उठाते हैं। संसार की कामना में फँसे हुए संसार की ही सेवा करते हुए वे अपने संसार को बढ़ा लेते हैं, और कुगति में जाकर दुःख उठाते हैं।

॥ श्लोक ९५ ॥

अधर्मं लक्षणश्चैव, अनृतं असत्यं श्रुतं।
उत्साहं सहितं हिंसा, हिंसानंदी जिनागमे॥

अन्वयार्थ – (जिनागमे) श्री जिन-आगम में (अधर्म) कुधर्म का (लक्षणश्चैव) लक्षण यही कहा है जो (अनृत) मिथ्यात्वरूप हो (असत्य श्रुत) असत्य शास्त्र प्रतिपादित हों (उत्साह सहित हिसा) जिसमें उत्साह सहित हिंसा की पुष्टि हो अर्थात् (हिसानदी) जो हिसा में आनन्द माननेवाला हो।

विशेषार्थ – कुधर्म का स्वरूप यही जैन शास्त्र में कहा है कि जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्याचारित्ररूप हो। आत्मा और अनात्मा का न जिसमें सच्चा श्रद्धान हो, और न सच्चा ज्ञान हो। तथा जो अहिंसा के स्थान में हिंसा को पुष्टि करता हो।जहाँ हिंसा के होने में धर्म मानकर आनन्द मनाया जाता हो वह सब कुधर्म है।

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में स्वामी समन्तभद्र कहते हैं –

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु.। यदीय प्रत्यनीकानि भवति भवपद्धतिः॥१-२॥

भावार्थ – सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को तीर्थंकरों ने धर्म कहा है तथा इनके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को कुधर्म या अधर्म कहा है क्योंकि ये ही संसार की परिपाटी को बढ़ानेवाले हैं।

सर्वज्ञ-वीतराग को देव मानना, परिग्रह-आरम्भ रहित ज्ञान-ध्यान में लीन निर्ग्रंथ साधु को गुरु मानना, आत्मोन्नति कारक अहिंसामय धर्म को धर्म मानना जब सम्यग्दर्शन है तब इनसे विरोध रूप राग-द्वेष सहित अल्पज्ञानी को देव, परिग्रहधारी संसारासक्त साधु को गुरु, आत्मा के राग-द्वेषवर्द्धक व हिंसापोषक मत को धर्म मानना मिथ्यादर्शन है। जीवादि सात तत्वों का सच्चा श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, तब उनसे विपरीत तत्वों में श्रद्धान करना मिथ्यादर्शन है। आत्मा के अशुद्ध होने व उसके शुद्ध होने का उपाय इन सात तत्वों में भलेप्रकार बताया है। इनको न जानकर और का और तत्व का श्रद्धान मिथ्यादर्शन है। देव-गुरु-धर्म तथा सात तत्वों को यथार्थ न जानना मिथ्याज्ञान है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रहमचर्य और परिग्रहत्याग – इन महाव्रतों के विरुद्ध हिंसादि पोषक जो कुछ भी चारित्र है वह मिथ्याचारित्र है। निश्चयनय से शुद्धात्मानुभवरूप परिणति धर्म है। इसके विपरीत जो परिणति है वह कुधर्म है। इसतरह कुधर्म को हानिकारक व संसारवर्द्धक जानकर श्री सर्वज्ञ-वीतराग भगवान द्वारा प्रणीत धर्म में दृढ़ श्रद्धान रखना चाहिये। यही श्रावक का मुख्य कर्तव्य है।

॥ श्लोक ९६ ॥

हिंसानंदी मृषानंदी, स्तेयानंद अबंभयं।
रौद्रध्यानं च संपूर्णं, अधर्मं दुःखदारुणं॥

अन्वयार्थ – (हिंसानंदी) जो हिंसा में आनंद माननेवाला हो (मृषानंदी) जो मिथ्यावाद में व मिथ्या तत्वों में रंजायमान होनेवाला हो (स्तेयानंद) जो चोरी में आनंद माननेवाला हो (अबंभयं) जो अब्रह्म या कुशील पोषक हो (रौद्रध्यानं च संपूर्णं) ऐसे रौद्रध्यान से पूर्ण हो, वह (दुःखदारुणं) घोर दुःख देनेवाला (अधर्मं) अधर्म है।

विशेषार्थ – चार प्रकार का रौद्रध्यान जिस धर्म में भरा हो तथा जिसके पालने से चार प्रकार का रौद्रध्यान हो वह अधर्म है क्योंकि रौद्रध्यान नरकगति के बंध का कारण है। धर्म वह है जो उत्तम सुख में धारण करे। अन्य शास्त्रों में चौथा रौद्रध्यान परिग्रहानंद है जब कि यहाँ अब्रह्मचर्य को कहा है तो भी हम कोई बाधा नहीं है क्योंकि अब्रह्म के निमित्त से ही धनादि स्त्री आदि पदार्थों का मुख्यता से संग्रह किया जाता है। धर्म वही है जहाँ शांत भाव हो सकें। जहां शुद्धात्मा पर लक्ष्य रखते हुए पूजा-पाठ-जप-तप-आराधन होगा वहीं शांत भाव प्राप्त होगा। रौद्रध्यान में शांत भाव नहीं हो

सकता। हिंसा करने, कराने व उसकी अनुमोदना में आनन्द मानना हिंसानंद है। मिथ्या कहने, कहलाने व उसकी अनुमोदना में आनंद मानना मृषानंद है। चोरी करने, कराने व उसकी अनुमोदना में आनंद मानना स्तेयानंद है। ब्रह्मचर्य के घात करने, कराने व अनुमोदना में आनंद मानना व परिग्रह के संग्रह करने, कराने व अनुमोदना में आनंद मानना परिग्रहानंद रौद्रध्यान है। जिस धर्म का उपदेश रौद्रध्यान की पुष्टि करता हो वह कभी धर्म नहीं हो सकता है। जैसे श्रृंगार करने में, युद्धादि क्रिया दिखाने में, पशु-बलि करने में, जल-स्नान करने में, राग-द्वेषवर्द्धक आकारों को पूजने में, रात्रि को आहार करने में, कंदमूल खाने में, संसारासक्त परिग्रहधारी विषयलम्पटी महतों को दान देने में, वेश्या-नृत्य कराने में, जुआ खेलने में, वृक्षादि पूजने में, हाथी-घोड़ा आदि के दान करने में, जो प्रेरक होकर इनको ही धर्म बतावे वह कुधर्म है। जहाँ विषयों की पुष्टि हो, राग बढ़ाया जावे, मानादि कषाय-पोषण किया जावे, पर को कष्ट देकर धर्म माना जावे वह सब अधर्म है, पापवर्द्धक है। उसके फल से जीव को संसार में घोर दुःख सहना होगा।

॥ श्लोक ९७ ॥

आरति रौद्रसंजुक्तं, धर्मं अधर्मं प्रोक्तं।
रागादि भावसंपूर्णं, अधर्मं संसारभाजनं॥

अन्वयार्थ – (आरति रौद्र संजुक्त) **आर्त्त और रौद्रध्यान सहित** (धर्म) **धर्म को** (अधर्म) **अधर्म** (प्रोक्तं) **कहा है।** (रागादि भाव संपूर्ण) **राग-द्वेषादि भावों से पूर्ण** (अधर्मं) **अधर्म** (संसार भाजन) **संसार का भ्रमण कराने वाला है।**

विशेषार्थ – **रौद्रध्यान पहले चार प्रकार का कह चुके हैं।** आर्तध्यान भी चार प्रकार का है। **इष्ट के वियोग होने की बार-बार चिन्ता करना** इष्ट वियोगज आर्तध्यान है। **अनिष्ट के संयोग होने पर उसके वियोग की बार-बार चिंता करना** अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है। **शरीर में पीडा होने पर उसके कारण घोर क्लेश का विचार करते रहना** पीडा चिंतवन आर्तध्यान है। **आगामी भोगों की इच्छा करके मन में निरन्तर भावना करनी** निदान आर्तध्यान है। **जिस धर्म में ऐसे आर्तध्यान का व रौद्रध्यान का समावेश हो वह अधर्म है। कोई-कोई धर्मवाले मरण प्राप्त किसी पिछले बड़े पुरुष की याद करके छाती कूटते व रोते पीटते हैं, उसमें धर्म मानते हैं। कोई मृगया (शिकार) करने में धर्म मानते हैं, कोई रोगादि से पीडित होने पर उसके लिये चिंतित रहकर देवी-दिहाडी पूजने से रोग दूर होगा व उसके सामने रोने से वह दया कर देगी ऐसा मानते हुए धर्माचरण समझते हैं। कोई नाना प्रकार की सांसारिक चाह करके पूजा-दानादि करने में ही धर्म जानते हैं। कोई हास्य-ठट्ठा करने में, दुर्वचन**

बोलने में, होली जलाने में, कुचेष्टा करने में धर्म मान लेते हैं। कोई परिग्रहधारी महंत को विशेष धन देने में ही धर्म जानते हैं इत्यादि। जगत में वे सब क्रियाएँ जिनसे आर्तध्यान व रौद्रध्यान थोडा या बहुत आता है या राग-द्वेषादि भावों की वृद्धि होती हो वह सब कुधर्म है, संसार का बढानेवाला है। धर्म तो मात्र एक वीतराग-विज्ञानमय शुद्ध आत्मा का भाव है या शुद्ध आत्मा की ओर उपयोग को ले जानेवाली पूजा, पाठ, जप, तप आदि क्रियाएँ हैं। श्री पद्मनंद मुनि ने धम्मरसायण में कहा है –

जत्थ वहो जीवाणं भासिज्जइ जत्थ अलियवयण च।
जत्थ परदव्वहरणं सेविज्जइ जत्थ परयाणं॥१५॥
बहुआरभपरिग्गहगहणं संतोसवज्जियं जत्थ।
पंचुंबरमहुमांसं भक्खिज्जइ जत्थ धम्मम्मि॥१६॥
डांभेज्जइ जत्थ जणो पिज्जइ मज्ज च जत्थ बहुदोसं।
इच्छंति सो वि धम्मो केइ य अण्णाणिणो पुरिसा॥१७॥
जइ एरिसो वि धम्मो तो पुण सो केरिसो हवे पावो।
जइ एरिसेण सग्गो तो णरयं गम्मए केण॥१८॥
जो एरिसियं धम्मं किज्जइ इच्छेइ सोक्ख भुंजेऊं।
वावित्ता णिंबतरुं सो इच्छइ अंबफल्लाइं॥१९॥

भावार्थ – जिस धर्म में पशुओं का व मानवों का व अन्य जंतुओं का वध हो, जहां मृषा कटुक हास्यादि वचन कहा जाय, जहां परद्रव्य को हरण किया जाय व परस्त्री का सेवन किया जाय, जहां बहुत आरम्भ व परिग्रह की वृद्धि हो, जहां सन्तोष का नाश हो, जहां मधु व मांस खाने में व पीपल, वड, गूलर, पाकर, अंजीर ऐसे जंतु सहित फलों के खाने में धर्म माना जावे, जहां मानवों को ठगा जावे, जहां मदिरा पीने में धर्म माना जावे, वहां अज्ञानी पुरुष ही धर्म मानते हैं। जो यह सब भी धर्म हो जावे तो पाप किस को कहना। जो ऐसे धर्म से स्वर्ग जावे तो नरक में किससे जायगा? जो ऐसे धर्म करके सुख चाहते हैं वे नीम का वृक्ष बोकर आमफल खाना चाहते हैं।

॥चार विकथा का स्वरूप ॥

॥ श्लोक ९८ ॥

विकहा राग सम्बन्धं, विषय कषायं सदा।
अनृतं राग आनन्दं, धर्मञ्चाधर्ममुच्यते॥

अन्वयार्थ – (धर्मं च) **जो धर्म** (विकहा राग सम्बन्ध) **विकथाओं के राग से सम्बन्ध रखता है व** (सदा) **हमेशा** (विषय कषाय) **विषय व कषाय को बढाता है** (अनृत राग आनन्दं) **मिथ्यात्व के राग में आनन्द मानता है सो** (धर्म च अधर्मं) **धर्म अधर्म** (उच्यते) **कहा जाता है।**

विशेषार्थ – **मोक्षमार्ग से विमुख करनेवाली व संसार के भ्रम-जाल में फँसानेवाली कथाओं को** विकथा **कहते हैं। वे चार हैं – स्त्री कथा, भोजन कथा, देश कथा या चोर कथा, तथा राजकथा। स्त्रियों के हाव-भाव विलास, लावण्य व उनके विषय भोग की कथा जिसके सुनने से काम-भाव की तीव्रता बढ जावे सो** स्त्री कथा **है। आहार के रसों की मनोज्ञता की कथा। कौन-कौनसा भोजन कैसा-कैसा स्वाद युक्त होता है व किसतरह प्राप्त होता है या बनता है इसकी कथा इसतरह करना जिससे भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार भी जाता रहे और आहार के भीतर लालसा बढ जावे सो** भोजन कथा **है। अब्रह्म के सिवाय चार इंद्रियों के भोग की कथा भी आहार कथा में गर्भित है। देश में क्या-क्या सुन्दरता है, किसतरह सुन्दर सडकें व मकान व गली आदि बनती हैं, कौनसा देश बडा सुहावना देखने योग्य खेलकूद, तमाशे से भरा हैं, कौनसा देश विषय-भोग की सामग्री आदि से भरपूर है, ऐसी कथा इसतरह करना जिससे कहनेवाले-सुननेवाले के परिणाम में देशदर्शन का राग बढ जावे या चोरों की ऐसी कथाएँ करना जिसके सुनने से चोरों से भय पैदा हो जावे सो सब** देशकथा **या** चोर कथा **है। राजाओं के धन, सम्पदा, सेना, स्त्री आदि की, उपवन आदि की, आभूषण आदि की, ऐसी कथा करना जिससे** राज्यभोग में **तृष्णा बढ जावे सो सब** राज कथा **है। जिस धर्म के वर्णन से व पालन से इन कथाओं से राग बढ जावे, सो कुधर्म है। कहीं-कहीं धर्म के नाम से सैकडों मिठाइयाँ बनाकर खान-पान कर, नाच-कूद करा कर, अतर-फुलेल, गुलाल-अबीर लगा कर, भांग आदि नशों का पान कर, हमने धर्म साधा ऐसा समझ लेते हैं, सो सब संसार-रागवर्द्धक अधर्म है। जिन-जिन धर्म की क्रियाओं से इंद्रियों का संयम न रखकर इंद्रियों में लीनता हो, क्रोधादि कषाय दमन न होकर उनकी वृद्धि हो वह धर्म सब अधर्म है। जिस धर्म से मिथ्यात्व का राग बढ जावे व मिथ्यात्व में आनन्द मनाया जावे जैसे कुदेवों की व कुगुरुओं की भक्ति में धनादि खर्च करके ही आनन्द मनाया जावे सो सब अधर्म कहा जाता है।**

॥ श्लोक ९९ ॥

विकहा प्रमाणं असुहं, नंदितं असुहभावना।
ममता कामरूपेण, कथितं वर्णविशेषितं॥

अन्वयार्थ – (विकहा प्रमाणं) **विकहा सम्बन्धी जो ज्ञान है वह** (असुहं) **अशुभ है।** (नंदितं)

विकथाओं में आनन्द मानना (असुहभावना) अशुभ भावना है। (कामरूपेण) भोगों की इच्छा के रूप से (वर्णविशेषितं) अनेक तरह के भेदों की या वर्णन की विशेषता से (कथितं) विकथाओं का कहना (ममता) उनमें ममता बढा लेना है।

विशेषार्थ – ऊपर लिखित चार विकथाओं को विकथा रूप से कहने व विचारने की कला अशुभ विद्या है। बहुतों को कहानी, किस्से, उपन्यास रचने की एक खास चतुराई या विद्या आती है जिससे वे बड़ी मनोरंजक कथाएँ, व नाटक व खेल, व गान व उपन्यास बनाते हैं, जिनके पढने, सुनने, देखने से वैरागी का मन भी रागी हो जावे सो सब अशुभ प्रमाण या ज्ञान है। विकथाओं को बनाकर, पढकर, सुनकर आनन्द मानते रहना अशुभ भावना है, अशुभ उपयोग है, जो पाप का बंध करनेवाला है। जिनको पढकर या सुनकर काम-भोग की इच्छा बढ जावे, पाँचो इंद्रियों की तृष्णा अधिक हो जावे, इसतरह से उन विकथाओं को मनोरंजक बनाकर नाना प्रकार के रसों से भरकर कथन करना विकथाओं में ममता बढाकर विषय-कषायों में ममत्व बढानेवाला है। जिस धर्म के भीतर ऐसी विकथाओं की प्ररूपणा हो उन कथाओं को कह-सुनकर रंजायमानपना किया जाता है वह धर्म संसार-राग बढाने के कारण अधर्म है।

॥ श्लोक १०० ॥

स्त्रियः कामरूपेण, कथितं वर्णविशेषितं ।
ते नरा नरयं यांति, धर्मरत्नं विलोपितं ॥

अन्वयार्थ - (वर्णविशेषित) अनेक तरह के वर्णन की विशेषता से (कथितं) जिनका कथन हो सके ऐसी (स्त्रियः) स्त्रियाँ होती हैं (कामरूपेण) जिनके निमित्त से कामभाव की प्राप्ति हो जाती है। जो मानव इन स्त्रियों की कथाओं में रंजायमान हो जाते हैं वे कामभाव को बढ़ाकर (धर्मरत्न) धर्मरत्न को (विलोपित) गमा बैठते हैं और (ते नरा) वे मानव (नरयं) नरक को (याति) जाते हैं।

विशेषार्थ - यहाँ स्त्री कथा का मुख्यता से वर्णन है। स्त्रियों के रूपों का व उनके चरित्र का अनेक तरह से ऐसा वर्णन किया जा सकता है जिससे कामभाव का उद्वेग बढ जाता है। उस उद्वेग से आकुलित हो अज्ञानी प्राणी स्वस्त्री-परस्त्री का विचार छोडकर अनेक तरह से काम-भोग में फँस जाते हैं। धर्म के सच्चे उपदेश को भूल जाते हैं, धर्म रत्न को खो बैठते हैं और पापों में फँसकर नरक चले जाते हैं। रावण सीताजी के राग के कारण राज्यपाट खोकर अपने वंश को नष्ट कराकर घोर अपमान पाकर अंत में नरक का पात्र हो जाता है। स्त्रियों के मोह में स्त्री कथा से अंधपना आ जाता है। जिस धर्म की पुस्तकों में ऐसी स्त्रीराग बढानेवाली मनोहर कथाओं का संग्रह हो व ऐसी लीलाएँ

बताई हों जिससे महापुरुषों को भी परस्त्री भोग करने का दोष लगाया हो सो धर्म कुधर्म ही है, आत्मा को संसार-सागर में डुबोनेवाला है।

॥ श्लोक १०१ ॥

राज्यं रागं उत्पादी, ममतां गारवस्थितं ।
रौद्रध्यानस्य आनन्दं, राज्यं वर्णविशेषितां ॥

अन्वयार्थ – (गारवस्थित) **गौरव में स्थित** (राज्यं) **राज्य** (रागं) **राग को व** (ममता) **ममत्व को** (उत्पादी) **पैदा करनेवाला है,** (राज्य वर्णविशेषित) **अनेक तरह के वर्णन की विशेषता से राज्य का कथन करना** (रोद्रध्यानस्य) **रौद्रध्यान का** (आनन्द) **आनन्द बढ़ानेवाला है।**

विशेषार्थ-यहां राज्य कथा, देश कथा या चोर कथा की तरफ लक्ष्य दिया है। जिस देश में गौरवपना हो, ऐश्वर्य हो, धन-धान्य से पूर्णता हो व जो देश सुन्दर स्त्रियों से भरपूर हो, सुन्दर गाने-बजाने नाच-कूद से पूर्ण हो, खेल-तमाशों का घर हो, ऐसा राज्य वास्तव में अज्ञानी प्राणियों को राग व ममता का बढानेवाला होता है। वे ऐसे देश में व राज्य में जाना चाहते हैं, सैर करना चाहते हैं। धर्म कार्य की हानि करके भी उनकी बुद्धि देश की सुन्दरता को देखने के लिये लालायित हो जाती है। ऐसे देश की कथा नाना प्रकार मनोज्ञ वर्णन के साथ करना, सुननेवाले के परिणाम में परिग्रहानन्द व हिंसानन्द व मृषानन्द आदि रौद्रध्यान को उत्पन्न कर देती है। जिस धर्म की पुस्तकों में ऐसी राग बढानेवाली देश या राज्यों की कथा हों जिसके सुनने से मन राज्य या देश लोभी बन जावे, राज्य-सम्पदा को चाहे, निर्वाण के अनुपम राज्य से विमुख होकर संसार के मायाजाल की अभिलाषा करने लग जावे – ऐसा धर्म जीवों का बुरा करनेवाला है तथा कुधर्म है।

॥ श्लोक १०२ ॥

हिंसानंदी च राज्यं च, अनृतानंद अशाश्वतं ।
कथितं असुहभावेन, संसारे भ्रमनं सदा ॥

अन्वयार्थ – (असुहभावेन) **अशुभ भावों के द्वारा** (अशाश्वतं) **क्षणभंगुर** (राज्यं) **राज्य की** (कथितं) **कथा करना** (हिंसानंदी) **हिंसानंदी** (च) **तथा** (अनृतानंद) **मृषानंदी रौद्रध्यान है** (च) **और** (सदा) **सदा ही** (संसारे) **संसार में** (भ्रमनं) **भ्रमण करनेवाला है।**

विशेषार्थ - **वास्तव में राज्य सम्पदा सब नाशवंत है, आज किसी के पास है कल नहीं है, इसका**

स्वामित्व कुछ काल के लिये हो सकता है। कोई मनुष्य सदा जीवित रहकर राज्य का भोग नहीं कर सकता। ऐसे विनाशीक राज्य में लुभानेवाली कथा इस भाव से करना कि सुननेवालों का मन रंजायमान हो, विकथा है। राज्य का वर्णन करते हुए युद्धादि का वर्णन आता है। राजाओं के कपट व मिथ्या वचन व मिथ्या आचरण का भी वर्णन आता है। ऐसी कथा सुनी जाने पर सुननेवालों का मन अनुमोदना करता हुआ हिंसानन्द व मृषानन्द रौद्रध्यान में फँस जाता है। यदि देश या राज्य की कथा पुण्य का फल दिखलाने के लिये व वैराग्य उत्पन्न करने के लिये की जावे, व राज्यभोग के दोषों को बताने के लिये की जावे व परोपकार के हेतु से की जावे, परिणामों में देश-सेवा के भाव को उत्पन्न करने के लिये की जावे तो व अशुभ भाव से नहीं की गई है किंतु शुभ भाव से की गई है इसलिये ऐसी राज्य कथा व देश कथा हिंसानंद व मृषानंद ध्यान न पैदा करके परोपकार भाव व प्रजा को पीड़ा से छुड़ाने का भाव पैदा करनेवाली होगी। परंतु अशुभ भाव से की गई राज्य कथा परिणामों में चारों ही प्रकार का रौद्रध्यान पैदा कर देगी। उस राग में फँसा हुआ प्राणी अशुभ कर्म बाँधकर नरक-निगोद का पात्र होकर संसार में दीर्घकाल घुमनेवाला हो जायेगा। जिस धर्म में ऐसी विकथा की पुष्टि है, वह कुधर्म है।

॥ श्लोक १०३-१०४ ॥

भयस्य भयभीतस्य, अनृतं दुखभाजनं ।
भावः विकलितं याति, धर्मरत्नं न दिष्टते ॥
चौरस्य उत्पाद्यते भावः, अनर्थं सो संगीयते ।
तिष्ठते अशुद्ध परिणामं, धर्मभाव न दिष्टते ॥

अन्वयार्थ – (भयभीतस्य) भय से डरे हुए मानव को (भयस्य) भय देनेवाला (अनृतं) मिथ्या वचन (दुखभाजनं) दुःख का बढ़ानेवाला होता है। (भावः) भाव (विकलितं) आकुलित (याति) हो जाता है, (धर्मरत्नं) धर्मरूपी रत्न (न दिष्टते) नहीं दिखलाई पड़ता है। (चौरस्य भावः) चोर सम्बन्धी भाव (उत्पाद्यते) उत्पन्न कराया जाता है (सो) वह (अनर्थ) व्यर्थ (सगीयते) कहा गया है। (अशुद्धपरिणामं) जिससे मलीन भाव (तिष्ठते) स्थिर हो जाता है, (धर्मभावं) धर्मभाव (न दिष्टते) नहीं दिखलाई पड़ता है।

विशेषार्थ-यहाँ चोर कथा की ओर लक्ष्य देकर कहा गया है कि चोरों की कथाएँ भयभीत प्राणी को और भी अधिक भय में डालनेवाली हो जाती हैं। साधारण रूप में सर्व प्राणियों को अपनी सम्पत्ति के सम्बन्ध में यह भय लगा रहता है कि कहीं कोई चोर न ले जावे। और जब उनको ऐसी

विकथाएँ सुनने को मिलें जिनमें चोरों ने माल चुराया हो तब उनके मन में भय अधिक हो जाता है। यह चोर कथा यद्यपि सच्ची भी हो तो भी इसे मिथ्या कहा गया है। क्योंकि जो वचन अहितकारी हो, दुःख का बढ़ानेवाला हो, कषाय की वृद्धि करता हो, वह सत्य होने पर भी निरर्थक है, इसलिये मिथ्या है। जैसे किसी के पुत्र का वियोग हो गया है। इसे कुछ काल बीत गया है फिर भी किसी ने उसके पुत्र की स्मृति इन शब्दों में करा दी जिससे उसके भीतर शोक उमड़ आये तो उसका यह सत्य वचन भी मिथ्या ही है क्योंकि वृथा ही परिणाम विचलित व विह्वल करानेवाला यह वचन हो गया। श्री पुरुषार्थसिद्धयुपाय में श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने अप्रिय वचन को मिथ्या वचन में गिना है और उसका लक्षण यह बताया है-

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरं। यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेय ॥९८॥

भावार्थ - जो वचन दूसरे के मन में अरति भाव पैदा कर दें, उसे कुछ सुहाये नहीं – ऐसा उदास भाव कर दें, भय को बढ़ा दे, वैर भाव किसी की तरफ उत्पन्न कर दे, शोक में डाल दे, लड़ाई-झगड़ा करा दे या और किसी तरह का दुःख पैदा करा दे वह सर्व वचन अप्रिय जानना योग्य है। इसीलिये चोरों की कथा वृथा ही डरानेवाली होती है, परिणामों में मलीनता व घबड़ाहट आ जाती है तब शुद्ध आत्मीक भाव रूपी रत्न नहीं सूझता है, धार्मिक भाव नहीं दिखलाई पड़ता है। परिग्रह में ममता ही भय के उपजने का कारण है। यह चोर कथा परिग्रह की ममता के साथ-साथ भय को बढ़ा देती है। उससमय यह सम्यक्त्व भाव नहीं रहता है कि "मेरा परिग्रह नहीं है, यह सब पर है, छूटनेवाला है, मेरी आत्मीक ज्ञान-दर्शन सम्पदा ही मेरी है"।

इसी कारण यह चोर कथा विकथा है, अनर्थकारी है तथा धर्मरूप न होकर कुधर्म है।

॥ श्लोक १०५ ॥

चौरस्य भावना दिष्टा, आरति रौद्र संयुतं।
स्तेयानंद आनंदं, संसारे दुःखदारुणं ॥

अन्वयार्थ – (चौरस्य भावना) चोरी करने की भावना (आरति रौद्र संयुत) आर्त तथा रौद्रध्यान सहित (दिष्टा) चोर कथा के कारण दिखलाई पड़ती है। (स्तेयानंद) सो चौर्यानंद रौद्रध्यान में (आनंद) आनन्द मानना (संसारे) संसार में (दुःखदारुणं) भयानक दुःखों का देनेवाला है।

विशेषार्थ - चोरों की विकथा से सुनने-पढ़नेवालों के मन में चोरी करने की भावना इसकारण हो उठती है कि चोरी करने से जब प्रचुर धन का लाभ होना तथा उस धन से अन्याय के विषय भोग करना सुनाई देता है तब अज्ञानी के मन में यह भाव पैदा हो जाता है कि हम भी चोरी करके धन

संग्रह करें और मनमाने विषय भोग करें तो बहुत अच्छा है। इस भाव का फल यह होता है कि वह निदान नाम के आर्तध्यान में तथा हिंसानंदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी, परिग्रहानंदी चारों ही रौद्रध्यानों में उलझ जाता है। जब ऐसी भावना दृढ़ हो जाती है तब चोरी करने में प्रयत्न भी हो जाता है। इसतरह घोर पाप कमाकर संसार में घोर दुःखों को उठाता है। चोरी करना, कराना व उसकी अनुमोदना तीनों ही हिंसा के पाप में गर्भित हैं क्योंकि पर को पीड़ा पहुँचाने का विचार होता है इसलिये ऐसी विकथा न कभी करनी चाहिये और न कभी सुननी चाहिये।

॥ श्लोक १०६ ॥

चोरीकृतं व्रतधारेन, जिनउक्तं पद लोपनं ।
अशाश्वतं अनृतं प्रोक्तं, धर्मरत्न विलोपितं ॥

अन्वयार्थ – (व्रतधारेन) **व्रतों को धारते हुए** (चोरीकृतं) **जो चोरी की जावे वह** (जिन उक्तं पद) **जिनेन्द्र के कहे हुए वचनों का** (लोपनं) **लोप करना है, उसका ऐसा करना** (अशाश्वतं) **सनातन नहीं है,** (अनृतं) **मिथ्या है – ऐसा** (प्रोक्तं) **कहा गया है,** (धर्मरत्नं) **धर्मरूपी रत्न को** (विलोपित) **चुराना है।**

विशेषार्थ - **यहाँ पर उन लोगों को लक्ष्य में लेकर कहा गया है जो शास्त्र की आज्ञा को लोपकर शास्त्रानुसार व्रतों का नियम न लेकर मनमानी क्रिया पालते हैं तथा शास्त्राज्ञा को लोपकर शास्त्र के विरुद्ध आचरण करते हैं तो भी अपने को श्रावक व्रती या साधु महाव्रती कहते हैं – यह भी चोरी ही है क्योंकि जिनेन्द्र के कहे हुए वचनों को छिपाया जाता है। यह महान झूठ है तथा यह सनातन मार्ग से विपरीत है। जिस धर्मरत्न से आत्म-कल्याण होता उसको इसने चुरा लिया, छिपा लिया, अधर्म में फँस गया, धर्म का चोर बन गया। धर्मात्मा को उचित है कि वह शुद्ध मन से जितना आचरण अपने से पलता जावे उतना आचरण पालने की प्रतिज्ञा ले और शुद्ध मन से उतने आचरण को पाले। महाव्रती साधु होकर परिग्रह रखना, रुपया-पैसा रखना, खेती कराना, लेन-देन करना, वस्त्रादि रखना, पालकी पर चढ़ना आदि सब क्रिया मुनिधर्म का लोप करनेवाली हैं। ऐसी क्रियाओं को करते हुए अपने को साधुपद में कहना मुनिधर्म को लोप करके धर्म की चोरी करना है। श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं में जो-जो आचरण जिस-जिस प्रतिमा के योग्य है उसको भले प्रकार न पालकर और का और पालना व अपने को व्रती-श्रावक मानना धर्मरत्न को चुराना ही है। यहाँ यह प्रयोजन है कि हरएक प्राणी को शुद्ध मन से धर्माचरण शास्त्र की आज्ञानुसार यथार्थ पालना चाहिये जिससे जिनाज्ञा लोप का कोई दोष न लगे।**

॥ सात व्यसनों का स्वरूप ॥

॥ श्लोक १०७ ॥

विकहा अधर्म मूलस्य, व्यसनं अधर्म संस्थितं।
ये नरा भाव तिष्ठंते, दुःखदारुण पुनः पुनः ॥

अन्वयार्थ – (विकहा) **विकथा तो** (अधर्म मूलस्य) **अधर्म की मूल है।** (व्यसनं) **सात व्यसन** (अधर्म संस्थित) **अधर्म का ठिकाना है।** (ये नरा) **जो मानव** (भाव) **अपने भावों में** (तिष्ठंते) **उन विकथाओं को तथा व्यसनों को धारते हैं, उनको** (पुनः पुनः) **बारंबार** (दुःख दारुण) **भयानक दुःखों की प्राप्ति होती है।**

विशेषार्थ – **चारों विकथाएँ प्राणियों के मन के भीतर अधर्म का बीज बो देती है। स्त्री कथा से कामी, भोजन कथा से जिव्हा लोलुपी, देश कथा से तथा राज्य कथा से हिंसानन्दी, परिग्रहानन्दी हो जाता है उसके मन के भीतर ऐसी दृढता हो जाती है – उसको ऐसी बुरी आदत पड जाती है कि फिर उसके भावों से व्यसन-सेवन की रुचि नहीं जाती है। व्यसन बुरी आदत को कहते हैं व व्यसन आपत्ति को भी कहते हैं। जिन बुरी आदतों से मानव आसक्त हो जावे व जिनके सेवन से इस लोक में धन हानि, यश हानि, शरीर हानि, धर्म हानि उठाता है, परलोक में तीव्र पाप बाँधकर नरक आदि के दुःख उठाता है सो भी एकबार नहीं बार-बार दुःखों को भुगतनेवाली पर्यायों मे जन्मना पड़ता है, ऐसे व्यसन सात हैं।**

दोहा – जूआ खेलन माँस मद, वेश्या व्यसन शिकार। चोरी पररमनी रमन, सातों व्यसन निवार ॥

भावार्थ-जूआ खेलना, माँस खाना, मदिरा पीना, **वेश्या सेवन, शिकार खेलना, चोरी करना, परस्त्री सेवन करना – ये सात व्यसन महान अन्याय रूप हैं। जो धर्म की प्राप्ति करना चाहें उनको यहाँ यह शिक्षा दी है कि स्त्री, भोजन, देश व राज्य की राग-द्वेष बढानेवाली कथाओं को कहें व सुने नहीं तथा वे इन सात व्यसनों की रुचि न पैदा करें। जो इनमें से एक भी व्यसन में फँस जाता है वह अपना जीवन बिगाड देता है। आत्मा की शुद्धोपयोग परिणति को धर्म कहते हैं। उस धर्म का लाभ व्यसनासक्त को अत्यन्त दुर्लभ है। अतएव हितैषी को इन सातों बुराइयों से अपने को बचाना चाहिये।**

॥ श्लोक १०८ ॥

जूआ अशुद्ध भावस्य, जोदृतं अनृत श्रुतं ।
परिणए आर्तिसंयुक्तं, जूआ नरयभाजनं ॥

अन्वयार्थ – (जूआ) **जूआ खेलना** (अशुद्ध भावस्य) **अशुद्ध भावों को** (जोदृतं) **उत्पन्न करनेवाला है,** (अनृतं) **मिथ्या** (श्रुतं) **वाणीरूप है** (आर्तिसंयुक्तं) **आर्तध्यान सहित** (परिणए) **परिणमित कर देता है।** (जूआ) **यह जूआ** (नरयभाजनं) **नरक में ले जानेवाला है।**

विशेषार्थ – **यहाँ पहले द्यूत व्यसन का कथन किया है कि सात व्यसनों का सरदार जुआ खेलना है। जुआरी के भावों में भारी अशुद्धता आ जाती है। वह तीव्र लोभ व माया के वशीभूत हो जाता है। मिथ्या व कठोर वचनों का प्रयोग भी जूए में हो जाता है। परिणामों में धन पाने की तीव्र लालसा हो जाती है। यदि धन हाथ से निकल जाता है तो उसके चले जाने की घोर चिंता दिल में आ जाती है। यदि कहीं जीत हो जाती है तो अभिमान बढ़ जाता है तथा और अधिक जूआ खेलने के भाव हो जाते हैं। जुआरी के भाव तीव्र तृष्णा में फँस जाते हैं। यदि आयुबंध का अवसर आ जावे तो उसको नरक आयु बाँधकर नरक जाना पड़ता है। जूए की धुन में जुआरी धर्म-कर्म न्याय-अन्याय सर्व भूल जाता है। हारता है तो धन कर्ज लेकर, गहना बेचकर फिर जूए में लगाता है। यदि जीतता है तो जीता हुआ धन शीघ्र ही न करने योग्य विषय भोगों में, मित्रों के व्यवहार में खर्च हो जाता है। जुआरी कुसंगति में पड़कर नशा पीने लग जाता है, माँस खाने लग जाता है, वेश्या व परस्त्रीगामी हो जाता है। शिकार की भी आदत पड़ जाती है, चोरी करने से ग्लानि चली जाती है, दूसरे छह व्यसन शीघ्र ही जुआरी के पास आ जाते हैं, जुआरी का मन न्याय पूर्वक आजीविका करने से हट जाता है, उसके धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष चारों ही पुरुषार्थ बिगड़ जाते हैं।**

श्री अमितगति आचार्य सुभाषित रत्नसंदोह में कहते हैं-

तावदत्र पुरुषा विवेकिनस्तावति प्रतिजनेषु पूज्यता ।
तावदुत्तमागुणा भवन्ति च यावदक्षरमणं न कुर्वते॥६२२॥
सत्यमस्यति करोत्यसत्यतां दुर्गतिं नयति हन्ति सद्गतिं ।
धर्ममत्ति वितनोति पातकं द्यूतमत्र कुरुते ऽथवा न किम्॥६२४॥

भावार्थ – **जबतक ये मानव जूआ नहीं खेलते हैं तबतक वे विवेकी होते हैं, तबतक ही जगत में उनकी पूज्यता होती है, तबतक ही उत्तम गुण उनमें वास करते हैं। यह जूआ सत्य से गिरा देता है, असत्य में फँसा देता है, सद्गति का नाशकर दुर्गति में पटक देता है, धर्म से परिणामों को हटा देता**

है, पाप का भाव फैला देता है। यह जूआ मानव का क्या बिगाड नहीं करता है? हरएक पुरुष को योग्य असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, विद्याकर्म – इन छह मार्गों से न्यायपूर्वक अपनी-अपनी योग्यता व स्थिति के अनुसार आजीविका करके गृहस्थी का पालन करना चाहिये। जूए के पैसे की बिलकुल भी चाह नहीं करना चाहिये। रुपये-पैसे की हार-जीत करके जूआ खेलना तो महा बुरा है ही। मात्र वचनों की हार-जीत का जूआ भी एक-एक समय का सदुपयोग करनेवाले विवेकी गृहस्थ को नहीं खेलना चाहिये। जो लोग ऐसा कहते हैं कि दिवाली में व अन्य किसी अवसर पर जूआ खेलना धर्म है, न खेलने से पाप होता है, वे वास्तव में अधर्म के प्रचार को कराकर मानवों को घोर पाप में फँसाने की शिक्षा देते हैं। वर्ष में एक दिन भी जूआ खेलना हानिकारक है। ऐसे लेन-देन जिनमें मात्र वचनों के द्वारा हजारों व सैकडों दाँव इधर-उधर हो जावें जूए के समान ही दुःखदाई हैं। वे प्राणी को घोर आकुलता में पटक देते हैं। शीघ्र ही मानव धनिक से कंगाल होकर कष्ट पाता है। ऐसे लेन-देन से कोई एक मानव कभी धन अधिक एकत्र कर पाता है किंतु अनेक अधिकतर हानि से बिलबिलाते हैं, वह अधिक धन पानेवाला भी कालांतर में धन गमाकर पछताता है। जिसमें नीतिपूर्वक थोडा लाभ व थोडी हानि हो कि जिसको सह सकता हो, आकुलता न हो ऐसा ही व्यापार व लेनदेन गृहस्थों को करना योग्य है।

वचनों की हार-जीत के फँदे में फँसे हुए मानव तास, चौपड़, शतरंज आदि खेल करते हुए दैनिक जीवन का अमूल्य समय घंटो नाश कर देते हैं। तथा हार के भय व जीत के तीव्र लोभ में पड़े हुए कषाय भावों से उतनी देरतक पापका ही बंध करते हैं। इस चाट का चटोरा धर्म-कर्म व खान-पान समय पर करना भूल जाता है। जीवन का समय अमूल्य है। उसे उपयोगी कामों में न लगाकर जूए आदि व्यसनों में लगाना अमृत को पैर धोने में खर्च कर देना है, जीवन के समय को वृथा नाश करना है। अतएव जो श्रावकों का आचार उत्तम प्रकार से पालना चाहें उनको हरतरह की हार-जीत का जूआ नहीं खेलना चाहिये। अशुद्ध भावों से अपना बिगाड नहीं करना चाहिये।

॥ श्लोक १०९ ॥

मांसं रौद्रस्य ध्यानस्य, सम्मूर्छन यत्र दिष्टते।
जलं कंदस्य मूलस्य, साकं सम्मूर्छनं तथा ॥

अन्वयार्थ – (मासं) **मॉंस खाना** (रौद्रस्य ध्यानस्य) **रौद्रध्यान का कारण है।** (यत्र) **जहाँ** (सम्मूर्छन) **सम्मूर्छन त्रस जंतु** (दिष्ठते) **दिखलाई पडते हैं।** (तथा) **उसीतरह** (जलं) **अनछना जल लेना** (कंदस्य) **कंद का खाना** (मूलस्य) **मूल का खाना** (साक) **अभक्ष्य शाकभाजी** (सन्मूर्छन) **तथा अन्य**

पदार्थ जिसमें सम्मूर्छन जंतु उत्पन्न हों, खाना है।

विशेषार्थ - यहाँ दूसरे व्यसन माँस खाने का निषेध किया गया है। माँस बहुधा पशुओं के घात से होता है। जो मांसाहारी होता है उसके दिल में पशु हिंसा से आनन्द भाव पैदा होता है। इसलिये उसके निरन्तर हिंसानन्दी रौद्रध्यान रहता है। दयावान प्राणी किसी भी तरह भूलकर भी माँस का ग्रहण नहीं करता है। जब जगत में अन्न, फल, दूध, घी, मेवा आदि माँस की अपेक्षा अधिक पौष्टिक पदार्थ मिलते हैं तब उनको ही खाकर जीवन यात्रा करना मानव का कर्तव्य है। प्राणीघातक माँस को लेकर तडपते हुए पशुओं की कसाईखानों में हिंसा कराना उचित नहीं है। मानव का मृतक शरीर जैसे अशुद्ध है वैसे ही पशु का मृतक शरीर अशुद्ध है। जैसे मुरदे के भीतर अंतर्मुहूर्त में अनगिनती मानव जाति के सम्मूर्छन जंतू पैदा होते हैं वैसे ही पशु माँस में पशु जाति के सम्मूर्छन जंतू पैदा होते हैं। यदि बिना मारे हुए भी माँस मिल जावे तो भी नहीं खाना चाहिये क्योंकि वह भी अनगिनती सम्मूर्छन पैदा होनेवाले त्रस जंतुओं का ढेर है। उसमें बार-बार अनेक जंतु पैदा होते हैं तथा मरते हैं। इसी कारण माँस की दुर्गंध कभी नहीं जाती।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में श्री अमृतचंद्र महाराज कहते हैं-

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु ।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम्॥ ६७॥
आमा वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम् ।
स निहन्ति सततनिचितं पिंडं बहुजीवकोटीनां॥ ६८॥

भावार्थ - कच्चे, पके हुए, पकते हुए माँस के टुकडों में निरंतर इसी जाति के सम्मूर्छन जंतुओं की उत्पत्ति होती रहती है -- जो कच्चे या पके माँस की डली को खाता है या छूता है सो कोटानुकोटि निरंतर एकत्र हुए जंतुओं की हिंसा करता है। सुभाषित में अमित गति आचार्य कहते हैं-

ये ऽन्नाशिनः स्थावरजंतुघातान्मांसाशिनो ये ऽत्र सजीवघातान् ।
दोषस्तयोः स्यात्परमाणुमेर्वोर्यथान्तरं बुद्धमतेतिवेद्यम् ॥५३०॥
अश्नाति यः संस्कुरुते निहन्ति ददाति गृहात्यनुमन्यते च ।
एते षडप्यत्र विनिन्दनीया भ्रमन्ति संसारवने निरंतरं ॥५३१॥

भावार्थ - जो कोई कहे कि अन्नादि फलादि खाने में भी तो स्थावर जीवों की हिंसा होती है उसका समाधान यह है। अन्नादि के व्यवहार में मात्र स्थावर जीवों की हिंसा होती है जब कि मांसाहार में त्रस जंतुओं की इतनी अधिक हिंसा है कि दोनों की हिंसा में परमाणु और मेरु पर्वत के समान अन्तर बुद्धिमान को जानना चाहिये। अधिक हिंसा से बचना ही बुद्धिमानी है। जो कोई माँस खाता है,

पकाता है, पशु को मारता है, दूसरे को देता है, हाथ में लेता है, व उस माँस खाने को अच्छा समझता है – ये छहों ही निंदनीय हैं। वे छहों ही पाप बांधकर निरन्तर संसार वन में भ्रमते हैं। यहाँ पर ग्रन्थकर्ताने श्रावकों को दूसरी वस्तुओं की तरफ भी ध्यान दिलाया है जिनमें माँस के बराबर दोष आता है उनमें एक जल भी है।

जल छानने की विधी – बिना छना हुआ पानी त्रस जंतुओं सहित है, उसमें निरंतर त्रस जीव पैदा होते हैं, इसलिये जल को दोहरे गाढे छन्ने से छानकर उसकी जिवानी जहाँ से भरा हो वहीं पहुँचा देनी चाहिये। ऐसा छना जल दो घडी या ४८ मिनिट तक काम में लेना चाहिये। फिर वह छानने लायक हो जाता है। पानी छानने के सम्बन्ध में दौलतरामजी क्रियाकोष में कहते हैं-

रंगे वस्त्र नहीं छानो नीरा, पहरे वस्त्र न गालो बीरा ॥२४४॥
नाहिं पातरे कपड़े गालो, गाढ़े वस्त्र गालि अघ टालो ।
रेजा दिढ़ अँगुल छत्तीसा, लम्बा अर चौड़ा चौबीसा ॥२४५॥
ताको दो पुडताकर छानो, याहि नातणाकी विधि जानो ।
जल छानत इक बूँदहिं धरती, मति डारहु भाषे महाबरती ॥२४६॥
एक बूँद में अगणित प्राणी, यह आज्ञा गावे जिनवाणी ।
गलना बिहुँटी धरि मत दावो, जीवदया को जतन धरावो ॥२४७॥
छाणे पानी बहुते भाई, जल गरणा धोवे चित लाई ।
जीवाणी को जतन करौ तुम, सावधान है विनवें क्या हम ॥२४८॥
राखहु जल कु किरिया सुद्धा, तब श्रावक व्रत लहो प्रबुद्धा ।
जा निवाण की ल्यावो वारी, ताही ठौर जिवाणी डारी ॥२४९॥
द्वै घटिका बीते जो जाको, अनछानाको दोष जुताको।
तिक्त कसाय मेलि किये फासु, ताहि अविरत कहें श्रुत भासु॥२५३॥
पहर दोय बीते जो भाई, अगणित त्रस जीवा उपजाई।
ड्योढ तथा पानै दो पहरा, आगे मति वरतो बुधि गहरा॥२५४॥
भोत उकाल उष्ण जल जो है, सात पहर ही लीनू सो है।
बीते वसु जाम जल उष्णा, त्रस भरिया इह है जु विष्णा॥२५५॥

भावार्थ – गाढे का नया छन्ना कम से कम ३६ अंगुल लंबा व २४ अंगुल चौडा लेकर दोहरा करके जल छाने। छानकर छने पानी से जीवानी एकत्र करके यातो उसी समय या फिर पानी भरते समय बर्तन में डालकर कूए में पहुँचा दें। यह पानी दो घड़ी चलता हैं। यदि कषायला द्रव्य लौंग,

इलायची, नमक, मिर्च आदि डालकर प्राशुक किया जाय, तो छह घंटे के भीतर-भीतर उपयोग कर लेवें, फिर त्रस जंतु पैदा हो जायेंगे। यदि उबाल लेवें तो ८ पहर या २४ घंटे पानी चलेगा उसके भीतर उपयोग कर ले, फिर त्रस जंतु पैदा हो जायेंगे। मात्र उबाला नहीं परंतु खूब उष्ण हो तो शाम तक चल सकता है ऐसा प्रसिद्ध है। श्रावक की क्रिया में छना पानी अति आवश्यक है। मर्यादा के भीतर का पानी नहीं पीने से बहु त्रस घात का दोष होता है। यदि बर्तन का मुँह बड़ा हो तो दोहरा करने-पर बर्तन के मुँह से तीन गुना कपड़ा होना चाहिये जिससे अनछना जल बर्तन में न पड़े। दयावानों को तो स्नान भी पानी छान कर करना चाहिये। पानी के छानने से अपने शरीर की भी रक्षा होती है। बहुत से महीन जंतु रोगों को पैदा कर देते हैं। जिस तालाब या कुए का पानी उपयोग मे नहीं आता है उसको छानकर उबालकर ही पीना उचित है जिससे शरीर में रोग न हो।

॥ कंदमूल के दोष ॥

कदमूल – जे फल भूमि के भीतर फलकर गड़े हुए निकलते हैं व जड़ आदि वृक्ष का धड़ जो जड़ से मिला हो सो सब कंदमूल में हैं। जैसे आलु, सुरण, घुइयां, शकरकंदी, मूली, गाजर, अदरक आदि। इन सबमें यद्यपि त्रस जंतु का घात नहीं है, परंतु अनंत एकेंद्रिय स्थावर जीवों का घात हो जाता है। यहाँ ग्रंथकर्ता ने उनकी हिंसा का दोष त्रस हिंसा के समान गिनकर माँस के दोषों में गिनाकर उनको भक्षण करने के लिए मना किया है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं –

एकमपि प्रजिघांसुः निहन्त्यनन्तान्यतस्ततो ऽवश्यम् ।
करणीयमशेषाणा परिहरणमनन्तकायानाम् ॥१६२॥

भावार्थ – जिस एक को घात करने से अनंत स्थावर जीवों का घात होता है इसलिये अनन्तकाय वाली साधारण वनस्पतियों को सर्व प्रकार त्याग कर देना चाहिये। कंदमूल प्रायः इस दोष में है, अतः त्यागना ही उचित है।

॥ शाक व फूल का दोष ॥

शाक – शाक-भाजी पत्ती-पत्तेवाली का भी यहां मना किया है.उसमें भी साधारण वनस्पति का सम्बन्ध विशेष रहता हैं तथा प्रायः छोटे-छोटे त्रस जीव भी बैठे रहते हैं। तथा फूलों में भी यही बात है इसीलिये दौलतरामजी कहते हैं –

पत्र फूल कन्दादि भखें जे, साधारण फल मूढ चखे जे।
ते नहिं जानो जैनी भाई, जीभलम्पटी दुर्गति जाई॥२०३॥

इसी तरह और भी वे पदार्थ जिनमे सम्मूर्छन त्रस जंतु पैदा हों, खाना उचित नहीं है। उनको आगे कुछ कहते हैं –

॥ सम्मूर्छन त्रस जन्तु के उत्पन्न होने का कारण ॥

॥ श्लोक ११० ॥

स्वादं विचलितं यस्य, सम्मूर्छन तस्य उच्यते।
ये नरा तस्य भुक्तं च, तिर्यञ्चाः नर संति ते॥

अन्वयार्थ – (यस्य) **जिस भोजन या फल या रस का** (स्वादं) **स्वाद** (विचलितं) **बिगड़ जावे,** (तस्य) **उसके भीतर** (सम्मूर्छन) **सम्मुर्छन त्रस पैदा होने लगते हैं** – ऐसा (उच्यते) **कहा जाता है।** (ये नरा) **जो मानव** (तस्य भुक्तं) **ऐसी वस्तु को खाते हैं**, (ते नर) **वे मानव** (तिर्यंचाः) **पशु समान अविवेकी** (संति) **हैं।**

विशेषार्थ – **मॉंस के दोषों को बचाने के लिये यह बात बहुत जरूरी है कि जिस किसी वस्तु में सम्मूर्छन त्रस पैदा हों उसको न खाना चाहिये। हर एक भोजन जो बना हुआ ताजा होगा वह अपने स्वाद में रहेगा, बासी होने पर रस-चलित हो जायगा। जो फल सड जावे गल जावे वह रस-चलित होगा, जो घी या तेल अपने असली स्वाद में न होगा रस चलित होगा, ऐसे पदार्थों को खाना श्रावक को उचित नहीं है।**

॥ भोज्य पदार्थों की मर्यादा क्या है ॥

दौलतरामजी कहते है –

अब सुनि चून तनी मर्याद, भाषें श्रीगुरु जो अविवाद।
शीतकाल में सात हि दिना, ग्रीषम में दिन पांच हि गिना॥१०७॥
वर्षारितु माहीं दिन तीन, आगे संधाणों गण लीन।
मर्यादा बीते पकवान, सो नहिं भक्ष्य कहे भगवान॥१०८॥
जामें अन्न जलादिक नाहिं, कछु सरदी जामाहीं नाहिं।
बूरो और बतासा आदि, बहुरि गिदौड़ादिक जु अनादि॥११०॥
ताकी मर्यादा दिन तीस, शीतकाल में भाषी ईश।
ग्रीषम पंदरा वर्षा आठ, यह धारो जिनवाणी पाठ॥१११॥

अर जो अन्न तनो पकवान , जल को लेश जु माहे जान।
आठ पहर मरजादा तास, भाषे श्रीगुरु धर्मप्रकाश ॥११२॥
जल वर्जित जो चूनहितनो, घृत मीठो मिलिके जो बनो ।
ताकी चून समान हि जान, मरजादा जिन आज्ञा मान॥११३॥
भुजिया बड़ा कचौरी पुवा, मालपुवा घृत तेलहि हुवा ।
इत्यादिक हैं अबरहु जेहु लुचई सोरी पूरी येह॥११४॥
ते सब गिनो रसोई समा, यह उपदेश कहें प्रति रमा।
दारि भात कडही तरकारि, खिचडी आदि समस्त विचारि॥११५॥
दोय पहर उनकी मर्याद, आगे श्रीगुरु कहें अखाद॥११६॥

भावार्थ — **भारत वर्ष की ऋतु के अनुसार भोजन की मर्यादा यह है कि आटा-पिसा हुआ जाड़े में सात दिन, गरमी में पांच दिन, वर्षा में तीन दिन का लेना योग्य है। जिसमें अन्न व जलादि न हो ऐसा बूरा, बतासा, सूखा गिंदौड़ा शीत में एक मास, गर्मी में पंद्रह दिन व वर्षा में आठ दिन चल सकता है। अन्न के पकवान में जिसमें कुछ जल का अंश हो जैसे सुहाल, मठरी, लाडू, बर्फी, पेंडा, गुलाबजामन आदि आठ पहर या चौवीस घंटे के भीतर के खाने चाहिये। जल को न डालकर घी मीठा व अन्न मिलाकर जो लाडू बने इसकी मर्यादा आटे के समान है। भजिया, बडा, कचौरी, पूरी घी की तली हुई व तेल की बनी हुई दिनभर चल सकती है, रातवासी नहीं। दाल, भात, कढी, पतली तरकारी दो पहर या छह घंटे के भीतर खाना योग्य है। दूध को थन धोकर निकालकर अंतर्मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनट के भीतर-भीतर गर्म करने रख दे, औंट जाने पर वह चौवीस घंटे काम में आ सकता है। इसी दूध को जमाकर दही बनावे। वह भी २४ घंटे के भीतर-भीतर खा लेना चाहिये, आज का बना दूसरे दिन तक। छाछ उसी दिन की खानी चाहिये। कच्चा पानी यदि डाले तो दो घडी भीतर ही लेनी योग्य है। घी तेल की मर्यादा वहीं तक है जहांतक उसका स्वाद नहीं बिगडे। मक्खन को न खाकर तुरंत उसको दो घडी के भीतर गर्म करके घी बना लेना चाहिये। उसे रस-चलित होने पर कभी नहीं खावे। पापड, बडी, मंगौडी उसी दिन की खानी चाहिये। यदि खूब सूख जावे तो दुसरे दिन तक २४ घंटे के भीतर भीतर खा लेवे। जो नरनारी मर्यादा का ध्यान न रखकर कई दिनों के पापड, बडी, मिठाई आदि खाते हैं वे मांस के दोष के भागी होते हैं तथा सम्मुर्छन जंतुओं का कलेवर उदर में जाने से रोगों की भी उत्पत्ति होती है। इसलिये विचारवान को सदा शुद्ध भोजन करना चाहिये। वींधा अन्न नहीं खाना चाहिये। दिन प्रतिदिन अन्न शोधकर शुद्ध स्थान में रसोई बनवाकर जीमना चाहिये।**

॥विदल (द्विदल), संधाना व पूर्णफल खाने का दोष॥

॥ श्लोक १११-११२ ॥

विदल संधान बंधानं, अनुरागं यस्य गीयते।
मनस्य भावनं कृत्या, मांसं तस्य न मुच्यते॥
फलस्य संपूर्णं भुक्तं, सम्मूर्छन त्रस विभ्रमं।
जीवस्य उत्पादनं दिष्टं, हिंसानंदी मांसदूषनं॥

अन्वयार्थ – (विदलं) **दो दल जिसके हों ऐसे का दही के साथ खाना** (संधानबंधानं) **अचार मुरब्बा बना हुआ** (यस्य) **जिस किसी को** (अनुरागं) **इनका राग** (गीयते) **पाया जावे** (मनस्य भावनं कृत्वा) **उसके मन से मॉस की भावना की गई होने से** (तस्य) **उसके** (मांसं) **मांस** (न मुच्यते) **नहीं छोड़ा गया है** (संपूर्ण फलस्य भुक्तं) **पूरे फल को बिना देखे खाना** (सन्मुर्छन त्रस विभ्रमं) **उसमें सम्मूर्छन त्रस जंतू के होने की शंका रहती है। उनमें** (जीवस्य) **जंतुओं का** (उत्पादनं) **पैदा होना** (दिष्टं) **देखा जाता है। जो खाता है वह** (हिंसानंदी) **हिंसा में आनंद मानता है। उसे** (मॉससदूषनं) **मॉस का दूषन आता है।**

विशेषार्थ – **इन दो श्लोकों में ग्रंथकर्ता ने मांस के दोषों में विदल, संधान, बिना तोड़ा फल खाना मना किया है। दौलतरामजी उस सम्बन्ध में कहते हैं।**

अन्न मसूर मूंग चणकादि, तिनकी दालि जु होय अनादि ।
अर मेवा पिस्ता जु बदाम, चारौली आदिक अति नाम॥१३५॥
जिन जिन वस्तुनि की है दाल, सो सो सब दधि भेला टालि ।
अर जो दधि भेली मिष्टान, तुरत हि खावो सूत्र प्रवाण॥१३६॥
अंतर्मुहूर्त पीछे जीव, उपजें यह भाषे जग पीव ।
ताते मीठा युत जो दही, अंतर्मुहूर्त पहले गही ॥१३७॥
दधि गुड खावो कबहि न जोग, वरजें श्रीगुरु वस्तु अजोग ।
फुनि तुम सुनहु भिन्न इक बात, राई लूण मिले उतपात ॥१३८॥
तातें दही मही में करे, तजो रायता कांजी वरे ॥१३९॥

भावार्थ – **विदल का स्वरूप यह है कि जिस किसी अन्न की या मेवा की दो दालें हो जाती हों। उसको दही के साथ मिलाकर व दही के साथ उनकी कोई चीज बनाकर न खावे। दही के साथ**

शक्कर मिलाकर दो घडी के भीतर भीतर खावे, परन्तु गुड को दही में न मिलाना चाहिये। राई, लोण, दही व छाछ में रायता बनाकर व कांजी के बडे बनाकर खाना योग्य नहीं है।

संधाणा दोषीक विशेष, सो भव्यो छाड़ो जो असेस ॥१०१॥
अत्थाणा संधान मथान, तीन जाति इनकी जु वषानि ।
राई लूण कलुँजी आदि, अम्बादिक में डारें वादि ॥१०२॥
नाखि तेल में कर हिं अथाण, या सम दोष न सूत्र प्रमाण ।
त्रस जीवां तामें उपजंत, भखियां आमिष दोष लहंत ॥१०३॥
नींबू आम्रादिक जो फला, लूण माहि डारे नहिं भला।
याको नाम होय संधान, त्यागे पंडित पुरुष सुजाण ॥१०४॥
अथवा चलित रसा सब वस्तु, संधाणा जानो अप्रशस्त ।
बहुरि जलेबी आदिक जोहि, डोहा राव मथाणा होय ॥१०५॥
लूण छाछ माहीं फल डार, केर्यादिक जे खाहिं संवार ।
तेहि बिगाड़े जन्म स्वकीय, जैसे पापी मदिरा पीय ॥१०६॥

भावार्थ – **संधान तीन प्रकार का होता है – अथाणा, संधाम, मथान। जिसमें राई, लोण, आम, नींबु व तेल डालकर बनाते हैं सो अथाना है। इनमें त्रस जीव पैदा होते हैं, इन्हें नहीं खाना योग्य है। नींबू व आम आदि को लूण में डालकर संधाना बनता है। जलेबी व राव आदि जिसमें खमीर उठे सो मथाणा है। इन तीनों कों खाना उचित नहीं है। कहीं-कहीं अग्नि से पके हुये आचार व मुरब्बे को २४ घंटे व कहीं-कहीं १२ घंटे के भीतर खाना योग्य है – ऐसा कहा जाता है।**

किसी भी फल को तोडकर खाना उचित है, क्योंकि उसके भीतर त्रस जंतू पैदा होने की संभावना है। चने, बादाम, सुपारी, जामफल, आम आदि के भीतर कभी-कभी कीड़ा निकल पड़ता है। अच्छी तरह से देखे बिना कोई फल नहीं खाना चाहिये। जो बिना देखे खाते पीते हैं वे हिंसा की परवाह नहीं करते हैं। वे हिंसा में आनन्द मानते हैं उनको माँस का दोष आता है। प्रयोजन यह है कि जिस चीज में सम्मूर्छन त्रस जीवों की उत्पत्ति हो गई हो व होने की संभावना हो उस वस्तु को दयावान मांसाहार त्यागी को नहीं खाना चाहिये। शुद्ध रसाई खान-पान करने से ही श्रावक यथार्थ में माँस के सर्व दोषों से बच सकता हैं।

॥ श्लोक ११३ ॥

मद्ये ममता भावेन, राज्यं आरूढ चिंतनं।
भाषा शुद्धि न जानाति, मद्ये वित्तस्य संचितं ॥

अन्वयार्थ – (मद्ये) मद्य व्यसन के भीतर (ममताभावेन) ममताभाव के द्वारा (राज्यंआरूढ़) मैं राज्य कर रहा हूँ ऐसा (चिंतनं) विचार होता है (भाषाशुद्धि) भाषा की शुद्धि (न जानाति) नहीं जानता है (मद्ये) मद्य में (वित्तस्य) धन का (संचितं) संचय किया जाता है।

विशेषार्थ – यहां तीसरे व्यसन का स्वरूप है। मदिरा पीना प्राणी को अचेत कर देता है। यह हित-अहित को भूल जाता है, मदिरा अनेक जंतुओं के घात से सडाकर बनती है, स्पर्श योग्य नहीं है, यह उदर में जाकर अंग-उपांग को आकुल-व्याकुल कर देती है, तब मूढ प्राणी अपनी पुत्री तक को स्त्री मान के कुचेष्टा करने लग जाता है, यद्वा-तद्वा बकता है, अधिक नशा चढा तो बेहोश हो पड़ जाता है। रास्ते में मोरियो में पड जाता है, मानव को बावला अज्ञानी बनानेवाली यह मदिरा किसी भी तरह पीने योग्य नहीं है। सुभाषित रत्नसंदोह में कहा है –

प्रचुरदोषकरीमिह वारुणीं पिबति यः परिगृह्य धनेन ताम ।
असुहरं विषमुग्रमसौ स्फुटं पिबति मूढ़मतिर्जननिन्दितम् ॥५१६॥
प्रचुरदोषकरीं मदिरामिति द्वितयजन्मविवाधविचक्षणम् ।
निखिलतत्वविवेचकमानसाः परिहरन्ति सदा गुणिनो जना ॥५२२॥

भावार्थ – जो कोई धन खरचकर महान दोषकारी मदिरा को पीते हैं वे मूढमति अति निन्दित भयानक प्राणहारी विष का ही पान करते हैं। यह मदिरा इस जन्म (भव) और परभव दोनों का बिगाड करनेवाली है। तत्व के विचार में चतुर गुणीजन इससे सदा ही बचते हैं। मदिरा के पीने की आदत से गरीब आदमी अपनी कमाई इसी में खो देता हैं। कुटुम्ब के लिये भोजन वस्त्र का भी प्रबन्ध नहीं होने पाता है। मदिरा पीनेवाला बहुत से राज्यदंड योग्य पाप कर लेता है। उसके शरीर में रोग भी अनेक प्रकार के हो जाते हैं। मदिरा का व्यसन बहुत ही बुरा है। जो विवेकी श्रावक हैं, उनको मदिरा के सिवाय और भी कोई वस्तु जो मन को मूढ बना दे, नशा पैदा कर दे, कभी न लेनी चाहिये। जैसे – गाँजा, चरश, भाँग, तम्बाकू, अफीम आदि। कोई भी नशा बुद्धि को विपरीत कर देता है व उसका खुमार जबतक जोर से चढ़ा रहता है तबतक यह प्राणी अपने जीवन का समय वृथा खोता है। जो कोई वृक्ष की पत्ती आदि हो व जिसमें हिंसा न हो वह वस्तु किसी औषध के काम में तो ली जा सकती है परंतु मद्य के रूप में कभी न ग्रहण करना चाहिये। मदिरा का सेवन तो औषधि में भी लेना उचित नहीं है क्योंकि वह प्राणियों के बहुघात से तैयार होती है। जिन औषधियों में मदिरा पडी हो, विचारवान को पीना योग्य नहीं है। श्री पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कहते हैं –

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मं। विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशंकमाचरति॥६२॥

भावार्थ – मद्य मन को मोहित कर देती है, मोही चित्त धर्म को भूल जाता है। धर्म को भूला हुआ जीव निडर होकर हिंसा करने लगता है, अपना व पर का घात व कष्ट प्रदान करने लगता है।

यहाँ ग्रन्थकर्ता ने भीतरी धनादि के मद की तरफ लक्ष्य देकर लिखा है कि जिसके तीव्र ममत्व संसार से है वह भी मद्य पीनेवाला है। वह यदि राज्य करता हुआ हो तो घोर अभिमान में होकर यही विचारता रहता है कि मैं राज्य आरूढ हूँ, यदि राज्य नहीं हुआ तो राज्य स्वामी होकर अभिमान करूँ, खूब स्वार्थ सिद्ध करूँ, ऐसा विचारता रहता है। मदिरा पीनेवाले की जैसे भाषा बिगड़ी हुई निकलती है वैसे धनादि के नशे में चूर प्राणी की भाषा मान से भरी हुई कठोर निकलती है। वह सबको छोटी दृष्टि से देखकर निरादर के वचन कहता है। धन के मद में प्राणी धन का ही संचय करता रहता है। उसे धन का नशा चढ़ जाता है। जितना धन होता है उतना अधिक मद होता है। वह धन को शुभ कार्य में नहीं लगाता। मात्र मैं बड़ा हूं – इस भाव की ही पूजा करने में लगा रहता है।

॥ श्लोक ११४ ॥

अनृतं सत्यभावं च, कार्याकार्यं न सूच्यते।
ये नरा मद्यपा होंति, संसारे भ्रमणं सदा॥

अन्वयार्थ – (ये नरा) जो मानव (मद्यपा) मदिरा पीनेवाले होते हैं या धनादि का मद करते हैं वे (अनृत सत्यभाव) झूठ व सत्य पदार्थ को (च) और (कार्याकार्यं) कर्तव्य व अकर्तव्य को (न सूच्यते) नहीं देखते हैं (संसारे) इस संसार मे (सदा) हमेशा (भ्रमण) उनका भ्रमण होगा ।

विशेषार्थ – जो मानव मदिरा पीते है या मद में ग्रसित हैं उनकी विवेकबुद्धि नष्ट हो जाती है, वे सत्य व झूठ की परीक्षा नहीं कर सकते हैं न यह विचारते हैं कि क्या काम करना चाहिये व क्या काम न करना चाहिये। वे स्वार्थ के अंधे होकर धर्म को छोड़ बैठते हैं। अपना धनादि बढ़ाने के लिये असत्य बोलते हैं, मायाचार रचते हैं, दूसरों को ठगते हैं, अन्याय से धन एकत्र करते हैं, अंध हो विषयभोगों में धन खरचते हैं, नामवरी के भूखे रहते हैं, दूसरे से ईर्ष्या करके प्रचुर धन खर्च करके भीतर धन रहित होते हुए भी अपना नाम करना चाहते हैं – जिन कुरीतियों से या व्यर्थ व्यय से अपना बुरा या समाज का बुरा होता है उनको अभिमानवश नहीं छोड़ते हैं। हम अपने बड़ों की रीति पर चलेंगे नहीं तो हम छोटे हो जायंगे। धन, धर्म, सुयश का नाश करके भी अंध हो व्यर्थ के काम किया करते हैं। इन कठोर चित्तवालों के भीतर दया नहीं रहती है। ये रौद्रध्यानी हो जाते हैं, नरक आयु बांधकर नरक जाते हैं फिर संसार में अनेक पशु आदि के दीन-हीन जन्म पा-पाकर भ्रमते रहते हैं, धर्मरत्न का मिलना कठिन हो जाता है इसलिये विचारवान को न तो कोई नशा पीना चाहिये और न धनादि का

मद करना चाहिये। ये सर्व पदार्थ अनित्य हैं – ऐसी भावना भाना चाहिये।

॥ श्लोक ११५ ॥

जिन उक्तं न श्रद्धते, मिथ्यारागादि भावनं।
अनृतं ऋत जानाति, ममत्वं मानभूतयं॥

अन्वयार्थ – मद्य में फँसा हुआ अभिमानी पुरुष (जिन उक्तं) जिनेन्द्र के कहे हुए उपदेश का (न श्रद्धते) श्रद्धान नहीं करता है (मिथ्यारागादि भावनं) मिथ्यात्व व राग-द्वेष की भावना सदा किया करता है। (अनृत) जो झूठ है कल्पित है उसे (ऋत) सच्चा (जानाति) जान लेता है (ममत्वं) ममता व (मान) अभिमान का (भूतय) भूत उस पर चढ़ा रहता है।

विशेषार्थ – जैसे मदिरा पीनेवाला मद के नशे में चूर होकर अपनी सुध-बुध भूलकर पशु से भी बुरा हो जाता है – वैसे ममता और मान का भूत जिसपर चढ़ जाता है ऐसा मोही प्राणी जिनेंद्र के उपदेश को एक तो सुनता नहीं है, यदि सुनता है तो ग्रहण नहीं करता है। यदि ग्रहण भी करता है तो इसपर विचार नहीं करता है और न उसपर अपना श्रद्धान जमाता है। मिथ्यात्व में फँसा हुआ, संसारासक्त बना हुआ, कुदेवादि की भक्ति किया करता है, राग-द्वेष करता हुआ किसी से अति प्रेम व किसी से अति द्वेष कर लेता है। कषाय की पुष्टि में लगा रहता है। जिस-पर द्वेष हो जाता है, उसका सत्यानाश करता है, जिससे प्रेम हो जाता है उसके लिये धन लुटा देता है। वह अंधा होकर कुमार्ग में चलता है। जो बात सच्ची है, कल्याणकारी है उसे तो झूठ जानता है और जो झूठी है उसे सच्ची समझ लेता है। यह संसार असार है, दुःख का घर है। यह शरीर अपवित्र है, क्षणभंगुर है। ये भोग तृष्णावर्द्धक अतृप्तिकारी हैं। ये कुटुम्बादि सब स्वारथ के सगे हैं – ऐसा वस्तु स्वरूप होने पर भी यह मूढ़ प्राणी संसार को सुखकारी, शरीर को सदा बने रहनेवाला, भोगों को तृप्ति देनेवाला, कुटुम्बादि को अपने सहायी व उपकारी समझ लेता है। इसतरह उल्टा मान कर यह पदार्थ को संचय करते हुए मान व मोह में फँसता हुआ अपने को और अधिक अंधबुद्धि के जाल में फँसा लेता है। धिक्कार हो मदिरा को, धिक्कार हो धनादि के मद को – दोनों ही इस लोक व परलोक बिगाडनेवाले हैं, ज्ञानी को कभी भी अभिमान के नशे मे चूर न होना चाहिये।

॥ श्लोक ११६ ॥

शुद्ध तत्त्वं न वेदंते, अशुद्धं शुद्ध गीयते।
मद्ये ममताभावेन, मद्यदोषं तथा बुधैः॥

अन्वयार्थ – **जो कोई** (शुद्ध तत्त्वं) **शुद्ध आत्मतत्त्व को** (न वेदंते) **नहीं अनुभव करता है किंतु** (अशुद्धं) **रागादि सहित अशुद्ध आत्मा को** (शुद्ध गीयते) **शुद्ध है – ऐसा गाता है वह प्राणी** (मद्ये) **मद्य के समान संसार में** (ममताभावेन) **ममताभाव रूप से वर्त रहा है।** (तथा बुद्धैः) **तैसे ही बुद्धिमानों के द्वारा** (मद्यदोष) **मदिरा का दोष कहा गया है।**

विशेषार्थ – **यहाँ पर यह बताया है कि जो कोई निश्चय नय के द्वारा अपने आत्मा को शुद्ध रागादि रहित जानकर एकांती हो जावे अर्थात् वर्तमान में पर्याय अपेक्षा आत्मा के कर्म बंध हैं, उसके राग-द्वेष हैं, पुण्य या पाप के फल का भोग है, इस बात को न मानता हो और अपने ही अशुद्ध आत्मा को शुद्ध है – ऐसा गाता हो, किन्तु रागादि छोड़कर एकाग्र होकर आत्मध्यान करके शुद्ध आत्मा को कभी अनुभव में न लेता हो, व्यवहार में रात-दिन फँसा रहकर संसारी कार्यों में लिप्त रहे और यह माने कि इन कार्यों से मुझे बंध नहीं होता है मात्र शुष्कज्ञान में जो वास्तव में एकांत है, वह मिथ्यात्व है संतोष मान लेता है, आत्मा की शुद्धि का यत्न नहीं करता है वह निश्चयाभासी एकांती मिथ्यात्वी है। उसे भी एक प्रकार का मद चढ़ गया है। मैं परमात्मा रूप हूँ – इस मद में लीन होकर मन, वचन, काय को स्वच्छंद वर्ताता है, प्रमादी हो रहा है, भ्रम में पड़कर अशुद्ध को शुद्ध मान रहा है। वास्तव में दृष्टि दो हैं – एक द्रव्य दृष्टि, एक पर्याय दृष्टि। द्रव्य दृष्टि से या द्रव्यार्थिक नय से द्रव्य का असली स्वरूप जाना जाता है, पर्यायार्थिक नय से उसकी अवस्थाओं का ज्ञान होता है। अपने आत्मा को दोनों नयों से ठीक-ठीक जाने तब सम्यग्ज्ञान होगा कि यह द्रव्य के स्वभाव से तो शुद्ध है परंतु अनादि कर्मबंध की अपेक्षा यह अशुद्ध है। इसमें राग-द्वेष-मोह हैं, इसको मेटकर वीतराग परिणती करनी है। ऐसा जो जानेगा वह अपनी अशुद्धता मेटने के लिये आत्मध्यान का साधन करेगा, अशुद्ध भावों से बचेगा, शुद्ध भावों में रमेगा। जब शुद्ध भावों में न रमा जायगा तब शुभ भावों में रहने का सहारा लेगा। इसतरह जो साधन करेगा वही समझदार सम्यग्दृष्टि है उसी को मिथ्यात्व का नशा नहीं है। परंतु जो एक पक्ष पकड़कर सर्व साधन छोड़ बैठेगा वह मतवाले के समान अपने आपका बुरा करेगा। जैसे मिथ्यात्व मद का ग्रसित प्राणी वस्तु को वास्तविक न जानकर और का और जानता है, वैसे ही मदिरा का पीनेवाला वस्तु को और का और जानकर दुःख उठाता है।**

निश्चय का एकांत पकड़नेवाला भी मतवाला है, वैसे ही व्यवहारधर्म का एकांत पकड़नेवाला भी मतवाला है। दोनों ही भव में डूबते हैं। ऐसा ही समयसारकलश में अमृतचंद्राचार्य कहते हैं –

मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति यैन्मग्ना

ज्ञाननयतृषिणो ऽपि यदति स्वच्छन्दमन्दोद्यमा।

विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं,।
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं याति प्रमादस्य च॥१२-४॥

भावार्थ – **जो मात्र क्रियाकांड के पक्ष का ही आलम्बन लेते हुए आत्मज्ञान को नहीं अनुभव करते हैं वे संसार में डूबते हैं तथा जो ज्ञान को चाहते हुए भी आत्मानुभव के लिये अत्यन्त मंद उद्यमी हैं व स्वच्छन्द व्यवहार में प्रवर्तते हैं वे भी संसार में डूबते हैं। वे ही इस संसार से पार हो सकेंगे जो आत्मा का यथार्थ ज्ञान स्वयं रखते हुए कदाचित् क्रियाकांड में लीन न होते हुए प्रमाद के वश नहीं होते हैं – सदा आत्मानुभव के उत्साही रहते हैं। प्रयोजन यह हैं कि जैसे मदिरा पीना छोड़ना चाहिये वैसे एकातकी मिथ्यात्व की मदिरा को भी त्यागना चाहिये।**

॥ श्लोक ११७ ॥

जिनोक्तं शुद्धतत्वार्थं, न साधयन्त्यव्रतीव्रती।
अज्ञानी मिथ्याममत्त्वस्य, मद्ये आरूढते सदा॥

अन्वयार्थ – (अव्रती) **व्रत रहित हों या** (व्रती) **व्रत धारी हों** जो (जिनोक्त) **जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए** (शुद्धतत्वार्थं) **शुद्ध आत्म पदार्थ को** (न साधयन्ति) **नहीं साधन करते हैं** वे (अज्ञानी) **ज्ञान रहित हैं और** (सदा) **सदा ही** (मिथ्याममत्त्वस्य) **मिथ्यात्व की ममतारूपी** (मद्ये) **मद में** (आरूढते) **आरूढ़ हैं।**

विशेषार्थ – **यहाँ यह बताया है कि कोई व्यवहार सम्यक्त्व को रखता हुआ सच्चे देव, शास्त्र गुरु को मानता हुआ, सात तत्वों का श्रद्धान रखता हुआ व्रत रहित हो अथवा श्रावक या मुनि के व्रत सहित हो और शुद्ध आत्मा के असली स्वरूप को न पहचानता हो और न कभी शुद्धात्मा का ध्यान करता हो, न शुद्धात्मा की भावना भाता हो और अपने को यह माने कि मैं सम्यक्त्वी हूँ, मैं चौथे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थान का धारी हूँ या मैं पंचम गुणस्थान का धारी श्रावक हूँ या मैं छठे-सातवें गुणस्थान का धारी मुनि हूँ तो वह शुद्ध आत्मा को अनुभव न करने से मिथ्याज्ञानी ही है। उसने व्यवहार को ही निश्चय मोक्षमार्ग मान लिया है। बंध कार्य को ही निर्वाण का मार्ग निश्चय कर लिया है। इसलिये वह मिथ्यात्व सहित है, परन्तु उसको यह नशा चढा है कि मैं सम्यक्त्वी हूँ, मैं मोक्षमार्गी हूँ, – ऐसा अज्ञानी भी सदा मदिरा पीनेवाले के समान ही उन्मत्त है, असत्य को सत्य जानता हुआ उन्मत्तवत् चेष्टा कर रहा है।**

॥ श्लोक ११८ ॥

वेश्या आसक्त आरक्तः, कुज्ञानं रमते सदा।
नरयं यस्य सद्भावं, वेश्या तद्भावदिष्टितं॥

अन्वयार्थ – (वेश्या आसक्त) **जो वेश्या के व्यसन में** (आरक्त) **लवलीन है वह** (सदा) **सदा** (कुज्ञानं) **मिथ्या ज्ञान में** (रमते) **रंजायमान होता है।** (यस्य) **जिसको** (नरय) **नरक की** (सद्भाव) **प्राप्ति होगी** (वेश्या) **वेश्या** (तद्भाव) **उसी नरक सम्बन्धी भाव में लीन** (दिष्टित) **दिखलाई पडती है।**

विशेषार्थ – **यहाँ वेश्या व्यसन को कहते हैं। जो अज्ञानी विषय-लम्पटी, कामी, वेश्या-सेवन की महान खोटी आसक्तता में फँस जाता है वह हमेशा मिथ्या सुख में सुख जानकर भूलता है। वेश्या की प्रीति पैसे से होती है, जैसे नारकी** अपनी नरक-अवस्था में रमते नहीं, प्रेम नहीं करते हैं वैसे **वेश्या मात्र द्रव्य का लोभ रखती है,** उस द्रव्यदाता पुरुष में **प्रेम नहीं** रखती है। यह समझता है कि **वेश्या प्रेम करती है इसी धोखे में** यह वेश्या-लम्पटी प्रचुर धन ला-लाकर वेश्या को सौंप देता है। जब धन रहित हो जाता है तब वेश्या तुरंत निकाल देती है फिर बात भी नहीं करती है। यह मूर्ख वेश्या के जाल में फँसकर नष्ट हो जाता है। वेश्या का अँग महान अशुचि स्पर्शने योग्य नहीं होता है। **क्योंकि वह मांसाहारी, मद्यपायी, दुराचारी आदि पुरुषों के साथ अधिक रमण करती है। वेश्या के अंग में अनेक रोग भी पैदा हो जाते हैं। वे रोग वेश्या प्रसंग करनेवाले के पीछे लग जाते हैं। जो वेश्या-व्यसन का मोही हो जाता है वह धर्म प्रीति, गृहस्थ प्रीति, लौकिक पुरुषार्थ, साधना प्रीति को गमा बैठता है। अपने जीवन को बेकार बना लेता है। वेश्या के पास कभी आना-जाना भी व संगति भी नहीं करनी चाहिये। उसकी दृष्टि सदा धन लूटने की व अपने मोह में फँसाने की रहती है। यह व्यसन भी वेश्या-लम्पटी को माँस, मद्य, परस्त्री, चोरी आदि व्यसनों में फँसा देता है। तीव्र लोभ जनित कृष्णादि वेश्या के वशीभूत हो वह प्राणी नरक आयु बांध लेता है और महान दुःखों से पूर्ण नरक धरा में चला जाता है। सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं –**

तावदेव पुरुषो जनमान्यस्तावदाश्रवति चारुगुणश्री।
तावदामनति धर्मवचांसि यावदेति न वशं गणिकायाः॥६०८॥
मन्यते न धनसौख्यविनाश नाभ्युपैति गुरुसज्जनवाक्य।
नेक्षते भवसमुद्रमपार दारिकार्पितमना गतबुद्धिः॥६०९॥

भावार्थ – **जबतक वेश्या के वश में नहीं होता है तब ही तक पुरुष माननीय होता है तब ही तक उत्तम गुणरूपी लक्ष्मी** उसका आश्रय करती है **तब ही तक धर्म के वचनों को मान्य करता है।**

जब मन वेश्या में फँस जाता है, तब बुद्धि चली जाती है, धन का व सुख का नाश हो जाता है, गुरुजनों के व सज्जनों के वाक्यों को ध्यान में नहीं लेता है और न अपार संसार – समुद्र की तरफ देखता है कि मैं इसमें डूब रहा हूँ – कैसे पार जाऊँगा। आत्मशुद्धि रूपी धर्म भाव से यह वेश्या-सेवन अति दूर रखनेवाला है। बुद्धिमानों को इससे बचकर रहना ही उचित है।

॥ श्लोक ११९ ॥

पारधी दुष्टसद्भावं, रौद्रध्यानं च संयुतं।
आरत ध्यान आरक्तं, पारधी दोषसंयुतं॥

अन्वयार्थ – (पारधी) **शिकार खेलनेवाला** (दुष्ट सद्भाव) **दुष्ट भावों को रखता है।** (रौद्रध्यान च संयुतं) **व रौद्रध्यान का धारी होता है** (आरत ध्यान) **आर्तध्यान में** (आरक्त) **फँसा रहता है।** (पारधी) **शिकारी** (दोष सयुत) **अनेक दोषों का पात्र है।**

विशेषार्थ – **यहाँ आखेट व्यसन को कहते हैं – मृगया या शिकार खेलना बहुत बड़ी पापरूप हिंसा है। शिकारी के परिणाम सदा ही दुष्ट रहते हैं, वह अपने राग के कारण पशु-पक्षी को ढूँढ-ढूँढकर उनके पीछे दौडकर उनका घात करता है। हिंसानन्दी रौद्रध्यान में प्रवर्तता है। जब शिकार हाथ नहीं आता है या आकर के निकल जाता है तब इष्टवियोगरूप आर्तध्यान करता है या कहीं सिंह आदि से आक्रमण किया जाता है तो अनिष्ट संयोग में पड जाता है। इंद्रिय-विषय की लंपटतारूपी भाव की आशा में रहने से निदानरूप आर्तध्यान करता रहता है। शिकारी अनेक दोषों का पात्र होता है। अपने किंचित् राग भाव के कारण मृग आदि पशुओं को हननकर उनके बच्चों को अनाथ बनाता है। शिकारी मांसाहार, वेश्या सेवन आदि व्यसनों में सुगमता से फँस जाता है। हिंसानन्दी खोटे परिणामों से नरक गति को बांध लेता है और दुर्गति में जाकर घोर कष्ट पाता है।**

आत्मानुशासन में कहते हैं –

भीतमूर्तीर्गतत्राणा निर्दोषा देहवित्तिका। दन्तलग्नतृणा घ्नन्ति मृगीरन्येषु का कथा॥२९॥

भावार्थ – **शिकारी जन ऐसे निर्दयी होते हैं कि जो मृगी भयभीत रहती है, जिसका कोई रक्षक नहीं है, जो कोई अपराध नहीं करती है, जिसके शरीर मात्र धन है, जो तृण को खानेवाली है ऐसी मृगी को भी मार डालते हैं तब अन्य पशुओं की तो बात ही क्या है? एक शिकारी अपने जीवन में हजारों पशुओं का घातक होकर घोर पापबंध करता है। किसी भी मानव को शिकार के व्यसन में नहीं पडना चाहिये। यह व्यसन धर्म को नाश करनेवाला है।**

॥ श्लोक १२० ॥

मान्यते दुष्ट सद्भावं, वचनं दुष्टरतो सदा।
चिंतन दुष्ट आनंदं, पारधी हिंसानंदितं॥

अन्वयार्थ – (दुष्ट सद्भावं) **दुष्ट भावों की** (मान्यते) **जो मान्यता करता है।** (सदा वचन दुष्टरतः) **जो सदा दुष्ट वचनों में रत है व** (दुष्ट चितन आनन्द) **दुष्ट चितवन में आनंद मानता है सो** (पारधी) **पारधी के समान** (हिमा नंदित) **हिंसा में आनन्द माननेवाला है।**

विशेषार्थ – **जो दूसरों के साथ दुष्टता करता है वह पारधी के समान है ऐसा बताते हैं।** जो **मानव, दुष्ट दुर्जन** – पर का **बिगाड़ करनेवाले खोटे मानवों** की **प्रतिष्ठा करता है,** उनके साथ मित्रता **करता है तथा** जो सदा **हिंसाकारी** कठोर **पापमय वचनों को बोलता है,** जिसके चित्त में सदा ही दूसरों **को** ठगने का, दूसरे का बुरा करने का विचार रहता **है वह** हिंसानंदी मानव पारधी के समान है। **जैसे** शिकारी पशुओं के घात में विचारता रहता है, उद्यमी होता **है वैसे** दुष्ट मानव अपने द्रव्यादिक **स्वार्थवश** दुष्टों की संगति में रहता है, **स्वयं व उनकी** सहायता से दूसरों को ठगने के लिये मायाचारी, **पूर्ण घातक,** देखने में प्रिय परन्तु भीतर से **गला काटनेवाले वचनों** को कहता है। मायाचार से ठगकर **अपनी चतुराई पर बड़ा अभिमान करता है व आनन्द मानता है।** कोई-कोई दुष्टता से किन्हीं भोले **जीवों को किसी झूठे मुकदमे में** फँसा देते हैं और उनसे धन की लूट करते हैं। **यहाँ कहने का मतलब यह है कि केवल पशु** का शिकार ही मृगया नहीं है परंतु जो मानव मानवों का शिकार करते हैं, **उनको** सताकर उनको विश्वास दिलाकर उनके धन-धान्य को हर लेते हैं। **दूसरों** का नाश करके, **दूसरों में परस्पर मतभेद** कराकर, उनको मुकदमा लड़ाकर **अपना स्वार्थ साधते हैं ये भी शिकार के ही करनेवाले पापी हैं।**

॥ श्लोक १२१ ॥

विश्वासी पारधी दुष्टः, मनकूटं वचकूटितं।
कर्मना कूटकर्तव्यं, पारधी दोष संयुतं॥

अन्वयार्थ – (विश्वासी) **जो दूसरे को अपना विश्वास दिलाता है ऐसा** (दुष्टः) **दुष्ट** (पारधी) **पारधी के समान ठगनेवाला है उसके** (मनकूटं) **मन में मायाचार रहता है** (वचन कूटितं) **वचनों में मायाचार रहता है** (कर्मना) **काय की क्रिया से** (कूटकर्तव्यं) **मायाचार व ठगाई के काम किया करता है।** (पारधी) **ऐसा शिकारी** (दोषसयुत) **महा दोषों को रखनेवाला है।**

विशेषार्थ – यहाँ विश्वासघाती, मायाचारी पुरुष को भी शिकारी की उपमा दी है। शिकारी तो पशुओं को छिप-छिप करके कष्ट देकर मारता है किन्तु यह विश्वासघाती जनों को विश्वास दिलाकर ठगता है। शिकारी जैसे शिकार का चिंतवन मन में करके हिंसानंदी रौद्रध्यान करता है वैसे यह भोले जीवों को अपने फँदे में फँसाकर ठगने का सदा विचार किया करता है अतएव हिंसानंदी रौद्रध्यान करता है वैसे यह भोले जीवों को अपने फँदे में फँसाकर ठगने का सदा विचार किया करता है अतएव हिंसानंदी रौद्रध्यान में फँसा रहता है। वचनों में विष भरा हुआ होता है, ऊपर से प्यारे लगते हैं। मायाचारी वचनों से विश्वास दिलाकर ठगता है। तथा अपने शरीर से ऐसी क्रियाएँ करता है जिनका हेतु मायाचार है। कोई कोई प्राणी पर को ठगने के अभिप्राय से ब्राह्मण, साधु व शास्त्री का रूप बनाकर ठगते हैं। कोई कोई बाहरी जप, तप, पूजा, पाठ आदि धर्मक्रिया अपने को धर्मात्मपने का विश्वास जमाने के लिये करते हैं किन्तु भीतर ठगने का भाव होता है। कुटिल मन, वचन, काय, की प्रवृत्ति अतुल दोषों को उत्पन्न करनेवाली है। अल्प क्षणिक धनादि के लिये मायाचार करके दूसरों को ठगना वैसा ही दोषपूर्ण है, जैसे मृगों का वन में शिकार करना।

॥ श्लोक १२२ ॥

जे जीवा पंथ लागंते, कुपंथं जेन दिष्टते।
विश्वासं दोष संगानि, ते पारधी दुःखदारुणं॥

अन्वयार्थ – (जे) जो (जीवा) जीवों को (विश्वासं) विश्वास दिलाकर (पंथ) कुमार्ग में (लागते) लगाते हैं। (जेन) जिनके द्वारा (कुपथ) कुमार्ग (दिष्टते) दिखलाया जाता है (ते पारधी) वे पारधी के समान (दुःखदारुणं) भयानक दुःख उठाते है।

विशेषार्थ – यहाँ पर ग्रन्थकर्ता ने मिथ्या उपदेशकों के ऊपर लक्ष्य दिया है। जगत में मिथ्या मार्ग के प्रचारक भी पारधी के समान हैं। जो प्राणियों को सुख पाने का व पुण्य कमाने का विश्वास दिलाते हैं और वीतराग-विज्ञानमय मार्ग से छुड़ाकर राग-द्वेष पूर्ण कुमार्ग में लगा देते हैं, मिथ्या देवों की आराधना में, पशु बलि में, श्रृंगार रस में फँसा देते हैं। तथा जो द्यूत रमण आदि व्यसनों में फंसा देते हैं। लाखों ही प्राणी मोक्षमार्ग से विरुद्ध उपदेश के द्वारा कुमार्ग में अपनी श्रद्धा करके अधर्म में धर्म मानकर अपना अहित करते हैं। बहुत से कुगुरु साक्षात् जानते हैं कि राग-द्वेष बर्द्धक मार्ग कुमार्ग है फिर भी वे अपना स्वार्थ साधन के लिये, भक्तों से धन लेने के लिये, अपने विषयों की कामना की तृप्ति के लिये कुमार्ग का उपदेश देकर पत्थर की नौका-सा काम करते हैं। वे आप भी संसार में डूबते हैं और औरों को भी डुबाते हैं। धन की तृष्णा मानवों को अंध बना देती है। इसके

लिये मानव क्या-क्या कुकर्म नहीं करता है। जो ऐसा कुमार्ग चलाते हैं वे घोर पाप का बंध करते हैं। अपना संसार अनन्त काल तक दृढ़ करते हैं। वे निगोद में, कीटादि विकलत्रयों में, दीन-हीन पशु पर्यायों में, दीन मानवों में, नर्क में बार-बार उपज कर कष्ट भोगते हैं और अज्ञान व तृष्णा में पड़े हुए रात-दिन चाह की दाह में दहते रहते हैं।

॥ श्लोक १२३ ॥

संसार पारधि विश्वासं, जन्ममरणं च प्राप्यते।
जे जीव अधर्म विश्वासं, ते पारधी जन्म जन्मयं॥

अन्वयार्थ – (संसार पारधि) लौकिक शिकारी का (विश्वासं) विश्वास करने से (जन्म मरणं च) इस एक जन्म में ही मरण (प्राप्यते) होता है। (जे जीव) जो जीव (अधर्म पारधी) मिथ्या धर्मरूपी पारधी का (विश्वासं) विश्वास करते हैं (ते) वे जीव (जन्म जन्मयं) अनेक जन्मों में मरण करते हैं।

विशेषार्थ – जो पशु या पक्षी पारधी द्वारा बिछाए हुए जाल में सुख मिलेगा ऐसा विश्वास करके आते हैं और फिर अपने प्राण गमाते हैं। यह शिकारी तो एक जन्म में मारता है परन्तु जो मूढ़ प्राणी अधर्म को धर्म मानकर उसकी सेवा करते हैं उनको मिथ्यात्व कर्म का ऐसा बंध होता है कि जिसका छूटना कठिन होता है। वे पुनः पुनः दुर्गति में पड़कर अशुभ कष्टदायक जन्म धारते हैं और मरते हैं। जो कुगुरु मिथ्या धर्म का उपदेश देते हैं वे बड़े भारी निर्दयी पारधी हैं। मिथ्यात्व के समान कोई जाल नहीं है। जगत में यह बात प्रगट है कि क्रोधादि कषाय दुर्गुण हैं। जिस धर्म के आचरण करने से कषाय कम होने की अपेक्षा बढ़ जावें, राग-द्वेष की वृद्धि हो, संसार में अधिक आसक्त हो जावें, वीतराग-विज्ञानमय धर्म से बाहर रहें, हिंसा में मग्न रहें, खेल-कूद लीला में मग्न रहें, हास्य-कौतूहल में लीन रहें, जिह्वा की लंपटता पोषें, नेत्र इंद्रिय का व घ्राण इंद्रिय का विषय पोषें, मन को मोहजाल में भ्रमावें या इंद्रिय भोगों की तृष्णा करके तप भी करें, शरीर भी सुखावें, कदाचित् जैन शास्त्रानुसार धर्म भी पालें, परन्तु शुभोपयोग को मोक्षमार्ग जानकर वर्तें। शुद्धोपयोगरूप सत्य मार्ग को न जानें तो वे सब बिचारे मिथ्यात्व की कीच में फँसकर संसार-सागर में गोते ही खाते रहेंगे, पुनः पुनः जन्म-मरण करेंगे, संसार-तारक मार्ग का मिलना दुर्लभ हो जायगा। अतएव अधर्म से बचना उचित है तथा अधर्म का उपदेश देना शिकारी से भी कोटि गुणा पाप का संचय करना है। इस पारधीपन से बचना योग्य है।

॥ श्लोक १२४ ॥

मुक्ति पंथं तत्वसार्द्धं च, मूढलोकैः न लोकितं।
पंथभृष्टं अचेतस्य, विश्वासं जन्म जन्मयं॥

अन्वयार्थ – (मूढलोकैः) अज्ञानी लोगों के द्वारा (तत्वसार्द्धं च) तत्व सहित (मुक्तिपंथ) मोक्ष का मार्ग (न लोकितं) नहीं देखा जाता है। वे (पंथभृष्टं) मार्ग से विपरीत (अचेतस्य) अज्ञानमयी धर्म का (विश्वासं) विश्वास (जन्म जन्मयं) जन्म-जन्म में करते रहते हैं

विशेषार्थ – मोक्ष का मार्ग तो आत्मतत्व की यथार्थ प्रतीति सहित, ज्ञान सहित व चारित्र सहित है। वह तो अभेद रत्नत्रय स्वरूप आत्मा की एक शुद्ध परिणति विशेष है। संकल्प-विकल्प से रहित मात्र अनुभव गोचर है। इस परमानंदमय सच्चे मोक्षमार्ग का जिनको ज्ञान व श्रद्धान नहीं होने पाता है, वे अज्ञानमयी मिथ्या मार्ग का विश्वास करके ठगे जाते हैं। मिथ्यात्व के विष को पीते हुए उस से ऐसे मूर्छित हो जाते हैं कि अज्ञानमय पर्यायों को – निगोद की-सी अवस्थाओं को, एकेन्द्रियादि में जन्म को पुनः पुनः धारण करते हैं। उनको पंचेन्द्रिय सैनी की पर्याय मिलना अतिशय कठिन हो जाता है। कदाचित् पाते भी हैं तो उत्तम क्षेत्र में धर्म का संयोग मिलना कठिन हो जाता है। वे जन्म-जन्म में अज्ञान मिथ्यात्व के वशीभूत होते हुए वचनातीत कष्ट को पाते हैं, पर्यायबुद्धि रहकर विषयसुख की तृष्णा में ही तड़फड़ाते रहते हैं – चाह की दाह में ही जलते रहते हैं – उनको सत्य धर्म का लाभ होना बहुत ही दुर्लभ हो जाता है। इसीलिये सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं –

करोति दोषं न तमत्र केशरी न दन्दशूको न करी न भूमिपः।
अतीव रुष्टो न च शत्रुरुद्धतो यमुग्रमिथ्यात्वरिपुः शरीरिणा॥१४१॥

भावार्थ – इस जगत में अति भयानक मिथ्यात्वरूपी शत्रु शरीरधारी प्राणियों को जैसा दुःख देता है व जैसा बुरा करता है वैसा तो अतिशय क्रोध में आया हुआ न तो सिंह करता है न नाग करता है, न हाथी करता है, न राजा करता है और न कोई दुष्ट शत्रु ही करता है। मिथ्यात्व के समान कोई शत्रु नहीं है, जो अनेक जन्मों में कष्टप्रद होता है।

॥ श्लोक १२५ ॥

पारधी पासि जन्मस्य, अधर्मं पासि अनंतयं।
जन्म जन्मं च दुष्टं च, प्रापितं दुःखदारुणं॥

अन्वयार्थ – (पारधी) शिकारी तो (जन्मस्य पासि) एक जन्म की ही फाँसी है किन्तु (अधर्मं) मिथ्याधर्म (अनतय) अनंत जन्मों की (पासि) फाँसी है। इसके कारण (दृष्ट च) महान दोषपूर्ण (जन्म जन्म च) जन्म-जन्म में (दु खदारुण) भयानक दुःख (प्रापितं) प्राप्त होते हैं।

विशेषार्थ – यदि कोई शिकारी अपना जाल डाले तो उसमें पक्षी या पशु फँस जावे या मरकर प्राण गमावें, ऐसा शिकारी का जाल प्राणी को एक जन्म में ही दुःख देता है। परन्तु कुगुरु द्वारा या

मिथ्या उपदेशक द्वारा दिखाया हुआ अधर्म का जाल ऐसा दोषप्रद है कि जिससे अनन्त जन्मों में खोटे-खोटे अशुभ प्राप्त होते हैं। उनमें जो जो दुःख प्राप्त होते हैं उनका वर्णन मुख से हो नहीं सकता है। इससे विवेकवान प्राणी को उचित है कि धर्म को परीक्षा करके ग्रहण करे या किसी परीक्षावान विश्वासपात्र की आज्ञानुसार धर्म को पाले। जिससे संसार-समुद्र से तिरना हो सके वही तीर्थ है, वही धर्म है। वह धर्मरूप जहाज राग-दोष रूपी छिद्रों से रहित होना चाहिये। पूर्ण वीतरागतारूपी अभेदपना उसमें होना चाहिये तब ही तो वह जहाज मोक्षद्वीप में ले जायगा। राग-द्वेष के छिद्र सहित धर्मरूपी जहाज स्वयं डूबेगा व उस पर जानेवालों को भी डुबाएगा। जहाँ वीतरागता है, अहिंसा है, आत्मानुभव है वहीं धर्म है। इसकी पोषक सब क्रियाएँ धर्म हैं। राग-द्वेष पोषक सब क्रियाएँ अधर्म हैं, ज्ञानी ऐसा मानता है। सुभाषितरत्नसंदोह में कहा है –

विरागसर्वज्ञपदाम्बुजद्वये यतौ निरस्ताखिलसंगसंगतौ।
वृषे च हिंसारहिते महाफले करोति हर्षं जिनवाक्यभावितः॥१५८॥

भावार्थ - जिनेन्द्र के वाक्यों को माननेवाला वीतराग सर्वज्ञ भगवान के चरण-कमलों में आनन्द सहित भक्ति करता है, सर्व परिग्रह की संगति से रहित गुरु के चरणों में नमन करता है, महा फलदायी अहिंसा धर्म में हर्ष मानता है, इनके विपरीत जो कुछ है वह संसार में निगोद-नरकादि पर्यायों में पटकनेवाला अधर्म है, ऐसा मानता है।

॥ श्लोक १२६ ॥

जिन लिंगी तत्त्व वेदंते, शुद्ध तत्व प्रकाशकं।
कुलिंगी तत्त्व लोपंते, परपंचं धर्म उच्यते।

अन्वयार्थ – (जिन लिगी) जिनेन्द्र की आज्ञानुसार जिनके भेष के धारी भावलिंग सहित निर्ग्रंथ द्रव्यलिंग धारी गुरु (शुद्ध तत्व प्रकाशकं तत्व) शुद्ध आत्मा के स्वरूप को प्रकाश करनेवाले तत्त्व को (वेदंते) अनुभव में लेते हैं। (कुलिंगी) जो जिनाज्ञा विरुद्ध भावलिंग रहित द्रव्यलिंग धारी हैं वे (तत्त्व) तत्व को (लोपंते) छिपा देते हैं (परपच) बाहरी प्रपंचरूप क्रियाकांड को (धर्म) धर्म (उच्यते) कहते हैं।

विशेषार्थ – इस श्लोक में मुख्यता से द्रव्यलिंगी द्वारा दिखाए हुए मात्र व्यवहार धर्म का निषेध किया है। जो निर्ग्रंथ गुरु व्यवहार और निश्चय दोनों नयों से जीवादि तत्वों को जानते हैं तथा उपादेय रूप ध्यान करने योग्य एक अपने निर्विकल्प वीतराग आत्मसमाधिरूप भाव को ही मानते हैं वे स्वयं भी शुद्धात्मा के अनुभव से आत्मानन्द पाते हैं व दूसरों को भी इसी हेतु से धर्म का उपदेश देते हैं। जो भव्यजीव ऐसे आत्मज्ञानी गुरुओं के द्वारा धर्म का लाभ प्राप्त करते हैं वे अपना कल्याण कर लेते हैं।

जो आत्म तत्व को न पहचानने वाले द्रव्यलिंगी मात्र हैं, बाहरी भेष तो साधु का है परन्तु भीतर मोक्ष साधक नहीं हैं, शुभ क्रियाकांड को ही मोक्षमार्ग मानते हैं उसीपर बडी दृढता से चलते हैं, कभी शुद्ध आत्म तत्व पर लक्ष्य नहीं देते हैं, उनका उपदेश भी तत्व को लोपने वाला होता है, वे व्यवहार प्रपंच क्रिया आचरण को ही एकांत से मोक्षमार्ग उपदेश कर देते हैं, निश्चय नय का उपदेश ही नहीं देते हैं, आत्मा की तरफ लक्ष्य ही नहीं कराते हैं। उनके उपदेश से अनेक प्राणी भी व्यवहार धर्म में ही अंध हो चलने लगते हैं, वे कभी भी निश्चय सम्यक्त्व को न पाते हुए संसार ही में रुलेंगे।

।। श्लोक १२७ ।।

ते लिंगी मूढदृष्टी च, कुलिंगी विश्वासं कृतं।
दुर्बुद्धि पासि बंधंते, संसारे दुःखदारुणं।।

अन्वयार्थ – (ते लिंगी) **वे भेषधारी** (मूढदृष्टी च) **जो मिथ्यादृष्टि है** (कुलिगी) **कुलिंगी हैं।** (दुर्बुद्धि) **बुद्धि रहित प्राणी** (विश्वासं कृतं) **उनका विश्वास करके** (पासि) **जाल में** (बंधंते) **बंध जाते हैं और** (संसारे) **इस संसार में** (दुःखदारुणं) **भयानक दुःख उठाते हैं।**

विशेषार्थ – **यहाँ यह बताया है कि जिन किन्ही भेषधारियों को चाहे वह जैन भेष हो या अजैन भेष हो सम्यग्दर्शन नहीं है – मिथ्यादर्शन है, वे सब कुलिंगी हैं। यद्यपि भाव सम्यग्दर्शन रहित मात्र व्यवहार सम्यक्त्वी को भी द्रव्यलिंगी कहा है तथापि जिसके व्यवहार सम्यक्त्व है वह जीवादि तत्वों का देव-गुरु-शास्त्र का स्वरूप अन्यथा प्ररूपण नहीं करता है। उसको मात्र अनुभव नहीं है इसलिये स्वानुभव पूर्ण उसका कथन नहीं होता है। परन्तु आगम से विरुद्ध वह कुछ नहीं कहता है। इसलिये उनको छोडकर जो अपने को जैन साधु व अजैन साधु मानकर व्यवहार तत्वों का उपदेश और का और देते हैं, सर्वज्ञ के आगम के प्रतिकूल कहते हैं, उनका उपदेश वीतराग मार्ग का पोषक न होने से विश्वास करने योग्य नहीं होता है। परंतु रागी पुरुषों को यही सुहाता है कि राग की पुष्टि हो और धर्म का नाम भी हो जावे इसलिये ऐसे मूढबुद्धि लोग रागवर्द्धक धर्म को भ्रम से अपना हितकारी समझकर उसी पर विश्वास कर लेते हैं। बस, वे अधर्म के जाल में बंध जाते हैं और संसार में गहन कष्ट पाते हैं।**

।। श्लोक १२८ ।।

पारधीपासिमुक्तस्य, जिन उक्तं सार्थं ध्रुवं।
शुद्धतत्वं च सार्द्धं च, अप्प सद्भाव चिह्नितं।।

अन्वयार्थ – **जो कोई** (जिन उक्तं) **जिनेन्द्र कथित** (ध्रुवं) **अविनाशी** (सार्थं) **पदार्थों को** (अप्प सद्भाव चिह्नितं) **आत्मा की सत्ता के लक्षणमय** (शुद्धतत्वं च सार्द्धं च) **शुद्ध तत्व सहित श्रद्धान करता**

है वह (पारधीपासिमुक्तस्य) पारधी जो अधर्म है या अधर्म उपदेष्टा साधु है उसके जाल से मुक्त हो जाता है।

विशेषार्थ – यहाँ यह बताया है कि अनादि काल से फँसे हुए अगृहीत मिथ्यात्व के जाल में से व सादिकाल से फँसे हुए गृहीत मिथ्यात्व के जाल में से निकलने का उपाय क्या है। वह उपाय एक स्याद्वाद नय से अनेकांत स्वरूप बतानेवाली जिनवाणी की शरण है। इस जिनवाणी के मूल उपदेशक आप्त श्री अरहंत भगवान हैं जिन्होंने इस लोक में ध्रुव रूप से पाए जानेवाले छह द्रव्यों का स्वरूप बताया है व जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश तथा काल – इन छह द्रव्यों से लोक भरा है। जिनवाणी ने यह भी बताया है कि जीव और अजीव की प्रवाह रूप अनादि की व मिलने-बिछुड़ने की अपेक्षा सादि संगति के कारण जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष – ये सात तत्व और पुण्य तथा पाप मिलाकर नौ पदार्थ बन जाते हैं। जो कोई इन छह द्रव्य व सात तत्व व नौ पदार्थों का भलेप्रकार श्रद्धान करता है, साथ में अपने शुद्ध आत्म तत्व का भी श्रद्धान करता है जिस में ज्ञानचेतना लक्षण झलक रहा है, ऐसा सम्यक्त्वी जीव, आत्मानंद का रसिक वीतरागता का प्रेमी अधर्म के जाल से छूट जाता है। सम्यग्ज्ञान की अपूर्व महिमा है। सुभाषितरत्नसंदोह में कहा है –

यथा यथा ज्ञानबलेन जीवो जानाति तत्त्वं जिननाथदृष्टं।
तथा तथा धर्ममतिप्रसक्तः प्रजायते पापविनाशशक्तः॥१९०॥

भावार्थ – जैसे जैसे ज्ञान के बल से यह जीव जिनेन्द्र कथित तत्व को जानता जाता है तैसे तैसे पाप के विनाश की शक्ति होती जाती है और धर्म में बुद्धि आसक्त होती जाती है। जिनवाणी का अभ्यास व मनन परम शरण है।

॥ श्लोक १२९ ॥

स्तेयं अनर्थमूलं च, विटंबं असुह उच्यते।
संसारे दुःखसद्भावं, स्तेयं दुर्गतिभाजनं॥

अन्वयार्थ – (स्तेयं) चोरी (अनर्थमूलं च) आपत्ति का मूल है (विटंब) आकुलतारूप (असुह) अशुभ काम (उच्यते) कहा जाता है। इससे (संसारे) इस लोक में (दुःखसद्भाव) दुःखों की प्राप्ति होती है तथा यह (स्तेयं) चोरी का व्यसन (दुर्गतिभाजन) दुर्गति में पटकनेवाला है।

विशेषार्थ – अब यहाँ छठे व्यसन चोरी के सम्बन्ध में कहते हैं। यह चोरी महा भारी पाप है। यह घोर हिंसानंदी विचार है। पर के प्राणों को हरने के समान दूसरे के धनादि को हरना है। चोरों के भावों

में सदा ही आकुलता रहती है, वे भयभीत रहते हैं, वे सुख की नींद नहीं सो सकते, धर्म कर्म तो उनसे दूर भाग जाता है, वे इस जगत में राजा आदि द्वारा तीव्र कष्ट पाते हैं, अशुभ परिणामों से कुगति का बंध कर मरकर कष्टमय गति के पात्र होते हैं। चोरी की आदत एक पल की भी अच्छी नहीं। जैसे मदिरा पीने की आदत पड जाती है तो वह बढती जाती है, छूटना कठिन हो जाता है, उसीतरह चोरी की आदत बढती चली जाती है, छूटना कठिन हो जाता है। चोर स्वयं दुःख में रहता है और हजारों के परिणामों में भय और दुःखों को उत्पन्न करने का कारण हो जाता है। जो इस व्यसन में फंस जाता है वह मानव-जन्म को शीघ्र ही खो देता है, जगत में महान अपयश का पात्र हो जाता है। कुछ भी परोपकार व जगत-हित नहीं कर सकता है। शुद्ध आत्मीक तत्व का ज्ञान तो उसकी मलीन बुद्धि में अतिशय कठिन हो जाता है, वह तीव्र विषय-भोगों का लोभी हो जाता है। इस घोर लोभ से घोर पापकर्म बाँधता है। सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं –

दुःखानि यानि नरकेष्वतिदुःसहानि। तिर्यक्षु यानि मनुजेष्वमरेषु यानि।
सर्वाणि तानि मनुजस्य भवन्ति लोभादित्याकलय्य विनिहन्ति तमत्र धन्यः॥८०॥

भावार्थ – जो जो असहनीय दुःख नरकों में होते हैं व जो जो भारी कष्ट तिर्यंच योनि में, नर भव में या देवगति में होते हैं वे सब इस मानव को लोभ से होते हैं। ऐसा जानकर जो लोभ को नाश करता है वही धन्य है।

चोरी का व्यसन महान लोभ को बढ़ानेवाला है ऐसा जानकर इसके पास भी नहीं जाना चाहिये। चोरों की संगति से बचकर रहना चाहिये। न्याय का प्राप्त किया हुआ धन ही परिणामों को निर्मल रखता है, अन्याय का धन महान अनर्थकारी होता है।

॥ श्लोक १३० ॥

मनस्य चिंतनं कृत्वा, स्तेयं दुर्गति भावना।
कृतं अशुद्ध कर्मस्य, कूटभावरतो सदा॥

अन्वयार्थ – (मनस्य) मन के द्वारा (स्तेयं) चोरी का (चिंतनं कृत्वा) चिंतवन करने से (दुर्गतिभावना) दुर्गति की भावना हुआ करती है। जो (अशुद्ध कर्मस्य) इस मैले काम को (कृतं) करते हैं वे (सदा) हमेशा (कूटभावरतः) मायाचारी के भावों में फँसे रहते हैं।

विशेषार्थ – चोरी ऐसा बुरा पाप है कि जो मन में चोरी करने का विचार भी किया जाय, तो चौर्यानंद रौद्रध्यान का भागी होकर नरकायु के बंध होने लायक भावना का करनेवाला हो जाता है। जिसका विचार भी बुरा है उस चोरी के दुःखदायक अशुचि काम में जो प्रवृत्ति करते हैं वे तो निरंतर

मायाचारी के कुभावों में लीन रहते हैं, कपट के जाल बिछाए बिना चोरी नहीं हो सकती है। चोरी महा अनर्थ का मूल है। मायाचार और लोभ कषायों के फंदों में उसका मन रात-दिन लटका रहता है। वह सुख से न खाता है न पीता है न शयन करता है, उसके परिणामो में सदा ही आकुलता बनी रहती है। किसी को विश्वास दिलाकर उसके माल को हर लेना यह भी चोरी है। भोले भाई-बहनों को फुसलाकर उनका माल छीन लेना भी चोरी है। भय दिखाकर माल ले लेना, डाका डालना, गिरी-पड़ी भूली वस्तु को उठा लेना आदि चोरी है। भीख माँगकर पेट भर लेना अच्छा है परन्तु चोरी कभी नहीं करनी चाहिये।

॥ श्लोक १३१ ॥

स्तेयं अदत्तं चिंतेय, वचनं अशुद्धं सदा।
हीन कृत कूटभावस्य, स्तेयं दुर्गतिकारणं॥

अन्वयार्थ – (स्तेयं) **चोरी व्यसन में फँसा हुआ जीव** (अदत्तं) **बिना दी हुई वस्तु को लेना** (चिंतेय) **चाहता है।** (सदा) **निरंतर** (अशुद्धं वचनं) **मायाचारी से पूर्ण मलीन वचनों को कहता है** (कूटभावस्य) **मायाचारी के भावों से** (हीन कृत) **नीच काम परधन हरण आदि किया करता है – ऐसा यह** (स्तेयं) **चोरी का व्यसन** (दुर्गतिकारणं) **दुर्गति का कारण है।**

विशेषार्थ – **यह चोरी का व्यसन मन-वचन-काय तीनों की प्रवृत्ति को महान मायाचारी से पूर्ण बना देता है। जैसे मार्जार मूषक की चिंता में नित्य रहता है वैसे यह चोरी का करनेवाला दूसरे के माल को किसतरह अपना करूँ, किसतरह हरूँ – इस चिंता में विचार करता हुआ पाप का बंध किया करता है, क्योंकि परिणामों के अनुसार बंध होता है। तथा जब उसकी भावना चोरी की रहती है तब वह अपने वचनों से दूसरों को विश्वास दिलाकर उनका माल किसतरह हाथ लगे-ऐसे मायाचारपूर्ण वचनों को कहता है। उसकी काया की प्रवृत्ति भी हीन होती है। चोरी करने के सिवाय वह वेश्यासक्त, परस्त्री रमन, मदिरापान, आदि अशुभ कामों में फंसा रहता है। चोर का जीवन उसकी प्रवृत्ति की अपेक्षा महान अशुभ नारकी समान हो जाता है। वह घोर पाप का बंध करके दुर्गति जाता है।**

॥ श्लोक १३२ ॥

स्तेयं दुष्टप्रोक्तं च, जिनवचनं विलोपितं।
अर्थं अनर्थ उत्पादी, स्तेयं व्रतखंडनं॥

अन्वयार्थ – (दुष्टप्रोक्तं) **दुःखकारी हितकारी वचनों का कहना भी** (स्तेयं) **चोरी है।** (जिनवचन विलोपितं) **जिनेन्द्र के वचनों का लोप करना भी चोरी है** (अर्थ अनर्थ) **अर्थ का अनर्थ** (उत्पादी) **करना**

भी चोरी है। (व्रतखण्डनं) व्रतों का खण्डन करना भी (स्तेयं) चोरी है।

विशेषार्थ – यहाँ पर ग्रंथकर्ता ने चोरी का दोष जिन जिन बातों में आता है उनका यहाँ खुलासा किया है। ऐसे वचनों का कहना जो दुष्टता लिये हुए हों, दूसरे का बिगाड़ करनेवाले हों, विश्वास दिलाकर घात करनेवाले हों, हिंसा मृषा व चोरी से गर्भित हों ;वे सब वचन स्तेय में इसलिये आते हैं कि उनमें दूसरे के हित का नाश करने का गूढ़ अभिप्राय छिपा होता है। शास्त्र का उपदेश करते हुए जिन आज्ञा को उल्लंघन करके जो कथन जिन शास्त्रों में नहीं है इसको प्रगट करके कहना कि जिन शास्त्र में है अथवा शास्त्र के मन्तव्य को उल्टा समझाना, कमती-बढ़ती बताना, इसतरह जान-बूझकर अपना कोई पक्ष पुष्ट करने को व स्वार्थ के साधन करने को जिन वचन को लोपकर व छिपाकर कहना सो भी चोरी है क्योंकि यह जिनकी आज्ञा का उल्लंघन किया गया है। जो शब्दों का अर्थ प्रकरण में होना चाहिये उसको छिपाकर कुछ का कुछ अर्थ किसी स्वार्थवश कर देना यह भी भाव को छिपाना है, इसलिये चोरी है। अथवा किसी कार्य को बिगाड़ देना, कोई धर्मकार्य अति लाभकारी होता हो उसको अपने वचनों से या अपनी कृति से न होने देना, अर्थ का अनर्थ करना है इसलिये यह भी चोरी है। जो व्रत या प्रतिज्ञा या नियम लिया हो उसको तोड़ डालना, जान-बूझकर उसमें दोष लगाना, अपनी कही हुई बात का उल्लंघन कर डालना यह भी चोरी है। इसतरह जो चोरी के दोषों से बचना चाहें उनको जिनेन्द्र की आज्ञानुसार कहना, चलना, व व्रत-नियम सत्यता से पालना चाहिये। तथा ऐसा वचन न कहना चाहिये जिससे दूसरे की हानि हो जाय। सरल, सत्य व न्याय रूप व्यवहार करना, लेन-देन में साफ रहना, मन में भी किसी को कष्ट देने का विचार न करना, एक पाई भी किसी की हरने का भाव न करना, तब ही चोरी के दोष से बचा जा सकेगा।

॥ श्लोक १३३ ॥

सर्वज्ञमुख वाणी च, शुद्ध तत्वं समाचरतु।
जिन उक्तं लोपनं कृत्वा, स्तेयं दुर्गतिभाजनं॥

अन्वयार्थ – (सर्वज्ञ) सर्वज्ञ वीतराग अरहंत भगवान के (मुख) मुखारविंद से प्रगट (वाणी च) वाणी के अनुसार (शुद्ध तत्व) शुद्ध आत्मीक तत्व का (समाचरतु) अनुभव करो। (जिन उक्त) जिनेन्द्र के कहे वचन को (लोपन कृत्वा) जो न माना जायगा तो (स्तेयं) चोरी है सो चोरी (दुर्गति भाजन) दुर्गति में पटकनेवाली है।

विशेषार्थ – यहाँ पर यह बताया है कि श्री सर्वज्ञ वीतराग भगवान ही यथार्थ तत्वों के वक्ता आप्त हैं। इनकी परम्परा से चले आए हुए आगम के अनुसार जीव-अजीव तत्व का भेद समझना

चाहिये। प्रभु ने बताया है कि यह संसारी जीव पुद्गलकर्म के साथ अनादि से दूध-पानी की तरह मिले हुए चले आ रहे हैं। जितनी विभाव परिणतियाँ होती हैं वे सब कर्मकृत विकार हैं। यदि कर्म का सम्बन्ध न हो तो आत्मा में राग, द्वेष, मोह आदि न प्रगटे। आत्मा का स्वरूप यदि निश्चयनय से विचारा जाय तो परम शुद्ध है, वीतराग है, ज्ञान-दर्शनमय ज्योतिस्वरूप है, अखण्ड है, अमूर्तीक है। इसतरह सर्वज्ञ के कथनानुसार भेदज्ञान प्राप्त करके अजीव से मोह छोडकर सर्व परपदार्थों से वृत्ति का निरोध कर, पाँच इंद्रिय और मन के विषयों को छोडकर, समताभाव लाकर, निश्चल हो शुद्ध आत्मा को ध्याना चाहिये। जैसे प्राचीनकाल में श्री महावीर भगवान ने, गौतमस्वामी ने, सुधर्माचार्य ने, जम्बूस्वामी ने ध्याया था व श्री भद्रबाहु श्रुतकेवली ने व श्री कुंदकुंदाचार्य ने भाया था। उसीतरह उस शुद्ध आत्मतत्व को सरल भाव से ध्याना चाहिये। जो कोई इस शुद्ध आत्मध्यानमय मोक्षमार्ग का उपदेश न देकर मात्र व्यवहार धर्म का ही उपदेश देते हैं व आप भी व्यवहार क्रियाकांड में मगन रहते हैं व दूसरों को भी इसी में लगाते है, इसीसे मोक्ष होगा, यही बुद्धि स्वयं रखते हैं व दूसरों को कराते हैं वे भूले हुए हैं, जिन की आज्ञा का लोप कर रहे हैं। अतएव चोरी के दोष के भागी हैं, जिनेंद्र का मुख्य उपदेश शुद्धात्मानुभव हैं, इसी को लोप कर देना बड़ा भारी दोष है, जीवों को सम्यक्त्व होने का कारण ही यह यथार्थ उपदेश है। केवल पुण्य बंध संसार-भ्रमण का ही कारण है। द्रव्यलिंगी साधु शुद्ध आत्मतत्व के अनुभव को न पाते हुए पुण्य बाँधकर स्वर्ग चले जाते हैं फिर वहाँ से आकर पशु पर्याय में भ्रमण करते हैं। संसार से पार करनेवाला एक सम्यग्दर्शन है, उसके बिना सर्व क्रिया व सर्व ज्ञान संसार का ही कारण है, निश्चय सम्यग्दर्शन को छिपाना घोर पाप है, चोरी है, इससे भी बचना योग्य है।

॥ श्लोक १३४ ॥

दर्शन ज्ञान चारित्रं, अमूर्तं ज्ञानसंयुतं।
शुद्धात्मानं तु लोपंते, स्तेयं दुर्गतिभाजनं॥

अन्वयार्थ – **जो कोई** (दर्शन ज्ञान चारित्रं) **सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमयी** (अमूर्तं) **अमूर्तीक** (ज्ञानसंयुतं) **ज्ञानमयी** (शुद्धात्मानं) **शुद्ध आत्मा को** (तु लोपंते) **तो नहीं जानते हैं। परन्तु उसके सिवाय किसी धर्म को पालते हैं वे** (स्तेयं) **चोरी के भागी हैं** (दुर्गतिभाजन) **उनका मोक्ष से विपरीत संसार में ही भ्रमण होगा।**

विशेषार्थ – **यहां फिर बताया है कि जिस धर्म के स्वरूप में निश्चय धर्म का लोप किया हो, मात्र व्यवहार धर्म का ही प्ररूपण हो, वहाँ पर भी चोरी का दोष आता है। क्योंकि असली धर्म निश्चय धर्म है, यही मोक्ष का साक्षात् कारण है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र निश्चयनय से एक शुद्ध आत्मा स्वरूप हैं। ये तीनों ही आत्मा के गुण हैं, आत्मा से अभेद हैं। शुद्ध आत्मा रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित अमूर्तीक है तथा ज्ञानाकार है, क्योंकि वह एक अखण्ड पदार्थ है, वह जैसा शरीर होता है उस आकार में व्याप जाता है, बिना आकार के कोई वस्तु नहीं हो सकती है। वह मूर्तीक जड आकार से शून्य है। उसका आकार हम अल्पज्ञानियों के ध्यान में नहीं आ सकता है। वह अमूर्तीक अनन्त गुणों का पुंज है। इनमें ज्ञान सर्वत्र व्यापक है इसलिये उसको ज्ञानाकार कहते हैं। द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, भावकर्म राग-द्वेषादि, नोकर्म शरीरादि, इन सबसे रहित स्वसंवेदनगम्य वह एक अद्भुत पदार्थ है। जहाँ पाँच इंद्रिय और मन से उपयोग को हटाकर देखा जायगा तो वही अनुभव में आयगा। इसतरह जहाँ शुद्धात्मारूप अपने आपका श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र है वही अभेद रत्नत्रय मोक्ष का साधन है। जितना भी व्यवहार धर्म पाला जाता है, वह इस स्वानुभव रूप निश्चय मोक्षमार्ग के लिये ही है। जहाँ इसको लोप कर दिया जाय, वहां निःसार धर्म रह जाता है। जैसे चावल बिना धान्य की भूसी, तेल बिना तिल की भूसी-भूंजी निःसार है। उसी प्रकार निश्चय धर्म की अपेक्षा बिना व्यवहार धर्म को सेवन करना बालू पेलकर तेल निकालना है। शुद्धात्मानुभव ही साक्षात् उपादेय – आराधने योग्य धर्म है। योगसार में योगीन्द्रदेव कहते हैं –**

जो णिम्मल अप्पा मुणहि छन्डवि सहु ववहारु। जिणसामी एहइ भणइ लहु पावहु भवपारु॥३७॥
जाम ण भावहु जीव तुहुं णिम्मलअप्पसहाउ। ताम ण लब्भइ सिवगमणु जहिं भावहु तहिं जाऊ॥२७॥

भावार्थ – **जो सर्व व्यवहार को छोडकर निर्मल आत्मा का अनुभव करता है। जिनेन्द्र भगवान कहते हैं वही शीघ्र संसार से पार हो जाता है। हे जीव ! जबतक तू निर्मल आत्मा के स्वभाव की भावना न करेगा तबतक मोक्ष में गमन नहीं हो सकता, चाहे जहां जाय व चाहे जो कुछ करे।**

जो आत्मानुभव की तरफ लक्ष्य दिलाते हुए व्यवहार क्रियाकांड का उपदेश देते हैं, वे ही सच्चे जिनेन्द्र के तत्व का प्रकाश करनेवाले हैं। परन्तु जो मुख्य अंग को छिपाते हैं, वे वास्तव में आत्म-हितकारी बात को छिपाने से चोर हैं। चोरी के व्यसन में प्रथम तो पर की वस्तु का ग्रहण मना किया है। जो अपने हक का पैसा है व सम्पदा है व पदार्थ है, उसी में हमको संतोष रखना चाहिये। फिर उसके दोष जो जो लग सकते हैं उनको बताया है। जहाँ सरल मायाचार रहित परिणाम होगा, वहाँ चोरी का कोई दोष नहीं लग सकता है। भावों की सम्हाल ही मुख्य धर्म है।

॥ श्लोक १३५ ॥

परदारारतो भावः, परपंचं कृतं सदा।
ममत्वं अशुद्ध भावस्य, आलापं कूट उच्यते॥

अन्वयार्थ – (परदारारतो भावः) **परस्त्री में आसक्त जिसका भाव है वह** (सदा परपंचं कृतं) **सदा प्रपंचजाल करे व करता रहता है** (अशुद्ध भावस्य ममत्वं) **उसके अशुद्ध भाव का मोह है। वह** (कूट आलाप) **मायाचार सहित बातचीत** (उच्यते) **कहता रहता है।**

विशेषार्थ – अब यहाँ परस्त्री रमन व्यसन को कहते हैं। वेश्या व्यसन में अविवाहित व्यभिचारिणी स्त्री का ग्रहण है, यहाँ विवाहित व्यभिचारिणी स्त्री का ग्रहण है। जो कोई परस्त्री की वांछा मन में करते हैं, उनको सदा ही मन में उस परस्त्री से सम्बन्ध करने की चिंता रहती है। उनसे मिलने के लिये नाना प्रकार जाल रचा करते हैं। अशुद्ध पापकारी काम के भावों में उनकी लीनता रहती है। वे इसी हेतु मायाचार सहित वार्तालाप भी करते हैं। मन, वचन, काय तीनों की कुचेष्टा परस्त्री में रतिभाव करने से होने लगती है। परस्त्री के रागी के द्वारा धर्म, अर्थ, काम तीनों गृहस्थ के पुरुषार्थ बिगड़ जाते हैं। यह गृही धर्म को बिगाड़ लेता है। गृहस्थी को विवाह करने का यही अभिप्राय है कि यह संतोषी रहे, संतान की मुख्य भावना से स्वस्त्री में संतोष करे, परस्त्री की वांछा न करे। परस्त्री का लोभ प्राणी को घोर संकटों में डाल देता है। इस लोक में भी अपमान सहता है और परलोक में भी अधोगति का पात्र होता है। सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं –

यो परिचिन्त्य भवार्णवदुःखमन्यकलत्रमभीप्सति कामी।
साधुजनेन विनिन्द्यमगम्यं तस्य किमत्र परं परिहार्यम्॥५८८॥
दृष्टिचरित्रतपोगुणविद्याशीलदया दमशौच शमाद्यान्।
कामशिखी दहति क्षणतो नुर्वह्निरिवेन्धनमूर्जितमत्र॥५९१॥

भावार्थ – जो कोई संसार-समुद्र के दुःखों को चिंतवन करके भी कामी है, परस्त्री की इच्छा करता है उसको साधुजनों ने निंदनीय कहा है व अयोग्य बताया है। उसको यहाँ कुछ भी त्यागने योग्य नहीं रहा। काम की अग्नि दर्शन, चारित्र, तप, गुण, विद्या, शील, दया, संयम, शौच, शांति आदि गुणों को क्षणमात्र में जला देती है, जिसतरह अग्नि की शिखा ईंधन के समूह को जला देती है।

जो गृहस्थ श्रावक धर्म पालकर अपना हित करना चाहें उनको उचित है कि अपनी विवाहिता स्त्री में सन्तोष रखें और हर तरह परस्त्री के सम्बन्ध से अपनी रक्षा करे। यह व्यसन भी पीछे पड़ जाने से नहीं छूटता है।

॥ श्लोक १३६ ॥

अबंभं कूट सद्भावं, मन वचनस्य क्रीयते।
ते नरा व्रतहीनाश्च, संसारे दुःखदारुणं॥

अन्वयार्थ – (अबभं) **अब्रह्मभाव** (मन वचनस्य) **मन और वचन में** (कूट सद्भावं क्रीयते) **मायाचार को जमा देता है। जो अब्रह्म की सेवा करते हैं** (ते नरा) **वे मानव** (व्रतहीनाश्च) **व्रत रहित ही हैं** (संसारे) **इस संसार में** (दुःखदारुण) **महान दुःख को पाते हैं।**

विशेषार्थ – **परस्त्री भोग का भाव मन और वचन को कुटिल कर देता है। जो कोई श्रावक के व्रतों को पालने की प्रतिज्ञा करके भी अब्रह्म में रत हो जाते हैं वे अपना महान बुरा करते हैं। पाँच अणुव्रतों में स्वस्त्री संतोष व्रत मुख्य है। जो इस बात को भूलकर पर-स्त्रियों की संगति करते हैं, उनसे हास्यजनक वार्तालाप करते हैं, वे उनके मोह में पडकर व्रत का स्वरूप मलीन कर देते हैं। उनके भावों में परस्त्री का रूप बस जाता है। वे उसके देखने की, उससे बात करने की, उससे मिलने की चिंता में पड जाते हैं। वास्तव में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये निमित्तों से बचने की बहुत जरूरत है। स्त्री-पुरुष का एकांत निमित्त बडे-बडे महाव्रती मुनि तक के भावों में मलीनता पैदा कर देता है। व्रती को इसीलिये एकांत में शय्या व आसन रखने के लिये कहा गया है। उसको सब ही विकारकारी निमित्तों से अपने को बचाना उचित है। श्रावक धर्म को पालकर जीवन सफल करने का साधन परस्त्री के व्यसन से बचना ही है।**

॥ श्लोक १३७ ॥

कषायेन हि विकहा स्यात्, चक्रइन्द्र नराधिपाः।
भावनं यत्र तिष्ठंते, परदाररतो नराः॥

अन्वयार्थ – (परदाररतो नराः) **जो मानव परस्त्री के व्यसन में लीन हैं उनके भीतर** (कषायेन) **लोभ कषाय के द्वारा** (हि) **निश्चय से** (विकहा) **विकथा** (स्यात्) **करने का भाव होता है** (यत्र) **जिस विकथा में** (चन्द इन्द नराधिपाः) **चक्रवर्ती, इन्द्र, तथा राजाओं के पद की** (भावनं) **भावनाएँ** (तिष्ठंते) **होती रहती हैं।**

विशेषार्थ – **चक्रवर्ती के छ्यानवै हजार स्त्री का भोग होता है। इन्द्र की सेवा में भी हजारों देवांगनाएँ होती हैं। बडे बडे राजाओं के भी स्त्रीभोग प्रसिद्ध है। ऐसा कथाएँ जिनमें इनके काम-भोग सम्बन्धी वर्णन आते हैं उन पुरुषों को बहुत रुचती हैं, जो कामी परस्त्रियों में रत हैं। इन कथाओं**

को वे इसी भाव से सुनते या पढते हैं कि काम की भावना में रँजायमान हुआ जावे। ये कथाएँ उनके मन में यह भावना जागृत कर देती हैं कि हमको भी चक्रवर्ती व इन्द्रादि के व महाराजाओं के पद प्राप्त हों, जिसमें खूब स्त्रियों के भोग करने का अवसर मिले। कोई-कोई इसी भावना को मन में रखकर मुनि व श्रावक के व्रत भी पालने लगते हैं। वे शुद्ध अतीन्द्रिय सुख की भावना को भूलकर क्षणिक इंद्रिय जनित अतृप्तिकारी सुख की भावना करते हुए अपने मन को अशुभ निदान भाव से मलीन रखते हैं। उनका चारित्र पालन बहुत अल्प पुण्य बाँधता है, परम्परा से वे संसार के ही मार्गी होते हैं।

प्रयोजन कहने का यह है कि परस्त्री व्यसन के लोभ से बचना ही हितकर है। जो सम्यक्त्वी हैं, वे तो कामभाव को रोग जानते हैं, स्वस्त्री में भी भोग करना अपना कर्तव्य नहीं समझते हैं। उसे भी काम रोग का एक दिल बहलानेवाला उपाय समझते हैं, वे पहचानते हैं कि काम भाव का नाश आत्मध्यान के वीतरागमय भाव के अभ्यास से ही होगा। वे गृहस्थ में रहते हुए नीति से चलते हैं, कभी भी परस्त्री की वांछा नहीं करते हैं। यह काम की उत्कट वांछा महान आर्तध्यान में व विकथाओं में फँसा देती है और घोर कर्म का बंध कराती है।

॥ श्लोक १३८ ॥

कामकथा च वर्णत्वं, वचनं आलाप रञ्जनं।
ते नरा दुःख सह्यंते, परदाररता सदा॥

अन्वयार्थ – (कामकथा च) कामभाव बढानेवाली कथाओं का भी (वर्णत्व) वर्णन करना तथा (आलाप रंजन वचनं) काम की चर्चा में रंजायमान करनेवाला वचन कहना। ऐसा जो करते हैं वे (परदाररता जना) वे मानव परस्त्री व्यसन में रत हैं (ते नरा) वे मानव (दुःख सह्यते) अनेक कष्ट सहते हैं।

विशेषार्थ – परस्त्रियों की सुन्दरता की हाव-भाव विलास-विभ्रम की, उनके प्रेम में फँस जाने की, उनको छल लेने की, उनके भोग-विलास की कथाएं मन को श्रृंगार रस में फँसानेवाली कहना तथा उनको सुनकर प्रसन्न होना। हाँ मे हाँ मिलाना। इत्यादि परस्त्रियों में रति को पैदा करनेवाली जो कुछ भी चर्चा है व वचनालाप है यह सब परस्त्री व्यसन में गर्भित है, परिणामों में काम की उत्कटता बढानेवाली है। ये अशुभ भाव पाप बन्ध कारक हैं। उन पापों के उदय से प्राणी को संसार में दुःख सहने पडेंगे। यहाँ भी यदि कोई किसी परस्त्री की सुन्दरता की कथा सुनकर उस पर अपने भाव आसक्त कर लेगा, वह रात-दिन चिन्ता की दाह में जलकर दुःख पावेगा। उसके लिये महान प्रपंच

करेगा, असफलता में प्राण तक गमा बैठेगा। इसलिये गृहस्थ श्रावक को उचित है कि परस्त्री व्यसन के भीतर भयभीत प्रवर्ते इस हेतु कभी काम की कथाएँ न कहें न सुनें। ऐसे खेल-नाटक-तमाशे भी न देखें, जो मन को काम के विकार से आकुलित कर दें। वेश्याओं के नाच-गान भी न सुनें। ब्रह्मचर्य के पालने के लिये यह आवश्यक है कि भावों को बिगाडनेवाले निमित्तों से बचा जावे। क्योंकि काम-भाव की आग का उत्पन्न होना महान संकटों का कारण है। कुलभद्र आचार्य ने सारसमुच्चय में कहा है –

मदनो ऽस्तिमहाव्याधिर्दुश्चिन्त्य सदा बुधै।
संसारवर्धने ऽत्यर्थं दुखोत्पादनतत्पर ।।९३।।
यावदस्य हि कामाग्निर्हृदये प्रज्वलत्यलम्।
आश्रयन्ति हि कर्माणि तावदस्य निरन्तरम्।।९४।।
सकल्पाच्च समुद्भूतः कामसर्पो ऽतिदारुणः।
रागद्वेषाद्विजिह्वो ऽसौ वशीकर्तुं न शक्यते।।९७।।

भावार्थ – **कामभाव महान रोग है बुद्धिमानों ने इसका उपाय बड़ा ही कठिन कहा है, इससे संसार अतिशय बढ़ता है सदा ही दुःख हुआ करता है। जबतक यह काम की अग्नि चित्त में जला करती है, तबतक निरंतर कर्मों का बंध हुआ करता है। कामरूपी भयानक सर्प संकल्प से ही उत्पन्न होता है, जिसके राग-द्वेषरूपी दो जिह्वा हैं। इसको वश करना बहुत कठिन है।**

दुष्टा येयमनगेच्छा सेय ससारवर्धिनी। दुःखस्योत्पादने शक्ता शक्ता वित्तस्य नाशने।।९८।।

भावार्थ – **जो यह काम की इच्छा है, वह अति दुष्ट है – यह संसार को बढानेवाली है, क्लेश को पैदा करनेवाली है तथा परस्त्री व्यसन में फँसाकर धन का नाश करनेवाली है। इसलिये काम की कथाओं से बचना बहुत जरूरी है।**

॥ श्लोक १३९ ॥

विकहा श्रुत प्रोक्तं च, कामार्थ श्रुत उक्तयं।
श्रुतं अज्ञानमयं मूढं, व्रतखंडं दाररंजितं॥

अन्वयार्थ – (विकहा श्रुत प्रोक्तयं) **स्त्री कथारूपी विकथा में फँसानेवाले शास्त्रों का व्याख्यान करना या** (कामार्थं) **काम-भाव के उत्पन्न करने के लिये** (श्रुत उक्तय) **किसी भी शास्त्र का कहना** (दाररंजितं) **वह स्त्रियों में रंजायमान करानेवाला है तथा** (व्रतखंण्डं) **ब्रह्मचर्य व्रत का खण्डन करनेवाला है।**

विशेषार्थ – चार विकथाओं में स्त्री कथा बडी खोटी विकथा है, स्त्रियों के मोह में फँसानेवाली है – ऐसी कथाओं को व्याख्यान करनेवाले शास्त्रों का रचना, उनका कहना सुनना व अन्य कोई भी शास्त्र हो, उसके वर्णन को इसतरह कहना कि जिसके सुनने से काम-भाव उत्पन्न हो जावे, विकथा रूप है। जैसे किसी जैन पुराण में कहीं स्त्रियों के श्रृँगार का वर्णन है, उस वर्णन को आचार्य ने पुण्य का फल या उसकी क्षणभंगुरता दिखाने के लिये किया है उस वर्णन को कोई व्याख्याता इस रूप में कहें कि जिससे श्रोताओं का मन काम-भाव में लिप्त हो जावे, वह विकथा ही में आ जायगा। जहाँ ऐसा कथन आवे वहाँ उसे वक्ता को इसतरह समझाना चाहिये, जिससे राग के स्थान में वैराग्य हो जावे, बडे-बडे काव्य, नाटक, छन्द, अलंकार व कविताएँ ऐसी बनाई जाती हैं, जिनमें बडी भारी विद्वत्ता है, परन्तु कामभाव की उत्तेजक हैं, वे सब ग्रन्थ कुज्ञानमय शास्त्र हैं। वे मूढता से भरपूर हैं। ऐसे शास्त्रों के रचने, कहने व सुनने से स्त्रियों में अनुराग बढ जाता है, परस्त्री व वेश्या की चाहना उठ आती है। परिणामों में परस्त्री की तरफ आसक्ति आने से ब्रह्मचर्य व्रत का खण्डन हो जाता है। अतएव ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये स्त्रियों की विकथाओं से बचना हितकर है।

॥ श्लोक १४० ॥

परिणामं यस्य विचलंते, विभ्रमं रूप चिंतनं।
आलापं श्रुत आनन्दं, विकहा परदारसेवनं॥

अन्वयार्थ – (यस्य) जिस विकथा के करने से (परिणामं) भाव (विचलंते) डगमगा जाते हैं, (विभ्रम) स्त्रियों के विलास (रूप) व उनके रूप देखने की (चिंतनं) चिंता उत्पन्न हो जाती है, (आलापं श्रुत आनन्दं) कामभाव के गीत व वार्तालाप सुनने में आनन्द भाव जागृत हो जाता है, इसीलिये (विकहा) स्त्री कथा करना (परदारसेवनं) परस्त्री सेवन में गर्भित है।

विशेषार्थ – स्त्रियों की कथा जबतक कुकथा रूप में की जायगी, उसके सुनते-सुनते कहते-कहते परिणाम शुद्ध ब्रह्मचर्य के भाव से डगमगा जायेंगे। भावों में विकार तो हो ही जायगा तथा यह चिंता हो जायगी कि हम स्त्रियों के रूप देखा करें, उनके वस्त्राभूषण, चलने, फिरने, नाचने, गाने के विलास देखा करें, उनके मनोहर गान सुना करें, उनके साथ वार्तालाप किया करें। इस चिंता के साथ उसको परस्त्रियों या वेश्याओं के साथ वार्तालाप करने में व उनके मनोहर शब्द सुनने में अति रंजायमानपना हो जायगा। यदि कोई परस्त्री भोग नहीं भी करे तो भी यह सब मन की व वचन की व काय की चेष्टा परस्त्री व्यसन के सदृश भावों को विकारी बनानेवाली है, अतएव परस्त्री व्यसन में गर्भित है। यहाँ यही तात्पर्य है कि काम-भावों को उत्पन्न करनेवाली कथाओं को कभी भी

सुनना, पढना व रचना न चाहिये। विवेकियों को शील-भाव दृढ़ करनेवाली कथाओं को सुनना व पढना व रचना चाहिये।

।। श्लोक १४१ ।।

मनादिकाय विचलंति, इन्द्रियविषय रञ्जितं।
व्रतखण्डं सर्व धर्मस्य, अनृतं अचेतं सार्द्धं

अन्वयार्थ – (मनादिकाय) **मन को आदि लेकर अर्थात् मन, वचन, काय तीनों** (विचलंति) **आकुलित हो जाते हैं।** (इन्द्रियविषय रजित) **इंद्रियों के विषयों में रंजायमानपना हो जाता है।** (व्रतखण्डं) **ब्रह्मचर्य का खण्डन हो जाता है।** (सर्व धर्मस्य अनृतं) **सर्व धर्म में मिथ्यापना हो जाता है।** (अचेत सार्द्ध) **साथ में मिथ्याज्ञान का भाव दृढ़ हो जाता है।**

विशेषार्थ – **श्री सम्बन्धी विकथाओं के करने से मन में आकुलता हो जाती है। राग सहित वचनों का प्रयोग स्त्रियों से करने लग जाता है। स्त्रियों के अंगादि को स्पर्श करने की कुचेष्टा भी काय से होने लगती है। इस काम की तीव्रता के वश होकर पाँचों इंद्रियों के विषयों में रंजायमानपना हो जाता है। मनोहर वस्त्रादि, पलंगादि व परस्त्री वेश्यादि का स्पर्श करने में मन राजी रहता है। जिह्वा की लोलुपता बढ जाती है, मिष्ट व कामोद्दीपक पदार्थ व मादक पदार्थ खाने में मन प्रसन्नता मानता है। अतर-फुलेल लगाने में व फूलों की माला सूँघने में अनुरक्त हो जाता है। आँखों में चंचलता बढ जाने से निरन्तर मनोहर रूप के देखने की कामना दृढ़ हो जाती है। कानों से सदा मनोहर गान, सुर-ताल सहित सुनने की तीव्र रुचि हो जाती है। इसी से (व्रतखण्डं) ब्रह्मचर्य व्रत का खण्डन हो जाता है। तब जो कुछ अहिंसादि व्रत होते हैं उनका उसके भावों में सत्यपना नहीं रहता है। वह अतिरागी होकर अपने शील भाव का हिंसक हो जाता है। परस्त्रियों के लिये अभिलाशा करके उनकी प्राप्ति की भावना से मिथ्या वचन बोलने में व गुप्तरूप से चोरी करने की भावना हो जाती है। परिग्रह की लालसा बढ़ जाती है। कुशील की अन्याय जनित प्रवृत्ति की भावना से सर्व धर्म उसके मिथ्या हो जाते हैं। साथ में उसका ज्ञान भी निर्मल नहीं रहता है, मिथ्यात्व का उदय आ जाता है और उसका सर्व शास्त्रज्ञान मिथ्याज्ञानपने को प्राप्त हो जाता है। इसलिये जो ब्रह्मचर्यव्रत को, सर्व देश या एक देश पालना चाहें उनको उचित है कि वे काम-कथा के प्रपंच में न पडे, न ऐसी कुसंगति रखें, जिससे मन भी किसी तरह विचलित हो जावे। परिणामों की सम्हाल निमित्तों के बचाने से होगी। इसलिये ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये तत्वार्थसूत्र में पाँच भावनाएँ बताई हैं –**

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृस्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंचः।।७।।

भावार्थ – (१) स्त्रियों में राग बढ़ानेवाली कथाओं का सुनना छोड़ना चाहिये, (२) उन स्त्रियों के मनोहर अंगों के देखने का त्याग करना चाहिये, (३) पूर्व में भोगे हुए भोगों की स्मृति न करनी चाहिये, (४) कामोद्दीपक पौष्टिक रस न खाना चाहिये, (५) अपने शरीर का श्रृंगार न करना चाहिये।

मन की चंचलता बड़ी विचित्र है। जरा भी विपरीत निमित्त होता है तो मन विकारी हो जाता है। मन का विकारी होना ही कामदेव का उत्पादक है।

॥ श्लोक १४२ ॥

विषये रञ्जितं येन, अनृतानंद संजुतं।
पुण्योत्साहं उत्पादी, दोषे आनंदनं कृतं॥

अन्वयार्थ – (येन विषये रंजितं) जो पाँच इंद्रियों के विषयों में रंजायमान हो जाता है, वह (अनृतानन्द संजुतं) मृषानंद रौद्रध्यान सहित हो जाता है या मिथ्यात्व में आनंदवान हो जाता है। (पुण्योत्साहं उत्पादी) वह पुण्य करने में उत्साह पैदा कर लेता है। इस तरह (दोषे) जो संसार का कारण दोष है उसमें (आनंदनं कृतं) प्रसन्न होकर तन्मय हो जाता है।

विशेषार्थ – स्त्री सम्बन्धी काम कथा का बुरा फल यह होता है कि यह प्राणी मूढ़ होकर जिन इंद्रियों की वांछा एक सम्यग्दृष्टि को नहीं होनी चाहिये, उन ही में यह रंजायमान होने लगता है। बस मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यात्वी हो जाता है या सत्य मार्ग से हट जाता है और मिथ्या मार्ग में आनंद मानने लगता है। उसके भीतर से वीतराग-विज्ञानमय सत्य धर्म की रुचि चली जाती है। ऐसा विषयों का लोभी मोक्षमार्ग को भूलकर पुण्य कर्म करने में बड़ा ही उत्साही हो जाता है। अर्थात् पुण्य की तीव्रता होगी तो मनोवांछित भोग स्वर्गों में व राजा-महाराजा ओं के पाकर खूब विषय-भोग करूँगा – इस भावना में लिप्त हो बड़े भाव से पूजा करता है, भजन पढ़ता है, दान देता है, शास्त्र पढ़ता है, नियम-संयम पालता है, उपवास करता है, मुनि होकर दिगम्बर साधु का कठिन चारित्र पालता है या श्रावक के व्रतों को पालता है तोभी मोक्षमार्ग से विपरीत चलता हुआ, भोगों की तृष्णा के उद्देश्य को रखता हुआ जो दोष है उसमें आनन्द मान लेता है। वह अपने कठोर चारित्र को विषयरूपी विष के बदले में बेच डालता है।

जिस चारित्र से स्वरूपाचरण चारित्र होकर अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ हो सकता था, निर्वाण का शाश्वत सुख प्राप्त हो सकता था, उस चारित्र को उतनी ही मेहनत से पालता हुआ त्यागने योग्य मिथ्या वस्तु की चाह में ही फँसा रहता है, विषयों की आशा में आनन्द मानता है। जैसे कोई धन की प्राप्ति के आनन्द में तीव्र-आताप में भी नंगे पैर भारी भार लेकर ढ़ोता है, बहुत उपसर्ग सहता है, ऐसे

ही अज्ञानी जीव क्षणिक विषयसुख की आशा से महान मुनि का या श्रावक का चारित्र शास्त्रोक्त पालता है वह मिथ्यादृष्टि होता हुआ संसारवर्द्धक दोष की ही सेवा कर रहा है।

इसतरह यहाँ ग्रन्थकर्ता ने परस्त्री व्यसन को बहुत अच्छी तरह बताया है। श्रावक गृहस्थियों का यह मूल कर्तव्य होना चाहिये कि वे मोक्ष की भावना से जीवन बितावें। निरंतर संसार-शरीर-भोगों से वैराग्य भाव रखें, निजानन्द पद के गाढ प्रेमी हो जावें, ऐसे गृहस्थी पाँच इंद्रियों के भोगों को बहुत नियमित आवश्यक्तानुसार रोग के इलाजवत् रुचि रहित भोगते हैं। वे शुद्ध मन से अपनी विवाहिता स्त्री में संतोषित रहते हैं। कामभाव की अग्नि को उत्तेजित करनेवाली सर्व मन-वचन-काय की क्रिया से, कुसंगति से, कथा-आलाप से सबसे बचते हैं।

वास्तव में ये सातों ही व्यसन मानवों के परम वैरी हैं। जो अपना हित चाहे उनको इनसे बचकर रहना चाहिये तथा उनके सर्व अतीचारों को भी बचाना चाहिये। इस कथन से यह बात तत्वज्ञानी को झलक जायगी कि अनंतानुबंधी कषाय के भाव किस तरह प्राणी को मिथ्यात्व में पटक देते हैं अथवा मिथ्याज्ञान से किसतरह यह प्राणी व्रत-तप करता हुआ अनंतानुबंधी कषाय के फेर में अचेत हो जाता है।

॥आठ मद का स्वरूप॥

॥ श्लोक १४३ ॥

एतत्तु रागबन्धस्य, मद अष्टं रमते सदा।
ममत्वं असत्य आनंदं, मदष्टिं नरयं पतं॥

अन्वयार्थ – (एतत् तु) **इसप्रकार के** (रागबन्धस्य) **राग से बँधा हुआ प्राणी** (सदा) **निरंतर** (मद अष्ट) **आठों मदों में** (रमते) **रमण किया करता है** (ममत्व) **जगत की ममता में फँसा रहता है** (असत्य आनद) **मिथ्या पदार्थों में आनन्द माना करता है।** (मदाष्ट) **ये आठों मद** (नरय पत) **नरक में गिरा देते हैं।**

विशेषार्थ – **ऊपर लिखे हुए द्यूत रमण आदि सातो व्यसनों के भीतर जो रंजायमान हुआ करता है, जिसको विषय-रुचि व सेवन ही सुखरूप भासता है, जिसको आत्मा के आनन्द की खबर नहीं है ऐसा मिथ्यादृष्टी जीव जाति, कुल आदि के आठ प्रकार के घमण्ड में भी सदा रंजायमान रहता है। क्योंकि इसको संसार से अति ममत्व है, स्त्री-पुत्र-धनादि के साथ गाढ स्नेह है। इन मदों को करता हुआ यह अज्ञानी प्राणी मिथ्या जगत की अवस्थाओं में जो नाशवंत हैं, आनन्द माना करता है। जब उनका वियोग हो जाता है तो अत्यन्त शोक करता है। तीव्र कषाय में ग्रसित होता हुआ यह अज्ञानी**

प्राणी नरकायु बाँध लेता है, नरक में जाकर घोर कष्ट पाता है। जो वस्तु थिर रहनेवाली नहीं है उनको थिर मानके घमण्ड करना वास्तव में अज्ञान है॥ यह सबको प्रगट है कि धन के रहने का कोई नियम नहीं है, कुछ दिनों में एक धनवान निर्धन हो जाता है। जुवानी के रहने का नियम नहीं है, जुवान से शीघ्र वृद्ध हो जाता है। जीवन के छूट जाने का कोई नियम नहीं है, तृण के ऊपर जल-बूंद के समान पतन हो जाता है। जगत में जितनी भी पर्याय हैं, स्कन्ध हैं, मिश्रित भाव हैं, औपाधिक परिणाम हैं, वे सब अस्थिर हैं। कर्मोदय से उनका संयोग इस संसारी जीव को होता है। कर्म का उदय धूप-छाया के समान कभी अच्छा कभी बुरा है। जो कोई धूप वा छाया के एक तरह बने रहने का मिथ्या मोह करेगा, वह अवश्य उनके वियोग पर कष्ट का अनुभव करेगा। अतएव मद करना मात्र मिथ्यात्व भाव है और तीव्र कषाय का झलकाव है।

॥ श्लोक १४४ ॥

असत्त्ये अशाश्वते रागं, उत्साहेन रतो सदा।
शरीरे रागवर्धन्ते, ते तु दुर्गतिभाजनं॥

अन्वयार्थ – (असत्त्ये) **मिथ्या** (अशाश्वते) **व अनित्य पदार्थ में** (रागं) **राग करना व** (उत्साहेन) **उत्साह के साथ** (सदा) **निरंतर** (रतो) **उनमें रति करना तथा** (शरीरे) **शरीर में** (राग) **मोह को** (वर्धन्ते) **बढा लेते हैं।** (ते तु) **जो ऐसे मोही हैं, वे** (दुर्गतिभाजनं) **अशुभ गति के भागी होते हैं।**

विशेषार्थ – **जगत की सर्व रचना जो बनती है व बिगडती है वह सब मिथ्या है व नाशवंत है। जैसे क्षण-क्षण में समय बीतता जाता है ऐसे ही सर्व अवस्थाएँ क्षण-क्षण में बदलती रहती हैं। इन अवस्थाओं में राग करना व इनके बने रहने में उत्साह रखना व रंजायमान होते रहना, प्राणी को शरीर का अतिशय मोही बना देता है, वह आत्मा को बिलकुल भूलकर अपने को शरीररूप ही माना करता है। मैं नृप हूँ, मैं बलवान हूँ, मैं विद्वान हूँ, मैं तपस्वी हूँ, मैं सुन्दर हूँ, मैं बडे वंश का हूँ इत्यादि शरीर की मूर्च्छा में मूर्छित होता हुआ तीव्र कर्म बाँधकर दुर्गति में चला जाता है।**

सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं –

गलत्यायुर्देहे व्रजति विलयं रूपमखिलं, जरा प्रत्यासन्नीभवति लभते व्याधिरुदयम्।
कुटुम्बः स्नेहार्तः प्रतिहतमतिर्लोभकलितो, मनो जन्मोच्छित्त्यै तदपि कुरुते नायमसुभान्॥ ३३३॥
भवन्त्ये लक्ष्म्यः कतिपयदिनान्येव सुखदा, तरुण्यः तारुण्ये विदधति मनः प्रीतिमतुलाम्॥
तडिल्लोला भोगा वपुरपि चलं व्याधिकलितं। बुधाः संचिंत्येति प्रगुणमनसो ब्रह्मणिरताः॥ ३३५॥

भावार्थ – **यह आयु गलती जाती है। वह सब रूप विलय होता जाता है। जरा निकट आती जाती**

है। रोगों का उदय होता रहता है। कुटुम्ब-स्नेह में फँसा हुआ लोभ से जकड़ा रहता है। तो भी निर्बुद्धि प्राणी इस मिथ्या व नाशवंत संसार के नाश के लिये कुछ नहीं करता है। ये धन-संपदा कुछ दिन के लिये सुखदायी भासती है, युवती स्त्रियाँ युवानी में ही गाढ़ प्रीति को विस्तारती है। भोग बिजली के चमत्कार के समान चंचल है। यह शरीर रोगों से भरा चलायमान है। गुणवान पंडितजन ऐसा विचार करके अपने शुद्ध आत्मस्वभाव में रमण करते हैं। वास्तव में इस सांसारिक पदार्थों के लिये मान व मूर्छा करना मात्र अज्ञानता है।

॥ श्लोक १४५ ॥

जाति कुली सुर रूपं, अधिकारं तपः बलं। 134
शिल्पीज्ञानं आरूढं, मदष्टं संसार भाजनं॥

अन्वयार्थ – (जाति) माता के पक्ष का (कुल) पिता के पक्ष का (इसुर) धन के स्वामित्व का (रूप) सुन्दर रूप का (अधिकार) अधिकार व आज्ञा चलाने का (तप) तप करने का (बल) शरीर के बल का (शिल्पीज्ञान) शिल्पादि विद्याओं के ज्ञान का (आरूढ) अभिमान करना (मदष्ट) – ये आठ मद (ससारभाजन) संसार के भाजन हैं।

विशेषार्थ – यहाँ आठ मदों के नाम गिनाए हैं। सम्यग्दृष्टि इन मदों को नहीं करता है। मिथ्यादृष्टि जगत के मोही जीव के भीतर ये आठ मद अपना घर कर लेते हैं। यह मानव मान के पर्वतपर चढा हुआ दूसरों को अपने से तुच्छ देखता है। इन आठ मदों का स्वरूप इस भांति है –

(१) जाति मद – शरीर को जन्म देनेवाली माता होती है। इससे माता की पक्ष के जाति कहते हैं। जिसकी योनि से जन्म हो वह माता है। उसके कुटुम्बीजनों में यह मान करना कि हमारे मामा, नाना ऐसे-ऐसे हैं। उनके धनादि बल को अपना मानकर अहंकार करना जाति मद है।

(२) कुल मद – जिसके वीर्य से पैदा होता है, उसको कुल या वंश कहते हैं। अपने पिता, पितामह, पर-पितामह आदि की सम्पदा आदि का विचार कर उसके बलपर अपना बल मान कर अहंकार करना सो कुल मद है।

(३) ऐश्वर्य मद – धन सम्पदा-माल मकान, खेती, गहना, सोना, चाँदी आदि पास होते हुए उनका मैं स्वामी हूँ, अतएव मैं धनिक हूँ, मैं सुखी हूँ, ऐसा मान निर्धनों को तुच्छ दृष्टि से देखता हुआ अहंकार करना सो धन मद है।

(४) रूप मद – शरीर का आकार सुन्दर सुहावना – आँख, नाक, कान, मुँह, शरीर का रंग शुभ होते हुए अपने को रूपवान, दुसरों को सुन्दरता-हीन समझकर अपने शरीर के रूप का अहंकार

करना रूपमद है।

(५) अधिकार मद – प्रभुताई, बड़प्पन, हुकूमत चलते हुए यह मानना कि मैं जो चाहे सो कर सकता हूँ, चाहे जिसे झूठा दोष लगाकर भी दंडित कर सकता हूँ। कोई साधारण भी अपमान करे या दोष करे तो अपने अधिकार से खूब कठोर दण्ड दे सकता हूँ। मेरा कोई क्या बिगाड़ कर सकता है – ऐसा अहंकार करना सो अधिकार मद है।

(६) तप मद – और मनुष्यों से न बन सके – ऐसा तप, उपवास, रस-त्याग, ऊनोदर, कठिन प्रतिज्ञा लेकर आहार को जाना, न मिलने पर फिर उपवास करना, पर्वत, शिखर, वन, नदीतट, श्मशानभूमि आदि विषम स्थानों पर जाकर तप करना। भूख प्यास, डांस, मच्छर, गाली आदि परीषहों का सहना, इत्यादि नानाप्रकार साधु या श्रावक की अवस्था में रहते हुए तप साधना, परंतु मन में यह अहंकार कर लेना कि मैं बड़ा तपस्वी हूँ – मेरे समान तप किसी से नहीं बन सकता है। यदि कोई प्रतिष्ठा व विनय में कमी करे तो मानवश क्रोध भाव रखना – ये सब तप मद हैं।

(७) बल मद – शरीर में व्यायामादि करने से औरों से अधिक बल होने पर निर्बलों को तुच्छ दृष्टि से देखना, अपने बल से निर्बलों को सताना, निःशंक हो उनका बिगाड़ करना और यह अहंकार करना कि कोई मेरा क्या कर सकता है, मेरा सामना कोई नहीं कर सकता है, – ऐसा मान कर रहना सो बल मद है।

(८) शिल्पज्ञान या विद्या मद – अपने को चित्रकारी, बढ़ई का काम, लोहार का काम, यंत्रविद्या, वस्त्रों पर बेल-बूटे निकालना, कवि कला, न्याय, व्याकरण, छंद, अलंकार, तैरना, बजाना, गाना, धर्म-शास्त्र का सूक्ष्म ज्ञान आदि अनेक प्रकार लौकिक और पारलौकिक विद्याओं का स्वामीपना होने पर अपने से औरों को मूर्ख गिनना, किंचित् अपमान से क्रोधित हो जाना, अपनी पूजा प्रतिष्ठा चाहना, मेरे सामने कोई आ नहीं सकता है, मैं सब को कला-चतुराई में परास्त कर सकता हूँ – ऐसा अहंकार रख कर मान के नशे में चूर रहना ज्ञानमद या विद्यामद है।

जो शरीर, भोग व संसार का मोही है, वही मूर्छावान अज्ञानी प्राणी इन क्षणिक वस्तुओं को अपनी मान के मद करता है – ज्ञानी नहीं करता है। सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं –

गर्वेण मातृपितृबान्धवमित्रवर्गाः, सर्वे भवन्ति विमुखा विहितेन पुंसः।
अन्योऽपि तस्य तनुते न जनोऽनुरागं, मत्वेति मानमपहस्तयते सुबुद्धिः॥ ४९॥

भावार्थ – गर्व करने से माता, पिता, भाई, मित्र सब मानी पुरुष से विमुख रहते हैं, अन्य भी कोई मानी से राग नहीं करता है, – ऐसा जानकर बुद्धिमान मान को कभी नहीं करते हैं।

॥ श्लोक १४६ ॥

जातिं च रागमयं चिंते, अनृतं ऋतमुच्यते।
ममत्वं स्नेहमानन्दं, कुल आरूढ रतो सदा॥

अन्वयार्थ – **जो कोई** (जाति च) **अपनी माता की पक्षरूप जाति को** (रागमय) **राग से बँधा हुआ अपनी** (चिते) **मानता है। वह** (अनृत) **मिथ्या को** (ऋत) **सत्य** (उच्यते) **कहता है। जो** (सदा) **निरंतर** (कुल आरूढ रत) **कुल के मद में तल्लीन रहता है वह अपने कुल के जनों मे** (ममत्व) **ममता रखता है** (स्नेह) **स्नेह बढाता है तथा** (आनन्द) **उनको देख-देखकर आनन्द माना करता है।**

विशेषार्थ – **यह अज्ञानी जिस जाति को अपनी मानता है वह इसकी जाति है ही नहीं। शरीर को जननेवाली माता होती है। शरीर की जाति माता व उसके भाई व पिता आदि हैं। आत्मा को कोई जननेवाला नहीं है, तब यह शरीर की जाति अपने आत्मा की कैसे हो सकती है। यह अज्ञानी मूर्ख प्राणी अपनी असली आत्मारूपी जाति को भूलकर शरीर के सम्बन्ध से शरीर की जाति को अपनी मान लेता है। यही उसका मिथ्या को सत्य मानना है। इस मिथ्या मान्यता से अपने नाना, मामा आदि से राग करता है व चाहता है कि ये कुछ इसका स्वार्थ साधन करते रहेंगे। इसी तरह यह अज्ञानी प्राणी अपने कुल के मद में निरन्तर लिप्त हुआ अपने पिता, बाबा, स्त्री, पुत्र, पुत्री, बहिन, आदि से बड़ा ही ममत्व करता है। उनके वियोग होने पर व उनके रोगी होने पर व परदेश जाने पर बडा ही कष्ट मानता है, शोक करता है, विह्वल हो जाता है। उनकी स्नेह की पासी में ऐसा जकड जाता है कि उनके पीछे रात-दिन धन की तृष्णा में फँसा रहता है, धर्म कार्य को भूल जाता है। ध्यान, सामायिक, पूजा-पाठ की तरफ उपयोग नहीं लगाता है। वे यदि खाते-पीते निरोग दिखते हैं तो बड़ा आनन्द मानता है। उन ही के होते हुए अपनी जिन्दगी का सुख समझता है। कदाचित् उनमें से किसी का वियोग होता है तो बड़ा ही दुःख मानता है। कुल का मद करके यदि अपने पुत्र-पुत्री अधिक होते हैं तो बड़ा अहंकार करता है, पुत्र रहित को देखकर पापी और अपने को भाग्यवान समझता है। धिक्कार हो ऐसे जाति व कुल मद को, जो जीवों को मोह पासी में फँसाकर आत्मकार्य से विमुख कर देते हैं।**

॥ श्लोक १४७ ॥

रूपं अधिकारं दृट्वा, रागं वर्धन्ति ये नराः।
ते अज्ञानमये मूढाः, संसारे दुःखदारुणं॥

अन्वयार्थ – (रूप) **सुन्दर रूप को तथा** (अधिकार) **अपने अधिकार को** (दृष्टा) **देखकर** (ये नरा·) **जो मानव** (राग) **राग को** (वर्धन्ति) **बढा लेते हैं।** (ते) **वे** (अज्ञानमये) **अज्ञानमयी पदार्थ में या भाव में**

(मूढा) **मूर्छित होते हुए** (संसारे) **इस संसार में** (दु:खदारुणं) **भयानक दु:ख को उठाते हैं।**

विशेषार्थ – **मोही प्राणी अपने शरीर का सुन्दर रूप देखकर बड़ा ही बढ़ा लेते हैं। राग के साथ अहंकार भी बढ़ा लेते हैं। वे इस बात को भूल जाते हैं कि जिस शरीर की ऊपर की चमड़ी सुन्दर देखकर व आँख-नाक-मुख का आकार सुडौल देखकर राग या अहंकार किया जाता है वह शरीर तो महान अपवित्र घृणा के योग्य व क्षणभंगुर है। भीतर इसके कृमिकुल, राध आदि भरा है। यदि चमड़ी को अलग कर दिया जाय तो मक्खियों से भिनभिनाने लगेगा व अपने से भी अपना शरीर देखा नहीं जायगा। जिसके नव द्वारों से निरंतर मल बहता है, जो शरीर अचानक भूख-प्यास की अधिक बाधा होने में व रोगादि आने से व जरा आ जाने से बिगड जाता है, सुरूप से कुरूप हो जाता है – ऐसे मायाजाल के समान अथिर रूप का राग करना व अहंकार करना मात्र मिथ्याज्ञान व मूर्खता है।**

इसीतरह यदि उसका किसी कारण से अधिकार है, उसकी आज्ञा चलती है या वह राजा, महाराजा, मंत्री, प्रधान, कोतवाल, नगरसेठ, चौधरी, हाकिम, जज, मजिस्ट्रेट है तो उसको बड़ा अहंकार हो जाता है। वह मद में कठोर परिणाम रखता है। कठोर वाणी से छोटों के साथ व्यवहार करता है। अपने आधीनों के सुख का, शरीर स्वास्थ्य का ख्याल छोड कर उसको अपनी मनमानी आज्ञा में चलाकर उनसे खूब काम लेता है, कहीं वे भूल से कुछ काम बिगाड़ देते हैं तो बिना सोचे-समझे क्रोध कर लेता है, मार बैठता है, व दंडित कर देता है, नम्रता व मिष्टवादिता व विनयरूप व दयारूप बर्ताव उसके पास से विदा हो जाता है। यह अधिकार भी क्षणिक है, जरा-सी भूल होने पर राज्य चला जाता है व मरण आ जाता है तब सब अधिकार चला जाता है। बड़े-बड़े राजा-महाराजा थोड़े ही काल अपना अधिकार रख सके हैं, पाप का उदय आने पर शीघ्र ही राजा से रंक हो जाता है – बड़े से छोटा हो जाता है। इसलिये अज्ञानी प्राणी ही इस अज्ञान में फँसकर मद करता है और मूढ़ मिथ्यात्वी होता हुआ तीव्र कर्म बाँधकर संसार में भयानक दु:ख उठाता है।

इसतरह रूप का व अधिकार का मान करना मूर्खता है। सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं-

नीतिं निरस्यति विनीतिमपाकरोति, कीर्तिं शशांकधवला मलिनीकरोति।
मान्यान्न मानयति मानवशेन हीनः, प्राणीति मानमपहन्ति महानुभावः ॥४४ ॥

भावार्थ - **यह मान नीति मार्ग से हटा देता है, विनय से छुड़ा देता है, चन्द्रसम निर्मल कीर्ति को मैली कर देता है। हीन पुरुष मान के भीतर फँस कर माननीय पुरुषों को भी नहीं मानता है – ऐसा जानकर जो महान उदार प्राणी है, वह मान नहीं करता है।**

॥ श्लोक १४८ ॥

कुज्ञानं तप तप्तानां, रागं वर्धन्ति ते तपाः।
तप्तानि मूढ सद्भावं, अज्ञानं तप श्रुतं क्रिया॥

अन्वयार्थ – (ते तपा) **वे मिथ्या तप** (कुज्ञान) **मिथ्या ज्ञान सहित** (तप तप्ताना) **तप करनेवालों का** (राग) **राग** (वर्धन्ति) **बढ़ा देते हैं, उन्होंने** (मूढ सद्भाव) **मिथ्यात्व भाव का** (अज्ञान तप श्रुत क्रिया) **व अज्ञानमयी तप व अज्ञानमयी शास्त्र व अज्ञानमयी क्रिया का ही** (तप्तानि) **तप किया है।**

विशेषार्थ – **जो लोग आत्मज्ञान व आत्मानुभव न पाकर, आत्म सुख के रसिक न होकर किंतु इंद्रियजन्य सुख की लालसा रखकर इस आशा से तप करते हैं कि इसके फल से स्वर्गादि में जाकर बहुत सुख पायेंगे – ऐसा अज्ञान तप राग भाव घटाने की अपेक्षा बढ़ा देता है। क्योंकि वे वीतराग भाव की सेवा नहीं कर रहे हैं, वे तो रागभाव ही की सेवा कर रहे हैं। जितना अधिक तप करते हैं उतना विशेष राग बढ़ता जाता है कि अधिक सुख मिलेगा, हम इन्द्रादि हो जायेंगे। वास्तव में ऐसे अज्ञानी प्राणी धार्मिक तप नहीं करते हैं, किंतु अपने मूढ भाव को अधिक तपाकर दृढ़ कर रहे हैं तथा अज्ञान तप को बढ़ा रहे हैं। उनका कुशास्त्र ज्ञान और मजबूत हो रहा है। उनका मिथ्या आचरण और भी जड पकड रहा है। वास्तव में जो आत्मोन्नति के लिये तप किया जावे वही तप है। शेष तो मात्र एक तरह का व्यापार है। जैसे व्यापारी धन के लोभ से अनेक कष्ट सहकर भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी सहकर, कठिन स्थानों में जाकर बडा भारी परिश्रम करता है, वैसे यह कुतपी शरीर को बहुत भारी कष्ट देता है, परीषह सहता है, कठिन-कठिन स्थानों में जाकर ध्यान लगाता है। उसका प्रयोजन विषयभोग पाने का है, – संसार बढाने का है, ऐसे मिथ्या तप के तपनेवालों को ही तप का अहंकार हो जाता है। वे मान व लोभ से कषायों को बढाते हुए अपना अहित कर रहे हैं। उनका तप गुणकारी नहीं होता है। सुभाषित रत्नसंदोह में कहा है-**

दया-दम-ध्यान-तपो – व्रतादयो गुणा समस्ता न भवन्ति सर्वथा।
दुरन्तमिथ्यात्वरजोहतात्मनो रजोयुतालाबुगतं यथा पयः॥१३७॥

भावार्थ – **जैसे रज सहित तूंबी में भरा हुआ दूध मलीन हो जाता है, पीने योग्य नहीं रहता है ; वैसे महा मिथ्यात्व की रज से मलीन आत्मा के द्वारा पाला गया दया, धर्म, संयम, ध्यान, तप, व्रतादि सर्व ही गुणकारी नहीं होते हैं।**

॥ श्लोक १४९ ॥

अज्ञानं तप तप्तानां, जन्म कोटि कोटि भव।
श्रुतं अनेक जानंते, रागं मूढमयं सदा॥

अन्वयार्थ – (अज्ञानं तप तप्तानां) जो प्राणी मिथ्याज्ञान सहित तप करते हैं उनको (कोटि कोटि भव जन्म) करोड़ों भवों में जन्म लेना पड़ता है। वे (अनेक श्रुतं) बहुत शास्त्र को (जानंते) जानते हैं लोभी, (सदा) निरन्तर (मूढमयं रागं) मिथ्यात्व सहित रागभाव ही में लिप्त हैं।

विशेषार्थ – सम्यक्त्व रहित जैन शास्त्रानुसार व्यवहार में भलेप्रकार साधन किया हुआ अनशनादि बारह प्रकार का तप भी संसार को छेदन की अपेक्षा संसार को बढ़ा देता है। उनको मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय के उद्वेग से कोटानुकोट भव ले लेकर जन्म-मरण के अपार कष्ट सहने पड़ते हैं। अधिक काल तिर्यंच गति में, उसमें भी एकेंद्रिय पर्याय में, उसमें भी साधारण वनस्पतिरूपी निगोद में जन्म लेना पड़ता है। उनको सम्यक्त्व की प्राप्ति का पुनः अवसर बड़ी कठिनता से आता है। वे इतना अधिक शास्त्र जानते हों कि ग्यारह अंग और नौ पूर्व के पाठी हों, उनके पढ़ाए हुए अन्य साधु यथार्थ मार्ग को पा लेवें परन्तु वे मिथ्यात्व भाव से ग्रसित होते हुए वीतरागता मय कभी न होते हुए, अंतरंग विषयानुराग की भावना ही में रहते हैं। चाहे वे मोक्ष के लिये यत्न कर रहे हैं – ऐसा मान रहे हों तथापि वे मोक्ष को नहीं पहचानते हैं। मोक्ष में भी इंद्रियजन्य सुख की अनंतता प्राप्त होगी – ऐसी आशा भीतर बनी रहती है, क्योंकि उनको आत्मानुभव नहीं हो पाया है। उनको अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद नहीं मिला है। इसी से वे भीतर वासना में विषय-स्वाद के लोलुपी ही हो रहे हैं, मिथ्यात्व को ही पुष्ट कर रहे हैं। नौ ग्रैवेयिक कदाचित् चले जाते हैं तो भी संसार ही में रुलते हैं।

॥ श्लोक १५० ॥

मानं रागसम्बन्धं, तप दारुणं बहुकृतं।
शुद्धतत्वं न पश्यंति, ममता दुर्गतिभाजनं॥

अन्वयार्थ – (रागसम्बन्धं मानं) ऐसे मिथ्या तप करनेवालों के ऐसे तप में मोह के कारण यह अहंकार हो जाता है कि (तप दारुणं बहुकृतं) हमने बहुत कठिन-कठिन तप बहुत काल तक किया है। वे (शुद्ध तत्वं) शुद्ध आत्मीक तत्व को (न पश्यंति) नहीं अनुभव करते हैं। (ममता) उनके भीतर जो मोह है वही (दुर्गतिभाजनं) उनकी कुगति का कारण है।

विशेषार्थ – लोभ कषाय की वासना को रखते हुए जो दीर्घकाल तक बहुत कठिन-कठिन तप करते हैं, उनके भीतर तप का मद सहज में हो जाता है कि हम बड़े तपस्वी हैं। उनका बहुत परीषह-सहन कषाय को मेटने के स्थान में मान कषाय की तीव्रता कर देता है। खेद है वे शुद्ध आत्मीक तत्व का अनुभव न पाकर उस अमृत के स्वाद से शून्य हैं। इसी से वीतरागता सहित

निर्विकल्प समाधि को ये नहीं पाते हैं। यद्यपि वे विकल्पों को मेटकर ध्यान लगाते हैं, परन्तु भीतर राग की आग जला करती है, इसीलिये यह तप मिथ्या तप कहा जाता है। उनके भीतर जो संसार का ममत्व है, वह उनके लिये मोक्ष के विपरीत बहुत-सी गतियों में भ्रमण कराता है। यद्यपि शुक्ल, पद्म या पीतलेश्या के कारण वे उस शरीर से स्वर्गादि चले जाते हैं, वहाँ पर जाकर वे विषय-सुख में अति आसक्त हो जाते हैं, सम्यक्त्व न पाते हुए यदि जिनेन्द्र की भक्ति करते हैं व जिन अकृत्रिम चैत्यालयों का दर्शन करते हैं, तथापि विषय की लोलुपता को न छोडते हुए, अन्य अपने से अधिक विभूतिवाले देवों की सम्पदा को देखकर ईर्ष्यावान रहते हुए, देवांगना के वियोग से शोक भाव करते हुए, आयु पूर्ण होते हुए भारी आर्तध्यान करते हुए, यदि सौधर्म-ईशान स्वर्ग में हुए तो मरकर एकेंद्रिय वृक्ष आदि में आकर जन्म पा लेते हैं, दीर्घ संसार के भागी होते हैं। इसतरह मिथ्या तप व उसका मद जीव का भारी अहित करता है। इसीतरह और भी मद प्राणी को अहित कारक हैं। आठों मदों को विषतुल्य समझकर इनका संसर्ग करना उचित नहीं है। मान कषाय को जीतकर विनय व नम्रता को रखते हुए शुद्ध तत्व को जानने से ही स्वहित होगा, यह तात्पर्य है।

॥चार कषाय का स्वरूप॥

॥ श्लोक १५१ ॥

कषायं येन अनंतानं, रागं च अनृतं कृतं।
चित्ते कुबुद्धि विश्वासं, नरयं दुर्गतिभाजनं॥

अन्वयार्थ – (येन) जिसने (अनन्तानं) अनन्तानुबन्धी (कषायं) कषाय (च) तथा (अनृतं रागं) मिथ्यात्व से राग (कृत) किया है, उनके (चित्ते) चित्त में (कुबुद्धि विश्वास) मिथ्या ज्ञान व मिथ्या विश्वास रहता है, जिससे (नरय दुर्गतिभाजनं) वे नरकादि दुर्गति के भाजन होते हैं।

विशेषार्थ – ऊपर लिखित सात व्यसनों में आसक्ति तथा आठ मदों में लीनता उन ही प्राणियों को होती है, जो अनन्तानुबन्धी कषायों के उदय के आधीन हैं। तथा मिथ्यात्व के उदय से पर्याय बुद्धि हो रहे हैं, जिनको अपने स्वरूप की कुछ खबर नहीं है। मिथ्यात्व की सहकारी कषाय को अनन्तानुबन्धी कहते हैं। इसकी वासना दीर्घ काल तक चली जाती है। अनन्तानुबन्धी भी क्रोध, मान, माया, लोभ के चार दृष्टांत हैं। जैसे पाषाण में रेखा बनाई जावे वह बहुत दीर्घकाल में मिटे ऐसा क्रोध जो बहुत काल में मिटे सो अनंतानुबंधी क्रोध है। पाषाण का खंभा जैसे नमे नहीं, खंड हो जाय तोभी नमे नहीं – ऐसा मान जिसके हो वह अहंकार में रहे व कभी विनयरूप न प्रवर्ते, दीर्घकाल तक भी नम्र न हो सो अनंतानुबन्धी मान है। बाँस का बीडा जैसा कुटिल होता है – वैसा कुटिल व मायाचार

जिसका दीर्घकाल तक छिपा रहे उसके अनंतानुबन्धी माया है। जैसे किरमिच का रंग दीर्घकाल में न मिटे – ऐसा दीर्घकाल तक न मिटनेवाला अनंतानुबंधी लोभ है। इन कषायों के कारण व सात तत्वों की यथार्थ श्रद्धा न होने के कारण व आत्मा व अनात्मा का भेद न जानने के कारण मिथ्याज्ञान व मिथ्या विश्वास में रमता हुआ प्राणी प्रायः नरकगति व नरक आयु को बाँधकर नरक जाकर बहुत कष्टों में पड़ जाता है। ये चार कषाय व मिथ्यात्व ये पाँचो अनादिकाल से जीव के बैरी हो रहे हैं। इन ही के वश इस जीव ने इस अनंत संसार में अनेक पंच परावर्तन किये हैं, विचारवान को इनके क्षय के लिये उद्यम करना योग्य है।

॥ श्लोक १५२ ॥

लोभं अनृत सद्भावं, उत्साहं अनृतं कृतं।
तस्य लोभं न शमितं च, तं लोभं नरयं पतं॥

अन्वयार्थ – (अनृत सद्भावं) **मिथ्यात्व के साथ में रहनेवाला** (लोभं) **अनन्तानुबन्धी लोभ** (अनृतं उत्साहं कृतं) **मिथ्यात्व सेवन का उत्साह करता रहता है।** (तस्य) **ऐसे जीव का** (लोभं) **लोभभाव** (न शमितं च) **ठंडा नहीं होता है।** (तं लोभं) **यह लोभ** (नरयं पतं) **नरक में डाल देता है।**

विशेषार्थ – **अनन्तानुबन्धी लोभ का स्वरूप यहाँ बताया है कि ऐसे लोभ के वशीभूत प्राणी धन की, पुत्र-पौत्रादि की तृष्णा में फँसा हुआ रात-दिन इन ही की प्राप्ति में, इन ही के रक्षण में उत्साह दिखलाता है। धनादि कमाने में ऐसा तत्पर हो जाता है कि धर्मसेवन के लिये समय नहीं निकालता है। न नीति-अनीति का खयाल रखता है। उसका मिथ्यात्व भाव जो अनादिकाल का अगृहीत है वह दृढ़ होता जाता है तथा गृहीत मिथ्यात्व भी जड पकड़ लेता है। वह अपने स्वार्थ साधन के लिये कुदेवों की मान्यता किया करता है। यदि किसी समय कोई मान्यता उसके पूर्वकृत पुण्य कर्म के उदय से सफल हो जाती है, तो वह किसी कुदेव ने ही ऐसा कर दिया ऐसी कल्पना करके कुदेवों में और अधिक श्रद्धालु व भक्तिवान हो जाता है। उसको जिस किसी पदार्थ का लोभ पैदा हो जाता है, वह दीर्घकाल तक मिटता नहीं। जैसे रावण को सीताजी का गाढ़ लोभ पैदा हो गया, वह बार-बार समझाने पर भी परस्त्री रमण के भावों से विरक्त नहीं हुआ। इसीलिये मानी बन गया, युद्ध में अपना सर्व खोकर नरक का पात्र हो गया। तथा मन की पवित्रता का नाश कर देता है। लोभ न करने योग्य हिंसा, अनृत, चोरी, कुशील व परिग्रह में वर्तन कर देता है। सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं –**

शीतो रविर्भवति शीतरुचिः प्रतापी, स्तब्धं नभो जलनिधिः सरिदम्बुतृप्तः।
स्थायी मरुद्विदहनो दहनोऽपि जातु, लोभानलस्तु न कदाचिददाहकः स्यात्॥ ६३॥

भावार्थ – कदाचित सूर्य तो ठण्डा हो जावे और चन्द्रमा तापकारी हो जावे, आकाश जड़ होवे, समुद्र नदियों से तृप्त हो जावे, पवन स्थिर हो जावे, अग्नि शीतल हो जावे तथापि लोभ की आग कभी शांत नहीं होती है।

स्त्री राग में, राज्य के राग में बड़े बड़े युद्ध हो जाते हैं। सर्वस्व नाश करनेवाला लोभ है जो अंत में नरक में डालनेवाला है।

॥ श्लोक १५३ ॥

लोभं कुज्ञान सद्भावं, अनादी भ्रमते भवे।
असत्ये लोभ चिंतंते, लोभं दुर्गतिकारणं॥

अन्वयार्थ – (कुज्ञान सद्भाव) मिथ्या ज्ञान सहित लोभ के कारण यह प्राणी (अनादी) अनादिकाल से (भवे) संसार में (भ्रमते) भ्रमण करता चला आया है। (असत्ये) मिथ्या पदार्थों में (लोभ) राग (चिंतते) का विचार किया करता है। (लोभ) यह लोभ (दुर्गतिकारण) खोटी गति का कारण है।

विशेषार्थ – जहाँ तक अनंतानुबंधी लोभ मिथ्यादर्शन के साथ में है, वहाँ तक सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरणचारित्र – इन तीनों की ऐकतारूप मोक्षमार्ग का लाभ नहीं होता है, वहाँ तक यह मिथ्याज्ञानी प्राणी संसारासक्त, पर्यायबुद्धि, विषयों का लोलुपी बना रहता है, इसको अतीन्द्रिय सुख के रस का भाव नहीं आता है। इस देह, वचन, मन में आपा मान लेने से यह अनादिकाल से संसार में भ्रमता आया है व जबतक सम्यग्दर्शन नहीं होगा, भ्रमण करता रहेगा। ऐसा अज्ञानी जीव निरंतर राग के कारणों की ही चिंता करता रहता है। धन के संग्रह की, शरीर बने रहने की, स्त्री-पुत्रादि के संयोग की, मनोज्ञ पदार्थों के लोभ की, अनिष्ट पदार्थों के वियोग की, शत्रुओं के नाश की, विषय में सहायी मित्रों के बने रहने की, आगामी उत्तमोत्तम भोग पाने की, इत्यादि राग से सनी हुई चिन्ताओं के जालों में अटका रहता है। अपनी बढती, पर की हानि चाहता है। अनेक प्रकार अपध्यान करता है, परधन व परस्त्री की चाह किया करता है, मान पुष्ट करने की अनेक बातें विचारा करता है। खेद है, इस अपध्यान से निरर्थक बहुत पाप बाँध लेता है। जैसे तंदुल-मच्छ महा-मच्छ के उदर में से जीवित मच्छों को निकलते देखकर यह भाव किया करता है कि यदि मैं होता तो किसी को नहीं छोडता। वह इस निरर्थक अपध्यान के कारण सातवें नरक की आयु बाँधकर सातवें नरक चला जाता है वैसे ही यह अज्ञानी मानव वृथा राग के जाल में उलझा हुआ अनंतानुबंधी लोभ के कारण नरक व तिर्यंच की आयु बाँधकर कुगति में गिर जाता है। अतएव इस मिथ्याज्ञान का संहार

करना उचित है। और सम्यग्दर्शन का प्राप्त करना उचित है जिसके होते ही भावना बदल जाती है, परपदार्थ के स्वागत की भावना नहीं रहती है।

॥ श्लोक १५४ ॥

अशाश्वते भावनं कृत्वा, अनेक कष्ट कृतं सदा।
चेतना लक्षणो हीनः, लोभं दुर्गति बन्धनं॥

अन्वयार्थ – (अशाश्वते) **अनित्य जगत के पदार्थों में** (भावनं) **भावना** (कृत्वा) **करते करते इस जीव ने** (सदा) **सदा ही** (अनेक कष्टं कृतं) **अनेक कष्ट पाए हैं।** (चेतना लक्षणो हीनाः) **चेतना लक्षणधारी होकर भी हीन हो रहा है। जिसके कारण यह दशा है, ऐसा** (लोभं) **यह लोभ** (दुर्गतिबंन्धनं) **दुर्गति का बंध करनेवाला है।**

विशेषार्थ – **अनंतानुबंधी लोभ के कारण यह जीव जिस-जिस शरीर को प्राप्त हुआ, वहाँ उस शरीर में प्राप्त इंद्रियों के भोग की चाह की दाह में ही जला किया। यही आशा लगाते हुए भावना करता रहा कि आगामी सुख मिलेगा। एक तो इस चाह के कष्ट में दुःखी हुआ। दूसरे जब मिले हुए इष्ट पदार्थ का वियोग हो गया, तब दुःखी हुआ। तीसरे विषयानुराग से या विषयों की प्राप्ति के लिये किये गए हिंसादि पापों से जो अशुभ कर्म बांधे उनके उदय आने पर अनेक नरक निगोद व तिर्यंचगति के दुःख भोगे। इसतरह चाह की दाह से सदा ही इस जगत में दुःखी रहा। ये जगत के पदार्थ एक सी स्थिती में नहीं रहते, इनकी अवस्था बिगाड़ जाती है। तब यह अज्ञानी जिनको सदा बनाए रखना चाहता था उनको नष्ट हुआ देखकर महान क्लेश भोगता है।**

ग्रंथकर्ता कहते हैं कि यह जीव चेतना लक्षण को रखनेवाला होकर फिर अचेत व दीन-हीन-दुखी हो रहा है, यह बडे खेद की बात है। इसका स्वभाव तो सर्व को साक्षीभूत होकर देखना-जानना तथा अपने स्वभाव में तन्मय रहना है। अपने अतीन्द्रिय आनन्द का भोग करना है, परंतु यह मोह के मद में अचेत होकर अपने स्वरूप से बाहर रहता हुआ बड़ा ही हीन व तुच्छ हो रहा है। धिक्कार हो लोभ को जो इस जीवन में भी दुःख देता है और आगे भी दुःख का दाता हो जाता है। लोभ कषाय वास्तव में अन्य सर्व कषायों की उन्नति का निमित्त कारण है। तथा इसका नाश भी सर्व कषायों के पीछे होता है, इसलिये सबसे पहले ग्रंथकर्ता ने अनंतानुबंधी लोभ को ही धिक्कारा है। सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं –

तिष्ठंतु बाह्यधन-धान्य-पुरः-सरार्थाः, संवर्धिताः प्रचुरलोभवशेन पुंसा।
कायो ऽपि नश्यति निजो ऽ यमिति प्रचिन्त्य, लोभारिमुग्रमुपहन्ति विरुद्धतत्त्वं॥८२॥

भावार्थ – अधिक लोभ के वश से जो बाहरी धनधान्य आदि पदार्थ बढ़ा लिये जाते हैं, उनकी तो बात ही क्या है, वे तो नष्ट हो ही जाते हैं किंतु जिसको अपना खास मानते हैं – ऐसा शरीर भी नष्ट हो जाता है, सब छोड़कर जाना होता है। ऐसा विचार कर बुद्धिमान इस आत्मा के विरोधी स्वभाव को रखनेवाले भयानक लोभरूपी शत्रु का नाश ही करते हैं।

लोभ के नाश का उपाय जिनवाणी का पुनः पुनः मनन कर आत्मा और आत्मा से भिन्न पदार्थों का भेदज्ञान है, यही उपादेय है।

॥ श्लोक १५५ ॥

मानं असत्य रागं च, हिंसानंदी च दारुणं।
परपंचं चिंत्यते येन, शुद्धतत्वं न पश्यते॥

अन्वयार्थ – (मानं) अनंतानुबन्धी मान (च असत्य राग) भी मिथ्या पदार्थों में राग से होता है। इस मान कषाय से (दारुणं हिसानंदी) भयानक हिंसानंदी ध्यान रहता है। (येन) जिस ध्यान के कारण (परपच) प्राणी नानाप्रकार झगड़े व मायाचार को (चित्यते) चिंतवन करता रहता है और (शुद्धतत्व) शुद्ध आत्मीक तत्व को (न पश्यते) अवलोकन नहीं करता है।

विशेषार्थ – जिसको संसार के अनित्य पदार्थों में – स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, राज्य, भोगविलास में तीव्र अनुराग होगा, वह इन पदार्थों को थोड़े या बहुत होते हुए अपने मन में अहंकार कर लेगा। तथा सदा ही यह चिन्तवन करेगा कि मेरे से अधिक किसी का नाम न हो। यह दुसरों की बढती न चाहेगा किन्तु दुसरों की हानि विचारेगा। मेरे से दूसरे के पास अधिक धन व कुटुम्ब आदि न हो – ऐसा सोचते हुए दूसरों की हानि करके भी अपना लाभ चाहेगा। यदि कदाचित् किसी की अकस्मात् धन की व कुटुम्ब की हानि हो जावे व कहीं-कहीं अपमान हो जावे तो यह सुनकर बहुत प्रसन्नता मानता है। यदि किसी ने कुछ भी अपमान किया तो उसका बदला लेने का विचार करके उसको हानि पहुँचाने का प्रपंच रचता रहता है। रात-दिन जगत की विभूति के मोह में आसक्त हो 'मैं ऐसा, मैं ऐसा' – ऐसा मान भाव रखता हुआ व्यवहार के झंझट में ही फँसा हुआ हुआ धर्म की तरफ निगाह नहीं करता है, तत्वज्ञानी की संगति नहीं करता है, न तत्वज्ञानी के मुख से कुछ उपदेश सुनता है, न उस पर विचार करता है। उसको शुद्ध आत्मस्वरूप का श्रद्धान होना अति दुर्लभ हो जाता है। वास्तव में मान कषाय से प्राणी अन्धा हो जाता है। श्री कुलभद्राचार्य सारसमुच्चय में कहते हैं –

अहंकारो हि लोकानां विनाशाय न वृद्धये। यथा विनाशकाले स्यात् प्रदीपस्य शिखोज्वला॥१९४॥

भावार्थ – अहंकार संसारी जनों की वृद्धि कुछ नहीं करता है किंतु हानि ही करता है। जैसे दीपक की शिखा विनाशकाल में ही ऊंची हो जाती है।

॥ श्लोक १५६ ॥

मानं अशाश्वतं दृष्टं, अनृतं रागनंदितं।
असत्ये आनंद मूढस्य, रौद्रध्यानं च संयुतं॥

अन्वयार्थ – (मानं) **मान को** (अशाश्वतं) **अनित्य** (दृष्टं) **देखा गया है।** (अनृतं) **यह झूठा है।** (रागनंदितं) **मात्र राग में मगन होता है।** (असत्ये आनंद मूढस्य) **जो मूढ मिथ्या बातों में आनंद मानता है, वह** (रौद्रध्यानं च संयुतं) **रौद्रध्यान सहित होता है।**

विशेषार्थ – **मानी का मान सदा बना नहीं रहता है, शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। जिन पदार्थों के आश्रय से वह मान करता है, वे पदार्थ थिर रहनेवाले नहीं हैं। यदि धन नष्ट हो गया, पुत्र का वियोग हो गया, रोगग्रसित हो गया, वृद्धावस्था होनेपर अशक्त हो गया, कोई भारी अपमान हो गया तो उसका मान स्वयं नष्ट हो जाता है ;तब उसके चित्त में बडी ही लज्जा घर कर लेती है। वह अपने कर्मों के उदय की ओर खयाल न करके किसी मानव विशेष के ऊपर क्रोध कर लेता है कि इनके बुरा विचारने से या इनके बुरे उपाय से ही मेरा नुकसान हो गया है। इनकी ईर्ष्या से ही मेरा पुत्र मर गया है। इनके षड्‌यंत्र से मेरा अपमान हो गया है। इसतरह अपनी कल्पना से दूसरों को दोषी मानकर उनके साथ हिंसानंदी रौद्रध्यान कर लेता है। यह मान वास्तव में झूठा है, क्योंकि उन पदार्थों को लेकर मान किया जाता है वे पदार्थ एक से नहीं रहते हैं। तथा मान करना ये भी झूठा है कि जगत में उससे अधिक धनवान, पुत्रवान, रूपवान, विद्वान लोग पड़े हैं। फिर 'मैं बडा हूँ और बाकी सब छोटे हैं' – यह मानना मिथ्या है। मान में मात्र क्षणिक पदार्थों के ममत्व में मूर्छावान होकर दूसरों को नीचा देखा जाता है। यह वास्तव में मिथ्या राग है। इस मिथ्या आनन्द में मूढ प्राणी निरन्तर परिग्रहानंद व हिंसानंद रौद्रध्यान में फँसा रहता है और तीव्र पाप कर्म का बन्ध करता है।**

॥ श्लोक १५७॥

मानी पुनः उत्पादंते, कुमते अज्ञानं श्रुतं।
मिथ्या माया मूढदृष्टी च, अज्ञानरूपी न संशयः॥

अन्वयार्थ – (मानी) **ज्ञान के अहंकार से पूर्ण मानी विद्वान** (पुनः) **फिर** (कुमते) **अपनी खोटी बुद्धि से** (अज्ञानं श्रुतं) **मिथ्या ज्ञानमयी शास्त्र को** (उत्पादंते) **रचता है। उसका रचा शास्त्र** (मिथ्या माया मूढदृष्टी च) **मिथ्या होता है, मायाचार से पूर्ण होता है, मूढ श्रद्धान से भरा हुआ होता है,** (अज्ञानरूपी) **अज्ञानमयी होता है,** (न संशयः) **इसमें कोई संशय नहीं करना चाहिये।**

विशेषार्थ – मान की पुष्टि करने को, राजा-महाराजाओं से व जनता से मान-प्रतिष्ठा चाह करके विद्या के अभिमान में चूर मानी जीव पर को रंजायमानकारी रचना गद्य में या पद्य में करते हैं। अपनी मिथ्यात्व वासित (ग्रसित) बुद्धि से मिथ्यात्व गर्भित ज्ञान को पुष्ट करनेवाले शास्त्र की रचना करते हैं। उस शास्त्र में बहुत से मिथ्या कथन मिला देते हैं। उसमें पर को विषय-कषायों में लगाने के लिये कपटरूप कथन होता है तथा वह शास्त्र सम्यक् धर्म से विरोधी मिथ्या धर्म की या संसार की विषय-वासना को पुष्ट करने-वाला होता है। वह मिथ्या ज्ञान को ही विस्तारता है। जो जो उसको पढ़ते हैं व आगे पढ़ेंगे, वे सब धर्म से रुचि हटाकर अधर्म में, व संसार में व जगत के मोह में फँस जायेंगे। उस मानी को इसका कुछ भी ध्यान नहीं होता है। वह काव्य छंद अलंकार आदि में वाह-वाही कराकर, अभिमान को बढ़ाकर अपने को कृतार्थ मान लेता है। उसका शास्त्रज्ञान उसके लिये विषवत् घातक का काम करता है। मलीन भावों से अशुभ कर्म को बाँधकर वह दुर्गति का पात्र हो जाता है। जो आत्मज्ञान से विमुख करनेवाला व संसार के झूठे मोह में लिप्त करानेवाला शास्त्र हो ;वह शास्त्र नहीं है, शस्त्र है। ऐसे घातक शास्त्र को रचकर जो विद्वानपने का अभिमान पुष्ट करते हैं, वे अपना संसार अनंतकाल के लिये बढ़ा लेते हैं।

॥ श्लोक १५८ ॥

मानस्य चिंतनं दुर्बुद्धिः, बुद्धिहीनो न संशयः।
अनृतं ऋत जानंते, दुर्गति पश्यंति ते नरा॥

अन्वयार्थ – (मानस्य) मान का (चितनं) चिंतवन करना (दुबुद्धिः) मिथ्या बुद्धि है। जो मानी है वह (बुद्धिहीनो) बुद्धि रहित है (न संशयः) इसमें कोई संशय की बात नहीं है। (अनृत) मिथ्या को (ऋत) सच्चा (जानंते) जो मानते हैं, (ते नरा) वे मानव (दुर्गति) कुगति (पश्यंति) को देखते हैं।

विशेषार्थ – जिनकी बुद्धि निर्मल होती है, वे यह समझते हैं कि संसार के सर्व पदार्थ नाशवंत हैं, छूट जानेवाले हैं, इनके संयोग होनेपर अभिमान करना व्यर्थ है ;परन्तु जो बुद्धि रहित, विचार रहित हैं वे मान कषाय में फँसे हुए अपनी कुबुद्धि का फल भोगते हैं। वे यही रात-दिन सोचते रहते हैं कि मेरा किसी तरह मान खंडन न हो, मैं बड़ा माना जाऊँ, मेरी खूब प्रतिष्ठा हो, दूसरे लोग मेरी सेवा करें। सर्व मेरे साथी-कुटुम्बी मेरे अनुकूल वर्तन करें। वह यह ध्यान में नहीं रखता है कि हर एक जीव का परिणमन उस उसके आधीन है। कोई जीव सदा ही किसी के अनुकूल नहीं चल सकता है। इस बात को भूलकर वह सदा ही स्त्री को, पुत्र को, सेवक को अपनी इच्छा के अनुसार चलाना चाहता है। यदि कदाचित् वे न चलें तो मान-खंडन समझकर उन पर बहुत क्रोध कर लेता है व उनको बहुत कष्ट देता

है। ग्रंथकर्ता कहते हैं कि ऐसा मानी जीव मिथ्या को सत्य मान लेता है। जितनी पर्यायें हैं या अवस्थाएँ हैं, वे सब क्षणिक हैं, नाशवंत हैं, वस्तु का मूल स्वरूप नहीं है। यह अज्ञानी उन अस्थिर पर्यायों को थिर मान लेता है। उनके बिगड़ने पर या वियोग होने पर यह महा खेद करता है। पुनः संयोग पाने की लालसा करता है – आर्तध्यान में फँस जाता है। इसतरह यह अपनी कुबुद्धि से अनंतानुबंधी कषाय के कारण कुगति को बाँधकर नरक या तिर्यंच गति में जन्म लेकर दीर्घकाल तक मान के फल से नीच, दीन, दुःखी होकर अपमान पाता है, फिर नरजन्म का मिलना अति कठिन हो जाता है।

॥ श्लोक १५९ ॥

मानबंधं च रागं च, अर्थं विचिंतनं परं।
हिंसानंदी च दोषं च, स्तेयं दुर्गतिबंधनं॥

अन्वयार्थ – (मानबंधं च रागं च) मान के बंध में फंसा हुआ रागी जीव (परं अर्थं) दूसरे के धन की (विचितनं) खोटी चिंता किया करता है। वह (हिंसानंदी च दोषं च) हिंसानंदी दोष का भागी होता है व (स्तेय) चौर्यानंदी रौद्रध्यानी होकर (दुर्गतिबंधनं) कुगति का बंध कर लेता है।

विशेषार्थ – अभिमानी मानव को अपने मान को बढ़ाने का इतना भारी राग होता है कि यह अपने से दूसरों को छोटा देखना चाहता है। यदि किसी के पास धन है, या मिलनेवाला है, या राज्य-सम्पदा या अन्य सोना, चांदी, जवाहरात आदि पदार्थ हैं, तब यह चाहता है कि वे घट जावें, उनकी हानि हो जावे, उनकी चोरी हो जावे तो ठीक है। ऐसा हिंसानंदी और चौर्यानंदी रौद्रध्यान वृथा ही कर करके खोटी गति बांध लेता है। धिक्कार हो इस मान कषाय को, जिसके कारण धनादि पदार्थों के संचय करने में महान तृष्णा हो जाती है। मैं सबसे बड़ा माना जाऊँ – यह मान उस अज्ञानी जीव को न्याय व अन्याय के विवेक से शून्य कर देता है। यह धन का लोभी असत्य बोलकर विश्वासघात करके घोर हिंसा करके अनाथ बालक व विधवाओं का धन-छल-बल से हरण कर व बड़ी चतुराई से उनको अपने वश करके अपने अभिमान की पुष्टि करता है। यह मानी जीव धनवान विधवाओं को फुसलाकर उनके शील का भी खंडन करता है और उनसे धन भी लूटता है। तथा यही अपनी समाज में मुखिया बनकर बड़ा अभिमान दिखलाता है और यह बताना चाहता है कि यह बड़ा जाति-हितैषी, न्यायवान व धर्मात्मा है। मान के पुष्ट करने को यह दुसरों के प्राण लेकर भी उनका सर्वस्व हरण करके भी राज्य धनादि का स्वामी होना चाहता है। यदि कहीं मान-खंडन हुआ तो यह महान क्रोध के वशीभूत हो युद्धादि ठान लेता है, जिससे घोर हिंसा हो जाती है। मानी को मान के

सामने इतना अंधेरा हो जाता है कि उसे धर्म, न्याय, तथा अहिंसादि भावों की कुछ परवाह नहीं रहती है। वह घोर स्वार्थी बन जाता है। उसका हृदय महान कृष्ण हो जाता है, जिस पर धर्म का उपदेश रंचमात्र भी असर नही करता है।

॥ श्लोक १६० ॥

मानं राग सम्बन्धं, तप दारुणं बहुश्रुतं।
अनृतं अचेत सद्भावं, कुज्ञानं संसारभाजनं॥

अन्वयार्थ – (रागसम्बन्ध मान) **संसार के राग से बंधा हुआ मानी जीव** (तप दारुण) **घोर तपस्या को तथा** (बहुश्रुत) **बहुत शास्त्रज्ञान को करता हुआ भी** (अनृत) **मिथ्यात्व** (अचेत) **व अज्ञान** (सद्भाव) **की सत्ता रखता है। वह** (कुज्ञान) **मिथ्याज्ञान** (ससारभाजन) **उसे संसार का ही पात्र रखता है।**

विशेषार्थ – **जिसके मन में वैराग्य व आत्मज्ञान नहीं होता है, वह प्राणी परलोक में स्वर्गादि के सुखों के राग से बँधा हुआ या मोक्ष में भी अनंत इंद्रिय सुख मिलेगा – इस भावना से घोर तप करता है। जिनका जैनधर्म का सम्बन्ध नहीं है, वे पंच अग्नि तपना, हाथ उठाए रखना, जटा बढाना, शीत सहना, उष्ण सहना, आदि भयानक तप तपते हैं। जिनको जैन शास्त्र का सम्बन्ध है, वे जैन शास्त्र के चारित्र के अनुसार यथार्थ बारह प्रकार के तप पालते हैं, चारित्र में कोई दोष या अतीचार नहीं लगाते हैं, व्यवहार चारित्र पालते हुए मिथ्यात्व व अनतानुबंधी कषाय के उदय से उस तप का ही घमंड कर लेते हैं कि हम बड़े तपस्वी हैं। कोई कोई बहुत-सी विद्याओं को पढकर अभिमान कर लेते हैं, कोई जैन के शास्त्रों को पढ़कर हम शास्त्री हैं – ऐसा मान कर लेते हैं, कोई तपस्वी मिथ्यात्वी मुनि ग्यारह अंग और नौ पूर्व तक ज्ञान के धारी हो जाते हैं, बहु श्रुती होकर मान कर लेते हैं। जिस कषाय के नाश के लिये तप करना व शास्त्र ज्ञान प्राप्त करना उचित था, उसी कषाय को और बढ़ा लेते हैं। मिथ्यात्व और अज्ञान के होने के कारण से वे अपना सच्चा हित नहीं कर पाते हैं। वे मोक्षमार्ग को न पाकर संसार के ही मार्ग में चलते रहकर संसार में ही जन्म-मरण करते रहते हैं। यह ज्ञानी, हम तपस्वी, हम धर्मात्मा हम बडे योगी – यह अहंभाव मान कषाय का ही रूपक है। यह मान कषाय उनको शुद्धात्मीक तत्व में अनुभव के अयोग्य बना देता है। वे मान के विष को पीये हुए मान कषाय कारक कर्म का विशेष बन्ध कर लेते हैं और नीच गोत्र को बाँधकर अनन्त नीच योनियों में जन्म ले लेकर कष्ट पाते हैं। सारसमुच्चय में कहा है –**

हीनयोनिषु बभ्रम्य चिरकालमनेकधा। उच्चगोत्रे सकृत्प्राप्ते कोऽन्यो मान समुद्वहेत्॥ २९५॥

भावार्थ – यह प्राणी दीर्घकाल तक अनेक प्रकार की हीन योनियों में भ्रमण करता है, तब कहीं इसे एक दफे उच्च गोत्र का लाभ होता है। कौन बुद्धिमान इसका अभिमान करेगा, क्योंकि यह भी छूट जानेवाला है और फिर अनन्त हीन योनियों में पटक देनेवाला है। इसलिये ज्ञानी को क्षणभंगुर पर्याय की प्राप्ति का मान न करके समभाव रखना चाहिये। मान परिणामों को कठोर बनाकर इस जन्म में भी बुरा करता है और परलोक में भी बुरा करता है।

॥ श्लोक १६१ ॥

माया असत्य रागं च, अशाश्वतं जलबिंदुवत्।
यौवनं अभ्रपटलस्य, माया बंधन किं कृतं॥

अन्वयार्थ – (माया) माया कषाय (असत्य रागं च) असत्य जगत के पदार्थों में राग करने से होती है। जगत के पदार्थों की अवस्था (जलबिंदुवत्) जल की बूँद के समान (अशाश्वतं) क्षणभंगुर है। (यौवन) जुवानी (अभ्रपटलस्य) मेघों के समान बिला जानेवाली है। (मायाबन्धन) तब तेरी माया के बंधन ने (कि कृत) क्या किया? अर्थात् कुछ नहीं किया।

विशेषार्थ – अब अनन्तानुबन्धी माया कषाय का वर्णन करते हैं। लोभ कषाय व मान कषाय व क्रोध कषाय वश यह प्राणी माया कषाय कर लेता है। राज्य, धन, संपदा, भूमि, गाय, भैंस, घोड़ा, रथ आदि पदार्थों के संग्रह की इच्छा से यह प्राणी मायाचार या कपट करके बहुतों को ठगता है। कभी मान के बढ़ाने को मायाचार करके अपना महत्व दिखाता है, दूसरों का ही महत्व घटाता है। कभी किसीपर द्वेष होता है तो उसको हानि पहुँचाने के लिये मायाचार रचता है। मूल हेतु विषयों में अपना राग है। जिस जीवन की आशा से लक्ष्मी संचय करता है, वह जीवन उसीतरह नष्ट हो जायगा जैसे पानी का बुद्‌बुदा नष्ट हो जाता है व घास की नोक पर रखी हुई पानी की बूँद गिर जाती है। जिस युवानी के मद को बनाए रखना चाहता है, वह भी मेघपटल के समान बिला जाने वाली चीज है। धनादि सम्पदा भी मेघ के समान देखते-देखते चल देती है। तब यह माया का बंधन हमारा कुछ हित नहीं करता है। हम मायाचार के तीव्र पाप बाँधकर तिर्यंच हो जाते हैं। सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं –

यां छंदभेददमनांकनदाहदोहवातातपान्नजलरोधवधादिदोषाम्।
मायावशेन मनुजो जननिन्दनीयां तिर्यग्गतिं व्रजति तामतिदुःखपूर्णाम्॥

भावार्थ – माया के आधीन होकर मानव अति दुःखों से भरी हुई और निंदनीक तिर्यंच गति को प्राप्त हो जाता है, जहां छेदन, भेदन, निरोध, दागा जाना, जलाया जाना, दुहा जाना, हवा, गरमी, अन्न जल निरोध, वध आदि दोषों को भोगना पड़ता है।

॥ श्लोक १६२ ॥

माया अशुद्ध परिणामं, अशाश्वतं संग संगतेः।
दुष्टं नष्टं च सद्भावं, माया दुर्गतिकारणं॥

अन्वयार्थ – (माया) **मायाचार का भाव** (अशुद्ध परिणामं) **आत्मा का अशुद्ध मलीन भाव है। जो** (अशाश्वतं संग संगतेः) **विनाशीक परिग्रह की संगति से पैदा होता है** (दुष्टं) **यह दोष पूर्ण है** (नष्टं च सद्भावं) **जहाँ सत्य भाव का नाश है** (माया दुर्गतिकारणं) **ऐसी माया दुर्गति का कारण है।**

विशेषार्थ – **आत्मा का स्वभाव कषाय रहित वीतराग व शुद्धोपयोग रूप है। मान कषाय के उदय से वंचक भाव व मलीन भाव हो जाता है। जगत के जो जो पदार्थ विनाशीक हैं – ऐसे धन, सुवर्ण, राज्य आदि के निमित्त से उनमें तीव्र लोभ होने से उनकी प्राप्ति के लिये मायाचार के भाव उठाए जाते हैं। यह मायाचार का भाव अत्यन्त दुष्ट है। अति दुष्टता लिये हुये है। दूसरों को ठगने का विकराल भाव जहाँ प्राप्त हो जाता है। इस मायाचार के होने से स्वाभाविक शांत भाव नष्ट हो जाता है। यह माया दुर्गति का ही कारण है। असत्य व चोरी का जितना कुकर्म है, वह माया के द्वारा ही किया जाता है। मायाचारी झूठा सिक्का चलाता है व झूठे नोट बना लेता है, झूठे दस्तावेज लिख लेता है, झूठे मुकद्दमें चलाता है, सच को झूठ कर देता है, झूठ को सच कर देता है। मित्र बन के प्रीति व विश्वास का भाजन बनता है, परन्तु भीतर से ठगने के भाव होते हैं, जिससे यह मित्र को भी ठग लेता है। मायाचारी को जरा भी दया नहीं होती है। धर्म के नाम से अलग किये हुए पैसे को अपने काम में लेने लगता है। जब कोई माँगता है तो मायाचार से ऐसी बातें बनाता है मानो धर्म का द्रव्य इसके पास सुरक्षित ही है। मायाचारी बड़े बड़े महन्त बनकर भोले भक्तों को ठगते हैं। उनसे द्रव्य संचय करके मनमाने विषयभोग करते हैं। माया प्राणी के मन को महानीच बना देती है, इसी से मायाचारी बहुधा तिर्यंच आयु का बंध कर लेता है।**

॥ श्लोक १६३ ॥

माया अनंतानं कृत्वा, असत्ये रागरतो सदा।
मनवचनकाय कर्तव्ये, मायानंदी च्युतो जड़ः॥

अन्वयार्थ – (अनंतानं माया कृत्वा) **अनंतानुबंधी माया के कारण** (सदा) **सदा ही** (असत्ये रागरतः) **मिथ्या पदार्थों के राग में आसक्त रहता हुआ** (मायानंदी) **मायाचार करने में आनंद मानता हुआ** (मनवचनकाय कर्तव्ये) **मन, वचन, काय द्वारा क्या उचित करने योग्य है, उससे** (च्युतः) **हटा हुआ** (जड) **अज्ञानी बना रहता है।**

विशेषार्थ – अनन्तानुबन्धी माया कषाय सम्यक्त्व की व शुद्ध स्वरूप के भीतर आचरण कराने की विरोधी है। इस कषाय के उदय से प्राणी के भीतर ऐसा गाढ़ अंधेरा रहता है कि वह शुद्ध आत्मा को न पहचानकर उसमें तो प्रेम नहीं करता, किंतु जो शरीर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि मिथ्या माने हुए व नाशवंत पदार्थ हैं, उन ही में तन्मय रहता हुआ, मन वचन काय के उचित व्यवहार को नहीं करता हुआ धर्म के ज्ञान से रहित मूर्ख बना रहता है। वह रात-दिन अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये मन में कुटिलता व कपट का विचार करता है, वचनों से कपटभरी बातें करता है, काय से कपटयुक्त क्रिया करता है, मन में कुछ और ही होता है, वचन से कुछ और ही कहता है, काय से कुछ और ही क्रिया करता है। सरलता व आर्जव धर्म के विरुद्ध उसका व्यवहार हो जाता है। उसको मायाचार करने में ही आनन्द आता है। यदि वह कपट से किसी को ठग करके कुछ सम्पत्ति पैदा कर लेता है तो वह अपने को बड़ा चतुर मानता है और अधिक माया का जाल फैलाने के लिये कटिबद्ध हो जाता है। उसका जीवन ही मायाचारी के विकल्पों में बीतता है। रात-दिन यही विचार किया करता है। ऐसा मूर्ख प्राणी यह नहीं देखता है कि जिस धन के लिये मैं दूसरों को ठगता हूँ, वह धन छोड़कर चला जाना पड़ेगा। तथा इससे जो घोर पाप कर्म बाँधा जा रहा है, उसका कटुक फल प्राप्त होगा। जैसे उलूक सूर्य को नहीं देखता है, दिन को रात्रि समझता है, वैसे ही अज्ञानी मायाचारी धर्म व परलोक की ओर दृष्टि नहीं करता है। मात्र क्षणिक स्वार्थ में ही लिप्त हो माया में ही प्रसन्न हुआ करता है।

॥ श्लोक १६४ ॥

माया आनंद संयुक्तं, अनृतं अचेत भावनं।
मनवचनकाय कर्तव्ये, कुबुद्धि विश्वास दारुणं।

अन्वयार्थ – (माया आनन्द सयुक्त) मायाचार के आनंद में भरपूर वह अज्ञानी (अनृतं) मिथ्यात्व व (अचेत) अज्ञान की (भावन) भावना किया करता है। (मनवचनकाय कर्तव्ये) मन, वचन, काय के करने योग्य व्यवहार में (कुबुद्धि) खोटी बुद्धि रखता हुआ (दारुण विश्वासं) तीव्र विश्वास रखता है।

विशेषार्थ – मायानंदी जीव मिथ्यादर्शन व मिथ्याज्ञान की निरन्तर भावना रखता है। आत्मीक तत्व से विरुद्ध जो संसार तत्व है उसी में तन्मय रहता है, विषयों की लम्पटता व मिथ्यात्व वर्द्धक कुदेव, कुगुरु, कुधर्म की सेवा व मिथ्याज्ञान वर्द्धक ग्रन्थों की आराधना किया करता है। उसकी भावना यही रहा करती है कि किसी तरह अपना मतलब सिद्ध करूँ। कदाचित् वह जिनेन्द्र प्रणीत देव, गुरु, धर्म की भी भक्ति करता है व जिनवाणी का भी मन लगाकर अभ्यास करता है, परन्तु

माया-शल्य के कारण उस मिथ्यात्वी का उद्देश्य आत्मकल्याण न होकर स्वार्थ साधन होता है, वह इस तरह कि मैं अपने बाहरी धर्म साधन का प्रभाव, देखनेवाली जनता पर डालकर उनकी प्रतीति में यह विश्वास जमा दूँ कि वे मुझे धर्मात्मा मानने लगें फिर मैं उनसे अपना लौकिक स्वार्थ सिद्ध करूँ। ऐसी मिथ्या वासना से अपना सर्व धार्मिक कृत्य अधार्मिक बना देता है। तथा वह अपने मायाचार के फैलाने में तीव्र विश्वास रखता है, बडी श्रद्धा से माया के जाल फैलाता है और मन, वचन, काय का कुटिल व्यवहार करता है। उसके मन में यह श्रद्धा मिथ्याज्ञान के कारण से जम जाती है कि मेरी कुटिलता को कोई जान नहीं सकता है, मैं ऐसा चतुर हूँ कि सर्व की आँखों में धूल डालकर, अपना स्वार्थ सिद्ध कर सकता हूँ। इसतरह अपने कपट के व्यवहार में घोर श्रद्धान रखता हुआ रात-दिन कपट के फँदे में फँसा रहता है। उसका भाव बाँस के बेड़े के समान अदृश्य मायाचार की गहरी वासना से वासित (ग्रसित)होता है।

॥ श्लोक १६५ ॥

माया अचेत पुन्यार्थं, पाप कर्मं च वर्धते।
शुद्ध तत्व न पस्यंते, मायावी नरयं पतं॥

अन्वयार्थ – (माया अचेत) माया में लिप्त अज्ञानी जीव (पुण्यार्थ) पुण्यरूप किये हुए कार्यों से भी (पाप कर्म च वर्धते) पाप कर्मों का ही बंध बढ़ा लेता है (शुद्ध तत्व न पस्यते) वह शुद्ध आत्मतत्व को नहीं अनुभव करता है – ऐसा (मायावी) मायाचारी (नरय पतं) नरक में चला जाता है।

विशेषार्थ – माया के अंधकार से जिसकी बुद्धि मलीन हो रही है – ऐसा मिथ्याज्ञानी जीव अपनी माया फैलाने के लिये उन कामों को बडी ही बाहरी भक्ति से करता है। जिन कार्यों को सरलता से व कपट रहित करने से पुण्य कर्मों का बन्ध होता है, परन्तु वह बेचारा उन्हीं कार्यों से घोर पाप कर्म का बंध कर लेता है। देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप, व दान – ये छह गृहस्थ के कार्य पुण्यबंध करानेवाले हैं। परन्तु माया शल्य के साथ किये हुए इनही से पाप का घोर बन्ध हो जाता है। कर्मों का बन्ध भीतरी वासना से होता है। वीतरागता का जिसका अभिप्राय उसके तो बहुत से पापों का क्षय होगा। निदान रूप विषयभोगों अभिप्राय होगा तो वह अल्प पुण्य बन्ध करेगा। यदि मायाचार का अभिप्राय होगा तो वह माया कषाय के कारण तीव्र पाप का बंध करेगा। मायावी के मात्र छल-कपट की भावना रहती है। वह तो उस ठगिया के समान है जो विश्वासपात्र मित्र बनकर मित्रता करता हुआ भी ठगने का ही भाव रखता है। जैसे बिल्ली चूहे के लोभ में रहती है वैसे वह स्वार्थ साधन में रहता है। अतएव पुण्य के स्थान में पापों का ही बन्ध करता है। वह मिथ्यादृष्टि जीव शुद्ध

तत्व को नहीं पहचानता है, न उसकी रुचि करता है, न उसका अनुभव ही कर सकता है। वह कृष्णादि अशुभ लेश्या के कारण नरकगति बाँध लेता है। माया कषाय इस जीव का बड़ा ही बुरा करनेवाला है — ऐसा जानकर जो अपना हित करना चाहे उनको माया कषाय का त्याग करके सरलता से ही व्यवहार करना चाहिये और यह मानवजन्म आर्जवधर्म को पालकर सफल करना चाहिये। थोडी-सी आयु के लिये मायाचार-करके धन का एकत्र करना आगामी पाप के उदय से तीव्र दुःख का कारण हो जायगा। सुभाषितरत्नसंदोह में कहते हैं-

शीलव्रतोद्यमतपः शमसंयुतो ऽपि, न चाश्नुते निकृतिशल्यधरो मनुष्य. ।
आत्यंतिकीं श्रियमबाधसुखस्वरूपां, शल्यान्वितो विविधधान्यधनेश्वरो वा॥५८॥

भावार्थ — **जो कोई मानव के शील, व्रत, उद्यम, तप, शांत भाव से विभूषित हैं, परन्तु माया-शल्य से पीडित है, वह बाधा रहित सुखमयी मोक्ष की लक्ष्मी को नहीं पा सकता है। जैसे नानाप्रकार धन का स्वामी होने पर भी काँटा लग जाने पर वह दुःख ही को भोगता है।**

॥ श्लोक १६६ ॥

कोहाग्निः अशाश्वते पोषितं, शरीरे मानबंधनं।
अशाश्वतं तस्य उत्पादं, कोहाग्निः धर्मलोपनं॥

अन्वयार्थ — (कोहाग्नि) **क्रोध की अग्नि** (अशाश्वते) **क्षणभंगुर पदार्थ के निमित्त से** (पोषितं) **भड़क उठती है।** (शरीरे मानबधन) **शरीर में अहंकार होने से इसका बंधन है।** (तस्य) **इस क्रोध से** (अशाश्वत) **विनाशीक संसार का** (उत्पादं) **जन्म होता है।** (कोहाग्नि·) **यह क्रोध की अग्नि** (धर्मलोपनं) **धर्म का लोप करनेवाली है।**

विशेषार्थ — **जिन प्राणियों का ममत्व शरीर में व शरीर के सुख के सहकारी स्त्री-पुत्रों में व अन्य विषय के पदार्थों में होता है, जो अपनी पर्याय के ममत्व में बँधे हुए होते हैं, उनको विनाशीक पदार्थों के निमित्त से क्रोध हो जाता है। जब कोई उनको बिगाडता है या वे बिगडते तो स्वयं हैं परन्तु यह अज्ञान से किसी को उसमें कारण मानकर उन पर बहुत क्रोध करता है। जिसके अनंतानुबन्धी क्रोध होता है, वह जरा-सा भी निमित्त मिलता है कि क्रोध में आग-बबूला हो जाता है, अपने आधीन निर्बल, स्त्री, पुत्र, पुत्री, सेवक आदि को बहुत कष्ट देता है। मान व लोभ के तीव्र उदय से यदि किसी के द्वारा मान में व लोभ के साधन में बाधा पहुँचती है तो यह क्रोधित हो उस व्यक्ति से अति द्वेष या वैरभाव बाँध लेता है तथा उसको कष्ट पहुँचाए बिना चैन नहीं पाता है। इस क्रोध कषाय से वह कर्म बाँधकर इस विनाशीक संसार को और बढ़ा लेता है। क्रोध के कारण धर्म का भी लोप कर दिया जाता**

है। यदि किसी धर्मात्मा ने कोई हित की बात कही है, पर कही इसतरह है कि जिससे इसके दिल में कुछ असर होवे। लेकिन यह उस बात से इतना बुरा मान लेता है कि जाने जो कुछ धर्म सेवता था उसको भी छोड़ बैठता है। क्रोध को यदि वश नहीं कर सके तो बड़े बडे तपस्वी भ्रष्ट हो दुर्गति के पात्र हो जाते हैं। क्षमा जहाँ है वहीं धर्म की उन्नति है। जहाँ क्रोध है वहाँ धर्म का नाश है। क्रोध-कषाय परिणामों को अति-मलीन व हिंसक बना देता है। सुभाषित. में कहते हैं -

धैर्यं धुनाति विधुनोति मति क्षणेन, रागं करोति शिथिलीकुरुते शरीरं।
धर्मं हिनस्ति वचनं विदधात्यवाच्यं, कोपो ग्रहो रतिपतिर्मदिरामदश्च॥१६॥

भावार्थ – यह क्रोधरूपी राक्षस काम के समान या मदिरा के नशे के समान धैर्य को नाश कर देता है, क्षणमात्र में बुद्धि को बिगाड देता है, राग को या हठ को बढा देता है, शरीर को शिथिल कर देता है, धर्म को नाश कर देता है, व न कहने योग्य वचनों को कहने लगता है।

वास्तव में यह क्रोध इस लोक व परलोक में महान बाधाकारी है।

॥ श्लोक १६७ ॥

एतत्तु भावनं कृत्वा, अधर्मं तस्य पस्यते।
रागादि मल संजुक्तं, अधर्मं तत्तु गीयते॥

अन्वयार्थ – (एतत्तु भावनं कृत्वा) जहाँ ऊपर लिखित सात व्यसन, आठ मद व चार अनन्तानुबन्धी कषायों की भावनाएँ की जाती हैं (तस्य) वहाँ उस प्राणी के भीतर (अधर्मं) अधर्म ही (पस्यते) देखा जाता है। (रागादि मल सजुक्त) जो कुछ भाव या वचन या क्रिया राग-द्वेषादि मल के साथ में है (तत्तु अधर्मं गीयते) उसको तो अधर्म ही कहा जाता है।

विशेषार्थ – ग्रंथकर्ता ने कुधर्म का स्वरूप बहुत विस्तार से कहा है, तथा स्पष्ट कर दिया है कि भावना ही अधर्म है व भावना ही धर्म है। जहाँ अपने शुद्ध स्वरूप की भावना नहीं है वहाँ संसार की भावना होगी। जहाँ संसार की भावना होगी वहाँ पाँच इंद्रियों के भोग की व लोभ व मान कषाय की पुष्टि की ही विशेष भावना होगी। इस अशुभ भावना से पीड़ित होकर यह प्राणी अवश्य ही सात व्यसनों की भावना में फँस जायगा, आठ प्रकार का मद करेगा, तीव्र क्रोधादि कषाय का भागी होगा। उसके भावों में अधर्म ही अधर्म हर समय पाया जायेगा। वास्तव में वीतराग-विज्ञान तो धर्म है। उसके विरुद्ध जो कुछ भी राग-द्वेष आदि मैल से मैला भाव है वह सब अधर्म है, कुधर्म है, संसार का कारण है। मिथ्यात्व सहित सर्व भाव बाहर में धर्म सरीखे दिखते हैं परन्तु ये अधर्म हैं। इस अधर्म को धर्म मानना यह गहरा मिथ्यात्व है। यहाँ ग्रन्थकर्ता का भाव प्राणियों को धर्म में श्रद्धावान करने का है,

इसलिये वे प्रेरणा करके कहते हैं कि जो इस नरभव को सफल करना चाहें और सुख से वर्तमान जीवन व भविष्य का जीवन बिताना चाहें उनको उचित है कि यथार्थ धर्म को समझें, कुधर्म को धर्म न जानें। जिस धर्म में विषय-कषाय की किसी भी तरह पुष्टि है वह अधर्म है व जहाँ वैराग्य और शुद्धात्म तत्व की पुष्टि है वह धर्म है। सुभाषित. में कहते हैं –

विरागसर्वज्ञपदाम्बुजद्वये यतौ निरस्ताखिलसंगसंगतौ।
वृषे च हिंसा रहिते महाफले करोति हर्षं जिनवाक्यभावितः॥१५८॥

भावार्थ – श्री जिनवाणी के अनुसार भावना करनेवाला वीतराग-सर्वज्ञ के चरण-कमलों में, सर्व परिग्रह रहित साधु में व हिंसा रहित महा फलदायी धर्म में आनन्द मानता है।

॥धर्म का स्वरूप॥

॥ श्लोक १६८ ॥

शुद्धधर्मं च प्रोक्तं च, चेतनालक्षणो सदा।
शुद्ध द्रव्यार्थिक नयेन, धर्मं कर्मविमुक्तयं॥

अन्वयार्थ – (शुद्धधर्मं च प्रोक्तं च) शुद्ध धर्म ऐसा कहा गया है कि वह (सदा) सदा (चेतनालक्षण:) आत्मा का चेतना लक्षण है। (शुद्ध द्रव्यार्थिक नयेन) शुद्ध द्रव्य की दृष्टि से (धर्मं) वह धर्म (कर्मविमुक्तयं) सर्व प्रकार कर्म से रहित है।

विशेषार्थ – अब यहाँ निश्चय धर्म या शुद्ध धर्म को कहते हैं। यह साक्षात् मोक्षमार्ग है। निश्चयधर्म का आराधन किये बिना न कोई मोक्ष गया है, न जावेगा, न अब किसी क्षेत्र से जा सकता है। यह असली धर्म आत्मा का या अपना स्वरूप है। आत्मा का लक्षण चेतना है अर्थात् स्वभाव से आत्मा ज्ञानचेतना स्वरूप है, अपने ही यथार्थ ज्ञानमय शुद्ध स्वरूप का अनुभव या स्वाद लेनेवाला है। यह कर्म-चेतना व कर्मफलचेतना के स्वाद से रहित है। रागद्वेषरूप होकर कार्य करते हुए यह अनुभवना कि मैं काम करता हूँ – यह कर्म चेतना है। कर्मों का फल होते हुए यह अनुभवना कि मैं सुखी हूँ, या दुःखी हूँ – यह कर्म फल चेतना है। यह अशुद्ध आत्मा में कमी पाई जाती हैं। आत्मा स्वभाव से ज्ञान चेतना मयी है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय उस नय या अपेक्षा या दृष्टि को कहते हैं जो शुद्ध द्रव्य को देखता है। एक ही द्रव्य को पर से भिन्न देखता है। इस नय के द्वारा देखते हुए आत्मा भी कर्मों से रहित दीखता है व उसका स्वभाव या धर्म भी कर्मों से रहित दीखता है। कर्म तीन प्रकार हैं। भाव कर्म – राग-द्वेषादि मलीन भाव हैं। द्रव्य कर्म – ज्ञानावरणादि आठ कर्म है। नोकर्म – शरीरादि हैं। ये सब ही आत्मा के स्वभाव में नहीं है, इसलिये शुद्ध धर्म आत्मारूप ही है, आत्म का निजस्वभाव है,

यह अभेद रत्नत्रय स्वरूप है। अपने आत्मा को शुद्ध द्रव्य की अपेक्षा शुद्ध है – ऐसा निश्चय करना सम्यग्दर्शन है, ऐसा संशयादि दोष रहित जानना सम्यग्ज्ञान है तथा इसी में थिर होकर स्वाद लेना सम्यक्चारित्र है अर्थात् एक शुद्धात्मानुभव या स्वानुभव, या स्वसमय या आत्मध्यान ही शुद्ध धर्म है, मोक्ष का साक्षात् उपाय है। श्री देवसेनाचार्य तत्वसार में कहते हैं -

जो खलु सुद्धो भावो सा अप्पणितं च दंसणं णाणं। चरणंपि तं च भणियं सा सुद्धा चेयणा अहवा।। ८।।
जं अवियप्पं तच्चं तं सारं मोक्खकारणं तं च। तं णाऊण विसुद्धं झायह होऊण णिग्गंथो।। ९।।

भावार्थ – **जो निश्चय से शुद्ध आत्मा का भाव है वह आत्मरूप है वही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र कहा गया है – उसी को शुद्ध चेतना कहते हैं, वही निर्विकल्प तत्व है, वही सार है, वही मोक्ष का कारण है, उसी को जानकर व उसी के शुद्ध स्वरूप को निर्ग्रंथ हो कर, सर्व से ममता त्याग करके ध्याओ।**

॥ श्लोक १६९ ॥

धर्मं च आत्मधर्मं च, रत्नत्रयमयं सदा।
चेतना लक्षणो यस्य, तत् धर्मं कर्म विवर्जितं॥

अन्वयार्थ – (धर्मं च) **धर्म तो** (आत्म धर्मं च) **आत्मा का स्वभाव ही है। वह** (सदा) **तीनों कालों में** (रत्नत्रयमयं) **रत्नत्रयमई है** (यस्य लक्षणः) **जिसका लक्षण** (चेतना) **या स्वानुभव है** (तत् धर्मं) **वह धर्म** (कर्मविवर्जितं) **सर्व कर्म की उपधि से रहित है।**

विशेषार्थ – **यहाँ फिर दृढ़ किया है कि धर्म कहीं बाहर नहीं है, न किसी चैत्यालय में है, न शास्त्र में है, न किसी तीर्थ में है, न किसी गुरु के पास से मिलता है, न क्रियाकांड में है। धर्म तो हरएक आत्मा के भीतर है। हरएक आत्मा का अपना निज स्वभाव है। भेद दृष्टि से देखें या कहें तो उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय कहेंगे, परन्तु अभेद नय से देखें या कहें तो यह मात्र एक स्वानुभवरूप या ज्ञानचेतना-मात्र है। उस धर्म में राग-द्वेषादि की व संकल्प-विकल्प की कोई उपाधि नहीं हैं।**

जो कोई तत्वज्ञानी निश्चिन्त होकर सर्व चिन्ताओं को त्यागकर एक अपने शुद्ध आत्मा को शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से देखता है, जानता है, अनुभवता है, तद्रूप होता है, तन्मय हो जाता है, अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में मग्न हो जाता है ;वही अपने भीतर अपने धर्म को पाता है। यह धर्म वास्तव में वचन अगोचर है। मन से भी अगोचर है। जब काय भी थिर रहता है, वचन भी बंद रहता है, मन की चंचलता भी मिट जाती है ;तब वह आत्मधर्म इन मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से बाहर होने पर

ही अनुभव में आता है। चैत्यालय का सम्बन्ध व भक्ति, शास्त्र का पढ़ना, तीर्थ में जाना, गुरु की संगति, व्यवहार श्रावक व मुनि की क्रिया मात्र मन को बाहरी प्रपंचजाल से बचाने को निमित्त है। इसलिये उनका संयोग हितकारी है। परंतु जो कोई इन ही को असली धर्म मान ले और शुद्ध आत्मा के तत्व को न पहचाने, उसके लिये यहाँ कहा गया है कि असली धर्म तो आत्मा का अपना स्वभाव है। इसतरफ लक्ष्य देने से ही मुमुक्षु को सच्चा मार्ग हाथ लगेगा और वह वास्तविक धर्मरत्न को पाकर कृतार्थ हो जायगा। उसका जन्म-जरा-मरणरूपी रोग को मेटने के लिये व कर्म का मैल धोने के लिये यही एक अद्भुत गुणकारी औषधि है। इसी का पान या सेवन सदा सुखकारी है।

॥ श्लोक १७० ॥

धर्मध्यानं य आराध्यं, ॐवंकारे च सुस्थितं।
ह्रींकारे श्रींकारे च, त्रि ॐवंकारे च सुस्थितं॥

अन्वयार्थ – (धर्मध्यान च) **धर्मध्यान का ही** (आराध्यं) **आराधन करने योग्य है** (ॐवंकारे च) **वह ॐकार के भीतर** (ह्रीकारे) **ह्रींकार के भीतर** (श्रींकारे च) **तथा श्रींकार के भीतर** (सुस्थितं) **भले प्रकार स्थित है** – (त्रि) **ये तीनों** (ॐवंकारे च) **ॐकार में ही** (सुस्थितं) **भले प्रकार प्राप्त हैं, स्थित हैं।**

विशेषार्थ – **यहाँ धर्मध्यान के सेवने की प्रेरणा की है, यद्यपि धर्मध्यान वास्तव में अपने ही शुद्ध आत्मा में स्थिति स्वरूप है, अपने आत्मा का निर्विकल्प भाव है, तथापि शिष्य को उसका अभ्यास करने के लिये किन्हीं शब्दों का आलम्बन लेना पड़ता है। उसके लिये यहाँ कहा है कि वे तीन पद हैं। ॐ, ह्रीं, श्रीं। पहले बताया जा चुका है कि 'ॐ' में अरहंतादि पाँच परमेष्ठी गर्भित हैं, 'ह्रीं' में चौबीस तीर्थंकर गर्भित हैं तथा 'श्रीं' में परमैश्वर्य युक्त अरहंत व सिद्ध परमेष्ठी भी हैं या किसी अपेक्षा अन्य तीन परमेष्ठी गर्भित हैं। इन तीनों पदों का जो भाव है वह एक ॐ में भलेप्रकार गर्भित है। अर्थात् चाहे तीनों पदों का अलग-अलग ध्यान करो या तीनों को मिलाकर करो या मात्र एक ॐ का ही करो, सर्व एक ही भाव को झलकानेवाले हैं। निश्चय से शुद्ध आत्मा ही अरहंत है। शुद्ध आत्मा ही सिद्ध है, शुद्ध आत्मा ही आचार्य है, शुद्ध आत्मा ही उपाध्याय है, शुद्ध आत्मा ही साधु है, शुद्ध आत्मा ही श्री ऋषभादि महावीर पर्यंत चौबीस तीर्थंकर हैं। ध्याता को अपना लक्ष्य शुद्ध आत्मा की तरफ रख कर मन की चंचलता को मेटने के लिये, इन पदों का आलम्बन लेकर इनको या तो जपना चाहिये या हृदयस्थान में या दो भौंहो के मध्य में या नाभि-कमल में या मस्तक पर या नासिका की नोक पर विराजमान करके इनको ज्योति-स्वरूप चमकता हुआ देखना चाहिये। फिर उसके द्वारा शुद्ध आत्मा पर पहुँच जाना चाहिये। वहाँ से उपयोग हटे, तब फिर इसी पद को देखना चाहिये। कभी कभी पाँच**

परमेष्ठी के, २४ तीर्थंकरों के गुणों को विचारते रहना चाहिये। शुद्धात्मा में जब उपयोग न रमे, तब ये सब कार्य आलंबनरूप हैं। पुनः पुनः आलम्बन लेते हुए पुनः पुनः शुद्धात्मा में पहुँच जाना चाहिये। इसी रीति से आत्मा का ध्यान करना चाहिये यही धर्मध्यान है।

॥ श्लोक १७१ ॥

धर्मध्यानं त्रिलोकं च, लोकालोकं च शास्वतं।
कुज्ञानं त्रिविनिर्मुक्तं, मिथ्या माया न दिष्टते॥

अन्वयार्थ – (धर्मध्यानं) **धर्म ध्यान** (त्रिलोकं च) **तीन लोक का स्वरूप विचारना है** (लोकालोकं च शाश्वतं) **व अविनाशी लोकालोक का स्वरूप विचारना है** (कुज्ञानं त्रिविनिर्मुक्तं) **तीन मिथ्याज्ञान से रहित है** (मिथ्या माया न दिष्टते) **वहाँ मिथ्यात्व व मायाचार नहीं दिखलाई पड़ते हैं।**

विशेषार्थ – **धर्म का क्या स्वरूप है सो ऊपर कहा है, शुद्ध आत्मा के स्वरूप का ध्यान करना यह असली धर्मध्यान है। जब ध्यान में उपयोग न लगे तब तीन लोक के स्वरूप का विचारना भी धर्मध्यान है। जैसे यह सोचना कि अधोलोक में सात नरक हैं, जहाँ तीव्र पाप के फल से उपजता है। पहली रत्नप्रभा पृथ्वी के खर भाग व पंक भाग में भवनवासी तथा व्यंतरों के निवासस्थान हैं। मध्यलोक में असंख्यात द्वीप-समुद्र एक दूसरे को बेढे (घेरे) हुए हैं व विस्तार में एक दूसरे से दूने दूने हैं। इनमें से जंबूद्वीप, घातकीखंड तथा पुष्करार्द्ध – इन ढ़ाई द्वीप को मानवलोक कहते हैं, यहीं से मानव धर्म साधन कर मोक्ष या स्वर्ग जाते हैं। असंख्यात द्वीप-समुद्रों में युगलिये पशु पैदा होते हैं, वहीं जघन्य भोगभूमि है। विदेह क्षेत्रों में सदा ही चौथा काल रहता है। वहाँ मोक्ष होना सदा चलता रहता है। ज्योतिष पटल मध्यलोक की ही हद्द में है। भूमि से ७९० योजन ऊपर जाकर है। ऊर्ध्वलोक में १६ स्वर्ग, नौ ग्रैवेयिक, नौ अनुदिश, पाँच अनुत्तर विमान, फिर सिद्धक्षेत्र है, जहाँ कर्मों से मुक्त होकर शरीर रहित परमात्मा विराजमान रहते हैं। सर्वत्र लोक में स्थावर जीव भरे हैं। लोक के मध्य त्रस नाड़ी में ही त्रस जीव है। इस चार गतिमय संसार में जीव पाप-पुण्य के द्वारा दुःख व सुख उठाते हैं। जो शुद्ध होते हैं, वे मुक्ति में विराजते हैं, इसतरह तीन लोक का स्वरूप विचारना धर्मध्यान है। लोकालोक के स्वरूप में जीव, पुद्गल, धर्मस्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल और आकाश – इन छह अविनाशी मूल द्रव्यों का विचार करना चाहिये, जिनसे यह लोकाकाश, अलोकाकाश नाम पड़ा है। लोकाकाश में छहों द्रव्य हैं, बाहर मात्र आकाश है। छह द्रव्यों की पर्यायें स्वाभाविक या जीव पुद्गलों की वैभाविक पर्यायें भी हुआ करती हैं। पर्यायों की अपेक्षा यह विश्व अनित्य है परन्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य है। इसे न किसी ने बनाया न इसका सर्वथा नाश होगा। यह अनादि-अनंत है। मिथ्या**

मति, श्रुत, अवधिपना जहाँ नहीं है ;वहीं धर्म है क्योंकि वहीं सम्यग्दर्शन है। वास्तव में सम्यग्दर्शन ही धर्म का मुख्य अंग है। जहाँ परिणाम में न मिथ्यात्व हो और न माया शल्य हो, मात्र आत्मोन्नति के लिये सरलभाव से शुद्धात्मतत्व का अनुभव हो व उसके अनुकूल द्रव्यों का, तत्वों का, पदार्थों का विचार हो, कर्म के उदय व बंध का विचार हो, वह सब धर्मध्यान है – यही करने योग्य है।

॥ श्लोक १७२ ॥

उत्तमक्षमा उत्पाद्यंते, उत्तम तत्व प्रकाशकं।
अमलं अप्प सद्भावं, उत्तमधर्मं च निश्चयं॥

अन्वयार्थ – (उत्तम क्षमा उत्पाद्यते) जहाँ उत्तम क्षमा पैदा हो, जो (उत्तम तत्व प्रकाशकं) उत्कृष्ट आत्मतत्व का प्रकाशक हो, जो (अमलं) रागादि मल रहित हो, जो (अप्पसद्भावं) आत्मा का स्वभाव हो, वही (निश्चयं च उत्तम धर्मं) निश्चय से उत्तम धर्म है।

विशेषार्थ – यहाँ उत्तम धर्म या निश्चय धर्म का स्वरूप कहते हैं। जहाँ परिणामों में ऐसी आत्मतल्लीनता हो व ऐसा उपेक्षा भाव हो कि परिणामों की भूमिका उत्तम क्षमामयी बन गई हो। क्रोध के कारण मिलने पर भी क्रोध न उपजे। कोई सहस्रों दुर्वचन कहे, कोई मारे पीटे अपमान करे, तो भी वज्र के समान स्थिर रहे, परम समताभाव धारी हों, जहाँ कंचन-लोष्ट समान हो, शत्रु-मित्र समान हो, जीवन-मरण समान हो, जहाँ श्रुतज्ञान के बल से भावश्रुतज्ञान को समझ लिया हो। सर्व द्वादशांग का सार शुद्धात्मा है, उसके अनुभव का प्रकाश हो गया हो, राग-द्वेषादि मलीन भावों का राग छूट गया हो – अर्थात् आत्मा का ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय स्वभाव में एकतानता हो, श्रुतज्ञान के द्वारा स्वसंवेदन प्रत्यक्षपने ज्ञात हो, वही निश्चय उत्तम धर्म है। श्री योगीन्द्राचार्य योगसार में कहते हैं

रायरोस वे परिहरई जो अप्पा णिवसेइ। सो धम्मुवि जिणुउत्तियउ जो पंचम गइ देइ॥४७॥

भावार्थ - राग-द्वेष दोनों को छोड़कर जो आत्मा में निवास करता है, वही धर्म को सेवन करता है – ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है। तथा वही पंचमगति मोक्ष को पा सकता है।

॥ श्लोक १७३ ॥

मिथ्यासमय मिथ्यात्व, रागादिमलवर्जितः।
असत्यं अनृत न दिष्टंते, अमलं धर्म सदा बुधैः॥

अन्वयार्थ – (मिथ्या समय) मिथ्या आगम व मिथ्या पदार्थ, (मिथ्यात्व) मिथ्यादर्शन व (रागादि मल वर्जितः) रागादि मल से रहित– जहाँ (असत्यं अनृत न दिष्टंते) असत्य व मिथ्यात्व नहीं दिखलाई

पढे – ऐसा (अमलं धर्म) निर्मल धर्म (सदा) सदा ही (बुधैः) बुद्धिमानों से माना गया है।

विशेषार्थ – शुद्ध धर्म वही है जिस धर्म में सत्य पदार्थों का कथन हो, मिथ्या एकांत पदार्थों का कथन न हो व जिसका आगम मिथ्या कथन से रहित हो, यथार्थ अनेकांत का प्ररूपक हो व जिस धर्म में किसी मिथ्यात्व की पुष्टि न हो, न अगृहीत की न गृहीत की, मन जिसमें राग-द्वेष क्रोधादि कषाय की तरफ झुकाव हो, किन्तु जहाँ वीतराग भाव की दृढ़ता हो, जिसमें असत्य न हो व जहाँ अनित्य को अनित्य व नित्य को नित्य जैसा का तैसा बताया गया हो, ऐसा निर्मल धर्म ही यथार्थ धर्म है। सम्यग्ज्ञान की पुष्टि करनेवाला ही धर्म होना चाहिये। जिसका लक्षण रत्नकरण्ड में कहा है –

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्। निःसंदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः॥४२॥

भावार्थ – आगम के ज्ञाता उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं जो ज्ञान पदार्थ को न कम कहे, न अधिक कहे, न विपरीत कहे, न संदेहयुक्त कहे, किंतु जैसा उसका स्वरूप है वैसा ही कहे – ऐसा सम्यग्ज्ञान से पूर्ण धर्म ही सच्चा धर्म है।

॥ श्लोक १७४ ॥

धर्मं उत्तम धर्मस्य, मिथ्यारागादि खंडितं।
चेतना चेतनं द्रव्यं, शुद्धतत्त्वप्रकाशकं॥

अन्वयार्थ – (धर्मं) धर्म वही है जो (उत्तम धर्मस्य) उत्तम श्रेष्ठ रत्नत्रय धर्म का पोषक हो (मिथ्यारागादि खंडितं) जिसमें मिथ्यात्व व राग-द्वेषादि विभाव भावों का खंडन हो, (चेतना चेतनं द्रव्यं) जो चेतन तथा अचेतन द्रव्यों को यथार्थ झलकाता हो (शुद्धतत्त्वप्रकाशकं) तथा जो शुद्ध तत्त्व का प्रकाश करनेवाला हो।

विशेषार्थ – मोक्ष शुद्ध आत्मीक परिणति को कहते हैं। उसकी प्रगटता का मार्ग शुद्धात्मानुभव है। यही निश्चय उत्तम धर्म है। जिस धर्म का उद्देश्य स्वात्मानुभव हो वही माननीय धर्म है। जिस धर्म में सम्यग्दर्शन की पुष्टि हो तथा मिथ्यात्व का खंडन हो, वीतरागभाव की दृढ़ता हो व राग-द्वेषादि विभावों का निषेध हो, बहुत अकाट्य युक्तियों से जहाँ मिथ्यात्व का व कषाय का खंडन किया गया हो तथा जहाँ चेतना को अचेतन पाँच द्रव्यों से भिन्न दिखलाया गया हो। आत्मा को द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, भावकर्म राग-द्वेषादि व नोकर्म शरीरादि से भिन्न बताया हो, तथा पुद्गल, धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय, काल तथा आकाश से भिन्न लक्षणवाला बताया हो। आत्मा के शुद्ध तत्त्व के प्रकाश का उपाय बतानेवाला हो, अतीन्द्रिय आनन्द की कुंजी देनेवाला हो वही सच्चा धर्म है। यह लक्षण सर्वज्ञ वीतराग अरहंत कथित जिनधर्म में भलेप्रकार गठित होते हैं। बुद्धिमान को परीक्षा

करके धर्म व कुधर्म का निर्णय कर लेना चाहिये। जिनकी परीक्षा की शक्ति न हो वह परीक्षावान के वचनानुसार धर्म पर श्रद्धा लावे। हमारा भंडार गुप्त है, हमारा अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख स्वभाव सब हमारे ही पास है। इसकी प्रगटता की जो कुंजी है, वही सच्चा धर्म है। संसार का ममत्व हटानेवाला ही सच्चा धर्म है। कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चय में कहते हैं –

ममत्वाज्जायते लोभो, लोभाद्रागश्च जायते। रागाच्च जायते द्वेषो, द्वेषात्दुःखपरम्परा॥२३३॥
निर्ममत्वं परं तत्वं निर्ममत्वं परं सुखं। निर्ममत्वं परं बीजं, मोक्षस्य कथितं बुधैः॥२३४॥

भावार्थ – ममता से लोभ पैदा होता है, लोभ से राग उत्पन्न होता है, राग से द्वेष होता हैं, द्वेष से दुःख की संतान चलती है। ममता रहित परम तत्व है, ममता रहितपना परम सुख है, ममता रहितपना मोक्ष का श्रेष्ट उपाय है – ऐसा बुद्धिमानों ने कहा है। जिनको आत्मीक आनन्द की प्राप्ति की भावना है, उनके शुद्धोपयोगमयी भाव को असली धर्म समझना चाहिये।

॥धर्मध्यान का स्वरूप॥

॥ श्लोक १७५ ॥

धर्मं अर्थति अर्थं च, तीअर्थं वेदनं युतं।
षट्कमलं त्रि ॐकारं, धर्मध्यानं च संयुतं॥

अन्वयार्थ – (धर्मं) धर्म (अर्थं च अर्थति) प्रयोजन का उद्देश्य को लिये हुए होता है (तीअर्थं) तीन अर्थ जो रत्नत्रय है, उसकी (वेदनं) अनुभूति (युतं) सहित है। (षट्कमलं) छः अक्षररूप ॐ ह्रॉं ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः कमल सहित व (त्रि ॐकारं) तीन ॐ सहित रत्नत्रयरूप – ऐसे (धर्मध्यानं च सयुतं) धर्मध्यान सहित है।

विशेषार्थ – धर्म वही है जो अपने प्रयोजन को लिये हुए हो, वह प्रयोजन यह है कि निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यग्चारित्रमयी तीनों भावों का एक साथ अनुभव किया जावे, इस अनुभव का सहकारी कारण धर्मध्यान है।

उस धर्मध्यान के अनेक उपाय हैं। एक उपाय यह है कि एक कमल हृदयस्थान में छः पत्तों का विचारा जावे। और उसके हर एक पत्ते पर क्रमशः- ॐ ह्रॉं, ह्रॉं, ह्रीं ह्रूं, ह्रौं, ह्रः, स्थापित करके अथवा अरहंत-सिद्ध – इन छह अक्षरों को विराजमान करके इन मंत्र पदों के द्वारा शुद्धात्मा का ध्यान किया जावे अथवा तीन पत्र का कमल विचार करके हर एक पत्ते पर ॐ सम्यग्दर्शनाय नमः, ॐ सम्यग्ज्ञानाय नमः, ॐ सम्यक्चारित्राय नमः – ऐसे तीन पद रखकर इनके द्वारा ध्यान करें। इस श्लोक का जो भाव समझ में आया सो लिखा गया है, विशेष ज्ञानी अधिक विचार कर लेवें।

॥ श्लोक १७६ ॥

धर्म अप्प सद्भावं, मिथ्या माया निकन्दनं।
शुद्ध तत्वं च आराध्यं, ह्रींकारं ज्ञानमयं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (धर्म) **धर्म** (अप्प सद्भावं) **आत्मा का यथार्थ स्वभाव है** (मिथ्या माया निकन्दनं) **जहाँ न मिथ्यात्व है, न मायाचार है,** (शुद्ध तत्व च आराध्यं) **जहाँ शुद्ध आत्मीक तत्व की आराधना है व** (ह्रीकारं) **जहाँ ह्रीं का ध्यान है, जिस ह्रीं में** (ध्रुवं) **अविनाशी** (ज्ञानमयं) **ज्ञानमयी तत्त्व स्थापित है।**

विशेषार्थ – **हर एक आत्मा का अपना जो यथार्थ द्रव्य का स्वभाव है वही धर्म है। अर्थात् यह आत्मा स्वभाव से शुद्ध सहज ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमयी अविनाशी अमूर्तीक कर्म-कलंक से रहित परम निर्मल है। इसी शुद्ध स्वभाव का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। इसी का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है व इसी का आचरण सम्यक्चारित्र है, यही यथार्थ धर्म है, इस पर लक्ष्य रखते हुए जिस उपाय से इसका ध्यान हो सके, वह सब उपाय भी कर्तव्य हैं। उसी को धर्मध्यान कहते हैं। इस शुद्ध आत्मस्वभावमयी धर्म में मिथ्यात्व का व मायाचार का नाम नहीं है। जहाँ अभिप्राय संसार सम्बन्धी राग-द्वेष हो, विषय-कषाय की पुष्टि हो, शुद्ध आत्मानन्द के लाभ के सिवाय अन्य कोई स्वर्गादिक सुख का पाना हो वहीं मिथ्यात्व की गन्ध कही जाती है, अथवा जहाँ कोई मायाचार ही हो, मात्र किसी लौकिक प्रयोजन के लिये दूसरों पर असर डालने के लिये, धर्म का आचरण भी पाला जाता हो व धर्मध्यान का अभ्यास किया जाता हो, वह भी सच्चा धर्म नहीं है। धर्म वहीं है जहाँ आराधन करने योग्य एक शुद्ध आत्मीक तत्व हो। लक्ष्य बिन्दु यही हो। इसी लक्ष्य को रखकर व्रत, उपवास, जप,तप, ध्यान, धारणा, समाधि आदि का साधन किया जाता हो। धर्मध्यान के उपाय में ह्रीं का ध्यान भी है। इसका ध्यान श्री ज्ञानार्णव ग्रन्थ के आधार से इसप्रकार करे कि मुख में एक कमल का विचार करे जो आठ पत्तों का हो, उसकी कर्णिका के मध्य में ह्रीं को उज्ज्वल चमकता हुआ विचारे फिर उसी को कमल के हर एक पत्ते पर घूमता हुआ विचारे, फिर उसे आकाश में चलता हुआ विचारे, फिर तालुके द्वारा अमृत सिंचन करता हुआ भौंहों के मध्य में तिष्ठता ध्यावे। इसतरह इस मात्रा वर्ण के चिंतवन करे परन्तु अपना लक्ष्य इसके वाचक ज्ञानमयी अविनाशी आत्मा के ही ऊपर रखे। इस मंत्र के द्वारा अपने शुद्ध आत्मा का ही ध्यान करे, मन को रोकने के लिये ह्रीं का सहारा उपयोगी है।**

॥ श्लोक १७७ ॥

पदस्थं पिंडस्थं येन, रूपस्थं त्यक्त रूपयं।
चतुर्ध्यानं च आराध्यं, शुद्ध सम्यक्दर्शनं॥

अन्वयार्थ – (येन) **जिसके** (पदस्थं पिंडस्थं) **पदस्थ, पिंडस्थ** (रूपस्थं) **रूपस्थ** (त्यक्त रूपयं) **रूपातीत** (चतुर्ध्यानं) – **ये चार प्रकार का ध्यान** (आराध्यं) **आराधना करने योग्य है। वही** (शुद्ध सम्यग्दर्शनं) **शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारी है।**

विशेषार्थ – **शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारी भव्य जीव आत्मकल्याण के लिये, मन की चंचलता को रोकने के लिये, अपना शुद्ध तत्त्व का भाव रख कर चार प्रकार के धर्मध्यान का अभ्यास करता है –**

(१) पदस्थ धर्मध्यान वह है जहाँ पदों को किसी स्थान पर विराजमान करके उसके ऊपर मन को रोका जावे और वहीं शुद्धात्मा की भावना की जावे। (२) पिंडस्थ ध्यान वह है जहाँ अपने शरीर के भीतर अपने ही आत्मा को सर्व कर्म कलंक रहित व शरीरादि रहित ध्याया जावे। (३) रूपस्थ ध्यान वह है जहाँ अरहंत का स्वरूप विचार किया जावे। (४) रूपातीत ध्यान वह है जहाँ सिद्ध भगवान का स्वरूप ध्याया जावे। अरहंत व सिद्ध के स्वरूप के द्वारा अपना ही स्वभाव ध्यान में लिया जावे। शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव सर्व कामनाओं से रहित होकर शांत स्वभावमयी आत्मा की परिणति को करने के लिये इसतरह धर्मध्यान का अभ्यास करते हैं। सम्यक्त्व होने के पीछे यथाख्यात चारित्र व केवलज्ञान की प्राप्ति के लिये ध्यान का अभ्यास जरूरी है। यद्यपि इस पंचमकाल में इस भरतक्षेत्र में शुक्लध्यान व आठवां गुणस्थान नहीं हो सकता है तथापि धर्मध्यान व सातवाँ गुणस्थान हो सकता है।

जैसा श्री नागसेन मुनि तत्त्वानुशासन में कहते हैं –

ये ऽत्राहुर्न हि कालो ऽयं ध्यानस्य ध्यायतामिति। ते ऽर्हन्मतानभिज्ञत्वं ख्यापयंत्यात्मनः स्वय॥ ८२॥
अत्रेदानीं निषेधंति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः। धर्मध्यानं पुनःप्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्तिनां॥ ८३॥

भावार्थ – **जो कोई कहते हैं कि इस काल में ध्यान नहीं हो सकता, वे अर्हंत के मत के ज्ञाता नहीं हैं, वे अपने अज्ञान को प्रगट करते हैं। तीर्थंकरों ने इस काल में मात्र शुक्लध्यान का निषेध किया है। श्रेणी के पहले रहनेवालों के लिये धर्मध्यान कहा गया है।**

मुमुक्षु को उद्यम करके धर्मध्यान का अभ्यास करना चाहिये।

॥ श्लोक १७८ ॥

पदस्थं पद विंदंते, अर्थ सर्वार्थ शाश्वतं।
व्यंजनं तत्वसार्थं च, पदार्थ तत्र संजुतं॥

अन्वयार्थ – (पदस्थं) **पदस्थ धर्मस्थान** (पद) **पदों को** (विंदंते) **ध्यान में लेता है।** (अर्थ) **उसके भाव को तथा** (सर्वार्थ शाश्वतं) **अविनाशी सर्व पदार्थ को विचारता है।** (व्यंजनं) **शब्द को** (तत्वसार्थं च) **तत्व और अर्थ के साथ ध्याता है** (तंत्र) **वहाँ** (पदार्थ संजुतं) **पदार्थ का संयोग मिलाता है।**

विशेषार्थ – अक्षरों के समूह को शब्द व शब्द के समूह को पद कहते हैं। जहाँ पदों को अथवा शब्द को स्थापित करके उसके ऊपर चित्त रोका जावे, उन पदों का व शब्दों का क्या अर्थ है उसको विचारा जावे, उस अर्थ से जिन जिन अविनाशी द्रव्यों का बोध होता हो तो उनको ध्यान में लिया जावे, उनमें से त्यागने योग्य को त्यागा जावे व ग्रहण करने योग्य एक आत्मीय पदार्थ को ग्रहण किया जावे। पदों या शब्दों के आलम्बन को लेकर जहाँ आत्मा का ध्यान किया जावे वह पदस्थ ध्यान है।

श्री ज्ञानार्णव में कहा है:–

पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते। तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः॥१-३९॥

भावार्थ – योगीजन पवित्र पदों का आलम्बन लेकर जो ध्यान करते हैं, उसको अनेक नयों के ज्ञाता आचार्यों ने पदस्थ ध्यान कहा है।

जैसे मंत्रराज ह्रँ शब्द है। इसका योगी कुंभक प्राणयाम से अर्थात् पवन को व मन को स्थिर करके पहले दोनों भौंहों के बीच चमकता हुआ चन्द्रमा की ज्योति के समान ध्यावे फिर मुखकमल में प्रवेश करता हुआ तालुओं के छेद से गमन करता हुआ अमृतमय जल वर्षाता हुआ नेत्र की पलकों पर चमकता हुआ फिर मस्तक के बालों पर आता हुआ फिर ज्योतिष चक्र के भीतर भ्रमण हुआ फिर चन्द्रमा के पास से निकलता हुआ, दिशाओं में संचरता हुआ, आकाश में उछलता हुआ, मोक्षस्थान को स्पर्श करता हुआ ध्यावे, फिर क्रम से लाकर उसको भौंहों के बीच में या नासिका के अग्रभाग में विराजमान करके ध्यावे। यह मंत्रराज श्री जिनेन्द्र भगवान का व उनकी शुद्ध आत्मा का बोध करानेवाला है। जैसा ज्ञानार्णव में कहा है –

मंत्रमूर्तिं समादाय देवदेव· स्वयं जिनः। सर्वज्ञः सर्वगः शान्तः सोऽयं साक्षाद व्यवस्थितः॥१२॥

भावार्थ – यह मंत्रराज ह्रँ सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, शांत, देवाधिदेव जिनेन्द्र को स्वयं साक्षात् बतानेवाला है, इसके ध्यान के बल से अरहंत को ध्यावे फिर अरहंत के शुद्ध आत्मा को ध्यावे, उनके शरीरादि से लक्ष्य हटा लेवे फिर अपने शुद्धात्मा पर लक्ष्य देवे, इसी तरह और भी पदों का ध्यान करे।

॥ श्लोक १७९ ॥

कुज्ञानं त्रि न पश्यंते, माया मिथ्या विखंडितं।
व्यंजनं च पदार्थं च, सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (त्रि कुज्ञान) तीन मिथ्याज्ञान कुमति कुश्रुत व विभंग अवधि (न पश्यंते) जहाँ न दिखलाई पड़े (माया मिथ्या विखडितं) मायाचार व मिथ्यात्व का जहाँ खंडन हो गया हो, वहाँ (व्यंजनं च) शब्द को ही (पदार्थं च) व पद के अर्थ को ही (सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं) ज्ञानमयी अविनाशी आत्मीक पदार्थ के साथ ध्यावे।

विशेषार्थ – पदस्थ ध्यान के ध्याता को सम्यग्दृष्टि होना योग्य है तब ही वह ध्यान मोक्षमार्ग है व तब ही वह धर्मध्यान है। उस ध्यान के करनेवाले में कुमति, कुश्रुत व कुअवधि न हो और न उसमें कोई शल्य हो, न मायाचार हो, न मिथ्यात्व हो और न निदान भाव हो। निर्मल सरल भाव करके ध्यान किया जावे। जिस शब्द का व जिस पद का आलम्बन लिया जावे उससे जिस पदार्थ का बोध हो उसको विचारा जावे। मुख्यता से अविनाशी ज्ञानमय आत्मा पर लक्ष्य रखा जावे। जैसे णमोकार मंत्र का ध्यान इसप्रकार किया जावे – एक कमल आठ पत्रों का हृदय में या नाभि में या मुख में विचार किया जावे जो चंद्रमा के समान चमकता हुआ सफेद हो, उसकी बीच की कर्णिका पर सात अक्षर का पद "णमो अरहंताणं" ध्यावे फिर चार दिशाओं के चार पत्रों पर "णमो सिद्धाणं" ऊपर को, फिर बगलों में "णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं", नीचे "णमो लोए सव्वसाहूणं" फिर चार विदिशाओं के पत्रों पर सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः, सम्यक्तपसे नमः इन चार पदों को ध्यावे। पहले इन नौ पदों को पत्तोंपर लिखा हुआ विचार ले फिर क्रम से एक एक को ध्यावे – एक एक पर चित्त को रोके, उस पद के अर्थ को विचारे, फिर उसके भाव को विचारे। जैसे "णमो अरहंताणं " में अर्हतों का व तीर्थंकरों का स्वरूप विचारे, विचारते हुए उनके शरीर व पुद्गल पर से चित्त हटाकर उनके शुद्धात्मा पर चित्त ले जावे फिर अपने आत्मा पर आ जावे। मन को जमाता हुआ ध्यावे। इसी तरह "सम्यग्दर्शनाय नमः" में व्यवहारनय से देव, शास्त्र, गुरु का व सात तत्वों का स्वरूप विचारा जावे, फिर निश्चयनय से पुद्गल कर्म से भिन्न शुद्ध आत्मा पर लक्ष्य दे, फिर अपनी ही आत्मापर आ जावे, इसतरह धीरे धीरे नौ पदों के द्वारा अपने आत्मा को ही ध्यान में लेकर शुद्ध भावना सहित ध्यावे, यह पदस्थ ध्यान का एक प्रकार है।

॥ श्लोक १८० ॥

पदस्थं शुद्धपद सार्थं, शुद्धतत्त्वं प्रकाशकं।
शल्यत्रयं निरोधं च, माया मिथ्या न दिष्टते॥

अन्वयार्थ – (पदस्थं) पदस्थ ध्यान (शुद्धपद सार्थं) शुद्ध पद अर्थ सहित का होता है। (शुद्धतत्व प्रकाशकं) यह शुद्ध आत्मतत्व का प्रकाशक होता है। (शल्यत्रयं निरोधं च) तीन शल्य जहाँ नहीं होती है (माया मिथ्या न दिष्टते) वहाँ माया व मिथ्यात्व दृष्टिगोचर नहीं होता है।

विशेषार्थ – शुद्ध शब्द जिसका अर्थ हो ऐसे शब्द व शब्दों के समूह रूप पदों को विराजमान करके पदस्थ ध्यान किया जाता है। इस ध्यान का हेतु यही होता है कि शुद्ध आत्मतत्व का अनुभव हो जावे। ऐसे ध्यानी के भावों में माया-मिथ्या-निदान ये तीन शल्य नहीं होती हैं। वह सर्व प्रकार

मायाचार व मिथ्या वासना से रहित होकर मात्र शुद्धोपयोग के लिये पदस्थ ध्यान करता है। जैसे एक कमल हृदयस्थान में विराजमान किया जावे उसके १६ पत्र हों उन पर १६ अक्षरी मंत्र एक एक अक्षर के क्रम से लिखा हो वह है "अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्वसाधुभ्यो नमः" इसका ध्यान करे, फिर इसका अर्थ विचारे, फिर पाँचो परमेष्ठी का स्वरूप अलग-अलग विचारा जावे, फिर उनमें निश्चयनय से एक शुद्धात्मा को देखे, फिर अपने शुद्ध तत्व को ध्यावे। इसी तरह और भी पदों का ध्यान करें।

॥ श्लोक १८१ ॥

पदस्थं लोक लोकांतं, लोकालोक प्रकाशकं।
व्यंजनं शाश्वतं सार्थं, ॐकारं च विंदते॥

अन्वयार्थ – (पदस्थ) **यह पदस्थ ध्यान** (ॐकार व्यजनं सार्थं) **ॐ शब्द को अर्थ सहित** (लोक लोकांत) **लोक के अंत तक झलकनेवाला व** (लोकालोक प्रकाशक) **लोकालोक का प्रकाश करनेवाला व** (शाश्वतं) **अविनाशी रूप व अविनाशी पदार्थ के प्रकाशक को** (विंदते) **ध्याता है।**

विशेषार्थ – **इस श्लोक में ॐ के ध्यान करने पर लक्ष्य दिया है। ॐ को प्रणव मंत्र कहते हैं। ॐ शब्द को ध्यान करनेवाला हृदयकमल के मध्य में या नाशिका की नोकपर या भौहों के मध्य में परम तेजस्वी, चंद्रमा के समान गौर वर्ण चमकता हुआ ध्यावे। जिसकी दीप्ति लोक के अंत तक सर्वत्र फैल रही है ऐसा – विचारे। फिर इसका अर्थ विचारे कि इसमें अरहंत आदि पाँच परमेष्ठी गर्भित हैं। फिर उनमें से निश्चयनय से लोकालोक प्रकाशक एक शुद्ध आत्मवत्व को ग्रहण कर ले। फिर अपने आत्मा पर लक्ष्य देवे। इस तरह ॐ का ध्यान करे। ॐ के द्वारा अविनाशी अपने आत्मा पर आ जावे। इसी तरह अन्य पदों का भी ध्यान करे। यह ॐ शब्द परम्परा से चला आया हुआ एक अविनाशी पद है।**

॥ श्लोक १८२ ॥

अंगपूर्वं च जानंते, पदस्थं शाश्वतं पदं।
अनृत अचेत त्यक्तं च, धर्मध्यानमयं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (पदस्थं शाश्वतं पदं) **पदस्थ ध्यान में नित्य चले आए हुए पदों को विराजमान करने से व ध्यान करने से** (अंगपूर्व च जानंते) **११ अंग १४ पूर्व का ज्ञान हो जाता है। परन्तु वह विचार** (अनृत अचेत त्यक्तं च) **मिथ्यात्व व अज्ञान से शून्य हो तथा** (ध्रुवं धर्मध्यानमयं) **निश्चल धर्मध्यानमयी हो।**

विशेषार्थ – इस श्लोक में वर्णमातृका का ध्यान करने का संकेत किया गया है। श्री ज्ञानार्णव के अनुसार उसकी विधि यह है कि अपनी नाभि में १६ पत्रों का कमल सफेद वर्ण का विचार करे और उनके ऊपर एक एक अक्षर पीतवर्ण का इन सोलह स्वरों में संक्रमण से लिख ले। अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लॄ ए ऐ ओ औ अं अः। इन अक्षरों को क्रम से पत्तों पर फिरता हुआ विचारे। दूसरा कमल अपने हृदययस्थान में सफेद रंग का चौवीस पत्रों का विचार करे। कर्णिका को लेकर २५ स्थानों पर पीले रंग के २५ अक्षर लिखे हुए विचारे – क ख ग घ ङ ;च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म। फिर तीसरा कमल मुख स्थान पर आठ पत्तों का सफेद रंग का विचारे। इनके हर एक पत्ते पर क्रम से पीत रंग का लिखा हुआ य र ल व श ष स ह – इन आठ अक्षरों को क्रम से घूमता हुआ विचारे। ये सब अक्षर श्रुतज्ञान के मूल हैं। इनमें सर्व श्रुतज्ञान गर्भित है ऐसा श्रद्धान रखता हुआ इनको घ्यावे । इनको ध्यावे। फिर विचार करे कि द्वादशांग वाणी का सार एक शुद्धात्मा है। इस तरह शुद्धात्मा पर लक्ष्य ले जाकर फिर अपने आत्मा पर आ जावे। इस तरह लगातार नित्य कुछ देर तक ध्यान करे। इसका लगातार अभ्यास करने से शास्त्रज्ञान में बुद्धि की प्रबलता होती है। श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है और धीरे धीरे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावानुसार वह सर्व द्वादशांग का जाननेवाला हो जाता है। इस ध्यान से परिणामों की बहुत उज्वलता होती है। इस पदस्थ ध्यान को करते हुए ध्याता को पूर्ण श्रद्धा व निर्मल ज्ञान को रखना चाहिये। लक्ष्य शुद्धात्मा का ही रखना चाहिये।

इसतरह यह पदस्थ ध्यान बहुत कार्यकारी है। इनहीं मंत्रों का जप भी किया जाता है व ध्यान भी किया जाता है। द्रव्यसंग्रह में कहा है: –

पणतीस सोल छ प्पण चदु दुगमेग च जवह झाएह। परमेट्ठि वाचयाण अण्ण च गुरुवएसेण।।

भावार्थ – परमेष्टी के स्वरूप को बतानेवाले ३५ आदि सात प्रकार के मंत्रों को जपो और ध्यावो। और भी मंत्रों को गुरु के उपदेश से जानकर जपो और ध्याओ।

वे सात प्रकार मंत्र हैं –

(१) ३५ अक्षर – णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।

(२) १६ अक्षर – "अर्हंत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः।

(३) ६ अक्षर – अरहंत सिद्ध

(४) ५ अक्षर – अ सि आ उ सा

(५) ४ अक्षर – अरहंत

(६) २अक्षर – सिद्ध अथवा ॐ ह्रीं

(७) १ अक्षर – ॐ

जप करने में बहुधा १०८ बार जपना चाहिये। माला में १०८ दाने तो मंत्र के जाप के लिये होते हैं व तीन दाने ऊपर के सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः, इस रत्नत्रयधर्म के वाचक होते हैं। इनको जप लेना चाहिये। इसतरह पदस्थ ध्यान का कुछ स्वरूप कहा है।

॥ श्लोक १८३-१८४ ॥

पिंडस्थं ज्ञान पिंडस्य, स्वात्मचिन्ता सदा बुधैः।
निरोधं असत्यभावस्य, उत्पाद्यं शाश्वतं पदं॥
आत्मा सद्भाव आरक्तं, परद्रव्यं न चिंतये।
ज्ञानमयो ज्ञानपिंडस्य, चिंतयंति सदा बुधैः॥

अन्वयार्थ – (पिंडस्थं) पिंडस्थ ध्यान (ज्ञान पिंडस्य) ज्ञान समूहरूप आत्मा का ध्यान है (बुधैः) बुद्धिमानों के द्वारा (सदा) निरंतर (स्वात्मचिंता) अपने आत्मा का ध्यान करना योग्य है। (असत्यभावस्य निरोधं) असत्य भावों को रोकना योग्य है। (शाश्वतं पदं उत्पाद्यं) अविनाशी मोक्षपद पाना योग्य है। (आत्मा) यह आत्मा (सद्भाव आरक्तं) अपने ही सत् स्वभाव में लवलीन हो जावे, (परद्रव्यं न चिंतये) परद्रव्य की चिंता न की जावे। (बुधैः) पंडितों के द्वारा (ज्ञानमयो ज्ञानपिंडस्य चिंतयंति) ज्ञानमयी ज्ञानघन आत्मा का ही चिंतवन है।

विशेषार्थ – पिंडस्थ ध्यान अपने पिंड अर्थात् शरीर में विराजित आत्मा का ध्यान कहा जाता है, जहाँ अपने आत्मा का द्रव्यदृष्टि से सत्‌रूप शुद्ध स्वभाव का ध्यान किया जाय, क्षणभंगुर कर्मजनित सर्व पर्यायों से ध्यान हटा लिया जावे, न परद्रव्य की चिंता की जावे। अपने ही आत्मा को छोड़कर अन्य आत्माओं की व पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल की चिंता न की जावे। ज्ञानघन अपने आत्मा में तन्मय हुआ जावे। यह पिंडस्थ ध्यान अविनाशी मोक्षपद का कारण है।

श्री ज्ञानार्णव व अन्य ग्रंथों के अनुसार इस पिंडस्थ ध्यान की पाँच धारणाएँ हैं, जिनका क्रम से ध्याना योग्य है। एक एक का अभ्यास कुछ काल तक करता रहे। वे धारणाएँ हैं (१) पार्थिवी, (२) आग्नेयी, (३) मारुती, (४) वारुणी, (५) तत्त्वरूपवती। मारुती को पवन व वारुणी को जलधारण भी कहते हैं।

(१) पार्थिवी धारणा – ध्यान करनेवाला इस सर्व मध्यलोक को निर्मल क्षीरसमुद्र सफेद जल से भरा विचारे। इसके मध्य में ताए हुए सोने के समान एक हजार पत्रवाला कमल एक लाख योजन चौड़ा

जम्बुद्वीप के समान विचार करे, फिर इस कमल के मध्य की कर्णिका में पीत रंग का सुमेरुपर्वत चिंतवन करे।

फिर उस पर्वत के ऊपर पांडुक शिला पर एक स्फटिकमणि का सफेद सिंहासन विचारे तथा उसके ऊपर देखे कि आप स्वयं पद्मासन सुखरूप, शांतस्वरूप, क्षोभ रहित, कर्मों को दग्ध करने के लिये बैठा है तथा यह श्रद्धान व उत्साह रखे कि यह आत्मा राग-द्वेषादि सर्व कलंकों को तथा कर्मों को नाश कर सकता है, इतना ध्यान जमाना सो पार्थिवी धारणा है।

(२)आग्नेयी धारणा – यह ध्यानी वहीं सिंहासन पर बैठा हुआ अपने नाभि मण्डल में ऊपर को उठा हुआ सोलह पत्तों का एक सफेद कमल विचार करे। इसके हर एक पत्र पर पीत रंग के सोलह स्वर अक्षरों को लिखा हुआ सोचें "अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः" और कमल के बीच में कर्णिका के स्थान में महामन्त्र र्हं को स्थापन कर ले। फिर दूसरा एक कमल हृदय में आठ पत्तों का अधोमुख पहले कमल के ऊपर चिंतवन करे। इन आठ पत्तों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अंतराय – इन आठ कर्मों को स्थापित करे। फिर यह सोचे कि नाभिकमल के मध्य में स्थित र्हं के रेफ से मंद मंद धुँआ निकला फिर ज्वाला प्रगटी, लपक बढी और वह हृदय में स्थित आठ कर्मरूपी कमल को जलाने लगा। इस अग्नि की शिखा इस हृदयकमल के मध्य में से ऊपर मस्तक पर आ गई तथा उसकी शिखा शरीर के दोनों तरफ चली गई फिर नीचे जाकर मिल गई। शरीर के चारों तरफ अग्निमय त्रिकोण बन गया ऐसा विचारे। इस त्रिकोण की तीनों लकीरों को र र र र र से व्याप्त विचारे। (र अग्नि का बीजाक्षर है) फिर सोचे कि इस त्रिकोण के तीन बाहरी कोनों पर अग्निमय तीन साथिये बने हैं तथा भीतरी कोनों पर तीनों जगह ॐ र्र अग्निमय स्थापित हैं। इन अग्नि में लपकें उठती हुई विचारे परन्तु धुँआ नहीं है। ऐसा अग्नि का मंडल बाहर शरीर को, भीतर आठ कर्म को जलाता जलाता दोनों को भस्म रूप में करता हुआ धीरे धीरे शमन होता है और अग्नि की शिखा र्हं के रेफ से उठी थी, उसी में समा जाती है – ऐसा बार-बार ध्यान करना आग्नेयी धारणा है।

(३) मारुती धारणा – वही ध्यानी ऐसा चिंतवन करे कि आकाश में पूर्ण एक प्रचण्ड पवन चल रही है, जो मेघों को बिखेर रही है, समुद्र को क्षोभित कर रही है, दशों दिशाओं में फैल रही है तथा मेरे चारों तरफ एक गोल मण्डल बनाकर घूम रही है। उस गोल मण्डल में सब ओर पवन का बीजाक्षर स्वाय स्वाय लिखा हुआ विचारे। फिर यह सोचे कि यह पवन जो कर्म की तथा शरीर की भस्म थी उसको उड़ा रही है – ऐसा बार-बार चिंतवन करना सो पवन या मारुती धारणा है।

(४) वारुणी धारणा – **वही ध्यानी विचारे कि आकाश में काले काले मेघों के समूह छा गए हैं, बादल गरज रहे हैं, बिजली चमक रही है, उनसे मोती समान उज्ज्वल जल की धारा बरस रही है, लगातार जल की वर्षा से यह अर्धचन्द्राकार जल का मंडल अपने ऊपर बन गया है उसपर हर जगह जल का बीजाक्षर प प प प लिखा हुआ है। यह धारा आत्मा को धो रही है। जो कुछ कर्म की व शरीर की रज शेष रह गई थी, उसको यह जलधारा बहा रही है – ऐसा बार-बार चिंतवन करना वारुणी या जल धारणा है।**

(५) तत्त्व रूपवती धारणा – **फिर वही ध्यानी अपने को सर्व शरीर व कर्म व राग-दोष रहित पुरुषाकार अमूर्तीक शुद्ध निरंजन सिद्ध समान चिंतवन करे और निश्चल रूप में अपने आपमें तन्मय हो आत्मानुभव करे, यही असल में पिंडस्थ ध्यान है। बाकी चार जो धारणाएँ हैं, वे इस ही आत्माकार परिणति करने के लिये सहायक हैं।**

यह ध्यान मोक्ष के अविनाशी सुख को झलकानेवाला है।

॥ श्लोक १८५-१८६-१८७ ॥

रूपस्थं सर्व चिद्रूपं, अधो ऊर्ध्वं च मध्ययं।
शुद्धतत्त्वे स्थिरी भूत्वा, ह्रींकारेन जोइतं॥
चिद्रूपंसुय चिद्रूपं, धर्मध्यानं च निश्चयं।
मिथ्यात्व रागमुक्तस्य, अमलं निर्मलं ध्रुवं॥
रूपस्थं अर्हत् रूपेण, ह्रींकारेण दिष्टते।
ॐकारस्य ऊर्ध्वस्य, शुद्धं ऊर्ध्वमयं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (रूपस्थं) **रूपस्थ ध्यान में यह विचारे कि** (सर्व चिद्रूपं) **सर्व चैतन्य का स्वभाव अर्हंत भगवान की आत्मा में** (अधो ऊर्ध्व च मध्ययं) **नीचे ऊपर मध्य सर्व ठौर है** (शुद्धतत्वे स्थितीभूत्वा) **वे अर्हंत भगवान शुद्ध आत्मधर्म में लीन हैं** (ह्री कारेन) **ह्रीं बीजाक्षर से** (जोइतं) **देखने योग्य हैं।** (चिद्रूपं) **चैतन्य का स्वभाव** (सुय चिद्रूप) **श्रुतज्ञान के द्वारा जाना हुआ चैतन्य का रूप है।** (च निश्चयं धर्मध्यानं) **व यही निश्चय धर्मध्यान है।** (मिथ्यात्व रागमुक्तस्य) **जिसके ऐसा ध्यान होता है वह मिथ्यात्व व रागादि भावों से मुक्त हो जाता है, उसके ध्यान में** (अमलं) **मल रहित** (निर्मलं) **निर्मल शुद्ध** (ध्रुवं) **अविनाशी आत्मतत्त्व है।** (रूपस्थ) **यह रूपस्थ ध्यान** (अर्हत रूपेण) **अर्हत् भगवान के स्वरूप के द्वारा होता है।** (ह्रींकारेण) **ह्रीं बीजाक्षर के द्वारा** (दिष्टते) **दिखलाई पडता है** (ॐकारस्य ऊर्ध्वं) **ॐ के ऊपर जो**

विराजित है, वह (शुद्ध) शुद्ध आत्मा (ऊर्ध्वमय) सबसे श्रेष्ठ व (ध्रुव) अविनाशी है – ऐसा ध्यान में झलकता है।

विशेषार्थ – यहाँ तीसरे रूपस्थ ध्यान का स्वरूप है। रूपस्थ ध्यान में श्री अरहंत भगवान का स्वरूप ध्यान में लेकर शुद्धात्मा की तरफ लक्ष्य देना चाहिये। पहले तो अरहंत भगवान को समवसरण में बारह सभाओं के साथ विचार करे। श्री मंडप के भीतर १२ सभाओं में चार प्रकार की देवियाँ चार सभाओं में, चार प्रकार के देव चार सभाओं में, एक सभा में मुनि, एक सभा में अर्जिका, एक सभा में मानव, एक सभा में पशु – इसतरह भगवान को शांतरूप बैठे हुए सोचे। इन्द्रादि देव व बड़े चक्रवर्ती आदिक भगवान की पूजा व स्तुति कर रहे हैं ऐसा देखे, फिर यह देखे कि अरहंत भगवान परम शुद्ध सप्त धातु से रहित अंतरीक्ष पद्मासन ध्यानाकार विराजमान हैं, परम गंभीर हैं, इंद्रियों के विजयी हैं, अर्द्धोन्मीलित नेत्रों से अंतरंग तत्त्व को देख रहे हैं, परम वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं, जिनके ज्ञानदर्पण में सर्व लोकालोक प्रकाशमान है, जो परमानन्द में मग्न हैं। सर्व इच्छा से शून्य हैं, कृतकृत्य हैं, जो रत्नमय सिंहासन पर चार अंगुल ऊंचे शोभायमान हैं, जिनकी दिव्यध्वनि से धर्मामृत की वर्षा होती है। जिनके शरीर की आभा का मंडल चारों तरफ छाया हुआ है, जिसकी दीप्ति सूर्य चंद्रमा को जीतनेवाली है, रत्नत्रय स्वरूप तीन छत्र जिनके ऊपर शोभायमान हैं। हंस की पंक्ति के समान उज्ज्वल चमरों के समूह दोनों तरफ ढुर रहे हैं, दिव्य पुष्पों की वृष्टि हो रही है, देवों द्वारा दुंदुभि बाजे बज रहे हैं, भगवान के पीछे अशोक वृक्ष शोभायमान है। इसतरह आठ प्रातिहार्यों के द्वारा भगवान शोभनीक हैं। जिनकी आत्मा में नौ केवल लब्धियाँ विराजित हैं। अर्थात् १. अनंतज्ञान, २. अनंतदर्शन, ३. अनंतदान, ४. अनंतलाभ, ५. अनंत भोग, ६. अनंत उपभोग, ७. अनंत वीर्य, ८. क्षायिक सम्यक्त्व, ९. क्षायिक चारित्र। जो अर्हंत भगवान समतारस में या परम अद्वैतभाव में मग्न हैं, परम योगीश्वर हैं, परम वीर हैं, क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोषों से रहित हैं, परम दयालु, सर्व प्राणीमात्र के रक्षक, परम शांत, शुद्धात्मीक परिणति में तल्लीन हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य नियमसार में अर्हंत का स्वरूप कहते हैं –

क्षुहतण्हभीरुरोसो, रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू। स्वेदं खेद मदो रइ विह्मियणिद्दा जणुव्वेगो ॥६॥
णिस्सेस दोसरहिओ, केवलणाणाइपरमविभवजुदो। सो परमप्पा उच्चइ, तव्विवरीओ ण परमप्पा ॥७॥

भावार्थ – जो अर्हंत भगवान क्षुधा, तृषा, भय, क्रोध, राग, मोह, चिंता, जरा, रोग, मरण, पसीना, खेद, मद, रति, आश्चर्य, निद्रा, जन्म, आकुलता ऐसे अठारह को लेकर अन्य सर्व दोषों से रहित हैं, केवलज्ञानादि विभव सहित हैं, यही पूजने योग्य अर्हत् परमात्मा हैं, इसके विपरीत कोई देव परमात्मा नहीं है। ऐसे अर्हंत को सर्वांग शुद्ध चिद्रूपमय शुद्ध आत्मतत्त्व में स्थित ह्रीं मंत्र द्वारा

विचारना चाहिये अर्थात् ह्रीं में २४ तीर्थंकर गर्भित हैं, ह्रीं मंत्र को कहते हुए भी हम अरहंत का स्वरूप विचार सकते हैं, जिससे उपयोग और तरफ नहीं जावे, तथा ॐके मंत्र को भी कहते हुए 'वेचार सकते हैं। ॐके ऊपर जो अर्धचंद्राकार है, वह सिद्धक्षेत्र का नमूना है। वहाँ उत्कृष्ट सिद्ध भगवान निश्चल विराजते हैं। वैसा ही शुद्ध आत्मा अर्हंत के भीतर है। चार अघातिया कर्म मात्र पुद्‌गलमय रजतुल्य हैं। उनके भीतर सिद्धवत् शुद्धात्मा विराजित हैं, ध्यान करनेवाला मिथ्यात्वभाव व सांसारिक भोगादि का सर्व राग त्यागकर ध्रुव व निर्मल अर्हंत की शुद्धात्मा पर लक्ष्य देवे। फिर अपने ही आत्मा के स्वाभाविक शुद्ध स्वरूप पर आ जावे। इसतरह रूपस्थ ध्यान के द्वारा निश्चय धर्मध्यान करे अर्थात् आत्मानुभव का आनन्द लेवे।

श्रुतज्ञान के आधार से अरहंत का व अरहंत की शुद्ध आत्मा का स्वरूप विचार करे।

॥ श्लोक १८८-१८९ ॥

रूपातीत व्यक्त रूपेन, निरंजन ज्ञानमयं ध्रुवं।
मतिश्रुतअवधिं दिष्टं, मनपर्यै केवलं ध्रुवं॥
अनंत दर्शनं ज्ञानं, वीर्यानंत सौख्ययं।
सर्वज्ञं शुद्ध द्रव्यार्थं, शुद्धं सम्यक् दर्शनं॥

अन्वयार्थ – (रूपातीत) **रूपातीत ध्यान** (व्यक्तरूपेण) **प्रगट रूप से** (निरजन) **कर्म मैल से रहित** (ज्ञानमयं ध्रुवं) **ज्ञानस्वरूप अविनाशी आत्मा होता है, जहाँ** (मति श्रुत अवधि मनपर्यै केवल ध्रुवं दिष्टं) **मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान – ये पाँचों ही एक रूप नित्य दिखलाई पडते हैं** (अनंत दर्शनं ज्ञान वीर्यानंत सौख्ययं) **अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत वीर्य व अनंत सुखमयी है** (सर्वज्ञं) **सर्वज्ञ हैं** (शुद्ध द्रव्यार्थ) **शुद्ध आत्म पदार्थ है,** (शुद्ध सम्यक् दर्शन) **यही शुद्ध सम्यग्दर्शन है।**

विशेषार्थ – **रूपातीत ध्यान में पहले तो मूर्तीक रूप रहित सिद्ध भगवान के गुणों का विचार करके ध्यान करे, फिर सिद्ध समान अपने आत्मा का भेदभाव मिटाकर अपने आत्मा में एक हो जावे। श्री सिद्ध भगवान रूपातीत हैं, प्रगट रूप से आठ कर्मरूपी अंजन से रहित हैं, ज्ञानाकार हैं, अविनाशी हैं, उनमें मतिश्रुत आदि पाँच ज्ञानों के विकल्प नहीं हैं। एक शुद्ध ज्ञानमयी हैं जो ज्ञान सदा ध्रुव रहता है। अनंतदर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख, अनंत वीर्य – इन चार अनंत चतुष्टय सहित हैं। वे ही सर्वज्ञ हैं, शुद्ध आत्मद्रव्य हैं, शुद्ध सम्यग्दर्शन स्वरूप है। अर्थात् जहाँ क्षायिक सम्यग्दर्शन परम शुद्ध प्रकाशमान है। वे सिद्ध लोकाग्र पुरुषाकार ध्यानमय आत्मानन्द में मगन परमानंद स्वरूप स्वात्मामृत**

का पान करते हुए निश्चल स्फटिक की मूर्ति के समान शोभायमान हैं, ऐसा ध्यान में लेकर उनका चिंतवन करता हुआ अपने आत्मा में आ जावे व शुद्ध निश्चयनय से अपने आपको सिद्धवत् ध्यावे।

जैसा ज्ञानार्णव में अध्याय ४० में कहा है –

सोऽहं सकलवित्सार्व. सिद्धः साध्यो भवच्युतः । परमात्मा परंज्योतिर्विश्वदर्शी निरंजनः ॥२८॥
तदासौ निश्चलोऽमूर्तो निष्कलंको जगद्गुरुः । चिन्मात्रो विस्फुरत्युच्चैर्ध्यानध्यातृविवर्जितः॥२९॥

भावार्थ – जैसे सिद्ध भगवान हैं वैसे मैं हूँ। मैं ही सर्वज्ञ हूँ, ज्ञानापेक्षा सर्व व्यापक हूँ, सिद्ध स्वरूप हूँ, मैं ही साध्य हूँ, संसार से रहित हूँ, परमात्मा हूँ, परं ज्योतिमय हूँ, सकलदर्शी हूँ, मैं ही सर्व अंजन से रहित निरंजन शुद्ध हूँ – ऐसा ध्यान करे ;तब अपना स्वरूप निश्चल, अमूर्तीक, कलंकरहित, जगत् में श्रेष्ठ, चैतन्यमात्र, ध्यान-ध्याता के भेद रहित – ऐसा अतिशयरूप प्रकाशमान होता है।

पृथग्भावमतिक्रम्य तथैक्य परमात्मनि। प्राप्नोति स मुनि साक्षाद्यथान्यत्वं न बुध्यते॥३०॥

भावार्थ - तब वह मुनि परमात्मा से अपने आत्मा का भिन्नभाव उल्लंघन करके एकपने को साक्षात् प्राप्त हो जाता है, ऐसा कि वहाँ भिन्नपने का बिलकुल भान नहीं रहता है। अर्थात् स्वयं परमात्मभाव में तन्मय हो जाता है। मैं एक केवल शुद्ध आत्मा हूँ – ऐसा ध्यान करते हुए परम अद्वैत स्वानुभव में स्थिर हो जाता है। यह परमानन्दमयी रूपातीत ध्यान का स्वरूप है।

सम्यग्दर्शन महात्म्य

॥ श्लोक १९० ॥

प्रतिपूर्णं शुद्ध धर्मस्य, अशुद्ध मिथ्यातिक्तयं।
शुद्ध सम्यक्त संशुद्धं, सार्थं सम्यग्दृष्टितं॥

अन्वयार्थ – (शुद्ध धर्मस्य प्रतिपूर्णं) शुद्ध धर्म से जो भरा हुआ है। (अशुद्ध मिथ्यातिक्तयं) अशुद्ध व मिथ्याभाव से जो रहित है (सार्थं सम्यग्दृष्टितं) जहाँ आत्म पदार्थ को यथार्थ स्वरूप सहित भलेप्रकार अनुभव किया जाता है, वही (संशुद्धं शुद्ध सम्यक्त) परम शुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ – यहाँ भाव निक्षेप से सम्यग्दर्शन का स्वरूप है। जहाँ शुद्ध आत्मा के शुद्ध व पूर्ण स्वभाव का अनुभव किया जाता है। जहाँ न तो किसी प्रकार की अशुद्धता है, न कोई मिथ्यात्व का भाव है। शुद्ध आत्मा का सम्यक् प्रकार मानो दर्शन जहाँ हो रहा है, परम रुचि सहित आत्मा में आप तन्मय है। यही भाव शुद्ध व क्षायिक सम्यग्दर्शन है। निश्चय से विचारा जावे तो यह आत्मा स्वयं जब सर्व विकल्पों से रहित होता है, आप आप में थिर होता है, स्वसंवेदन ज्ञानमय या स्वानुभव रूप होता है ;तब वहाँ रत्नत्रय की एकतारूप साक्षात् मोक्षमार्ग है। वहाँ शुद्धात्मा की रुचि भी है, उसी का ज्ञान

भी है, उसी का चारित्र भी है। उसी को शुद्ध सम्यग्दर्शन, उसी को शुद्ध सम्यग्ज्ञान व उसी को शुद्ध सम्यक्चारित्र कह सकते हैं। वास्तव में वह तीनों का अखण्ड पिंड एकीभावरूप मोक्षमार्ग है। ऐसा ही अमृतचन्द्राचार्य तत्वार्थसार में कहते हैं –

आत्मा ज्ञातृ तथा ज्ञानं सम्यक्तं चरितं हि सः। स्वस्थो दर्शनचारित्रमोहाभ्यामनुपप्लुतः ॥७॥
पश्यति स्वस्वरूपं यो जानाति च चरत्यपि। दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः॥८-८॥

भावार्थ – **आत्मा ही जाना गया ज्ञान है, वही जब दर्शनमोह और चारित्रमोह के मैल से अबाधित है, तब सम्यग्दर्शन है और सम्यक्चारित्र है। जो अपने ही स्वरूप का श्रद्धान, ज्ञान व चरण करता है – ऐसा आत्मा ही दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी कहा गया है। वास्तव में शुद्ध सम्यक् आत्मा का ही एक अमिट अखंड गुण है।**

॥ श्लोक १९१ ॥

देवगुरू धर्मशुद्धस्य सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं।
मिथ्या त्रिति विनिर्मुक्तं सम्यक्तं सार्थ ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (देव गुरु धर्मशुद्धस्य) **शुद्ध देव, शुद्ध गुरु व शुद्ध धर्म का** (सार्थं) **अर्थ सहित** (ज्ञानमय) **ज्ञानमय** (ध्रुव) **निश्चल श्रद्धान** (मिथ्या त्रिति विनिर्मुक्तं) **तीन मिथ्यात्व से रहित** (सार्थ ध्रुवं सम्यक्तं) **अर्थ सहित निश्चल सम्यग्दर्शन है।**

विशेषार्थ – **यहाँ बताया है कि जिसको शुद्धात्मा का अनुभव सम्यग्दर्शन प्राप्त है, उसे निर्दोष देव, गुरु, धर्म की भी श्रद्धा है। वह श्रद्धा ज्ञानमयी अटल है। इसका भाव यह है कि वह सम्यक्त्वी व्यवहारनय से तो श्री अरहत व सिद्ध भगवान को अपना पूज्य देव व निर्ग्रंथ आचार्य, उपाध्याय व साधु को अपना पूज्य गुरु व रत्नत्रयमयी धर्म को पूज्य धर्म मानता है, निश्चय से अपने ही शुद्धात्मा को देव, उसी को गुरु व उसी की परिणति को धर्म जानता है। अथवा अरहंत व सिद्ध में जो ज्ञान स्वरूप निश्चल आत्मद्रव्य है, उसी को शुद्ध देव मानता है तथा आचार्य-उपाध्याय-साधु में जो उनका शुद्धात्मा है, उसे ही शुद्ध गुरु जानता है तथा रत्नत्रय में एक अभेद रत्नत्रयमयी स्वात्मानुभूति को ही शुद्ध धर्म मानता है। जिसको यथार्थ देव, गुरु, धर्म का व्यवहारनय व निश्चयनय से यथार्थ श्रद्धान है, वही सम्यग्दर्शन है। जहाँ मिथ्यादर्शन का, सम्यक्-मिथ्यात्व प्रकृति का तथा सम्यक् प्रकृति का – इन तीनों क्षायिक सम्यक्त्व की घातक दर्शन मोहनीय की प्रकृतियों का उदय नहीं है, किंतु इन तीनों का सत्ता में से नाश हो, साथ में अनन्तानुबन्धी चार कषाय का भी नाश हो गया है। यही निश्चय यथार्थ सम्यग्दर्शन है। वास्तव में जिसे निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त है वही सच्चे देव, गुरु, धर्म को**

पहचानता है तथा वही अपने आत्मा को जानता है। उसकी रुचि में एक स्वात्मानुभति है। वही उसे देव, गुरु व धर्म के भीतर भी झलक रही है।

॥ श्लोक १९२ ॥

देवं देवाधिदेवं च, गुरु ग्रंथस्य मुक्तयं।
धर्मस्य शुद्ध चैतन्यं, सार्थ सम्यक्तं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (देवाधिदेवं च देवं) देवों के देव श्री अरहंत सिद्ध भगवान तो देव हैं (ग्रथस्य मुक्तय गुरु) ग्रंथ अर्थात परिग्रह रहित गुरु हैं (शुद्ध चैतन्य धर्मस्य) शुद्ध चेतना का भाव धर्म है – इन तीनों का श्रद्धान करना (सार्थ सम्यक्तं ध्रुवं) यथार्थ निश्चल सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ – इंद्रादिक देव जिनके चरणों को नमन करते हैं, जो सर्व से महान तीनलोक में श्रेष्ठ हैं, वे ही पूज्यनीय देव श्री अरहंत और सिद्ध भगवान हैं। उनमें न तो कोई अज्ञान है और न कोई कषाय है, जो संसारी जीवों के भीतर कम व अधिक पाए जाते हैं। ऐसे ही देव के भीतर सम्यक्त्वी की दृढ श्रद्धा रहती है। गुरु वे ही हैं जो निर्ग्रंथ हों। जिनके ग्रन्थ अर्थात् ममता का कारण चौबीस प्रकार का परिग्रह न हो। मिथ्यादर्शन, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीयेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद – ये चौदह प्रकार अन्तरंग और क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण, दासी, दास, कपडे, बर्तन – यह दस प्रकार के बाहरी परिग्रह होते हैं। इनसे साधु की ममता नहीं होती है। इनमें बाहरी परिग्रह तो छोडने योग्य है, बुद्धिपूर्वक दूर किया जा सकता हैं। अंतरंग परिग्रह में जिन कषायों का उदय नहीं है, वे तो नहीं होना संभव है, परंतु जिनका उदय साधु अवस्था में होना संभव है, उन कषायों से भी साधु निर्ममत्व है। परिग्रह पोट की चोट को बचाकर जो नित्य आत्मध्यान की अग्नि को जलाकर कर्मों के दग्ध करने में उत्साह सहित उद्यमवान हैं, वे ही सच्चे मोक्षमार्ग प्रदर्शक गुरु हैं। शुद्ध चेतना का स्वभाव ही धर्म है। आत्मा का स्वभाव जो शुद्ध ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय है, उसी स्वभाव में श्रद्धा ज्ञान सहित तन्मय हो जाना धर्म है। ऐसे देव, गुरु व धर्म का श्रद्धान करना वही यथार्थ सम्यक्त्व है। इनमें से एक शुद्धात्मा की निर्विकल्प परिणति ही ग्रहण करने योग्य है – ऐसी श्रद्धा सो निश्चय सम्यक्त्व है।

॥ श्लोक १९३ ॥

सम्यक्तं यस्य जीवस्य, दोषं तस्य न पश्यते।
तत्य सम्यक्त हीनस्य, संसारे भ्रमनं सदा॥

अन्वयार्थ – (यस्य जीवस्य सम्यक्त) जिस जीव के पास सम्यग्दर्शन है (तस्य) उसके पास (दोषं न पश्यते) कोई दोष नहीं देखा जाता है (तस्य सम्यक्त हीनस्य) जिसके पास यथार्थ सम्यग्दर्शन नहीं है (सदा संसारे भ्रमनं) उसका इस संसार में सदा ही भ्रमण रहनेवाला है।

विशेषार्थ – सम्यग्दर्शन का महात्म्य अपूर्व है। यथार्थ निश्चय सम्यग्दर्शन जिसके होगा, वह शुद्धात्मानुभव की शक्ति को प्राप्त कर लेगा। उसको आत्मा का स्वाद मिल आयगा। आत्मिक आनंद अमृत के तुल्य है, विषयसुख विष तुल्य है – ऐसा अनुभव उसकी श्रद्धा में हो जाता है। वह ज्ञान वैराग्य से परिपूर्ण होता है। उसका हर एक कार्य विवेक पूर्वक होता है। यह सम्यक्त्वी पच्चीस दोषों को टालता हुआ वर्तन करता है, इसलिये निर्दोष व्यवहार करता है। वह बडा दयावान, परोपकारी, मिष्टवादी, शांत प्रकृति धारी, धर्मप्रेमी, नास्तिकता रहित होता है। यथार्थ तत्व को वह स्वयं अनुभव करता है तथा दूसरों को वह तत्वज्ञान के मार्ग में प्रेरक होता है। वह संसार की माया को नाशवंत समझकर इसके लिये अन्याय नहीं करता है। परन्तु जिसके यह आत्मानुभव रूप यथार्थ तत्त्वज्ञानमय सम्यग्दर्शन नहीं होता है वह विषयवासना सहित जीव व्यवहार धर्म व तप आदि को पालन करता है तोभी संसार से कभी पार नहीं हो सकता, स्वर्गादि जाकर भी फिर एकेन्द्रिय व पशु पर्याय में जन्म ले लेता है। वह शरीर का मोही शरीर को बार-बार धारण किया करता है।

॥ श्लोक १९४ ॥

सम्यक्तं यस्य हृदये, व्रत तप क्रिया संयुतं।
शुद्धतत्वं च आराध्यं, मुक्तिगमनं न संशयः॥

अन्वयार्थ – (यस्य हृदये) जिसके हृदय में (सम्यक्त) सम्यग्दर्शन है तथा वह (व्रत तप क्रिया संयुतं) व्रत, तप, क्रिया सहित है (च) और (शुद्ध तत्व आराध्य) शुद्ध आत्मीक तत्व का आराधन करता है तो वह (मुक्तिगमन) मुक्ति अवश्य पायगा (न संशय) इसमें कोई संशय नहीं है।

विशेषार्थ - सम्यग्दर्शन के समान कोई उपकारी नहीं है। जो श्रावक तथा मुनि के चारित्र को सम्यग्दर्शन सहित यथायोग्य पालेगा और निरंतर जिसका उद्योग आत्मध्यान की तरफ रहेगा अर्थात् जो आत्मानुभव के ही लिये योग्य निमित्तों को मिलाने के लिये व अयोग्य निमित्तों के हटाने के लिये व्यवहार चारित्र पालेगा, वह महात्मा यदि काललब्धि हुई व शरीर संहनन योग्य हुआ तो उसी जन्म से निर्वाण लाभ करेगा। अन्यथा दो चार दश भव के भीतर मोक्ष चला जायगा। सम्यग्दर्शन वास्तव में खेवटिया है। जैसा रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है –

दर्शन ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते। दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते॥ ३१॥

भावार्थ – मोक्ष के मार्ग में सम्यग्दर्शन को खेवटिया कहा जाता है। ज्ञान चारित्र के द्वारा सम्यग्दर्शन की उपासना की जाती है अर्थात् शुद्ध आत्मीक अनुभव किया जाता है।

सारसमुच्चय में कहते हैं –

अतीतेनापिकालेन यन्न प्राप्तं कदाचन। तदिदानीं त्वया प्राप्तं सम्यग्दर्शनमुत्तमम्।। ४६।।

भावार्थ – गत काल में जिसको कभी नहीं पाया था – ऐसा उत्तम सम्यग्दर्शन अब प्राप्त हुआ है। यह बड़ा ही दुर्लभ लाभ है। इसलिये इसकी रक्षा करके इसके सहारे संसार-सागर से पार हो जाना चाहिये।

सम्यग्दृष्टि का आचरण

।। श्लोक १९५-१९६-१९७ ।।

लिङ्गं च जिनं प्रोक्तं, त्रितय लिङ्गं जिनागमे।
उत्तम मध्यम जघन्यं च, क्रियात्रेपण संयुतं।।
उत्तमं जिनरूपी च, मध्यमं च मतं श्रुतौ।
जघन्यं तत्व सार्धं च, अविरत सम्यक् दृष्टितं।।
लिङ्गं त्रिविधिं प्रोक्तं, चतुर्थ लिङ्गं न उच्यते।
जिनशासने प्रोक्तं च, सम्यग्दृष्टि विशेषतः।।

अन्वयार्थ – (जिनागमे) जिन आगम में (जिन प्रोक्त) जिनेन्द्र भगवान के कहे गए (लिग त्रितय लिग) लिंग तीन हैं (उत्तम मध्यम जघन्य च) उत्तम लिंग, मध्यम लिंग, व जघन्य लिंग (क्रियात्रेयण सयुत) यह यथायोग्य त्रेपन क्रिया से संयुक्त होते हैं (उत्तम जिनरूपी च) उत्तम लिंग जिनेन्द्र का स्वरूप नग्न दिगंबर वस्त्रादि परिग्रह रहित है (मध्यम च श्रुतौ मतं) मध्यम लिंग शास्त्र में कहा हुआ श्रावक का लिंग है। (जघन्य त्) जघन्य लिंग (तत्व सार्धं) तत्वबोध सहित (अविरत सम्यग्दृष्टितं) अविरत सम्यग्दृष्टि का लिंग है। (त्रिविधि लिग प्रोक्त) तीन प्रकार ही लिंग कहा गया है (चतुर्थ लिग न उच्यते) चौथा लिंग नहीं कहा गया है। (विशेषत.) विशेष करके (जिनशामने) जिनशासन में (सम्यग्दृष्टि) सम्यग्दृष्टि को (प्रोक्तं च) कहा गया है।

विशेषार्थ – मोक्षमार्ग में रत्नत्रय के साधन की अपेक्षा तीन श्रेणी हैं – एक महाव्रती साधु की दूसरे श्रावक की, तीसरे व्रत रहित सम्यक्दृष्टि की, चौथी श्रेणी नहीं है। इनमें सम्यग्दर्शन की विशेषता इसलिये है कि इसके बिना श्रावक व साधु सच्चा श्रावक व साधु नाम नहीं पाता है। अविरत

सम्यग्दर्शन चौथा गुणस्थान है, यहाँ से स्वरूपाचरण चारित्र या स्वानुभव प्रारम्भ हो जाता है। फिर अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उपशम से श्रावक पंचम गुणस्थानी होता है। इसकी दर्शन प्रतिमा आदि ग्यारह श्रेणियाँ हैं। जितना जितना प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम अधिक अधिक बढता जाता है, उतना उतना चारित्र प्रतिमा रूप से या श्रेणी रूप से बढ़ता चला जायगा। जब प्रत्याख्यानावरण कषाय का भी उपशम हो जाता है, तब वह श्रावक साधु हो जाता है, पूर्ण व्रती हो जाता है और सर्व परिग्रह रहित निर्ग्रंथ हो जाता है। यही उत्तम लिंग है, मध्यम श्रावक का है, जघन्य व्रत रहित सम्यग्दर्शन का है। इनमें भी हरएक के भीतर तीन तीन भेद उत्तम मध्यम जघन्य के भेद से किये जा सकते हैं। अविरत सम्यग्दर्शन में क्षायिक सम्यग्दर्शन के धारी उत्तम हैं। उपशम सम्यक्त्व का धारी मध्यम है। क्षयोपशम सम्यक्त्व का धारी जघन्य है। मध्यम लिंग श्रावक में पहली प्रतिमा से ८वीं तक जघन्य है, सातवीं से नववीं तक मध्यम है व दसवीं व ग्यारहवीं प्रतिमा धारी उत्तम है। उनमें से श्रेष्ठ ऐलक मात्र एक लंगोटधारी है, क्षुल्लक एक लंगोट व एक चद्दरधारी उनसे नीचे हैं। जिनरूपधारी उत्तम लिंग में तीर्थंकर उत्तम हैं, ऋद्धिधारी ऋषि मध्यम हैं, सामान्य साधु जघन्य हैं।

त्रेपन क्रियाएँ

गुण वय तव सम पडिमा, दाणं जलगालणं च अणत्थमियं।
दंसण णाण चरित्तं, किरिया तेवण्ण सावया भणिया।।

(दौलतरामजी कृत क्रियाकोष)

आठ मूलगुण – बारह व्रत – बारह तप – समताभाव – ग्यारह प्रतिमा – चार प्रकार का दान – जल गालना – रात्रि को न खाना – रत्नत्रय धर्म तीन – सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र = ५३ त्रेपन क्रियाएँ इसतरह जाननी।

इनमें रत्नत्रय धर्म तथा बारह तप व समताभाव उत्तम लिंग साधु की मुख्य क्रियाएँ हैं, श्रावक की गौण हैं। शेष सब श्रावकों के लिये मुख्य हैं।

(१) आठ मूलगुण – मदिरा, माँस, मधु व पाँच उदम्बर फल जिनमें त्रस होते हैं व होने की संभावना है जैसे बड फल, पीपल फल, गूलर फल, पाकर फल, अंजीर फल।

(२) बारह व्रत – (श्रावक के) १. अहिंसा अणुव्रत (संकल्पी त्रसहिंसा का त्याग), २. सत्य अणुव्रत, ३. अचौर्य अणुव्रत, ४. ब्रह्मचर्य अणुव्रत (स्वस्त्री में संतोष), ५. परिग्रह का प्रमाण (सम्पत्ति का आजन्म प्रमाण कर लेना), ६. दिग्विरति (जन्मपर्यंत लौकिक कार्यों के लिये १० दिशाओं में जाने की मर्यादा करना), ७. देशविरति (जो मर्यादा जन्मपर्यंत के लिये दिशाओं के लिये की हो, उसमें से घटाकर एक दिन आदि के लिये करना), ८. अनर्थदंड विरति (व्यर्थ के पाप करना

जैसे पाप का उपदेश, अपध्यान (खोटा विचार), हिंसाकारी वस्तु का दान, दुःश्रुति (खोटी कथाओं को पढना व सुनना) प्रमादचर्या (आलस्य से व्यवहार, अधिक जल आदि फेंकना), ९. सामायिक (सवेरे, सांझ व दोपहर यथाशक्ति एकांत में बैठ ४८ मिनट के लिये या कम यथासमय ध्यान का अभ्यास करना), १०. प्रोषधोपवास (अष्टमी व चौदस को उपवास करना), ११. भोगोपभोग परिणाम (पाँच इंद्रियों की भोग्य वस्तुओं का नित्य प्रमाण करना), १२ अतिथि संविभाग (पात्रों को दान देकर भोजन करना)।

(३) बारह तप – १. उपवास, २. ऊनोदर (भूख से कम खाना), ३. वृत्ति परिसंख्यान (कोई प्रतिज्ञा लेकर साधु आहार को जाते हैं, वह पूरी होने पर आहार लेते हैं) ४. रस परित्याग (दूध, दही, घी, तेल, नमक, मीठा – इनमें से एक या अनेक रसों का त्यागना) ५. विविक्त शय्यासन (एकांत में सोना व बैंठना), ६. कायक्लेश (शरीर का सुखियापन मेटने को कठिन स्थानों पर तप करना, ७. प्रायश्चित (कोई दोष लगने पर दंड लेकर शुद्ध होना), ८. विनय (धर्म व धर्मात्माओं का आदर करना), ९. वैय्यावृत्य (रोगी, दुःखी, मांदे, धर्मात्मा भाइयों व बहिनों की सेवा करनी), १०. स्वाध्याय (शास्त्रों को पढना व विचारना), ११. व्युत्सर्ग (शरीरादि से ममत्व त्यागना), १२. ध्यान (आत्मध्यान का अभ्यास करना)।

(४) समताभाव – राग-द्वेष छोडकर समताभाव रखने का अभ्यास करना।

(५) ग्यारह प्रतिमा – ये व्रती श्रावक की ग्यारह श्रेणियाँ हैं, जिन्हें प्रतिमा कहते हैं,। १. दर्शन, २. व्रत, ३. सामायिक, ४. प्रोषधोपवास, ५. सचित्तत्याग, ६. रात्रि-भोजनत्याग, ७. ब्रह्मचर्य, ८. आरम्भत्याग, ९. परिग्रहत्याग, १०. अनुमतित्याग, ११. उद्दिष्टत्याग। इनका कथन आगे आयगा।

(६) चार प्रकार का दान – आहार, औषध, अभय, विद्या।

(७) जल गालन – पानी छानकर पीना व व्यवहार करना।

(८) अणत्थमिय – रात्रि को भोजन न करना।

(९) तीन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र – चारित्र में १३ प्रकार मुनि का चारित्र इस भांति है –

पाँच महाव्रत – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व परिग्रहत्याग।

पाँच समिति – ईर्य्या (चार हाथ भूमि आगे देखकर चलना), २. भाषा (शुद्ध वाणी बोलना) ३. एषणा (शुद्ध भोजन श्रावक दत्त लेना) ४. आदान निक्षेपण (देखकर रखना उठाना) ५. प्रतिष्ठापना (निर्जंतु भूमि देखकर मल-मूत्र करना)।

तीन गुप्ति – मन को, वचन को व काय को वश रखना, मध्यम लिंगवाले श्रावक इन ५३ क्रियाओं को भलेप्रकार पालते हैं, मुनि सम्बन्धी क्रियाओं का यथाशक्ति अभ्यास करते हैं।

॥ श्लोक १९८ ॥

जघन्यं अव्रतं नाम, जिन उक्तं जिनागमं।
सार्धं ज्ञानमयं शुद्धं, क्रिया दस अष्ट संजुतं॥

अन्वयार्थ – (जघन्य) **जघन्य लिंग या पात्र** (अव्रतं नाम) **अविरत सम्यग्दृष्टि है, जो** (जिन उक्तं) **जिनेन्द्र के कहे हुए** (जिनागमं) **जैन आगम के** (सार्धं) **अनुसार** (ज्ञानमयं शुद्धं) **ज्ञानमय शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है** (क्रिया दस अष्ट सजुतं) **तथा अठारह क्रिया सहित होता है।**

विशेषार्थ – **यहाँ चौथे गुणस्थानवर्ती पात्र का कथन करते हैं कि वह जैन शास्त्र का व जैन शास्त्र में कहे हुए जीवादि तत्वों का दृढ़ श्रद्धालु होता है व उसी के अनुसार अपने आत्मा का शुद्ध निश्चयनय से सिद्धवत् शुद्ध अनुभव करता है, ज्ञान वैराग्य में तन्मय रहता है। यद्यपि वह अविरति है तथापि वह श्रद्धा में परम साधु है। इसलिये आठ बाहरी लक्षणों से विभूषित है। जैसा कहा है –**

सवेओ णिव्वेओ निंदा गरहा उवसमो भत्ती। अणुकम्मा वच्छल्ला गुणट्ठ सम्मत्त जुत्तस्स॥

भावार्थ – **उसमें संवेग गुण होता है जिससे वह जैनधर्म से गाढ़ प्रीति रखता है। धार्मिक कार्यों को बड़े उत्साह से करता है। निर्वेद गुण के कारण संसार-शरीर-भोगों से परम उदासीन होता है, बिलकुल वीतराग रहना चाहता है तथापि पूर्वबद्ध कषाय के उदय से रह नहीं सकता है, कषाययुक्त हो सांसारीक काम करता है। इस अपनी निर्बलता की निन्दा दूसरों के सामने करता रहता है तथा अपने मन में भी करता रहता है, यह गर्हा है। उपशम गुण के द्वारा शांत चित्त होता है। आकुलतामय घबड़ाया हुआ परेशान नहीं रहता है, भक्ति गुण के कारण देव-शास्त्र-गुरु की सच्ची भक्ति करता है, गुणवानों की सेवा करता है। अनुकम्पा गुण से बड़ा दयावान होता है, सर्व जीवमात्र के साथ प्रेम करता हुआ उनकी रक्षा चाहता है। वात्सल्य गुण से साधर्मी भाई व बहनोसे गौवत्स के समान प्रेम करता है, उनके लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर कर डालता है। ऐसा गुणवान सम्यक्त्वी यद्यपि अतिचार रहित व्रतों को पाल नहीं सकता है तथापि इन त्रेपन क्रियाओं में से अठारह क्रियाओं को पालता है, या पालने का यथाशक्ति उद्योगी रहता है। आगे के दो श्लोकों से वे प्रगट कही गई हैं। आठ मूलगुण-चार प्रकार का दान-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की सेवा-रात्रि भोजन त्याग-छना हुआ पानी पीना – समता भाव के लिये जिनागम का मनन करना। यह १८ क्रियाएँ पालता है।**

॥ श्लोक १९९-२०० ॥

सम्यक्तं शुद्ध धर्मस्य, मूलं गुणं च उच्यते।
दानं चत्वारि पात्रं च, सार्धं ज्ञानमयं ध्रुवं॥
दर्शन ज्ञान चारित्रैः, विशेषितं गुणपूजयं।
अनस्तमितं शुद्ध भावस्य, फासूजल जिनागमं॥

अन्वयार्थ – (शुद्ध धर्मस्य सम्यक्त) **शुद्ध आत्मीक धर्म का श्रद्धा रखनेवाले जीव के** (मूल गुण च उच्यते) **आठ मूल गुण कहे जाते हैं** (पात्र च चत्वारि दान) **पात्रों को वह चार प्रकार का दान देता है। उस दान को वह** (ध्रुव ज्ञानमय सार्ध) **निश्चल ज्ञानमय भाव से विवेक सहित देता है।** (दर्शन ज्ञान चारित्रै विशेषितं) **वह सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र से विभूषित होता है,** (गुणपूजय) **रत्नत्रयधारी महात्माओं की पूजा करता है,** (शुद्ध भावस्य) **निर्मल भाव से श्रद्धा पूर्वक** (अनस्तमित) **रात्रि को भोजन नहीं करता है** (जिनागम फासूजल) **जिनागम के अनुसार छना पानी काम में लेता है।**

विशेषार्थ – **अविरत सम्यग्दृष्टि के अप्रत्याख्यान कषाय का उदय होता है जिससे अतिचार रहित त्याग नहीं कर सकता है ; तथापि जितना जितना कषाय मंद होता जाता है, वह चारित्र को अंगीकार करता जाता है। शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारी तो वह होता ही है। आठ मूलगुणों में पाँच उदम्बर फल व मदिरा, माँस, मधु का यह सेवन नहीं करता है। तीन प्रकार पात्रों को भक्तिपूर्वक आहार, औषधि, अभय व ज्ञान दान देता है, दयाभाव से प्राणी मात्र को चार प्रकार का दान देता है। दान में विवेक से काम लेता है तथा बदले में पुण्य की व कोई लौकिक लाभ की इच्छा नहीं करता है, केवल परोपकार भाव से दान करता है। सम्यग्दर्शन का आचरण व सम्यग्ज्ञान का आचरण यह है कि वह नित्य जिन भक्ति, गुरु सेवा, स्वाध्याय, सामायिक में लीन रहता है। जो रत्नत्रय के धारी हैं उनकी भक्ति करता है। गुणवानों की पूजा करता है। रात्रि को भोजन हिंसाकारी समझकर अपनी स्थिति के अनुसार छोड़ने का उद्यम करता है। खाद्य (जिससे पेट भरे), स्वाद्य (पान-इलायची), लेह्य (चाटने की औषधि आदि), पेय (पीने का पानी आदि) इन चारों को व कम को यथाशक्ति छोड़ने का अभ्यासी होता है। यदि शक्य होता है तो रात्रि को जल भी त्याग देता है, अशक्य होता है तो जिस तरह निराकुलता रहे वैसा वर्तन करता है। अभी इसके अविरत भाव है। अभ्यास मात्र है। नियम से रात्रि भोजन का त्याग व्रती अवस्था में छठवीं प्रतिमा तक में पूर्ण हो जाता है, छठवीं प्रतिमा के नीचे यथाशक्ति उद्यम है, स्वच्छंदता नहीं है, लाचारी ही में इस क्रिया में कमी रखता है। पानी भलेप्रकार**

छान करके पीता है। छानने की क्रिया ठीक कराता है या करता है, जानता है कि पानी में बहुत त्रस जीव होते हैं। अपनी शक्ति के अनुसार बचाने का उपाय यही है कि जल को छानकर काम में लाया जावे व जीवानी जल स्थानक में पहुँचाई जावे। इस क्रिया का भी यह अभ्यासी मात्र होता है। किसी देश-काल में ठीक नहीं पाल सके तो मन में ग्लानि रखता है। ५३ क्रियाओं में से एक अठारहवीं क्रिया समताभाव है उसका पालक होता है। सम्यक्चारित्र में यह पाँच अणुव्रतों का स्थूल अभ्यास करता है, संकल्प करके वृथा हिंसा नहीं करता है, असत्य नहीं बोलता है, चोरी नहीं करता है, परस्त्री सेवन नहीं करता है, परिग्रह की अधिक लालसा नहीं रखता है। इन पाँच अणुव्रतों का भी अभ्यास मात्र रखता है। एक श्रद्धालु जैनी को कैसा होना चाहिये यह बात इन अठारह क्रियाओं में समावेश हो जाती है। यदि कोई साधारण जैनी इन बातों को पाले तो वह नमूनेदार श्रावक चौथे दरजे का हो जायगा।

॥ श्लोक २०१ ॥

एतत्तु क्रिया संजुक्तं, शुद्ध सम्यग्दर्शनं।
प्रतिमा व्रत तपश्चैव, भावना कृत सार्धयं॥

अन्वयार्थ – (शुद्ध सम्यग्दर्शन) **निर्मल सम्यग्दर्शन का धारी** (एतत्तु क्रिया संजुक्त) **इन अठारह क्रियाओं को पालता हुआ** (सार्धय) **इनके साथ** (प्रतिमा व्रत तपश्चैव भावना कृत) **ग्यारह प्रतिमा, बारह व्रत और बारह तप की भावना करता रहता है।**

विशेषार्थ – **उक्त त्रेपन क्रियाओं में से ऊपर लिखी अठारह क्रियाओं को पालता हुआ शेष पैंतीस क्रियाओं की भावना भाता है। यह विचार रहता है कि मेरे कषाय कब मंद हों, जो मैं उनको भलेप्रकार पालने को समर्थ हो जाऊँ। उन पैंतीस में बारह व्रत, बारह तप तथा ग्यारह प्रतिमाएँ हैं, इनको छोड़कर शेष अठारह क्रियाओं को शक्ति के अनुसार पालता है।**

ऐसा सम्यक्त्वी जीव सर्व लौकिक कामों को कर सकता है, गरीब-अमीर सब कोई ऐसा जैनधर्म पाल सकता है। असि (सिपाही का काम), मसि (लिखने का काम), कृषि, वाणिज्य, शिल्पकर्म, विद्याकर्म (गाना बजानादि) – इन छः कर्मों में से अपनी अपनी स्थिति के अनुसार हरएक जैनी आजीविका का उद्यम भलेप्रकार करता रहकर सच्चा जैनी रह सकता है, वह देश की रक्षा कर सकता है, दुष्टों का दमन कर सकता है, प्रचुर अन्न खेती से पैदा कर सकता है, देश परदेश भ्रमण करके व्यापार कर सकता है। नानाप्रकार कारीगरी, लकड़ी, कपड़ा, लोहा, पत्थर आदि के काम कर सकता है, मकान बना सकता है, चित्रकला, गाना, बजाना आदि काम कर सकता है। बुद्धि कम होने

पर नाना प्रकार सेवा कार्य कर सकता है। जिस क्षेत्र में सर्व ही मानव जैनी हो जावें उस क्षेत्र में सारा काम जो गृहस्थियों के लिये आवश्यक है, करते हुए भी जैनधर्म का पालना हो सकता है। जैनधर्म परिणामों के आधीन है। बाहरी चारित्र अविरत सम्यक्त्वी यथासंभव ही पालता है।

॥ श्लोक २०२ ॥

आज्ञा सम्यक्त संयुक्तं भावं वेदक उपसमं।
क्षायिकं शुद्ध भावस्य, सम्यक्तं शुद्धं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (आज्ञा सम्यक्तं संयुक्त भावं) श्री जिनेन्द्र भगवान की आज्ञानुसार तत्वों का श्रद्धानरूप जो भाव है, वही (वेदक) वेदक सम्यक्त्व है व (उपसमं) उपशम सम्यक्त्व है, वही (क्षायिकं) क्षायिक सम्यक्त्व है। यह क्षायिक (शुद्ध भावस्य शुद्धं ध्रुवं सम्यक्तं) शुद्ध आत्मीक तत्व का शुद्ध निश्चल अमिट श्रद्धान है।

विशेषार्थ – जिन शास्त्रों में छः द्रव्य, सात तत्वों का जो स्वरूप कथन किया गया है, उसको भलेप्रकार समझकर जिसने श्रद्धान कर लिया है, वही आज्ञा सम्यक्त है। इस करके सहित जिसका भेद भाव भेदज्ञान से पूर्ण होता हुआ अपने आत्मा को शरीरादि नोकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म व रागद्वेषादि भावकर्मों से भिन्न अनुभव करता है, वही भाव सम्यक्त है। इसी के तीन भेद है – उपशम, वेदक, क्षायिक।

मिथ्यादृष्टि जीव को चार अनंतानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व प्रकृति अथवा मिथ्यात्व, सम्यक्‌मिथ्यात्व व सम्यक्त्व प्रकृति सहित अर्थात् पाँच प्रकृति या सात प्रकृति के उपशम से जो सम्यग्दर्शन होता है, वह उपशम सम्यक्त है। जहाँ सम्यक्त्व प्रकृति का उदय हो और शेष छः का उपशम हो या क्षय हो उसको वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व कुछ मलीनता लिये हुए है। इसमें चल, मल, अगाढ़ दोष लगते हैं।

उपशम से वेदक या क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है। फिर वेदक से सातों कर्मों के क्षय कर डालने पर क्षायिक सम्यक्त्व होता है। यह फिर कभी छूटनेवाला नहीं है, यह ध्रुव है, शुद्ध भावरूप है। इसका धारी या तो उसी भव से या तीसरे से या चौथे से अवश्य मुक्ति पा सकता है। सम्यक्त्व की महिमा अपार है।

॥ श्लोक २०३ ॥

उपाध्यो गुण पदवी च, शुद्ध सम्यक्त भावना।
पदवी चत्वारि सार्धं च, जिन उक्तं सार्थं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (गुण पदवी च उपाद्यो) **अपने आत्मीक गुणों की पदवी अर्थात् सिद्ध पदवी प्राप्त करनी योग्य है** (चत्वारि पदवी सार्धं च) **चार पदवी के साथ अर्थात् अरहंत, आचार्य, उपाध्याय, साधु पदवी के साथ-साथ सिद्ध पदवी प्राप्त करना है जो कि** (सार्थं ध्रुवं) **यथार्थ में अविनाशी है** (जिन उक्तं) **ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है।** (शुद्ध सम्यक्त भावना) **इसलिये शुद्ध सम्यग्दर्शन की भावना करनी योग्य है।**

विशेषार्थ – **शुद्ध सम्यग्दर्शन की भावना का क्या फल होता है सो यहाँ बताया है। जगत में जो पाँच उत्तम पद हैं, वे इस ही भावना के प्रताप से प्राप्त होते हैं। शुद्धात्मा की भावना करते ही करते एक अविरत सम्यग्दृष्टि अप्रत्याख्यानावरण कषायों का उपशम करके देशविरति पंचम गुणस्थानी हो जाता है, वहाँ श्रावक की क्रियाओं को पालता हुआ व शुद्धात्मा की भावना करता हुआ प्रत्याख्यानावरण कषायों का भी उपशम कर देता है, तब अप्रमत्तविरत सप्तम गुणस्थानी साधु हो जाता है। यहाँ अन्तर्मुहूर्त ठहरकर प्रमत्तविरत साधु हो जाता है। यहां छठवाँ सातवाँ गुणस्थान बार-बार हुआ करता है। जो साधु बहुत अनुभवी हो जाते हैं और इस योग्य होते हैं कि वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यग्वीर्य व सम्यक्तप – इन पाँच तरह के आचारों को स्वयं पाले और दूसरों को पलवा सकें, उनको आचार्य पद होता है। जो साधु विशेष शास्त्रज्ञाता होते हैं व पठन-पाठन का काम उत्तम प्रकार से कर सकते हैं, उनको उपाध्याय पद होता है। आचार्य व उपाध्याय के कार्य प्रमत्तविरत छठवें गुणस्थान में ही होते हैं। जब ये ही ध्यानमग्न होते हैं तब सातवें में चढ जाते हैं। ८ वेंसे १२ वें गुणस्थान तक साधु ध्यानमग्न ही रहते हैं इसलिये वे साधु ही हैं, साधन करनेवाले हैं। जब चार घातीय कर्मों का नाश हो जाता है, तब तेरहवें गुणस्थान में अरहंत परमात्मा हो जाते हैं। शुक्लध्यान सम्बन्धी शुद्धात्मा की भावना का ही प्रताप है, जो साधु आठवें से बारहवें में व फिर तेरहवें में आ जाते हैं। वहाँ आयु पर्यंत रहते हैं। अन्तर्मुहूर्त पहले दो शेष शुक्लध्यानों को ध्याते हैं। चौदहवें गुणस्थान में चौथे शुक्लध्यान द्वारा चार शेष अघातीय कर्मों का भी विध्वंश करके सिद्ध परमात्मा हो जाते हैं। पाँचो ही परम पद शुद्ध सम्यक्त की भावना के फल हैं। इनमें चार पद अध्रुव हैं, केवल एक सिद्ध पद ही ध्रुव है व यथार्थ आत्मा का स्वभावरूप है। सम्यक्त्वी उसी को उपादेय समझकर उसीपर अपना लक्ष्यबिंदु रखकर शुद्धात्मा की आराधना करता रहता है।**

॥ श्लोक २०४ ॥

मतिज्ञानं च उत्पाद्यं, कमलासने कंठ स्थिते।
ॐ वंकारं च ऊर्ध्वं च, तिय अर्थं सार्धं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (कंठस्थिते कमलासने) **कंठ के स्थान पर एक कमल बनाकर उस पर** (ॐ वंकारं च

ऊर्ध्वं च) श्रेष्ठ ॐ को विराजमान करके जो (तिय अर्थं) तीनों तत्वों से पूर्ण है अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रमयी है (ध्रुवं) और परम्परा से चला आया अविनाशी पद है। इस ध्यान के द्वारा (मतिज्ञानं च उत्पाद्यं) मतिज्ञान को विशेष उत्पन्न करना चाहिये।

विशेषार्थ – यहाँ पाँच इंद्रिय व मन द्वारा जो सीधा पदार्थों का ज्ञान होता है, उस मतिज्ञान की शक्ति को बढ़ाने का उपाय बताया है, जिससे अधिक दूर तक का विषय स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व श्रोत्र में आ सके तथा मन की निश्चलता आत्मतत्व में हो सके। वह यह है कि एक कमल आठ पत्रों का कंठस्थान पर विचारे, उसके मध्य में श्रेष्ठ मंत्र ॐ को विराजमान करे। इसमें पाँच परमेष्ठी गर्भित हैं। जिनमें रत्नत्रय धर्म का निवास है। इस ॐ को चमकता हुआ ध्यावे। कभी कभी पाँचों परमेष्ठी के गुणों पर लक्ष्य देकर विचार किया जावे, कभी कभी रत्नत्रय का स्वरूप व्यवहारनय से व कभी निश्चनय से विचार किया जावे। इसी के द्वारा शुद्ध आत्मा का विचार करे। शुद्धात्मा के ध्यान से आत्मशक्ति बढ़ती चली जाती है। ज्ञान तो आत्मा में परिपूर्ण है, परन्तु ज्ञानावरण कर्म का आवरण पड़ा है, जिससे प्रगट नहीं है। ध्यान के बल से जितना जितना आवरण हटता जाता है, उतना उतना ज्ञान का प्रकाश बढ़ता जाता है।

॥ श्लोक २०५ ॥

कुज्ञानं त्रि विनिर्मुक्तं, मिथ्या छाया च त्यक्तयं।
ॐ वं ह्रियं श्रियं शुद्धं, शुद्ध ज्ञानं च पंचमं॥

अन्वयार्थ – (कुज्ञानं त्रि विनिर्मुक्त) तीन कुज्ञान को छोड़कर (मिथ्या छाया च त्यक्तयं) मिथ्यात्व की छाया भी न रखते हुए (ॐ ह्रियं श्रियं शुद्धं) ॐ ह्रीं श्रीं – इन तीन मंत्रों के द्वारा जो शुद्ध आत्मा का अनुभव है, वही (शुद्ध पंचमं ज्ञानं च) शुद्ध पंचम केवलज्ञान को उत्पन्न करानेवाला है।

विशेषार्थ – केवलज्ञान क्षायिकज्ञान कभी न छूटनेवाला ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। वह ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से प्रकाशमान नहीं है। जब सर्व ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय हो जाता है, तब केवलज्ञान प्रकाशमान होता है। इसका उपाय एक शुद्ध आत्मा का निश्चल ध्यान है, जिसको पहले गुणस्थानों में धर्मध्यान फिर श्रेणी के ऊपर एक शुक्लध्यान कहते हैं। शुद्धात्मा के स्मरण करानेवाले तीन मंत्र पद प्रसिद्ध हैं। ॐ ह्रीं श्रीं इनके द्वारा धर्मध्यान के समय पाँच परमेष्ठी व चौबीस तीर्थंकर व उनके परम ज्ञानादि ऐश्वर्य का चिंतवन किया जाता है। इस चिंतवन के द्वारा जब स्वरूप में थिरता होती है, तब धर्मध्यान कहा जाता है। जहाँ बुद्धिपूर्वक स्वरूप-मग्नता या शुद्धोपयोग है, परन्तु जहाँ अबुद्धिपूर्वक उपयोग की पलटन हो जाती है, वह शुक्लध्यान है,। ॐ ह्रीं श्रीं मंत्रों के आलम्बन

से जैसे धर्मध्यान में ध्यान किया जाता था, वैसे शुक्लध्यान में इनका आलम्बन है, परन्तु पूर्व अभ्यास से मात्र पलटन होती है। जैसे ॐ से ह्रीं में व ह्रीं से श्रीं में बुद्धिपूर्वक नहीं। जहाँ धर्मध्यान व शुक्लध्यान को मिथ्यात्व शल्य की छाया से रहित ध्याया जाता है व जहाँ कुमति, कुश्रुत, व कुअवधि इन मिथ्याज्ञानों से मुक्ति है – ऐसा भावश्रुतज्ञान ही केवलज्ञान का कारण है।

॥ श्लोक २०६ ॥

देवं गुरुं धर्म शुद्धं च, शुद्ध तत्व सार्थं ध्रुवं।
सम्यग्दृष्टि शुद्धं च, सम्यक्तं सम्यक् दृष्टितं॥

अन्वयार्थ – (देवं गुरुं धर्म शुद्धं च) जहाँ यथार्थ देव गुरु व शुद्ध धर्म की श्रद्धा हो व (शुद्ध तत्व सार्थं ध्रुवं) शुद्ध यथार्थ अविनाशी आत्मतत्व की श्रद्धा हो, वही (सम्यग्दृष्टि शुद्धं च) शुद्ध सम्यग्दर्शन है। वास्तव में (सम्यक्तं) सम्यग्दर्शन का अर्थ ही यह है कि जहाँ (सम्यक् दृष्टितं) पदार्थ को जैसा का तैसा यथार्थ जाना जावे।

विशेषार्थ – जैसा साध्य होता है वैसा साधन होता है। जब साध्य शुद्ध आत्मा का लाभ है तब उसका साधन भी शुद्ध आत्मा का लक्ष्य है। वास्तव में शुद्धात्मा का अनुभव ही मोक्षमार्ग है, यही सच्चा सम्यग्दर्शन है। शुद्धात्मानुभव के सहकारी वीतराग सर्वज्ञ अरहंतदेव व सिद्ध भगवान हैं तथा शुद्ध रत्नत्रयमयी निश्चय धर्म है तथा इस निश्चयधर्म का उपकारक आवश्यकीय व्यवहार धर्म है। शुद्ध तत्व का पहचाननेवाला शुद्ध तत्व के स्मरण के लिये ही देव-गुरु-धर्म की भक्ति करता है। इस भक्ति में भी शुद्ध स्वरूप पर लक्ष्य रखता है। शरीर सम्बन्धी क्रिया पर ध्यान नहीं है। असल में आत्मा का स्वभाव ही मोक्षमार्ग है या उसी में रमणता मोक्षमार्ग है

देवसेनाचार्य तत्वसार में कहते हैं –

सयल वियप्पे थक्के उव्वज्जइ कोवि सासओ भावो।
जो अप्पणो सहावो मोक्खस्स य कारणं सोहु॥६१॥

भावार्थ – सर्व विकल्पों के रुक जाने पर कोई अविनाशी भाव ऐसा झलक जाता है जिसको आत्मा का स्वभाव कहते हैं तथा यही मोक्ष का कारण है। और भी कहा है –

जो अप्पा तं णाणं जं णाणं तं च दंसणं चरणं। सा सुद्धचेयणावि य णिच्छयणयमस्सिए जीवे॥५७॥

भावार्थ – जो आत्मा है वही ज्ञान है, जो ज्ञान है वही सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र है, वही शुद्ध चेतना है। जो निश्चयनय का आश्रय करते हैं, उनके लिये रत्नत्रय स्वरूप आत्मा ही है।

॥ श्लोक २०७ ॥

सम्यक्तं यस्य शुद्धस्य, व्रतं तपं संजमं सदा।
अनेक गुण तिष्ठंते, सम्यक्तं सार्धं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (यस्य शुद्धस्य सम्यक्तं) **जिस शुद्ध भावना करनेवाले जीव के पास सम्यग्दर्शन है वह** (सदा) **सदा ही** (सार्धं) **सम्यग्दर्शन के साथ** (व्रतं तपं संयमं अनेक गुणं ध्रुवं तिष्ठंते) **व्रत, तप, संयम, अनेक गुण सदा निश्चय रूप से रह सकते हैं।**

विशेषार्थ – **यहाँ सम्यग्दर्शन का महात्म्य बताया है कि शुद्ध निश्चय सम्यग्दर्शन ही धर्म की जड़ है। वृक्ष की जड़ के बिना वृक्ष पर पत्ते शाखा फूल फल कुछ नहीं लग सकते हैं, उस ही तरह सम्यग्दर्शन के बिना धर्म का कोई भी अन्य अंग नहीं हो सकता है। जिसकी आत्मा में शुद्धात्मा का अनुभव है, वही सच्चा सम्यग्दर्शन है तथा उसी श्रावक व मुनि के व्रत व्रत कहलाते हैं, अन्यथा मिथ्या व्रत हैं। सम्यग्दर्शन के साथ ही बारह प्रकार का तप तप है, अन्यथा मिथ्या तप हैं। सम्यग्दर्शन के साथ ही इंद्रिय व प्राणी संयम संयम है, अन्यथा असंयम हैं। इसके लिये जितने भी उत्तम गुण हैं, उनका गुणपना सम्यग्दर्शन के ही साथ है। दानी का दान व पात्र का पात्रपना सम्यक्त सहित ही प्रशंसनीय है। सम्यग्दर्शन को गाढ़, अतिगाढ़, परमावगाढ़ करनेवाले ही आत्मज्ञान चारित्रादि गुण होते हैं।**

योगसार में श्री योगीन्द्राचार्य देव कहते हैं –

वय तप संजम सील जिय ए सव्वे अक इच्छ। जामन जाणइ इक्क परु सुद्धउभाव पवित्तु॥ ३१७॥

भावार्थ – **जबतक कोई शुद्ध पवित्र आत्मीक भाव को नहीं जानेगा ;तबतक उसका व्रत, तप, संयम, शील ये सब निरर्थक हैं। शुद्ध आत्मीक अनुभव के साथ व्रत, तप, संयम, शील आदि सब ही सफल हैं।**

॥ श्लोक २०८ ॥

यस्य सम्यक्त हीनस्य, उग्रं तव व्रत संजमं।
सर्वा क्रिया अकार्या च, मूलविना वृक्षं यथा॥

अन्वयार्थ – (यस्य सम्यक्त हीनस्य) **जो सम्यग्दर्शन रहित है उसका** (उग्रं तव) **कठिन तप तपना** (व्रत) **व्रत पालना** (संजमं) **संयम धारणा** (सर्वा क्रिया) **इत्यादि सर्व व्यवहार आचरण** (अकार्या च) **व्यर्थ है या मोक्षमार्ग नहीं है क्योंकि** (मूलविना वृक्षं) **मूल के बिना वृक्ष नहीं हो सकता है।**

विशेषार्थ – **कोई ऐसा मान ले कि मूल बिना वृक्ष हो जायगा तो उसकी पूरी अज्ञानता है। मूल या जड़ जब होगा, तब ही वृक्ष अंकुरित होगा, फूटेगा, बढेगा, पत्र शाखावाला होगा, पुष्प-फल से**

फलेगा। यदि जड़ नहीं है तो वृक्ष कभी लग नहीं सकता क्योंकि जड़ के द्वारा वृक्ष का पोषण होता है। इसीतरह यदि सम्यग्दर्शन नहीं है तो कठिन-कठिन तप करते हुए उपवास करना, कम खाना, रस छोड़ना, अटपटी आखड़ी लेकर भोजन को जाना, रुखा-सूखा खाना, मासोपवासी, पक्षोपवासी रहना, कठिन-कठिन स्थानों पर जाकर तप करना, एकांत सेवना, घंटों ध्यान लगाना इत्यादि सर्व तपस्या सार रहित है। न तो आत्मानंद दाता है, न स्वानुभव रूप है, न कर्मनाशक है न मोक्षमार्ग है, मात्र कायक्लेश रूप है। भले ही पुण्य कर्म का बन्ध हो जावे, परन्तु संसार के जाल को यह तप काट नहीं सकता। इसी तरह मुनि के महाव्रत, श्रावक के अणुव्रत व इंद्रियदमन व प्राणिरक्षा आदि सर्व ही व्यवहार धर्म पूजा, पाठ, जप, सामायिक, स्वाध्याय, शुद्धाहार, नीति से वर्तन, सत्यवादीपना, चोरी न करना, ब्रम्हचर्य पालन, करुणा का व्यवहार, चार प्रकार दान का देना, साधु सेवा, जनता का उपकार आदि क्रिया मात्र पुण्य बंधकारक है। सम्यग्दर्शन के बिना मोक्षमार्ग नहीं है। जहाॅं सम्यक्त होता है वहां मात्र आत्मोन्नति के हेतु से, वैराग्यभाव से, परिणामों की शुद्धता के लिये ही सर्व व्यवहार क्रिया तप आदि किया जाता है, तब ये तपादि परिणामों को शुद्धात्मानुभव में लगाने के लिये विशेष सहकारी माना जाता है। जहाँ आत्मा के अनुभव की कला नहीं आई है, वहाँ ये सब तपादि किसी अंतरंग में छिपी हुई कषाय के हेतु से ही किया जाता है। चाहे वह मान बड़ाई की चाह हो, चाहे विषय-भोगों की चाह हो, चाहे घर के कष्टों से दुःखित होकर किया जाता हो, चाहे किसी मायाचार से हो। क्रोध, मान, माया, लोभ – इनमें से किसी कषाय की पुष्टि के हेतु से किया गया तपादि उस कषाय को कैसे नाश कर सकता है, जिसके नाश के लिये तपादि करने का प्रयोजन है। इसलिये प्रथम सम्यग्दर्शन की जड़ होनी चाहिये, तब ही धर्म का वृक्ष लग सकेगा।

॥ श्लोक २०९ ॥

सम्यक्तं यस्य मूलस्य, साहा व्रत नन्तनन्ताई।
अवरे वि गुणा होंति, सम्यक्तं हृदये यस्य॥

अन्वयार्थ – (सम्यक्त यस्य मूलस्य) जिसके सम्यग्दर्शनरूपी जड़ है (साहा) शाखाएँ (व्रत नन्तनन्ताई) व्रतरूपी अनन्तानन्त हो सकती हैं (अवरे वि गुणा होंति) और भी बहुत गुण होते हैं (यस्य हृदये सम्यक्तं) जिसके अन्तरंग में सम्यक्त्व है।

विशेषार्थ – जहाँ सम्यग्दर्शन है वहाँ परिणामों की अनन्तगुणी विशुद्धता बढ़ती जाती है। कषाय की मंदता के साथ-साथ विशुद्धता व वीतरागता के अनन्त अंश बढ़ते जाते हैं। ये ही व्रतों की शाखाएँ फूटना है। सम्यक्त्वी के भाव जहाँ बढ़ते जाते हैं, वह स्वयं अहिंसक होता जाता है। सत्यवादी, न्याय-मार्गी, ब्रम्हचर्य रक्षक, संतोषी, संयमी होता हुआ चला जाता है। सम्यक्त्व के प्रभाव से सर्व

बाहरी आचरण स्वयं ही उत्तम प्रकार से होता जाता है। रस सहित आनन्दरूप सर्व व्रत तप आदि होने लगता है। जहाँ भीतर शुद्ध आत्मा के अनुभव की चतुराई मौजूद है, वहाँ अनेक गुण होते हैं। वह कर्मों का फल सुख तथा दुःख अत्यन्त समता भाव से भोगता है। उसके कर्म फल देकर झड़ जाते है, घोर बंध अत्यन्त अल्प करता है जो भी शीघ्र छूट जानेवाला है। सम्यक्त्वी के कर्म की निर्जरा अधिक होती है, बंध थोडा होता है। इसीलिये वह मोक्षमार्गी है। सम्यक्ती सदा संतोषी या सुखी रहता है। यदि आपत्तियाँ आ जावें तो घबडाता नहीं। यदि सम्पत्तियाँ प्राप्त हों तो उन्मत्त नहीं होता है। वह ज्ञाता-दृष्टा समदर्शी रहता है। उसका लक्ष्य एक आत्मा की तरफ रहता है, उसके व्यवहार से किसी को पीड़ा नहीं होती है, वह जगत का महान उपकारी होता है, वह जगत को अपना कुटुम्ब समझता है। सम्यक्त्व के प्रभाव से क्या-क्या गुण प्रगट होते हैं, यह कथन में नहीं आ सकता है। सम्यक्त्व की जड़ अपूर्व वृक्ष को फलती है, जिसका अंतिम फल परमात्मा हो जाना है।

॥ श्लोक २१० ॥

सम्यक्त विना जीवो, जानै श्रुत्यंग बहुभेदं।
अन्ये यं व्रतचरणं, मिथ्या तप वाटिका जालं॥

अन्वयार्थ – (सम्यक्त विना जीवो) **सम्यग्दर्शन के बिना जीव** (श्रुत्यग बहुभेद जानै) **ग्यारह अंग नौ पूर्व तक बहु प्रकार शास्त्र को जानै अथवा** (अन्ये य व्रतचरणं) **अन्य जो कोई बहुत व्रतादि का आचरण करे सो सब** (मिथ्या तप वाटिका जालं) **मिथ्या तप का निवास रूपी जाल है।**

विशेषार्थ – **सम्यग्दर्शन एक अति सूक्ष्म आत्मा का शुद्ध अनुभवन रूपी भाव है। जिसको इस सूक्ष्म तत्व का लाभ नहीं हुआ, वह मुनि होकर ग्यारह अंग नौ पूर्व तक पढ़ लेवे अथवा अन्य कोई साधु बहुत प्रकार व्यवहार चारित्र पाले, वह सब ज्ञान तथा चारित्र ऐसा बगीचा लगाना नहीं है जो सच्चा हो व जो मोक्षरूपी फल को देवे। किन्तु वह मिथ्या उपवन का जाल है। वह मिथ्या तप है, कुतप है। अज्ञानी उसी जाल में मोहित हो अपना संसार बढाने के लिये ही प्रयत्न करता है, न कि संसार हटाने के लिये। उसका ज्ञान व चारित्र का बाग मिथ्यात्व के आताप से दूषित है। जैसे वन में अग्नि लग जावे तो सब वृक्ष भस्म हो जावे, इसी तरह मिथ्यात्व की अग्नि से ज्ञान व चारित्र का बाग बढ़ने की अपेक्षा भस्म ही हो जायगा। इसलिये सम्यग्दर्शन के सिवाय और कोई आत्मोपकारी नहीं है।**

॥ श्लोक २११ ॥

शुद्धं सम्यक्त उक्तं च, रत्नत्रय संजुतं।
शुद्ध तत्वं च सार्धं च, सम्यक्तं मुक्ति गामिनो॥

अन्वयार्थ – (शुद्धं सम्यक्त) **शुद्ध सम्यग्दर्शन** (रत्नत्रय संजुतं) **रत्नत्रय सहित** (च शुद्धतत्वं सार्धं च) **और शुद्ध आत्मीक तत्व सहित** (उक्तं च) **कहा गया है। ऐसा सम्यक्त** (मुक्ति गामिनो) **मोक्षगामी जीव के होता है।**

विशेषार्थ – **जहाँ सम्यग्दर्शन है, वहाँ रत्नत्रय तीनों हैं, क्योंकि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होते ही जितना ज्ञान है, वह सम्यग्ज्ञान हो जाता है और सम्यग्दर्शन के साथ ही अनंतानुबंधी कषायों के उपशम होने से स्वरूपाचरण चारित्र पैदा हो जाता है। यदि सम्यग्दर्शन के साथ तीनों ही न हों तो सम्यग्दर्शन को मोक्षमार्ग नहीं कह सकते। ऐसा सम्यग्दर्शन वास्तव में शुद्ध आत्मीक तत्व के अनुभव के साथ-साथ होता है। जिसको यह निश्चय सम्यक्त्व हो जाता है, वह अवश्य मोक्ष पहुँच जाता है। सम्यग्दर्शन में व आत्मानुभव में कोई अंतर नहीं है। लब्धिरूप सम्यग्दर्शन तो अन्य कार्य की तरफ उपयोग रखते हुए भी रहता है, परन्तु उपयोगात्मक सम्यक्त्व तब ही होता है, जब आत्मानुभूति जागृत होती है, तब वहां कोई संकल्प-विकल्प नहीं रहता है। ऐसी दशा में ही रत्नत्रय की एकता कही जाती है। ऐसा ही देवसेनाचार्य तत्वसार में कहते हैं –**

सयल वियप्पे थक्कइ उव्वज्जइ कोवि सासओ भावो।
जो अप्पणो सहावो मोक्खस्सय कारणं सोहे।।८६।।

भावार्थ – **सर्व विकल्पों के बंद हो जाने पर ऐसा कोई अविनाशी निश्चल भाव पैदा होता है जो वास्तव में आत्मा का स्वभाव है तथा वही मोक्ष का कारण है। वहाँ रत्नत्रय तीनों मौजूद हैं।**

।। श्लोक २१२ ।।

सम्यक्तं यस्य त्यक्तं च, अनेक विभ्रम ये रताः।
मिथ्यात्वी मूढ दृष्टी च, संसारे भ्रमणं सदा।।

अन्वयार्थ – (यस्य सम्यक्तं त्यक्तं च) **जिसके सम्यग्दर्शन नहीं है** (ये अनेक विभ्रम रताः) **व जो अनेक प्रकार संकल्प-विकल्पों में लीन हैं, वे** (मिथ्यात्वी मूढ दृष्टी च) **मिथ्यात्वी बहिरात्मा हैं** (सदा संसारे भ्रमणं) **उनका सदा ही संसार में भ्रमण होगा।**

विशेषार्थ – **सम्यग्दर्शन का लाभ जिनको नहीं हुआ है, वे रात-दिन पर्यायबुद्धि ही रहते हैं। शरीर में ही अपनापना कल्पित करते हैं, उनके हर समय पर में ममतारूप व द्वेषरूप भाव रहता है। उनका उपयोग राग-द्वेष मय सदा चंचल रहता है। वे आत्मज्ञान को न पाते हुए आत्मीक आनन्द के स्वाद से विमुख, मूढबुद्धि व मिथ्याश्रद्धान सहित होते हैं। वे अनंतानुबंधी कषाय के सम्बन्ध से नीची गति बाँधकर संसार में ही भ्रमण करते हैं। जो जिसका स्वागत करता है, वही उसको प्राप्त होता है।**

संसार का स्वागत करनेवाला संसार बढ़ाता है, मोक्ष का स्वागत करनेवाला संसार को हटाता है। इष्टोपदेश में पूज्यपादस्वामी कहते हैं –

कर्म कर्महिताबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः । स्वस्यप्रभावभूयस्त्वे, स्वार्थं को वा न वांछति।।

भावार्थ – **कर्म अपने कर्म के हित को देखता है। जीव अपने जीव के हित को देखता है। जिसका प्रभाव जम जाता है, वह अपने स्वार्थ को चाहता है। मतलब यह है कि जब उपयोग आत्मा की तरफ प्रेमी होता है, तब आत्मा का हित होता है। जब उपयोग कर्म के उदय से प्राप्त संसार, शरीर, भोगों में अनुरक्त होता है, तब संसार बढ़ता है। सम्यक्त्वी के परिणामों में संसार से उदासी है व मोक्ष की तरफ उत्साह है। इससे वह संसार से पार हो जाता है। मिथ्यात्वी संसार का प्रेमी है, मोक्ष से उदासीन है, इससे अपने संसार को बढ़ा लेता है।**

॥ श्लोक २१३ ॥

सम्यक्तं ये उत्पादंते, शुद्ध धर्म रता सदा।
दोषं तस्य न पश्यंते, रजनी उदय भास्करं।।

अन्वयार्थ – (ये सम्यक्तं उत्पादंते) **जो सम्यग्दर्शन को उत्पन्न कर लेते हैं** (सदा शुद्ध धर्मरताः) **व निरंतर शुद्ध धर्म में लीन रहते हैं।** (दोषं तस्य न पश्यंते) **उनके भीतर कोई दोष नहीं दिखलाई पड़ते हैं जैसे** (भास्करं उदय रजनी) **सूर्य के उदय से रात्रि का अंधकार नहीं दिखता है।**

विशेषार्थ – **इसका भाव यह है कि जहाँ तक मिथ्यादर्शन और अनन्तानुबन्धी कषायों का उदय रहता है, वहाँ तक आत्मा के ऊपर अज्ञान अंधकार छाया रहता है व अनेक दोष दीख पड़ते हैं। एक बार सम्यग्दर्शन रूपी सूर्य का उदय हुआ कि सर्व अज्ञान का अंधेरा व अंधेरे में होनेवाले सर्व दोष उसी तरह मिट जाते हैं, जिसतरह सूर्य के उदय होते ही रात्रि का अंधेरा व रात्रि सम्बन्धी सर्व दोष मिट जाते हैं। सम्यग्दर्शन वास्तव में बाल सूर्यवत् है, यही बढ़ते-बढ़ते मध्याह्न का प्रतापशाली केवलज्ञानरूपी सूर्य हो जाता है। जैसे सूर्य के उदय होने से सुमार्ग-कुमार्ग व सर्व जगत के पदार्थ प्रगट रूप से अलग-अलग दीखते हैं, उन पदार्थों के साथ कैसा व्यवहार करना यह सब विधि समझ में आ जाती है। उसी तरह सम्यग्दर्शन के प्रगट होते ही ऐसा सम्यग्ज्ञान झलक जाता है, जिससे लोकालोक के छहों द्रव्यों के द्रव्य-गुण-पर्याय अलग-अलग झलक जाते हैं। आत्मा और अनात्मा अनादिकाल से मिले हुए हैं, दूध व पानी के समान एकत्र हो रहे हैं, तथापि अपने-अपने लक्षण-भेद से जुदे-जुदे दिखलाई पड़ते हैं। सम्यक्त्वी को शुद्ध निश्चयनय से पदार्थों के अवलोकन की शक्ति पैदा हो जाती है, जिससे वह वृक्षादि में व पशु-पक्षी आदि में सर्व प्राणी मात्र के भीतर आत्मद्रव्य को एकरूप शुद्ध**

ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यमय देखता है। पहले जो उसे विकाररूप ही अपना व पर का आत्मा दीखता था, अब विकार रहित अपना व पर का आत्मा दीखता है। मिथ्यात्व के अन्धेरे में राग-द्वेष की तीव्रता थी, संसारासक्तपना था, स्वार्थ-सिद्धि के लिये अन्याय से वर्तन था, पाँच इंद्रियों की लम्पटता थी। सम्यक्त होते ही अंतरंग में वैराग्य व साम्यभाव की जागृति हो जाती है। संसार की आसक्ति मिट जाती है। विषयभोग की तृष्णा विदा हो जाती है। जगत के व्यवहार में अहिंसातत्त्व सामने आकर खड़ा रहता है, जिससे वह अन्याय के साथ वर्ताव न करता हुआ न्याय, दया, सभ्यता, परोपकार के साथ व्यवहार करता है। पहले पर-पदार्थ के संयोग में अभिमान करता था, वियोग में घोर विषाद करता था। सम्यक्त्व के होते ही कर्मों के कार्य का ज्ञानी मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहता है। अच्छे व बुरे उदय में तन्मय नहीं होता है। संसार के कारणीभूत सर्व भावों के दोष सम्यक्त्व होते ही मिट जाते हैं।

॥ श्लोक २१४ ॥

सम्यक्तं ये न पश्यंति, अंधा इव मूढत्रयं।
कुज्ञानं पटलं यस्य, कोशी उदय भास्करं॥

अन्वयार्थ – (ये सम्यक्तं न पश्यंति) जो कोई सम्यग्दर्शन का अनुभव नहीं करते हैं वे (अंधा इव) अंधों के समान हैं। (यस्य पटलं मूढत्रयं कुज्ञानं) जिनकी ज्ञानचक्षु के ऊपर तीन मूढ़ता व तीन कुज्ञान का पटल या परदा हो रहा है। जैसे (कोशी) एक किसी बंद कोठरी में बैठा हुआ या परदे के भीतर छिपा हुआ प्राणी (भास्कर उदय) सूर्य के उदय को नहीं देख सकता है।

विशेषार्थ – सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य का दर्शन उसी को होगा, जो अज्ञान के परदे को हटाएगा। जैसे परदे या बंद कोठारी में बैठा हुआ मानव सूर्य के उदय को नहीं देख सकता है। यद्यपि सूर्य प्रकट है तथापि उसको तो अंधेरा ही दीख पड़ता है ;उसी तरह जिसके ज्ञान-नेत्र देवमूढ़ता, पाखंडमूढ़ता व लोकमूढ़ता से मुद्रित हैं व जो कुमति, कुश्रुत व कुअवधि के मिथ्याज्ञान में वर्त रहा है ; उसके सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य जो अपने ही आत्मा में प्रकाशमान है, नहीं दीखता है। वह अपने आत्मा को रागी, द्वेषी, मोही ही अनुभव करता है। अभिप्राय यह है कि जो सम्यग्दर्शन का प्रकाश करना चाहें उनको उचित है कि तीन मूढ़ताओं को पहिले त्यागें, किसी लौकिक मिथ्या अभिलाषा में पड़कर मिथ्यादेवों का, मिथ्या पाखण्डी साधुओं का व मिथ्यालौकिक क्रियाओं की प्रतिष्ठा न करें। इस बात का निश्चय रखें कि जगत में सुख-दुख अंतरंग में पुण्य-पाप के उदय से होता है, बाहरी कारण यथा योग्य निमित्त हैं। कोई कुदेव की पूजा भक्ति पुण्य को नहीं उत्पन्न कर सकती है, न पाप को काट सकती है। प्रथम यह निश्चय होना जरूरी है कि परिणामों से यह जीव पाप या पुण्य का बंध

करता है। अशुभभाव पाप व शुभभाव पुण्य के बंध के कारण हैं। इसलिये जिसप्रकार की पूजा व भक्ति से भावों में मंद कषायपना झलके, राग-द्वेष की कमी हो, वीतरागता का अंश प्रगटे, वे तो कार्यकारी हैं। परन्तु जिनसे कषाय बढ़े, राग बढ़े, वे अकार्यकारी हैं। अतएव सर्वज्ञ- वीतराग भगवान की भक्ति वास्तव में परिणामों को विशुद्ध करनेवाली है। इसलिये जो सम्यक्त्व के सूर्य को देखना चाहें, उनको सच्चे देव, गुरु, धर्म की भक्ति करनी चाहिये। मूढ़तायी में पड़कर अन्धकार का बल और अधिक न बढ़ाना चाहिये। इन तीन मूढ़ताओं को त्याग देने से व जिनवाणी का प्रेमपूर्वक अभ्यास करने से कुमति व कुश्रुत ज्ञान का अन्धेरा हटता चला जायगा – अभ्यास करते-करते एक समय ऐसा आ जायगा, कि एकाएक सम्यग्दर्शन सूर्य का उदय हो जावे।

॥ श्लोक २१५ ॥

सम्यक्तं यस्य सूवन्ते, श्रुतज्ञानं विचक्षणं।
ज्ञानेन ज्ञान उत्पाद्यं, लोकालोकस्य पश्यते।

अन्वयार्थ – (यस्य) जिस आत्मा के भीतर (सम्यंक्तं) सम्यग्दर्शन तथा (विचक्षण श्रुतज्ञानं) यथार्थ श्रुतज्ञान (सूवंन्ते) परिणमन कर रहा है, वहाँ ही (ज्ञानेन) इस भाव श्रुतज्ञान के द्वारा (ज्ञान उत्पाद्यं) ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है, जिससे (लोकालोकस्य पश्यते) लोकालोक दिखलाई पडते हैं।

विशेषार्थ – यहाँ यह बताया है कि सम्यग्दर्शन सहित जिसको शास्त्र का यथार्थ ज्ञान है, वही अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप को ठीक-ठीक अनुभव कर सकता है। सर्व द्वादशांग वाणी का सार स्वानुभव है। यही स्वानुभव धर्मध्यान है व यही स्वानुभव शुक्लध्यान है। इस ही के प्रताप से घातिया कर्मों का क्षय होकर केवलज्ञान का लाभ होता है। केवलज्ञान का कारण यथार्थ स्वसंवेदन ज्ञान है। इसी ज्ञान से सर्व आवरण दूर हो जाता है और केवलज्ञान का प्रकाश हो जाता है। इस कथन से यह बात दिखलाई है कि जिसको अपना परमात्मा पद प्राप्त करना हो, उसको उचित है कि सम्यग्दर्शन का लाभ करे और शास्त्रों को भलेप्रकार मनन करे। जिनवाणी के अभ्यास व मनन से ही घातिया कर्मों की स्थिती घटती है, सम्यग्दर्शन के घातक कर्मों का बल क्षीण होता है। सम्यग्दर्शन होने के बाद भी चारित्र की शक्ति बढ़ाने के लिये व अनन्त ज्ञान का प्रकाश होने के लिये शास्त्र का विचार व आत्मानुभव का अभ्यास बराबर रखना जरूरी है।

॥ श्लोक २१६ ॥

सम्यक्तं यस्य न साधंते, असाध्यं व्रत संजमं।
ते नरा मिथ्याभावेन, जीवंतो ऽपि मृता इव॥

अन्वयार्थ – (यस्य सम्यक्तं न साधंते) **जिससे सम्यग्दर्शन का साधन नहीं हो सकता है, उससे** (व्रत संजमं असाध्यं) **व्रत व संयम का पलना असाध्य है।** (ते नरा) **वे मानव** (मिथ्याभावेन) **मिथ्यात्व की भावना सहित होने से** (जीवंतो ऽपि) **जीवते हुए भी** (मृता इव) **मृतक के समान ही हैं।**

विशेषार्थ – **यहाँ यह बतलाया है कि मानव जन्म की सफलता सम्यग्दर्शन के लाभ में व सम्यक्त्व सहित व्रत व संयम के पालने में है। जिन मानवों ने मिथ्यात्व का ही सेवन किया, उनका जीना न जीना समान है। वे मृतक के तुल्य ही हैं, क्योंकि उन्होंने अत्यन्त दुर्लभ मानव जन्म पाने का कोई सार नहीं पाया। जिस मिथ्यात्व के कारण एकेन्द्रिय पर्याय में अनन्तकाल बिताना पड़ता है व द्वींद्रियादि कीटों में व पशु-पक्षियों में व नरक में घोर कष्ट उठाना पड़ता है, उस मिथ्यात्व को दूर करने का व सम्यक्त्व के लाभ होने का अवसर मन रहित पंचेंद्रियों तक में नहीं है। जिस सम्यक्त्व का लाभ सुगमता से इस मानव पर्याय में हो सकता है। यदि किसी ने ऐसे अमूल्य अवसर को पाकर सम्यग्दर्शन का लाभ न किया, उसका साधन न किया व सम्यग्दर्शन के बिना व्रत संयम भी यथार्थ न पाला तो सर्व तरह का सुभीता जो सम्यक्त के लाभ का मिला था, वह निरर्थक गया, इसके सिवाय जिसके परिणामों में सम्यक्त्व है, भेदविज्ञान है, वह मानव जन्म को संतोष व सुख पूर्वक बिता सकता है। वह तृष्णा का दास न होकर जल में कमल के समान गृही जीवन में रह सकता है, शुद्धात्मा की भावना से परमानन्दरूपी अमृत का पान कर सकता है। वही मुनि या श्रावक का चारित्र यथार्थ व शुद्ध भाव से पाल सकता है। सम्यग्दर्शन के बिना महान चारित्र भी एक के अंक बिना शून्य के समान निष्फल है। जो सम्यक्त्वी है, वही जीवित मानव हैं, मिथ्यात्व सहित तो वह मृतक के समान है।**

॥ श्लोक २१७ ॥

उदयं सम्यक्तं यस्य, त्रिलोकं उदयं सदा।
कुज्ञानं रागत्यक्तं च, मिथ्या माया विलीयते॥

अन्वयार्थ – (यस्य) **जिसकी आत्मा में** (सम्यक्त उदय) **सम्यग्दर्शन का प्रकाश हो गया है, उसके** (सदा) **सदा ही** (त्रिलोकं उदयं) **तीन लोक का प्रकाश है। उसने** (कुज्ञानं रागत्यक्तं च) **कुज्ञान और राग को छोड दिया है** (मिथ्या माया विलीयते) **और वहाँ मिथ्यात्व व माया का अभाव है।**

विशेषार्थ – **सम्यग्दर्शन का प्रकाश होते ही तीन लोक में भरे हुए जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश, काल – इन छह द्रव्यों का यथार्थ स्वरूप झलक जाता है। मेरा आत्मा सर्व अनात्माओं से व अन्य आत्माओं से भिन्न है, एक ज्ञाननंद स्वभावमयी है – ऐसा प्रकाश हो जाता है। यदि शास्त्र का ज्ञाता है तो अपने को सर्व ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादि भावकर्म व शरीरादि नोकर्म से भिन्न**

अनुभव करता है। जो शास्त्र का ज्ञाता नहीं व अन्तरंग मिथ्यात्व विरोधी कर्म प्रकृतियों के उपशम से जिसको सम्यग्दर्शन हो जाता है, वह भी अपने को यथार्थ अनुभव कर लेता है।सम्यक्त के होते ही ज्ञान थोडा हो या बहुत सब सम्यग्ज्ञान हो जाता है, राग-द्वेष का गाढा मैल कट जाता है। यदि चारित्र मोह के उदय से कुछ राग भाव होता भी है तो उसे वह कर्मकृत विकार जानता है, अपना स्वभाव नहीं जानता है व उसके मेटने के लिये भी अपना आत्मबल प्रगट करता रहता है। उसके भावों में न तो संसारमय अहंकार-ममकार रूप मिथ्याभाव है और न किसी प्रकार का मायाचार है। वह सरल भावों से मोक्षमार्गी होकर चलता है व जीवन को सफल बनाता है। सम्यग्दर्शन का लाभ परम लाभ है, सम्यक्त्वी का जीवन प्रशंसनीय जीवन है। सम्यक्त्वी सदा सुखी रह सकता है।

॥ श्लोक २१८ ॥

सम्यक्तयुत नरयम्मि, सम्यक्तहीनो न च क्रिया।
सम्यक्तं मुक्ति मार्गस्य, हीनो सम्यक् निगोदयं॥

अन्वयार्थ – (सम्यक्त युत नरयम्मि) **सम्यग्दर्शन सहित नरक में रहना अच्छा है** (सम्यक्त हीनो न च क्रिया) **सम्यग्दर्शन से जो शून्य है, उसके कोई भी क्रिया यथार्थ नहीं है** (सम्यक्तं मुक्ति मार्गस्य) **मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन मुख्य है** (सम्यक् हीनो निगोदयं) **जो सम्यग्दर्शन से हीन है, वह निगोद में चला जाता है।**

विशेषार्थ – **यहाँ भी सम्यग्दर्शन का महात्म्य बताया है कि सम्यग्दर्शन सहित हो और यदि नरक में भी कर्मानुसार रहना पडे तो कोई हर्ज नहीं है। वहाँ पर भी सम्यक्त्वी आत्मीक आनन्द का अनुभव कभी-कभी करता ही रहता है तथा सम्यग्दर्शन के प्रभाव से नरक के कष्टों को कर्मोदय जानकर समताभाव रखता है। सातों नरकों में सम्यक्त्व पैदा हो जाता है तथा पहले नरक में सम्यग्दर्शन को साथ लेकर भी जा सकता है। यदि सम्यग्दर्शन होने से पहले नरक आयु बांध ली हो। सम्यग्दर्शन के बिना मुनिधर्म व श्रावकधर्म की कोई भी क्रिया मोक्षमार्ग नहीं है, मात्र पुण्य बन्ध करानेवाली है। सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग में प्रथम इसीलिये कहा गया है कि इसके बिना ज्ञान कुज्ञान है, चारित्र कुचारित्र है। जो सम्यक्त्वी नहीं हैं, वे अज्ञान भाव से जगत में आचरण करते हुए पर्यायबुद्धि के गाढ़ ममत्व के कारण एकेन्द्रिय साधारण वनस्पति काय नाम कर्म को बाँधकर निगोद में चले जाते हैं। वहाँ दीर्घकाल तक घोर कष्ट पाते हैं। वहाँ से उन्नति करके फिर मानव गति पाना अतिशय कठिन हो जाता है। अतएव इस मानव जन्म में जिसतरह बने उद्यम करके सम्यग्दर्शन का लाभ कर लेना चाहिये। यही भवसमुद्र से तारनेवाला खेवटिया है। यही इस लोक-परलोक दोनों को सुधारनेवाला है।**

॥ श्लोक २१९ ॥

सम्यक्त युतपानस्य, ते उत्तम सदा बुधैः।
हीनो सम्यक् कुलीनस्य, अकुली अपान उच्यते॥

अन्वयार्थ – (सम्यक्त युत पानस्य) **सम्यग्दर्शन सहित जो कोई भी पात्र हो, चाहे हीन भी हो** (ते बुधैः सदा उत्तम) **उसको पंडितों ने सदा उत्तम कहा है।** (सम्यक्त हीनो कुलीनस्य) **जो उत्तम कुलवाला है, परन्तु सम्यग्दर्शन से रहित है, उसे** (अकुली अपान उच्यते) **नीच कुली व नीच पात्र कहा जाता है।**

विशेषार्थ – **यहाँ पान शब्द पीने के बर्तन को कहते हैं। मतलब कोई भी पात्र हो चाहे हीन मानव भी क्यों न हो या कोई पशु-पक्षी भी क्यों न हो, जिसके पास सम्यग्दर्शनरूपी रत्न है, वह उत्तम है, माननीय है, क्योंकि वह मोक्षमार्गी है। भले ही उसकी मान्यता उसके शरीर व उसकी आजीविका के कारण हीन हो, परन्तु सम्यग्दर्शन के प्रभाव से वह देवों के द्वारा भी माननीय हो जाता है। बड़े-बड़े आचार्य भी उसकी प्रशंसा करते हैं। इसके विरुद्ध जो कोई उत्तम कुल में पैदा हुआ हो, जगत में माननीय हो, परन्तु यदि वह सम्यग्दर्शन से शून्य है, मिथ्यादृष्टि संसारासक्त पर्यायबुद्धि है तो आचार्यगण व विवेकी मानव उसे हीन कुली व हीन पात्र ही कहते हैं। क्योंकि उसकी आत्मा हीन है, दुर्गति में जानेवाली है। एक गृहस्थ जो सम्यक्त्वी है, वह उस मुनि से बहुत अच्छा है, जो घोर तप करता हुआ भी मिथ्यादृष्टि है। जैसे अंधकार और प्रकाश का अन्तर है, वैसे मिथ्यात्व का और सम्यक्त्व का अन्तर है। जैसे विष और अमृत का अन्तर है, वैसे मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का अंतर है। श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में स्वामी समन्तभद्राचार्य कहते हैं –**

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहज। देवा देवं विदुर्भस्मगूढागारान्तरौजसम्॥ २८०॥

भावार्थ – **यदि चांडाल की देह से उत्पन्न हुआ है, परन्तु सम्यग्दर्शन सहित है तो उसे भगवान ने देवतुल्य कहा है, वह जलते हुए अंगार के समान है, जिसके ऊपर भस्म पड़ी है। भस्म के कारण उसका प्रकाश गुप्त है, परन्तु भीतर वह यथार्थ अग्नि है। उसी तरह चांडाल का शरीर भले ही हीन माना जाता हो, परन्तु उसकी आत्मा में सम्यग्दर्शन हो गया है, इसलिये वह हीन नहीं है, किंतु देवों के समान उच्च है, माननीय है, मोक्षमार्गी है। वह एक अति कुलीन मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा बहुत कम पापकर्म बाँधता है व अधिक पुण्यकर्म बाँधता है, उसकी आत्मा में आत्मीक आनन्दामृत का स्वाद आ रहा है, जबकि कुलीन मिथ्यादृष्टि मात्र विषय के स्वाद का ही लोलुपी हो रहा है।**

और भी वहीं कहा है –

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्। अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥ ३३॥

भावार्थ – जो गृहस्थ मिथ्यादृष्टि नहीं है, वह मोक्षमार्ग पर चलनेवाला है और जो साधु मोहवान् मिथ्यादृष्टि है, वह संसारमार्ग पर चलनेवाला है। इसलिये एक मिथ्यादृष्टि मुनि से एक सम्यक्त्वी गृहस्थ श्रेष्ठ है।

॥ श्लोक २२० ॥

तीर्थं सम्यक्तं सार्धं, तीर्थंकर नाम शुद्धए।
कर्मं क्षिपति त्रिविधिं वा, मुक्तिपथं सार्थं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (सम्यक्तं सार्धं) जो जीव सम्यग्दर्शन सहित है वही (तीर्थंकर नाम) तीर्थंकर नामकर्म को बाँधकर (तीर्थं) तीर्थंकर जन्म ले सकता है। वह जन्म (शुद्धए) आत्मा की शुद्धि के लिये होता है। यहाँ (त्रिविधि वा कर्मं क्षिपति) तीन प्रकार के कर्मों का क्षय कर डालता है (मुक्तिपथ सार्थं ध्रुव) उसके यथार्थ व निश्चल मोक्ष का मार्ग विद्यमान है।

विशेषार्थ – जो सम्यक्त्वी होता है, उसको ही तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है। उस सम्यक्त्व व तीर्थंकर नामकर्म के प्रभाव से यह जीव या तो उसी भव से तीर्थंकर होकर धर्म का प्रचार करता है जैसा विदेहों में हो सकता है अथवा एक भव और लेकर मनुष्य हो तीर्थंकर पदधारी होता है, जिसके इन्द्रादिदेव पाँचो ही कल्याणक करते हैं। भरत व ऐरावत में पाँचों ही कल्याणक धारी जन्म से ही तीर्थंकर होते हैं। तीर्थंकरों के ऐसा यथार्थ आत्मानुभव होता है कि वे अपना लक्ष्य निरंतर आत्मा की शुद्धि पर ही रखते हैं। किंचित् भी वैराग्य का बाहरी निमित्त पाते ही वे दीक्षा ले लेते हैं और थोड़े ही परिश्रम से घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञानी हो जाते हैं। फिर जब तक आयु शेष है, यत्र-तत्र आर्यखंड में विहार करके धर्म का उपदेश देते हैं। फिर सर्व कर्मों से रहित हो अर्थात् तीनों ही प्रकार के कर्मों से छूट करके अर्थात् भावकर्म राग-द्वेषादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि व नोकर्म शरीरादि उन सबसे मुक्त हो शुद्ध सिद्ध हो जाते हैं। यह परमोपकारी निश्चल सम्यग्दर्शन साथ-साथ रहता है, वही तीर्थंकर कर्म के बंध का निमित्त मिलाता है। वही तीर्थंकर के जन्म का निमित्त मिलाता है। उसी के प्रभाव से तीर्थ का प्रचार होता है। वही मोक्ष में पहुँचा देता है। वहाँ पर भी यह निर्मल क्षायिक सम्यक्त्व सदाकाल बना रहता है। इसी के महात्म्य से वहाँ भी सिद्ध भगवान स्वात्मानंद का भोग करते रहते हैं। रत्नकरंड श्रावकाचार में कहा है –

अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादांभोजाः।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः॥३९॥

भावार्थ – सम्यग्दर्शन के प्रभाव से धर्मचक्र के धारी तीर्थंकर होते हैं, जिनके चरण-कमलों को

इन्द्रादि, चक्रवर्ती व गणधरादि आचार्य नमन करते हैं, जिनको भलेप्रकार पदार्थों का निश्चय है व जिनकी शरण में तीनलोक के प्राणी आते हैं।

॥ श्लोक २२१ ॥

सम्यक्तं यस्य चित्तंति, वारं-वारेन सार्थयं।
दोषं तस्य न पश्यंते, सिंघ मातंग जूथयं॥

अन्वयार्थ – (यस्य) जो कोई (सम्यक्तं) सम्यग्दर्शन को (सार्थयं) यथार्थ रूप से (वारं-वारेन) बार-बार (चित्तति) चिंतवन करते हैं (तस्य दोषं न पश्यंते) उसको दोष नहीं देखते हैं। जैसे (मातंग जूथय) हस्ती के झुंड (सिघ) सिंह को नहीं देखते हैं।

विशेषार्थ – जैसे सिंह का ऐसा प्रताप होता है कि उससे भय खाकर हाथियों के समूह सिंह का सामना नहीं करते हैं, उसकी गर्जना सुनकर दूर से ही भाग जाते हैं, उसीतरह जिस भव्यजीव के अंतरंग में सम्यग्दर्शन का बार-बार चिंतवन रहता है अर्थात् जो अपने शुद्ध आत्मीक तत्त्व को सर्व अनात्मीक तत्त्व से पृथक् करके एकाग्र मन हो अनुभव करते हैं, उनके ऊपर राग-द्वेषादि दोषों का आक्रमण नहीं होता है। वे समताभव में लीन रहते हैं। वे अपने आत्मीक धन के सिवाय किसी भी परवस्तु को परमाणु मात्र भी अपनाते नहीं हैं। उनके भावों में अपने शुद्धात्मा का मानो चित्रण हो जाता है। उसके प्रेम के ये आसक्त हो जाते हैं। वे कषाय के मैल को मोहनीय कर्म का विकार समझते हैं। वे यही भावना करते हैं कि हमारे उपयोग में कषाय का मैल न झलके, तो ही उत्तम है। यदि कदाचित् चारित्र मोह के उदय से राग-द्वेष का भाव आ जाता है तो उससे भी उदासीन रहते हैं। दोष को दोष पहचानते रहते हैं। वे सदा जागृत रहते हैं। कभी भी मिथ्याज्ञान के धोखे में नहीं आते हैं। उनके पास गुणस्थान की परिपाटी के अनुसार बहुत-सा कषायों का दोष तो आता ही नहीं, जो कुछ आता भी है, उसको वे सदा जीतने का उद्यम रखते हैं। वास्तव में सम्यग्दृष्टि एक सिंह के समान है, वह बडा साहसी है, आत्मबली है। उसके पास आत्मज्ञानरूपी तेज बडा प्रतापशाली है, उस तेज के सामने रागादि दोषरूपी हाथी आते हुए अवश्य काँपते हैं।

॥ श्लोक २२२ ॥

सम्यक्तं शुद्ध पदं सार्थं, शुद्ध तत्व प्रकाशकं।
ति अर्थं शुद्ध संपूर्ण, सम्यक्तं शाश्वतं पदं॥

अन्वयार्थ – (सम्यक्तं सार्थं शुद्ध पदं) सम्यग्दर्शन यथार्थ शुद्ध पद है (शुद्ध तत्व प्रकाशकं) शुद्ध आत्मीक तत्त्व को प्रकाश करनेवाला है (ति अर्थं शुद्ध सम्पूर्णं) शुद्ध तीनों भावों से पूर्ण है (सम्यक्तं

शाश्वतं पदं) **सम्यग्दर्शन ही अविनाशी स्वरूप है।**

विशेषार्थ – **सम्यग्दर्शन निश्चय से इस आत्मा का एक शुद्ध निर्विकल्प गुण है। इसी के प्रताप से शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है। जहाँ सम्यग्दर्शन उपयोगात्मक है, वहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र तीनों ही पूर्णता को लिये विराजमान रहते हैं अर्थात् जब शुद्ध निश्चयनय के बल से शुद्धात्मा की भावना करते शुद्ध आत्मा का अनुभव किया जाता है, तब वहाँ तीनों की पूर्णता ही स्वसंवेदन ज्ञान के बल से अनुभव में आती है। यथार्थ आत्मा परोक्षरूप से जाना जाता है। केवलज्ञान की अपेक्षा वह परोक्ष है, परंतु स्वसंवेदन ज्ञान की अपेक्षा प्रत्यक्ष है। सम्यग्दर्शन आत्मा का एक अविनाशी गुण है। संसारी जीवों के मिथ्यात्व के उदय से ढक रहा है। जब मिथ्यात्व का अंधेरा हट जाता है तब यथार्थ प्रकाश हो जाता है। सम्यग्दर्शन की महिमा अपार है। आत्मा को यही परमात्मा झलकानेवाला है। यही ध्यान की अग्नि प्रकटानेवाला है। जिससे कर्मों के समूह भस्म हो जाते हैं।**

॥ श्लोक २२३ ॥

यस्य हृदये सम्यक्तं, उदयं शाश्वतं स्थिरं।
तस्य गुण शेष नाथस्य, आसक्तं गुण अनंतयं।

अन्वयार्थ – (यस्य हृदये) **जिसके अंतरंग में** (शाश्वत स्थिर सम्यक्त उदयं) **अविनाशी निश्चल क्षायिक सम्यग्दर्शन का प्रकाश हो जाता है** (तस्य शेष गुण नाथस्य) **उस अनन्तगुण के स्वामी के भीतर** (अनतयं गुण आसक्त) **अनंत गुण पाए जाते हैं।**

विशेषार्थ – **क्षायिक सम्यग्दर्शन के प्रकाश होते ही इस आत्मा के भीतर गुणों का विकास होने लगता है। यह आत्मा स्वभाव से अनंत गुणों का स्वामी है। घातिया कर्मों के आवरण के कारण वे गुण प्रगट नहीं हैं। क्षायिक सम्यग्दर्शन के होने पर वह महात्मा अधिक काल तक छद्मस्थ नहीं रहता है। या तो उसी जन्म में केवलज्ञानी हो जाता है या बीच में एक भव देव या नारकी का लेकर मनुष्य हो केवलज्ञानी हो जाता है या यदि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति से पहले तिर्यंच आयु या मनुष्य आयु बाँध ली हो तो भोगभूमि में जाकर फिर वहाँ से देव होकर फिर मनुष्य हो नियम से केवलज्ञानी हो जाता है। जैसे सूर्य के ऊपर मेघों का आवरण या इससे उसकी किरणें नहीं फैलती थीं। सर्व आवरण हट जाने से पूर्णपने किरणों का प्रकाश हो जाता है, उसीतरह ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय – इन चार घातिया कर्मों के उदय से आत्मा के अनंत गुण प्रच्छन्न थे, अप्रगट थे। जब इन चारों का क्षय हो जाता है; तब अनंत दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनंत वीर्य, यथाख्यात चारित्र, क्षायिक सम्यक्त्व, आदि प्रकाशमान हो जाते है। इन सबमें प्रथम क्षायिक**

सम्यक्त्व होता है। जब तक क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रगट न हो, तब तक कोई महात्मा क्षपकश्रेणी पर नहीं चढ़ सकता है। क्षपकश्रेणी पर जाने से ही दसवें सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अंत में चारित्रमोह का पूर्ण क्षय हो जाता है। तब ही क्षीणमोह नामक बारहवाँ गुणस्थानवर्ती हो जाता है और वहाँ यथाख्यात चारित्र प्रकाशमान हो जाता है। फिर इस गुणस्थान के अन्त में शेष तीन घातीया कर्मों का क्षय होता है, तब तेरहवें गुणस्थान में सर्वांग केवली होकर अरहंत नाम पाता है। पूर्ण गुण विकाशी परमात्मा हो जाता है। भावार्थ यह है कि सम्यग्दर्शन ही वास्तव में परमात्म पद का कारण है। इसलिये जो अपना सच्चा हित चाहें, उनको उद्यम करके सम्यग्दर्शन को अपने भीतर अवश्य प्रकाश करना चाहिये। यही मोक्ष की सीढी है।

॥ श्लोक २२४ ॥

सम्यक्तं येन दिष्टंते, उदयं भुवनत्रयं।
लोकालोकविलोकं च, आलवाले मुखं यथा॥

अन्वयार्थ – (येन सम्यक्त दिष्टंते) जिसने सम्यग्दर्शन का अनुभव कर लिया है, उसको (भुवनत्रयं उदयं) तीन लोक का ज्ञान हो गया है (लोकालोकविलोकं च) उसने लोक-अलोक को उसी तरह देख लिया है। (यथा आलवाले मुख) जैसे निर्मल जल के कुंड में मुख दिख जाता है

विशेषार्थ – सम्यग्दर्शन तब ही होता है, जब स्व-पर का भेद-विज्ञान, हो, आत्मा व अनात्मा का भिन्न-भिन्न लक्षण प्रगट हो जावे। यह तीन लोक इन ही दो पदार्थों का समुदाय है। तथा अलोकाकाश भी अनात्मा में गर्भित है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का राजमार्ग यह है कि छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थों का ज्ञान, व्यवहार नय तथा निश्चय नय से यथार्थ प्राप्त किया जावे। जिसने इन सबको समझ लिया, उसने तीन लोक व अलोक को वास्तव में उसी तरह देख लिया, जैसे निर्मल जलस्थान में अपना मुख दिख जाता है। सम्यक्त्वी का आत्मा निर्मल होता है। उसमें कोई वस्तु आश्चर्यकारी नहीं भासती है। शास्त्रज्ञान के बल से वह सर्व जगत के द्रव्यों के तत्त्वों का जानकार हो जाता है। यह तो परोक्ष लोकालोक का ज्ञान होना है। फिर यही सम्यक्त्वी जीव जब उन्नति करता है, तब साक्षात् अर्हन्त परमात्मा हो जाता है। उससमय तो प्रत्यक्ष ज्ञान में भी सर्व लोकालोक अपने अनन्त गुण-पर्याय सहित एक साथ स्पष्ट झलक जाते हैं। वास्तव में सम्यक्त्व एक अपूर्व दर्पण है, जिससे अपना शुद्ध आत्मा कर्म-मैल से मिला हुआ होने पर भी कर्म से पृथक् झलकता है, स्वानुभव में आता है, उसके आनन्द का स्वाद आता है। सम्यक्त्वी को जीवन्मुक्त कहें तो कुछ अनुचित नहीं है। वह सदा सुखी रहता है, वह सीधा मोक्षनगर को चला जा रहा है। ऐसे सम्यक्त को जिसतरह बने प्राप्त करना चाहिये।

आठ मूल गुण

॥ श्लोक २२५ ॥

मूलगुणं उत्पाद्यंते, फल पंच न दिष्टते।
बड पीपल कठुम्बर, पाकर उदंबरंस्तथा॥

अन्वयार्थ – (मूलगुणं उत्पाद्यंते) **सम्यग्दृष्टि को मुलगुण पालने चाहिये** (फल पंच न दिष्टत्ते) **उसे पाँच फल न लेने (खाने) चाहिये** (बड पीपल कठुम्बर पाकर उदवरंस्तथा) **बड़ का फल, पीपल का फल, अंजीर का फल, पाकर का फल तथा उदम्बर या गूलर का फल।**

विशेषार्थ – **बड़ आदि पाँच फलों में त्रस जीव होते हैं। इसलिये दयावान प्राणी ऐसे फलों को नहीं लेता है, जिनके खाने से त्रस जंतुओं का घात हो। इन फलों को न गीला अर्थात् हरा खाना चाहिये और न सूखा खाना चाहिये। क्योंकि सूखनेपर वे त्रस जंतु सूख जायेंगे। उनका कलेवर माँस होता है। सूखे माँस के खाने का दोष आता है। सागार धर्मामृत में भी कहा है:–**

पिप्पलोदुंबरप्लक्षवटफलगुफलान्यदन्। हंत्यार्द्राणि त्रसान् शुष्काण्यपि स्वं रागयोगतः॥१३-२॥

भावार्थ – **पीपल, गूलर, पाकर, बड़ और कठूमर या अंजीर – इन पांच वृक्षों के हरे फल या सूखे फल जो खाता है, वह राग भाव की अधिकता से अनेक त्रस जंतुओं का घात करनेवाला है। सम्यग्दृष्टि विवेकी हो जाता है। वह खान-पान ऐसा रखना चाहता है, जिससे शरीर स्वास्थ्य ठीक रहे, धर्मध्यान में बाधा न पड़े तथा त्रस व स्थावर दोनों प्रकार के प्राणियों की हिंसा जितनी कम हो सके, उतनी कम होवै। वह जिह्वा का लम्पटी नहीं रहता है। इसलिये जिन फलों में प्रत्यक्ष कीड़े उड़ते दीखते हैं अथवा कीड़ों की उत्पत्ति की बहुत संभावना है, उन फलों को दयावान सम्यग्दृष्टि नहीं खाता है। ऐसे अनेक फल हैं, जिनमें त्रस जंतु होते हैं, यहाँ पाँच मुख्य गिनाए हैं। इसीतरह के और भी जो फल हों, जिनमें त्रस जंतु पाए जावें, उनको दयावान नहीं खाता है। शुद्धाहार शरीर व मन दोनों का रक्षक है।**

॥ श्लोक २२६ ॥

फलानि पंच त्यक्तंति, त्रयस्य रक्षणार्थं च।
अतीचारा उत्पादंते, तस्य दोष निरोधनं॥

अन्वयार्थ – (त्रसस्य रक्षणार्थं च) **त्रस जंतुओं की रक्षा करने के हेतु से ही** (पंच फलानि त्यक्तंति) **पाँच फलों का त्याग किया जाता है।** (अतीचारा उत्पादते) **इनके अतीचार जो जो पैदा होते हैं,** (तस्य दोष निरोधनं) **उन दोषों को भी रोकना उचित है।**

विशेषार्थ – दयावान गृहस्थ को यह विचार रखना चाहिये कि उसके खान-पान के निमित्त से त्रस जीवों का घात न हो, तो ही ठीक है। इसलिये जैसे बड़, पीपल आदि फलों को त्रस जीवों की रक्षार्थ त्यागा जाता है, वैसे ही और भी फलों को जिनमें कीडों के पैदा होने की सम्भावना है, उनको नहीं लेना चाहिये। तथा हरएक फल को या बंद बादाम, सुपारी, इलायची, छुहारा आदि को तोड़कर व भले प्रकार देखकर खाना चाहिये। सर्दी-गरमी आदि कई निमित्तों से उनके भीतर त्रस जंतुओं का पैदा होना संभव है। बहुधा फलों के भीतर कीड़े चलते हुए दिखलाई पड़ते हैं।

॥ श्लोक २२७ ॥

अन्नं यथा फलं पुहुवं, वीयं सम्मूर्छनं यथा।
तथा हि दोष त्यक्तंते, अनेके उत्पाद्यते यथा॥

अन्वयार्थ – (अन्नं यथा) इसी तरह का जो अन्न, घुन गया हो (फल पुहुवं) फल, फूल, (वीयं) बीज, (सम्मूर्छनं यथा) घास, शाक आदि (तथा हि दोष त्यक्तंते) वैसा ही दोष देखकर छोड़ देना चाहिये (अनेके तथा उत्पाद्यते) उसी समान अनेक त्रस जंतु जहाँ उत्पन्न हो।

विशेषार्थ – अन्न जो पुराना हो, घुन गया हो, काली फुल्ली पड़ गई हो, वह भी त्रस जीवों का स्थान जानकर त्याग देना चाहिये। फल जो सड़ गया हो, उसमें त्रस जीव उत्पन्न हो गए हैं – ऐसा जानकर न खाना चाहिये। फूल जाति को न खाना चाहिये। फूलों के आश्रय बहुत से त्रस जंतु पैदा होते हैं और उनमें विश्राम करते हैं। गोभी का फूल बहुत से त्रस जंतुओं का स्थान है। जिन बीजों के भीतर त्रस जंतु की संभावना हो, उनको भी न खाना चाहिये। शाक पत्तियाँ जिनमें त्रस जंतुओं के बैठने की संभावना हो न लेना चाहिये। जहाँ जहाँ त्रस जंतु पैदा होते हों, उन उन वस्तुओं को न खाना चाहिये। बासी हुई मिठाई आदि तथा पहले बता चुके हैं, कौनसा भोजन कितनी देर तक का बना खाना चाहिये, पीछे त्रस जंतु पैदा हो जायेंगे। दयावानों को निरंतर ताजा शुद्ध भोजन करना चाहिये व अच्छे ताजे फलों को तोडकर देखकर खाना चाहिये। अजान फलों को भी बिना जाने न खाना चाहिये। जिसमें त्रस जंतुओं की रक्षा हो, वह कार्य करना चाहिये। दयावान गृहस्थ अपने जीवन के समान क्षुद्र जंतुओं के भी जीवन को समझता है। तथा जब कोई प्राणी अपना मरण नहीं चाहता है, तब हमारा कर्तव्य है कि उनके प्राणों की रक्षा करते हुए हम अपना खान-पानादि करें।

॥ श्लोक २२८ ॥

मद्यं च मानसम्बन्धं, ममता रागपूरितं।
अशुद्ध आलाप वाक्यं, मद्यदोष संगीयते॥

अन्वयार्थ – (मद्यं) **मदिरा** (च) **और** (मानसम्बन्धं) **मान सम्बन्धी मद** (ममना रागपूरितं) **ममता व राग से भरा हुआ** (अशुद्ध आलापं वाक्यं) **मिथ्यावाद रूपी वचन** (मद्यदोष मर्गायतं) **मदिरा का दोष कहा जाता है।**

विशेषार्थ – **आठ मूलगुणों में पाँच उदम्बर फलों के सिवाय तीन प्रकार मदिरा, माँस व मधु भी हैं। यहाँ मदिरापान का निषेध करते हुए मदिरा सम्बन्धी दोष भी न लगाने की प्रेरणा की गई है। मान कषाय के तीव्र वेग से मद चढ़ जाता है। धन मद, अधिकार मद, तप मद, विद्या मद, रूप मद, बल मद, कुल मद, जाति मद – ये मद भी मदिरा के समान बाधा करनेवाले हैं। जैसे मदिरा के नशे में प्राणी कुछ का कुछ बकता है, वैसे इसतरह के मद में भी यह धनादि की ममता व राग के कारण मान पोषक मिथ्या बातें किया करता है। दूसरे का अपमान हो, अपनी बढाई हो – ऐसी बकबक करके अपना उन्मत्तपना प्रगट करता है। किसी प्रकार का भी नशा ग्रहण करना योग्य नहीं है। जिस किसी वस्तु के खाने-पीने से व जिस किसी भावना के भाने से व जिस किसी क्रिया के करने से अपनी यथार्थ स्मृति, बुद्धि, प्रज्ञा व विवेक न रहे, सावधानी बिगड़ जावे, उस सर्व खान-पान, भावना व क्रिया का त्याग कर देना उचित है। भाँग, चरस, गाँजा, तम्बाकू आदि नशों को भी नहीं पीना चाहिये। बाहरी सामग्री के होते हुए अनित्य भावना का विचार करते हुए उनके भीतर तीव्र ममत्व भाव न लाना चाहिये। शेखी मारने की आदत छोड देनी चाहिये। मान के वशीभूत हो अपनी आमदनी व खर्च का विचार न करके मर्यादा से अधिक विवाहादि में खर्च करके उन्मत्त होकर अपना झूठा मान पुष्ट नहीं करना चाहिये।आकुलता को बढ़ानेवाले कार्य बिना सावधानी से कर लेना – यह सर्व उन्मत्त विचार का फल है।**

॥ श्लोक २२९ ॥

संधानं सन्मूर्छनं येन, त्यक्तंते ते विचक्षणाः।
अनंतभावना दोषं, न करोति शुद्धदृष्टितं॥

अन्वयार्थ – (येन) **जिससे** (संधानं) **संधान का दोष हो** (सन्मूर्छनं) **जहाँ सन्मूर्छन जंतु पैदा हो उनको** (त्यक्तंते) **जो छोड देते हैं**, (ते विचक्षणाः) **वे ही चतुर हैं** (शुद्धदृष्टितं) **शुद्ध सम्यग्दृष्टि** (अनंत भावना दोषं) **अनंतानुबंधी कषाय की भावना सम्बन्धी दोष को नहीं लगाता है।**

विशेषार्थ – **आचार, मुरब्बा आदि ताजा खाना चाहिये। मर्यादा के भीतर का भोजन छोड़कर मर्यादा के बाहर का भोजन खाने में वह पदार्थ रसचलित हो जाता है, इससे उसमें मदिरा का अतीचार आता है। किस पदार्थ की क्या मर्यादा है -- यह कथन पहले किया जा चुका है। जिस किसी**

में सम्मूर्छन त्रस जंतु पैदा हो जावें, वह सब पदार्थ मदिरा के दोष को रखनेवाला है।

सागार धर्मामृत में मदिरा के अतिचार में कहा है –

संधानकं त्यजेत्सर्वं दधितक्रं द्व्यहोषितं। कांजिकं पुष्पितमपि मद्यव्रतमलोऽन्यथा॥ ३-११॥

भावार्थ – सर्व प्रकार का संधान न खावे, दो दिन का दही छाछ न खावे, दही के बड़े कांजी न खावे, जिस पर फफूंदी व फुल्ली आ गई हो, सो न खावे – यह सब महाव्रत के अतिचार हैं। वहीं लिखा है–

जायंतेऽनन्तशो यत्र प्राणिनो रसकायिकाः। संधानानि न वल्भ्यंते तानि सर्वाणि भाक्तिकाः॥

भावार्थ – जिस वस्तु में रस के सम्बन्धी अनंत जंतु उत्पन्न हो जावे उन सबको संधाना जान कर जिन-भक्त नहीं खाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव जिह्वा का लम्पटी नहीं होता है। इसलिये वह विवेकपूर्वक ही खान-पान रखता है। शुद्ध भोजन करने से परिणाम निर्मल रहते हैं, आलस्य नहीं सताता है, रोगी नहीं होते हैं, अनन्तानुबन्धी कषाय अन्याय व अभक्ष्य में प्रेरित कर देती है। सम्यग्दृष्टि के ऐसी कषाय की भावना नहीं होती है, इससे वह विचारपूर्वक वर्तता है।

॥ श्लोक २३० ॥

मांसं भक्ष्यते येन लोनी मुहुर्त गतस्तथा।
न च भोक्तं न च उक्तं च व्यापारं न च क्रियते॥

अन्वयार्थ – (ये मॉसं न भक्ष्यते) जो कोई मांस नहीं खाते हैं (तथा) वैसे ही (मुहूर्त गतः लोनी) दो घडी पीछे की लोनी (न च भोक्तं) नहीं खानी चाहिये (न च उक्तं) और न खाने को कहनी चाहिये (व्यापारं न च क्रियते) और न व्यापार ही करना चाहिये।

विशेषार्थ – दूसरा मकार मॉस है। मॉस का भी त्याग भले प्रकार करना चाहिये। मॉस के दोषों को भी बचाना चाहिये। लोनी मक्खन को दो घडी के भीतर गर्म करके घी बना लेना चाहिये। उसी घी को खाना चाहिये। व दूसरे को खाने को कहना चाहिये व उसी घी का व्यापार करना चाहिये। जो लोनी को दो घडी से अधिक रख छोडा जायगा तो उसमें अनगिनती त्रस जंतु सम्मूर्छन पैदा हो जायेंगे फिर उनको गर्म करने से मॉस का दोष आयगा। दो घड़ी के भीतर-भीतर त्रस जंतु नहीं पैदा होते हैं, तबतक घी बनाने का रिवाज देश में प्रचलित करना चाहिये। ग्रामीणों को भी समझा देना चाहिये। यही घी खाने लायक है व उसी का ही व्यापार करना उचित है। सागार धर्मामृत में मॉस के अतिचार कहे हैं –

चर्मस्थमंभः स्नेहश्च हिंग्वसंहृतचम च। सर्वं च भोज्य व्यापन्नं दोषः स्यादामिषव्रते॥ ३-१२॥

भावार्थ – चमड़े के बर्तन में रखा हुआ जल, घी, तेल आदि – चमड़े में रखी हुई हींग तथा रस चलित सर्व भोजन मॉस का अतिचार है। मर्यादा के भीतर के पदार्थ खाना-पीना चाहिये, जो मर्यादा पहले कही जा चुकी है। उसके बाहर के पदार्थों में त्रस जंतु पैदा हो जायेंगे। अतएव उन पदार्थों के खाने से मॉस का भी अतिचार होगा व मदिरा का भी दोष होगा। दयावान गृहस्थ स्व-पर उपकारी होता है। अशुद्ध व अभक्ष्य भोजन करने से राग की लम्पटता होती है, परिणाम बिगड़ते हैं व शरीर भी रोगी होता है। सम्यग्दृष्टि जीव जिह्वा का वश करनेवाला रहकर शुद्ध खान-पान करने में ही संतोष मानता है।

॥ श्लोक २३१ ॥

दोदारि या महिदुग्धं च, जे नरा भुक्तभोजनं।
स्वादं विचलितं येन, भुक्तं मांसस्य दोषनं॥

अन्वयार्थ – (दोदारि या) जिनकी दो दाल होती हों, उन्हें। (महि) दही, छाछ (च दुग्धं) और दूध – इनके साथ मिलाकर (जे नरा भुक्त भोजन) जो मनुष्य भोजन करते हैं अथवा (येन स्वादं विचलितं भुक्तं) जिसने स्वादचलित पदार्थ को खाते हैं, उनको (मांसस्य दोषनं)मॉस का दूषण लगता है।

विशेषार्थ – द्विदल अन्न या मेवा को दही छाछ के साथ खाने का निषेध पहले कर चुके हैं। ऐसे को खाने के साथ ही मुंह की राल के संयोग से त्रस जंतु पैदा हो जाते हैं। सागार धर्मामृत में ५-१८ में आमगोरस संपृक्तं द्विदलं – ऐसा वाक्य दिया है, जिसका सीधा अर्थ यह होता है कि कच्चे गोरस (दूध, दही या छाछ) के साथ दो दाल वाली वस्तु मिलाने से द्विदल का दोष होता है। यदि दूध, या दही या छाछ को पका लिया जावे तो दोष नहीं रहता है – ऐसा समझ में आता है। जिसका स्वाद विचलित हो जावे – ऐसी वस्तु को खाने में भी मॉस का दोष आता है, क्योंकि वह सड़ने लगता है, त्रस जंतु पैदा होने लगते हैं। मर्यादा का भोजन लेना त्रस रक्षा का उपाय है। रसोई साफ शुद्ध प्रकाश वाले स्थान पर बनवानी चाहिये। तथा जो सामग्री रसोई में काम में ली जावे, वह जंतु रहित शुद्ध होनी चाहिये। चार बातों की शुद्धि को चौका कहते हैं।

द्रव्य शुद्धि – पानी, अन्न, आटा, घी, दूध आदि सर्व मर्यादा का नित्य का देखा हुआ लेना चाहिये। लकडी घुनी न हो, जंतु रहित हो।

क्षेत्र शुद्धि – रसोई का स्थान साफ जंतु रहित हो, भीतें साफ की जायें, छत पर या तो चंदोऊ हो या रोज साफ की जावे। भूमि को नित्य साफ करें। पक्की हो तो पानी से धोवें, कच्ची हो तो मिट्टी से लीपें।

काल शुद्धि – दिन में मुनि दान के समय के पहले रसोई तैयार कर ले।

भावशुद्धि – रसोई बनानेवाले के भावों की शुद्धि यह हो कि वह दयावान हो, जंतुओं की रक्षा करता हुआ रसोई बनावे व प्रेमालु हो। ऐसी भक्ति से बनावे कि भोजन पानेवाले स्वास्थ्य लाभ करे तथा शरीर शुद्ध वस्त्र सहित हो। ऐसी शुद्ध रसोई शुद्ध स्थान में ही जीमना हितकारी है।

जितना त्रस घात बचेगा उतना माँस दोष टलेगा।

॥ श्लोक २३२ ॥

मधुरं मधुरश्चैव, व्यापारं न च दृश्यते।
मधुरं मिश्रिते येन, द्वि मुहूर्तं सम्मूर्छनं॥

अन्वयार्थ – (मधुरं) शहद (मधुरश्चैव) और दूसरा मीठा इनका (व्यापारं न च दृश्यते) व्यापार नहीं करना योग्य है (येन मधुरं मिश्रिते) जिस वस्तु में गीला, मीठा या मधु मिलावेंगे, उसमें (द्वि मुहूर्तं सम्मूर्छनं) चार घडी के पीछे सम्मूर्छन त्रस जंतु पैदा हो जायंगे।

विशेषार्थ – तीन मकारों में मधु को भी नहीं खाना चाहिये, यह मक्खियों का उगाल है तथा गीले रस में चार घड़ी पीछे त्रस जंतु सम्मूर्छन पैदा हो जाते हैं – ऐसा ऊपर के श्लोक से झलकता है। मधु का व्यापार भी नहीं करना चाहिये तथा गीला मीठा अर्थात् गुड़ का व्यापार भी न करे। गीले मीठे या गुड़ में भी चार घडी में त्रस जंतु पैदा होंगे व जिसके साथ मधु या गीला मीठा मिलाया जायगा, उसमें त्रस जंतु चार घडी पीछे पैदा हो जायेंगे, इससे उस राव के खाने की मनाई मालूम होती है, जिस घड़े में ढ़ककर बहुत दिनों तक रख छोडते हैं। मधु के अतिचारों को बचाने के लिये फूलों को नहीं खाना चाहिये – ऐसा सागार धर्मामृत में कहा है, क्योंकि वहीं से मक्खियाँ रस ले आती हैं।

॥ श्लोक २३३-२३४ ॥

सम्मूर्छनं यथा जानंते, साकं पुहवादि पत्रयं।
त्यक्तंते न च भुक्तं च, व्यापारं न च क्रियते॥
कंदं बीयं यथा नेयं, सम्मूर्छनं विदलस्तथा।
व्यापारं न च भुक्तं च, मूलगुणं प्रतिपालए॥

अन्वयार्थ – (सम्मूर्छनं यथा) सम्मूर्छन के बराबर (साकं पुहवादि पत्रयं जानंते) शाक, पुष्प आदि पत्रों को जानना चाहिये (त्यक्तंते न च भुक्तं च) इनका भी भोजन त्यागना चाहिए (व्यापारं न च क्रियते) और न इनका व्यापार करना चाहिए। (यथा सम्मूर्छनं विदलः) जैसे सम्मूर्छन विदल हैं (तथा

कंद बीमं ने यं) तैसे कंद मूल को जानना चाहिए (व्यापारं न भुक्तं च) इनको भी न खाना चाहिये, न व्यापार करना चाहिये (मूलगुणं प्रतिपालाए) तब आठ मूल गुण अतिचार रहित पाले जाते हैं।

विशेषार्थ – यहाँ ग्रंथकर्ता अतिचार रहित आठ मूलगुणों को पालने का उपदेश दे रहे हैं। जैसा कि दर्शनप्रतिमा में पालने के लिये पंडित आशाधरजी ने सागारधर्मामृत में कहा है। यद्यपि श्री समन्तभद्राचार्य ने कंद-मूल-पुष्पादि खाने का त्याग भोगोपभोग परिमाणव्रत में दूसरी व्रत प्रतिमा में लिखा है, तथापि यहाँ ग्रंथकर्ता ने उनका त्याग निरतिचार आठ मूलगुण पालनेवाले के लिये भी बताया है। जैसे सड़े बासे पदार्थ में व द्विदल में सम्मूर्छन त्रस जंतु उत्पन्न होते हैं ;वैसे शाक, फूल, पत्रों तथा कन्दमूल में साधारण अनन्तकाय का दोष आता है, जिससे अनन्त एकेंद्रिय जीवों का घात होता है। अनन्त एकेंद्रियों का घात भी बहुत से त्रस जन्तुओं के घात के बराबर है – ऐसा जानकर दयावानों को उनका त्याग ही करना उचित है। पत्रों व फूलों में, शाक में बहुधा त्रस जंतुओं का भी आश्रय रहता है। जैसे गोभी के फूल में, आलू, घुइया, शकरकंद आदि जो जो कंदमूल हैं, जो जड के वहाँ फलरूप होते हैं, उनमें साधारण का चिह्न बहुत अंश में मिलता है, वे सीधी टूट जाती है, इसलिये इनको न खाना ही चाहिये और न इनका व्यापार ही करना चाहिये, क्योंकि व्यापार में खिलाने का व अनुमोदना करने का दोष अवश्य आता है। जिस वस्तु को हम अभक्ष्य समझते हैं, उनको दूसरों को भी खिलाना न चाहिये। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में भोगोपभोग परिमाण व्रत में लिखा है –

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृंगवेराणि । नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम्॥ ८५॥

भावार्थ – जिसमें फल तो अल्प हो, मात्र कुछ जीभ का स्वाद सधे और बहुत से एकेंद्रिय जीवों की हिंसा करनी पड़े – ऐसे मूली, गीले अदरक आदि व मक्खन व नीम व केतकी के फूल आदि नहीं खाना चाहिये। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में भी भोगोपभोग परिणामव्रत में कहा है –

एकमपि प्रजिघांसुः निहन्त्यनन्तान्यतस्ततो ऽवश्य। करणीयमशेषाण परिहरणमनन्तकायानां॥ १६२॥

भावार्थ – जिस एक वनस्पति के घात करने से अनन्त जीवों की कायों का नाश होता हो, उन सर्व अनन्तकायवाली वस्तुओं का त्याग करना योग्य है।

सागार धर्मामृत में भी भोगोपभोग परिमाण व्रत में नीचे के श्लोक दिये हैं –

नालीसूरणकालिन्ददोणपुष्पादि वर्जयेत्। आजन्म तद्भुजां ह्यल्पं फलं घातश्च भूयसां॥ १६॥

अनंतकायाः सर्वेपि सदा हेया दयापरैः। यदेकमपि तं हन्तुं प्रवृत्तो हन्त्यनन्तकान्॥ १७॥

आमगोरससंपृक्तं द्विदलं प्रायशो ऽनवं। वर्षास्वदलितं चात्र पत्रशाकं च नाहरेत्॥ १८॥

भावार्थ – धर्मात्मा पुरुषों को नाली (कमल की डंडी), सूरण, कालिंद, द्रोणपुष्प, मूली,

अदरक, नीम के फूल, केतकी आदि पदार्थों का मरण पर्यंत त्याग करना चाहिये। इनके खाने से अल्पफल, परंतु बहुत प्राणियों की हिसा है। दयावानों को अनंतकाय वनस्पतियों का सदा त्याग करना चाहिये। इसमें एक के खाने से अनंत का घात होता है। जमीन के भीतर उत्पन्न होनेवाली मूली, गाजर आदि प्रायः अनंतकाय हैं। प्याज, सूरण आदि कंदज भी प्रायः अनंतकाय हैं। जैसे द्विदल को दही के साथ नहीं खाना उचित है, वैसे पुराने अनाज को न खावें व वर्षा में बिना दले मूंग, चना आदि न खावें व पत्तों वाले शाक भी न खावें। दौलतरामजी ने कहा है: –

त्यागो कन्दमूल बुद्धिवन्त, कन्दमूल में जीव अनन्त।
फूल जाति सब ही दोषीक, जीव अनन्त भरे तहकीक।।
साक पत्र सब निंद बखान, त्यागि करो जिन आज्ञा मान।
कंद शाक फल फूलजु त्यागि, साधारण फल तें दूर भाग।।

इसी कारण से इस श्रावकाचार के कर्ता ने भी अधिक स्थावर की भी हिंसा जिनसे हो, उनके खाने का त्याग आठ मूलगुण धारी के लिये कहा है। अतएव कन्दमूल, शाक, पत्ते, फूल, जाति – ये सब नहीं लेना चाहिये। जबान को वश करके संयमी हो कर रहना ही परम हित है।

॥ रत्नत्रय का स्वरूप ॥

॥ श्लोक २३५ ॥

दर्शनं ज्ञान चारित्रं, सार्धं शुद्धात्मा गुणं।
तत्त्व नित्य प्रकाशेन, सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (दर्शन ज्ञान चारित्रं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (सार्धं) के साथ (शुद्धात्मा गुणं) शुद्धात्मा के गुणों के द्वारा (तत्त्व नित्य प्रकाशेन) अविनाशी तत्त्व का प्रकाश होता है। यही तत्त्व (सार्थ ज्ञानमय ध्रुव) यथार्थ ज्ञानमयी निश्चल है।

विशेषार्थ – सम्यग्दृष्टि श्रावक को रत्नत्रय धर्म का पालन भले प्रकार करना चाहिये। यहाँ बताया है कि ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र आत्मा के गुण हैं। आत्मा में ही पाए जाते हैं। इसलिये जहाँ शुद्ध आत्मा का तत्त्व ज्ञानमयी निश्चल अनुभव में आ रहा है, वहीं मोक्ष का मार्ग है। हरएक श्रावक को इस निश्चय मोक्षमार्ग पर अपना लक्ष्य-बिंदु रखना चाहिये। तथा शुद्धात्मा के मनन की निरंतर भावना भानी चाहिये। जैसी भावना भाई जाती है, वैसा भाव ऊँचा चढ़ता चला जाता है। इस निश्चय रत्नत्रयमयी भाव का आराधक अविरति सम्यग्दृष्टि से लेकर हरएक जैनी होता है। इसी के लिये अन्य बाहरी साधन मिलाए जाते हैं। रत्नत्रय से ही मेरी शोभा है, मेरा हित है, मेरा उद्धार है,

रत्नत्रय ही मेरा क्रीड़ावन है – ऐसी भावना भानी चाहिये। तत्त्वार्थसार में कहा है –

ये स्वभावाद्दृशिज्ञप्तिचर्यारूपक्रियात्मकाः । दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः॥ १५॥

स्यात्सम्यक्तज्ञानचारित्ररूपः पर्यायार्थादेशतो मुक्तिमार्गः ।

एको ज्ञाता सर्वदैवाद्वितीयः स्याद्द्रव्यार्थादेशतो मुक्तिमार्गः॥ २१॥

भावार्थ – **जो स्वभाव से होनेवाली सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र रूपी क्रिया है, उन ही रूप इन तीनों रत्नत्रय में तन्मय आत्मा ही मोक्षमार्ग है। पर्याय या भेदनय से मोक्षमार्ग तीनरूप है – सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र। परन्तु द्रव्यदृष्टि से एक ही ज्ञाता-दृष्टा अनुपम आत्मा ही सदा मोक्षमार्ग है।**

॥ श्लोक २३६ ॥

दर्शनं तत्वार्थश्रद्धानं, तीर्थं शुद्धं दृष्टितं।
ज्ञानमूर्तिः संपूर्णं, स्वात्म दर्शन चिंतनं॥

अन्वयार्थ – (तत्वार्थश्रद्धान दर्शन) **तत्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।** (तीर्थं) **यह भवसागर से तारने का तीर्थ या जहाज है** (शुद्ध दृष्टितं) **यही शुद्ध दृष्टिमयी है, जहाँ** (ज्ञानमूर्तिः) **ज्ञानमूर्ति** (संपूर्ण) **अपने सर्व गुणों से पूर्ण** (स्वात्म दर्शन चिंतनं) **अपने ही आत्मा का दर्शन है और चिन्तवन है।**

विशेषार्थ – **सात तत्वों का व्यवहार और निश्चय नय से यथार्थ श्रद्धान करना सम्दर्शन है। यही वास्तव में भवसागर से पार करनेवाला तीर्थ या जहाज है। जहाँ सम्यग्दर्शन हो जाता है, वहाँ अशुद्ध, मलीन, मिथ्यादृष्टि नहीं रहती है। किंतु शुद्ध, निर्मल, सम्यग्दृष्टि पैदा हो जाती है। वास्तव में अपने ही आत्मा का श्रद्धान व मनन ही सम्यग्दर्शन है। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से अपने ही आत्मा को सर्व कर्मकलंक से रहित, ज्ञानाकार, अमूर्तीक, अपने दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य, आनन्द आदि गुणों से पूर्ण एकाकार को श्रद्धान में लाकर अनुभव करना चाहिये यही सम्यग्दर्शन है।**

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है:–

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।

श्रद्धानं विपरीताऽभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत्॥ २२॥

भावार्थ – **जीव-अजीवादि तत्त्वों का सदा ही श्रद्धान करना चाहिये। उसमें कोई विपरीत अभिप्राय न हो। केवल आत्मशुद्धि के प्रयोजन से ही भलेप्रकार जीव-अजीवादि तत्त्वों का दृढ़ विश्वास करना व्यवहार सम्यक्त्व है। निश्चय से यह सम्यग्दर्शन सर्व आत्मा से भिन्न शुद्ध आत्मा का एक स्वभाव है। सम्यग्दर्शन एक रत्न है, जो अपने ही पास है, मिथ्यात्व की कीच में फँसा हुआ है। मिथ्यात्व के अंधकार के दूर हो जाने पर यह स्वयं प्रकाशमान हो जाता है।**

॥ श्लोक २३७ ॥

दर्शनं सप्ततत्त्वानां, द्रव्य काय पदार्थकं।
जीवद्रव्यं च शुद्धं च, सार्थं शुद्धं दर्शनं॥

अन्वयार्थ – (सप्ततत्त्वाना द्रव्य काय पदार्थक दर्शन) **सात तत्व, छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय और नौ पदार्थों का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है** (जीवद्रव्य च शुद्ध च सार्थ दर्शन) **तथा शुद्ध जीव द्रव्य का श्रद्धान करना यथार्थ निश्चय सम्यग्दर्शन है।**

विशेषार्थ – **व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शन के लिये निमित्त कारण है। व्यवहार सम्यक्त्व के विषय छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्व और नौ पदार्थ हैं।**

छह द्रव्य – १ जीव **चेतना स्वरूप, है। इसके तीन भेद बहिरात्मा, अंतरात्मा, परमात्मा का स्वरूप कहा जा चुका है।** २ पुद्गल **स्पर्श, रस, गंध, वर्ण मय जड परमाणु व स्कंध को कहते हैं। हमारे आत्मा के साथ लगे तैजस, कार्माण व औदारिक तीनों शरीर पुद्गल के बने हैं। ये दो जीव व पुद्गल द्रव्य अनंतानंत हैं। ये ही क्रियावान हैं, हलन-चलन करते हैं व इन ही में विभाव पर्यायें होती है। यद्यपि शुद्ध आत्मा निश्चल है व स्वभावरूप है।** ३ धर्म द्रव्य – **लोक-व्यापी असंख्यात प्रदेशी अमूर्तीक द्रव्य है, जो जीव-पुद्गल के गमन में उदासीन निमित्त कारण है।** ४ अधर्म द्रव्य – **लोक-व्यापी अमूर्तीक द्रव्य है, जो जीव-पुद्गल की स्थिति में उदासीन निमित्त कारण है।** ५ आकाश – **जो सबसे बड़ा अनंत प्रदेशी अमूर्तीक द्रव्य है, यह सबको अवकाश देता है।** ६ काल द्रव्य – **जो अमूर्तीक है, इसके निमित्त से सब द्रव्यों की अवस्थाएँ नए से पुरानी हुआ करती हैं। ये छह द्रव्य अनादि-अनन्त अकृत्रिम सदा से हैं। शुद्ध द्रव्यों में स्वभाव पर्यायें होती हैं, अशुद्ध द्रव्यों में अशुद्ध पर्यायें होती हैं। यह जगत इन ही का समुदाय है।**

पाँच अस्तिकाय – **छह द्रव्यों में से काल को छोडकर पाँच को अस्तिकाय कहते हैं, क्योंकि जीवादि पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी हैं। परन्तु काल द्रव्य असख्यात संख्या में हैं और रत्नराशि के समान लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों पर अलग अलग फैले हैं, वे कभी मिलते नहीं इससे कायरूप नहीं हैं। जितने आकाश को एक पुद्गल परमाणु रोकता है, उसे प्रदेश कहते हैं। इस प्रदेशरूपी गज से माप किये जाने पर काल के सिवाय पाँच द्रव्य बहुप्रदेश रखनेवाले हैं। इसलिये पाँच को अस्तिकाय कहते हैं।**

सात तत्त्व – **जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, एवं मोक्ष।**

जीव और अजीव तत्त्व में ऊपर लिखित छह द्रव्य गर्भित हैं। आस्रव – कर्मों के आने को आस्रव कहते हैं। मन, वचन, काय की क्रिया से व मिथ्यादर्शन, हिंसादि पाँच पाप, प्रमाद व कषाय के सम्बन्ध से आठ कर्म योग्य पुद्‌गल वर्गणा आती हैं। शुभ मन, वचन, काय की क्रिया से मुख्यता से पुण्य कर्म का ; अशुभ मन, वचन, काय की क्रिया से पाप कर्म का आस्रव होता है। बंध – आए हुए कर्म पुद्‌गलों में तुरंत चार प्रकार का बंध पड़ जाता है। प्रकृति – ज्ञानावरणादि कर्मरूप स्वभाव पड़ना। प्रदेश – कितनी संख्या किस-किस कर्म की बँधी। स्थिति – कर्मों में मर्यादा काल का पडना। अनुभाग – कर्म तीव्र या मंद फल देंगे – ऐसा रस पडना। संवर – कर्मों के आने को रोकना अर्थात् मिथ्यात्व के रोकने को सम्यग्दर्शन प्राप्त करना, पाँच पापों को छोडकर अहिंसादि पाँच व्रतों को पालना, प्रमाद को रोकने को अप्रमादभाव रखना, कषाय का जीतने के लिये वीतरागता का अभ्यास करना, मन-वचन-काय को थिर रखना – ये सब कारण कर्मों के रोकने के हैं। निर्जरा – कर्म अपने समय पर पकते हैं तब झडते हैं, यह सविपाक निर्जरा है। आत्मध्यानादि वीतराग भाव से कर्म को उदयकाल के पहले झाड़ डालना अविपाक निर्जरा है। मोक्ष – सर्व कर्मों से छूटकर शुद्ध आत्मा होकर लोकशिखर पर सिद्धक्षेत्रों में अपने स्वरूप में सदा के लिये विराजमान रहना।

नौ पदार्थ – सात तत्वों में पुण्य कर्म व पाप कर्म मिलाने से नौ पदार्थ हो जाते हैं। ये दोनों पदार्थ आस्रव व बंध में गर्भित हैं, तथापि विशेषता के लिये पृथक् गिनाया है।

इन सब में व्यवहारनय से जीव, संवर, निर्जरा, मोक्ष चार ग्रहण करने योग्य हैं जबकि निश्चयनय से एक अपना शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है। इसतरह श्रद्धान करके जब आत्मा का मनन किया जाता है, तब कुछ काल के अभ्यास से अनन्तानुबन्धी चार कषाय और मिथ्यात्व का उपशम होने से उपशम सम्यग्दर्शन पैदा हो जाता है। यही शुद्ध आत्मानुभव करानेवाला धर्मतीर्थ है।

॥ श्लोक २३८ ॥

दर्शनं ऊर्ध्वं अर्ध च, मध्यलोकं च दृष्टते।
षड् कमलं ति अर्थं च, जोयं सम्यक्‌दर्शनं॥

अन्वयार्थ – (दर्शनं) सम्यग्दर्शन के प्रभाव से (ऊर्ध्वं अर्धं च मध्यलोकं दृष्टते) ऊर्ध्वलोक अधोलोक व मध्यलोक स्पष्ट दिखलाई पडता है। (षट्‌कमलं) छह पत्ते के कमल के भीतर (ति अर्थं) तीन तत्वों के भीतर (सम्यग्दर्शनं जोयं) सम्यग्दर्शन दिखलाई पडता है।

विशेषार्थ – सम्यग्दृष्टी छह द्रव्यों के स्वरूप को यथार्थ श्रुतज्ञान के बल से जानता है और इस लोक की सर्व रचना छह द्रव्यों से बनी हुई है। इसलिये वह इस लोक को भी जानता है अथवा यह

श्रुतज्ञान के द्वारा नारकी, तिर्यंच, मानव तथा देव – इन चार गतियों के स्थानों को जानता है। कहाँ कहाँ नरक व स्वर्ग हैं, कहाँ कहाँ जम्बूद्वीप आदि हैं, कहाँ कहाँ अकृत्रिम चैत्यालय हैं, कहाँ अहमिंद्र लोक है, कहाँ लोकांतिक देव रहते हैं। लोक के ऊपर सिद्धक्षेत्र है, जहाँ अनन्त सिद्ध रहते हैं। संस्थान विचय धर्मध्यान के द्वारा तीन लोक का स्वरूप जानता है। वैराग्यभाव से किसी से राग-द्वेष नहीं करता है। उसका अनुराग अपने शुद्ध स्वभाव से है।

षट् कमल व ति अर्थ का भावार्थ स्पष्ट नहीं है, जो समझ में आया वह लिखा गया है। हृदयस्थान में छह पत्तों का कमल बनाकर उनके ऊपर ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूँ ह्रौं ह्रः – इन छह बीजाक्षरों के आलम्बन से विचारते हुए सम्यग्दर्शन के प्रभाव से शुद्धात्मा का अनुभव होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र – इन तीन तत्त्वों के भीतर मुख्यता सम्यग्दर्शन की झलकती है, क्योंकि ज्ञान और चारित्र को सम्यक्पना सम्यग्दर्शन के प्रभाव से ही प्राप्त हुआ है। वास्तव में सम्यग्दर्शन ऐसी ज्ञानचक्षु है, जिसके द्वारा देखते हुए सर्व पदार्थ ठीक-ठीक जैसे हैं, वैसे दिखलाई पड़ते हैं। सम्यग्दृष्टि को छह द्रव्यों के गुण-पर्याय के कार्यों में पूर्ण विश्वास है। उसको किसी भी क्रिया में आश्चर्य नहीं मालूम होता है। वह सम्यग्ज्ञान को रखता हुआ परम संतोषी है। अनेक प्रकार के धर्मध्यान के द्वारा जिनका कथन पहले किया जा चुका है, सम्यग्दृष्टि अपने आत्मा के अवलोकन का अभ्यास रखता है। वह आत्मरस का पिपासु हो रहा है। जिसतरह बने आत्मानन्द का स्वाद लेता है।

॥ श्लोक २३९ ॥

दर्शन यत्र उत्पादंते, तत्र मिथ्या न दृष्टते।
कुज्ञानं मलश्चैव, त्यक्तं योगं समाचरति॥

अन्वयार्थ – (यत्र दर्शन उत्पादन्ते) जहाँ सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है (तत्र मिथ्या न दृष्टते) वहाँ मिथ्यात्व नहीं दिखलाई पड़ता है (कुज्ञानं मलश्चैव त्यक्तं) कुज्ञान व सर्व मल भी छूट जाते हैं, (योगं समाचरति) धर्मध्यान का आचरण होने लगता है।

विशेषार्थ – जैसे जहाँ प्रकाश का उदय होता है, वहाँ अन्धकार नहीं दिखलाई पड़ता है ; वैसे जहाँ आत्मा में सम्यग्दर्शन नामक गुण का प्रकाश हुआ वहाँ मिथ्यादर्शन की छाया बिलकुल नहीं दिखलाई पड़ती है, क्योंकि अनन्तानुबन्धी चार कषाय व मिथ्यात्व के उपशम के बिना सम्यग्दर्शन होता ही नहीं है। पहले जो संसारासक्ति थी, सो मिट जाती है, शुद्धात्मस्वरूप की प्रीति पैदा हो जाती है। सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने के पहले जो मिथ्याज्ञान था, सो सम्यग्दर्शन के होते ही सम्यग्ज्ञान हो जाता है। कुमति-कुश्रुत-कुअवधि, सुमति-सुश्रुत-सुअवधि हो जाते हैं। मिथ्यात्व के होते हुए जो

पच्चीस मल होते थे, वे सब मल भी दूर हो जाते हैं। जब भावों में आत्मा का तथा परमात्मा का यथार्थ स्वरूप झलक जाता है, तब शंका आदि दोष व कुदेव-कुगुरु-कुधर्म की मान्यता किसतरह ठहर सकती है। तथा वह सम्यक्त्वी सर्व जगत की आत्माओं को पहचानने वाला हो जाता है, इससे उसकी मैत्री सर्व प्राणीमात्र से रहती है। दुखियों को देखकर उन पर करुणा बुद्धि रखकर उनका दुःख निवारण करना चाहता है। धर्म का सच्चा पालक, नीति का सच्चा नमूना बन जाता है। ऐसे ही सम्यग्दृष्टि के भीतर यथार्थ योगाभ्यास होता है, वही यथार्थ धर्मध्यान के बल से निज शुद्धात्मा के तत्त्व को सर्व से पृथक् अनुभव करता है। बिना सम्यक्त्व के मिथ्यादृष्टि का सर्व योगाभ्यास आत्मानुभव करने में समर्थ नहीं है।

॥ श्लोक २४० ॥

मलं विमुक्त मूढादी, पंचविंशति न दृष्टते।
आशा स्नेह लोभं च, गारव त्रिविधि मुक्तयं॥

अन्वयार्थ – (मूढादी मलं विमुक्त) तीन मूढता आदि मलों से छूटे हुए सम्यक्त्वी के भीतर (पचविंशति न दृष्टते) पच्चीस दोष नहीं दिखलाई पड़ते हैं। (आशा स्नेह लोभं च गारव त्रिविधि मुक्तय) आशा, स्नेह, लोभ, तीन प्रकार के अहंकार आदि कुभावों से मुक्त हो जाता है।

विशेषार्थ – सम्यक्त्वी के भीतर पहले कहे हुए मूढता आदि दोष नहीं दिखलाई पड़ते हैं, शुद्ध सम्यग्दर्शन को जो पालनेवाला है उसके मात्र एक शुद्धात्मानुभव का ही उद्देश्य है। इसी उद्देश्य से वह धर्मध्यान करता है। देव-पूजा, गुरु-भक्ति, शास्त्र-स्वाध्याय, संयम, तप व दान – इन नित्य गृहस्थों के छह कर्मों को भले प्रकार पालता है, जिसका फल मात्र परिणामों की शुद्धि चाहता है। सम्यक्त्वी को क्षणभंगुर विषय-भोगों की कोई इच्छा नहीं होती है, इसलिये वह इन्द्र-नागेन्द्र-अहमिंद्र, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, तीर्थंकर आदि बड़े-बड़े ऐश्वर्यशाली महत्वशाली पदों की आशा बिलकुल नहीं रखता है और न जगत के विनाशीक चेतन-अचेतन पदार्थों से स्नेह रखता है। स्त्री-पुत्र-मित्र-सेवकादि से यथायोग्य व्यवहार करता हुआ व जगत के प्राणियों के साथ सभ्यता व नीति से वर्ताव करता हुआ वह भीतर से उसी तरह अलिप्त रहता है, जैसे कमल जल से अलिप्त रहता है। ज्ञानी सम्यक्त्वी के लोभ अति मंद होता है। अपने-अपने पद के अनुसार संतोषपूर्वक आजीविका का साधन करता है। दूसरों को बहुत लाभ होते देखकर परिणामों में लोभपना नहीं जगाता है। किसी तरह का गारव या अभिमान नहीं रखता है। रस-गारव, ऋद्धि-गारव, बुद्धि-गारव – ये तीन गारव प्रसिद्ध हैं। सो सम्यक्त्वी के नहीं होते हैं। रसायन विद्या से रस बनाने का गारव या मिष्ट रसीले पदार्थों

के मिलने का गारव रस-गारव है। ऋद्धि आदि कोई चमत्कार तप के बल से पैदा हो जावे तो उसका अहंकार करना यह ऋद्धि-गारव है। बुद्धि प्रबल होने से पदार्थों के समझने की अधिक शक्ति होते हुए बुद्धि का घमंड करना बुद्धि-गारव है। ज्ञानी सम्यक्त्वी इन लाभों को क्षणिक समझता है। इनकी शक्ति होने पर भी कोई प्रकार का मद नहीं करता है।

॥ श्लोक २४१ ॥

दर्शनं शुद्ध तत्वार्थं, लोकमूढं न दृष्टते।
यस्य लोकं च सार्थं च, त्यक्तते शुद्ध दृष्टितं॥

अन्वयार्थ – (दर्शनं शुद्ध तत्वार्थं) **शुद्ध आत्मतत्व में दृढ़ प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहते हैं। वहाँ** (लोकमूढं न दृष्टते) **लोकमूढ़ता नहीं दिखलाई पड़ती है।** (यस्य लोकं च सार्थं च त्यक्तते) **जिसने सर्व लोक को व उसके सर्व पदार्थों को पर जानकर उनसे मोह छोड़ दिया है** (शुद्ध दृष्टितं) **मात्र शुद्धदृष्टि को धारण कर लिया है।**

विशेषार्थ – **जिसके पूजनीय, माननीय, दर्शनीय, मननीय, अनुभवनीय एक मात्र अपना शुद्ध आत्मा है, जो सिद्ध भगवान को भी पर जानता है, उनकी पूजा व भक्ति भी आलम्बन जानकर करता हुआ भी उनसे वैरागी है वह जानता है कि जहाँ तक स्वात्मानुभव नहीं होगा वहाँ तक मोक्ष का मार्ग नहीं है। ऐसा सम्यक्त्वी जीव लोकमूढ़ता में कैसे फँस सकता है। लोगों की देखा-देखी मूढ़ प्राणी धन, पुत्र, जय, यश आदि के लोभ से लोकमूढ़ता में फँस जाते हैं। सम्यक्त्वी को इन बातों की तरफ आसक्ति नहीं है। वह जानता है कि वे सब पुण्य वृक्ष के फल हैं। यदि मैं गृहस्थ हूँ तो मेरा कर्तव्य समताभाव से नीतिपूर्वक उद्यम करना है। पुण्य की सहायता होगी तो ये पदार्थ मिल सकेंगे। सम्यक्त्वी लोक के पदार्थों का स्वभाव शास्त्र द्वारा जानता हुआ भी किसी में ममता भाव नहीं रखता है। परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है, मेरे शुद्ध गुण व पर्याय हैं, वे मेरे में सदा विराजित हैं, इसप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञान-वैराग्य से पूर्ण रहता हुआ सदा आनन्द भोगता है।**

॥ श्लोक २४२ ॥

देवमूढं च प्रोक्तं च, क्रियते येन मूढयं।
दुर्बुद्धि उत्पाद्यते जाव, ताव दिष्टि न शुद्धए॥

अन्वयार्थ – (देव मूढं च प्रोक्तं च) **देव मूढ़ता का स्वरूप कह चुके हैं** (येन मूढयं क्रियते) **जिससे ऐसी मूढ़ता की जाती है** (जाव दुर्बुद्धि उत्पाद्यते) **व उसके देव मूढ़ता की खोटी बुद्धि पैदा होती रहती है**

(ताव) तब तक (दिष्टि न शुद्धाए) श्रद्धा निर्मल नहीं है।

विशेषार्थ – देव मूढता का स्वरूप कहा जा चुका है कि संसारिक प्रयोजन की इच्छा से जो रागी-द्वेषी देवों को पूजना है सो देव मूढ़ता है। जो कोई अपने को श्रद्धालु मानकर भी रागी-द्वेषी देवों की पूजारूपी मूढता को नहीं छोडता है, उसके सदाकाल खोटी बुद्धि उत्पन्न हुआ करती है। अमुक देव को मानुँगा तो यह लाभ होगा, अमुक देवी को मानुँगा तो यह लाभ होगा, अमुक को न मानूँगा तो यह हानि होगी। जानता हुआ भी कि कुदेवों की भक्ति व्यर्थ है, फिर भी पूर्व संस्कार से पुत्र की बीमारी अच्छी करने को, किसी धन के लाभ को, चाह करके कुदेवों की भक्ति स्वयं करना है, कराता है व अनुमोदना करता रहता है। यह मिथ्या शल्य जब तक उसके भावों में गड़ी रहती है, वह कभी भी निःशंक निर्भय व शुद्ध श्रद्धावान नहीं होने पाता है। वह इस बात को भूल जाता है कि इन कुदेवों की भक्ति से वृथा ही श्रद्धान को मलीन करना है। हर एक प्राणी अपने-अपने किये हुए पुण्यकर्म व पापकर्म के आधीन है, उसको कोई मिटा नहीं सकता है। वीतराग जिनेंद्र भगवान की भक्ति से तो परिणामों की उज्ज्वलता होकर भले ही पापकर्म कम हो जावे या टल जावे और पुण्यकर्म का विशेष लाभ हो जावे, परन्तु कुदेवों की भक्ति से तो सिवाय पाप दृढ़ होने के पाप का शमन नहीं हो सकता है। ऐसा जानकर जो सम्यक्त्व को दृढ़ रखना चाहता है, वह भूलकर भी कुदेवों की भक्ति व पूजा नहीं करता है, अपने श्रद्धान भाव को अति दृढ़ रखता है।

॥ श्लोक २४३ ॥

अदेवं देव उक्तं च, मूढ दृष्टिः प्रकीर्तितं।
अचेतं अशाश्वतं येन, त्यक्तये शुद्ध दृष्टितं॥

अन्वयार्थ – (अदेवं देव उक्तं च) जिनमें देवपना कुछ भी नहीं – ऐसे अदेव को जो देव कहते हैं सो (मूढदृष्टिः प्रकीर्तित) मूढ़ श्रद्धा कही गई है, (येन) क्योंकि (अचेत अशाश्वत) यह माने हुए अदेव अज्ञानी है व विनाशीक है (त्यक्तयं शुद्धदृष्टित) शुद्ध सम्यग्दृष्टि इनकी भक्ति नहीं करता है।

विशेषार्थ – पहले अदेव का स्वरूप कह चुके हैं। चार प्रकार भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और कल्पवासी जो संसारी रागी-द्वेषी देव हैं, इनमें से किसी को देव मानकर श्रद्धा रखनी सो कुदेव श्रद्धा है। इनके सिवाय गाय, घोडा, हाथी, बैल, गरुड, मोर, पीपल, तुलसी, बरगत, आम, आदि तिर्यंच गतिवाले अज्ञानी विनाशीक पर्यायधारी जीवों को अथवा कुम्हार का चाक, दुकान की देहली, मिट्टी का ढ़ेर, पाषाण का खण्ड आदि अजीव विनाशीक वस्तु को जिससे सच्चा देवपना अर्थात् सर्वज्ञ वीतरागपना या अरहंत-सिद्धपना कुछ भी न झलके, कोई ध्यानमय भाव नहीं प्रगट हो, उन्हें देव

मानना अदेव श्रद्धा है मूढ़ता है। यह भी देव मूढ़ता में गर्भित है। शुद्ध सम्यग्दृष्टि तो शुद्धात्मा के पद को प्राप्त जो अरहंत और सिद्ध भगवान हैं, उन ही को सुदेव मानेगा और उन ही की भक्ति करेगा सो भक्ति भी इसीलिये कि जिससे परिणामों में निर्मलता प्राप्त हो तथा अपने ही शुद्धात्मा की स्मृति हो जावे। सम्यग्दृष्टि व्यवहारनय से सकल और निकल परमात्मा जो अरहंत और सिद्ध हैं, उनकी गाढ़ श्रद्धा व भक्ति रखना है, अन्य किसी कुदेव या अदेव की नहीं।

।। श्लोक २४४ ।।

पाषंडी मूढ़ जानंते, पाषंडं भ्रम ये रताः।
परपंचं पुद्गलार्थं च, पाषंडिमूढ न संशयः।।

अन्वयार्थ – (पाषंडी जानंते) जे मूढ़ अज्ञानी आत्मज्ञान रहित साधु जाने जाते हैं (ये पाषंड भ्रमरताः) जो मिथ्यात्व भ्रम जाल में आसक्त हैं (पुद्गलार्थं परपंच च) जो इस शरीर के लिये ही सर्व प्रपंचजाल करते रहते हैं, उनको गुरु मानना (पाषंडमूढ़ न संशयः) पाखंड मूढ़ता है, इसमें कोई संशय नहीं है।

विशेषार्थ – सुगुरु-कुगुरु के स्वरूप में पाखंडी मूढ़ता का कथन आ चुका है। फिर भी ग्रंथकर्त्ता ने यहाँ शिष्यों को समझाया है कि परिग्रह रहित निर्ग्रंथ साधुओं के सिवाय और किसी साधु को अपना सच्चा पूज्यनीक गुरु न मानना चाहिये। जगत में अनेक साधु साधु के भेष में रहते हैं। न उनकी क्रिया ही मोक्षमार्गरूप है और न उनको शुद्धात्मा का ज्ञान ही है। जो स्वयं मिथ्यात्वभाव सहित हैं, जिनके संसार की लालसा छूटी नहीं है, जो परिग्रह व धन के लोभी इन्द्रिय के विषयों के लम्पटी हैं, स्वयं कुदेवों के व अदेवों के उपासक हैं और वैसा ही उपदेश अन्यों को देते हैं, जिनका जप-तप भजन आदि व अन्य उपदेशादि, विहारादि सर्व क्रियाओं का हेतु जगत का प्रपंच है, वे इस शरीर के लिए और आगामी शोभनीक विषय भोगने योग्य शरीर पाने के लिए ही मनमाना साधन करते रहते हैं। जिनके दिलों में हिंसा व अहिंसा का विचार भी नहीं है। गाँजा, चरस आदि नशे के पीने से जिनको ग्लानि नहीं है, इत्यादि प्रकार मोक्षमार्ग से विपरीत आत्मानुभव से शून्य साधु नामधारी साधुओं को साधु मान कर भक्ति करना, उनमें साधुपने की श्रद्धा रखनी, पाखण्डी मूढ़ता है। यह सम्यग्दृष्टि को प्रथम ही त्याज्य है।

।। श्लोक २४५ ।।

अनृतं अचेत उत्पादं, मिथ्या माया लोक रंजनं।
पाषंडि मूढ विश्वासं, नरये पतंति ते नरा।।

अन्वयार्थ – (अनृतं अचेत उत्पादं) **मिथ्यात्व व अज्ञान को ही वे उत्पन्न करनेवाले हैं। वे स्वयं** (मिथ्या माया लोक रंजनं) **मिथ्यात्व, मायाचार व लोगों को रंजायमान करने में लगे रहते हैं। जो कोई** (पाखंडि मूढ विश्वासं) **ऐसे मूढ१ साधुओं का विश्वास करते हैं** (ते नरा नरये पतंति) **वे मानव नरक में पड़ते हैं।**

विशेषार्थ – **कुगुरुओं की सेवा करने से सेवकों का मिथ्यात्व व अज्ञान और अधिक बढ़ जाता है, वे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति से बहुत दूर होते जाते हैं क्योंकि वे साधु स्वयं मिथ्यात्व-वासित है, संसारानुरागी है, विषय-भोगों में आसक्त हैं। वे जैसे स्वर्गादि में काम-भोग की चाह को रखकर साधुपना पालते हैं, वैसा ही वे दूसरों को उपदेश देते हैं। इनके दिलों में काम-भोग का लोभ स्वर्ग-सम्पदा का मोह उत्पन्न कर देते हैं। वे पाखंडी साधु मायाचार में फँसे रहते हैं। अपना साधुपना बताकर अंतरंग में साधु न रहते हुए भी लोगों से पूजा करवाते हैं और अपना खान-पान आदि का स्वार्थ सिद्ध करते हैं। उनकी प्रतिसमय यही चेष्टा रहती है कि हम लोगों को खुश रखें। उनके दिलों को राजी रखने के लिये नाना प्रकार रसीली कथाएँ रच-रचकर सुनाते हैं। मूढ़ता से भरा गाना कराते हैं। ऐसे साधु जिनके पास न वैराग्य है, न संयम है, न आत्मज्ञान है, न मोक्ष की भावना है, मात्र संसार को बढ़ानेवाली पाषाण की नाव के समान हैं, जो आप भी डूबेगें व दूसरों को भी डुबायेंगे। जो अज्ञानी ऐसे पाखंडी साधुओं को सच्चा गुरु मान कर उनके विश्वास में फँस जाते हैं, वे स्वयं मिथ्यात्व-पोषक व विषय-लम्पटी व परिग्रह के पिपासु बनकर नरक आयु को बाँधकर नरक चल जाते हैं।**

॥ श्लोक २४६ ॥

पाषंडि वचन विश्वासं, समय मिथ्या प्रकाशनं।
जिनद्रोही दुर्बुद्धि ये, स्थानं तस्य न जायते॥

अन्वयार्थ – (पाषंडी वचन विश्वासं) **पाखंडी साधुओं के वचनों का विश्वास करना** (समय मिथ्या प्रकाशन) **मिथ्या आगम या मत का प्रकाश करना है** (ये जिनद्रोही दुर्बुद्धी) **जो पाखंडी साधु जिनेन्द्र के अनेकांत मत के शत्रु हैं व मिथ्या दुष्ट बुद्धि को रखनेवाले हैं** (तस्य स्थानं न जायते) **ऐसे पाखंडी साधु के स्थान में भी जाना उचित नहीं है।**

विशेषार्थ – **पाखंडी साधुओं ने बहुत से मिथ्या शास्त्र बना दिये हैं, जिनमें मिथ्यात्व को व राग-द्वेष को व हिंसा को पोषण किया है, उनके वचनों पर विश्वास करना कभी उचित नहीं है।**

जिनेन्द्र का आगम स्याद्वादि नय से जैसा पदार्थ अनेकांत स्वरूप है, वैसा ही झलकानेवाला है तथा ज्ञान-वैराग्य का प्रकाश करनेवाला है, आत्मा को सुख-शांति के मार्ग में लगानेवाला है। संयम

की दृढ़ता करानेवाला है। ऐसे आगम का विरोधी वचन पाखंडी साधुओं का होता है, वे एकांत को पुष्ट करते हैं, आत्मीक आनन्द के उपवन में जाने से रोकते हैं, विषय-कषाय में लगा देते हैं, इसलिये वे जिन-द्रोही हैं तथा उनकी बुद्धि भी सरल मंगलकारी नहीं है, वे दुष्ट बुद्धि रखते हुए आप भी कुमार्ग में चलते हैं और अपने भक्तों को भी कुमार्ग पर चलाते हैं। ऐसे पाखंडी साधुओं के स्थानों पर ही न जाना चाहिये, न उनकी संगति करनी चाहिये। संगति का भी बड़ा असर होता है। सच्चे साधुओं की संगति मंगलकारी है, आत्मोन्नति के मार्ग में प्रेरित करनेवाली है तब स्वयं आत्मज्ञान-शून्य इंद्रिय सुख के लोलुपी साधुओं की संगति संसार के ही मार्ग की दृढ़ता करानेवाली है व इस मानव जन्म को निरर्थक व पाप का भार बनानेवाली है, अतएव खोटे साधु के संग से बचना ही श्रेष्ठ है।

॥ श्लोक २४७ ॥

पाखंडि कुमति अज्ञानी, कुलिंगी जिन लोपनं।
जिन लिंगी मिश्रेण यः, जिनद्रोही ज्ञानलोपनं॥

अन्वयार्थ – (पाषंडी) **पाखंडी साधु** (कुमति अज्ञानी) **कुमति व कुश्रुत का धारी है** (कुलिंगी) **मिथ्या भेषी है** (जिन लोपन) **जिनेन्द्र के स्वरूप को लोपनेवाला है** (य) **जो** (जिन लिंगी मिश्रेण) **जिन लिंगी के साथ अपने को मिला कर अर्थात् जिन लिंगी दिखा कर** (जिनद्रोही) **जिन भगवान का द्रोही होता हुआ** (ज्ञानलोपन) **सम्यग्ज्ञान को छिपानेवाला है।**

विशेषार्थ – **यहाँ पर यह दिखलाया है कि जो जिन भेषी नहीं हैं अर्थात् परिग्रह धारी साधु हैं, उनके कुमति-कुश्रुत ज्ञान होता ही है। वे तो जिनेंद्र भगवान के मत को लोपनेवाले हैं ही, परन्तु जो अपने को जिन भेषी सरीखा मानते हैं, कुछ परिग्रह रख कर भी अपने को जैन साधु मानते हैं या परिग्रह त्याग करके नग्न होकर भी अपने को जैन साधु मानते हैं, परंतु जिनेन्द्र की आज्ञानुसार तत्त्वों का न अनुभव करते हैं, न यथार्थ तत्वों का उपदेश करते हैं, वे भी जिनद्रोही हैं। वे सम्यग्ज्ञान का लोप करनेवाले हैं। कोई-कोई जैन साधु का भेष धारण करके भी तत्वज्ञान से शून्य होते हुए व किसी ख्याति-पूजा-लाभादि के हेतु से मुनि का चारित्र पालते हुए मात्र भक्ति कराने में लीन हैं, गृहस्थों को रुचे – ऐसा ही उपदेश देनेवाले हैं। उनको व्यवहार पूजा-पाठ में ही उलझाए रखते हैं, आध्यात्मिक ज्ञान की तरफ नहीं ले जाते हैं, किन्तु मना करते हैं कि आत्मा की कथनी गृहस्थ को पढनी योग्य नहीं है। वे स्वयं भी आत्मानुभव न करते हुए कषाय का ही पोषण करते हैं और दूसरों को भी कषाय पोषण का मार्ग दिखाते है। निश्चय सम्यग्दर्शन के लाभ से स्वयं भी दूर हैं और दूसरों**

को भी दूर रखते हैं – ऐसे जिनभेषी साधु भी हितकारी नहीं हैं। वे जिन लिंगी बन कर भी श्री जिनेन्द्र के मार्ग का लोप करनेवाले हैं – ऐसों की संगति भी हितकारी नहीं है।

॥ श्लोक २४८ ॥

पाखंडी उक्त मिथ्यात्वं, वचनं विश्वास क्रीयते।
त्यक्तते शुद्ध दृष्टी च, दर्शनं मल विमुक्तयं॥

अन्वयार्थ – (पाखंडी उक्त मिथ्यात्वं) पाखंडी भेषी साधुओं के द्वारा कहे हुए मिथ्यात्व पोषक (वचन) वचनों का (विश्वासं क्रीयते) विश्वास किये जाने पर (शुद्ध दृष्टि च त्यक्तते) शुद्ध आत्मीक दृष्टि का त्याग हो जाता है (मल विमुक्तय दर्शनं) मल रहित सम्यग्दर्शन नहीं रहता है।

विशेषार्थ – जिन शास्त्रों के रचनेवाले निर्ग्रंथ वीतरागी साधु न हों, किन्तु सरागी भेषी एकांती साधु हों, उन शास्त्रों में जो उपदेश होगा, वह मोक्षमार्ग से विपरीत राग पोषक आत्मानुभव से विपरीत होगा। उन शास्त्रों को पढने से शिथिल श्रद्धान बिगड़ सकता है तथा ऐसे पाखंडी साधुओं का उपदेश सुनना भी उचित नहीं है, क्योंकि वे भी सम्यक्‌श्रद्धान में जो पक्के नहीं हैं, उन्हें गिरा सकते हैं। शुद्ध आत्मीक दृष्टि ही सम्यग्दर्शन है। जहाँ एक आत्मीक आनन्द की गाढ़ रुचि पायी जावे, संसार-शरीर भोगों से पूर्णतया वैराग्य हो – ऐसी रुचि जिन वचनों के सुनने से जाती रहे, उनको न सुनना ही, न पढना ही हितकर है। सम्यग्दर्शन के अतिचारों में यह बात बता चुके हैं कि कुगुरु और उनके भक्तों की संगति करना अनायतन है, धर्म की प्राप्ति का ठिकाना न होकर धर्म से शिथिल करनेवाला है। जैसे अपने पास रत्न हो तो उसकी रक्षा भलेप्रकार करना उचित है, उसीतरह बडी कठिनता से प्राप्त जो सम्यग्दर्शन उसकी रक्षा भलेप्रकार कर्तव्य है। संगति का बडा भारी असर होता है। इसलिये सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञानी वीतरागी साधुओं की संगति करना ही उचित है। इसी से सम्यक्त्व को मजबूती प्राप्त होगी व आत्मभावना दृढ होगी व संसार से वैराग्य बना रहेगा।

॥ श्लोक २४९ ॥

मदाष्टं मान सम्बंधं, शंकादि अष्ट विमुक्तयं।
दर्शने मल न दिष्टंते, शुद्ध दृष्टिं समाचरतु॥

अन्वयार्थ – (मान सम्बंधं मदाष्टं) मान कषाय सम्बन्धी आठ प्रकार का मद व (शंकादि अष्ट विमुक्तय) व आठ शंकादि दोष से रहित (दर्शने मल न दिष्टंते) सम्यग्दर्शन में कोई भी मैल न दिखलाई पडे – ऐसे (शुद्ध दृष्टिं समाचरतु) शुद्ध सम्यग्दर्शन का आचरण करना उचित है।

विशेषार्थ – गृहस्थ श्रावक को रत्नत्रय के आचरण में प्रथम सम्यग्दर्शन के आचरण का उपदेश है। इस दर्शनाचार में यही उचित है कि २५ दोषों को न लगाता हुआ सम्यक्त्व की दृढ़ता जिस तरह रहे, उसतरह वर्तन करें। श्रद्धान कभी शिथिल न होने पावे, किन्तु दिन पर दिन दृढ़ होता चला जावे – ऐसा उद्यम रखना योग्य है। २५ दोषों का वर्णन पहले कर आए हैं। जाति, कुल, धन, अधिकार, रूप, तप, बल व विद्या – इन आठ प्रकार की शक्तियों के होते हुए भी अभिमान नहीं करना चाहिये। जो परवस्तु को या क्षणभंगुर पदार्थ को अपनी मानेगा वही मान करेगा। सम्यक्त्वी तो सिवाय अपनी शुद्ध आत्मा के और किसी को अपनी नहीं मानता, इससे उसके धनादि का कभी भी मान नहीं होता है। वह सदा अनित्य भावना भाता हुआ इनकी तरफ से उदासीन भाव ही रखता है। इसी तरह आठ शंकादि दोष भी नहीं लगाता है। वह निर्भय होकर निःशंक दृढ़ श्रद्धालु होकर धार्मिक क्रियाओं को पालता है। विषय-भोगों की अभिलाषा करके कांक्षा दोष नहीं लगाता है। रोगी-दुःखी मानवों व पशुओं को देखकर घृणा नहीं करता है। मूढता से कोई धर्मक्रिया को नहीं करता है। धर्मात्माओं के कर्म-उदय से लगे हुए दोषों को ढूँढ-ढूँढकर उनकी निंदा नहीं करता है, आपको व पर को धर्म में स्थिर रखता है। धर्मात्माओं से गो-वत्स-सम प्रीति रखता है। धर्म की उन्नति में सदा उत्साही रहता है। लोक मूढता, देव मूढता व पाखण्ड मूढता से बचता है। कुदेव, कुगुरु, कुधर्म और उनके भक्तों की गाढ़ संगति नहीं करता है। इसतरह २५ दोषों को बचाकर निर्मल सम्यक्त्व का आचरण पालता है। व्यवहार धर्म की ऐसी क्रियाओं को पालना, जिनसे श्रद्धान दृढ रहे यही सम्यक्त्व का आचरण है। जैसे श्री जिनेन्द्र भगवान की पूजा, भक्ति, स्तुति, वंदना, गुरुओं के द्वारा उपदेश श्रवण, शास्त्रों का भलेप्रकार स्वाध्याय करना, सवेरे-सांझ आत्मा के मनन के लिये सामायिक का अभ्यास रखना। इत्यादि कार्य करते रहना चाहिये, तब ही सम्यक्त्व दृढ़ रह सकेगा।

॥ श्लोक २५० ॥

ज्ञानं तत्यानि वेदंते, शुद्ध समय प्रकाशकं।
शुद्धात्मानं तीर्थं शुद्धं, ज्ञानं ज्ञान प्रयोजनं॥

अन्वयार्थ – (ज्ञानं तत्यानि वेदंते) ज्ञान वही है, जो जीवादि सात तत्वों को अनुभव करावे (शुद्ध समय प्रकाशकं) जो शुद्ध निर्दोष पदार्थों का व शास्त्र सम्बन्धी विषयों का प्रकाशक हो (शुद्धात्मानं शुद्धं तीर्थं) तथा शुद्ध तीर्थस्वरूप शुद्धात्मा का झलकानेवाला हो (ज्ञानं ज्ञान प्रयोजनं) ज्ञान से ज्ञान की उन्नति का ही प्रयोजन हो, वही ज्ञानाचार है।

विशेषार्थ – अब सम्यग्ज्ञानाचार को कहते हैं। सम्यग्ज्ञान वही है, जो जीवादि सात तत्वों को

यथार्थ बतावे तथा निर्दोष वस्तु स्वभाव बतावे व मुनि-श्रावक का यथार्थ आचरण बतावे, लोकालोक का ठीक स्वरूप समझावे, महान पुरुषों के जीवन-चरित्रों को यथार्थ बतावे। अर्थात् जो यथार्थ रूप से प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग व द्रव्यानुयोग रूप हो। इन चार अनुयोगों के प्रकाशक यथार्थ ज्ञान के दाता शास्त्रों का पढ़ना, सुनना सम्यग्ज्ञान का आचरण है। मुख्य अभिप्राय शास्त्रज्ञान का यही है कि संसार तारक शुद्ध आत्मा का अनुभव प्राप्त हो। स्वात्मानुभव ही मोक्षमार्ग है या तीर्थ है। सम्यग्ज्ञान का या स्वसंवेदन ज्ञान का आचरण ही ज्ञान की वृद्धि का कारण है, यही केवलज्ञान का द्योतक है। अतएव अतिशय प्रेम करके आत्मज्ञान की वृद्धिकारक शास्त्रों का पठन-पाठन रखते हुए ज्ञानाचार का पालन करना उचित है।

॥ श्लोक २५१ ॥

ज्ञानेन ज्ञानमालम्ब्यं, पंच दीप्ति परस्थितं।
उत्पन्नं केवलज्ञानं, सार्धं शुद्धं दिष्टितं॥

अन्वयार्थ – (ज्ञानेन) सम्यग्ज्ञान या श्रुतज्ञान के द्वारा (ज्ञानं) आत्मज्ञान को (आलम्ब्यं) दृढ़ करना चाहिये, जिससे (पंच दीप्ति परस्थितं) पंच प्रकार ज्ञानों के भीतर श्रेष्ठ रूप से स्थित जो (केवलज्ञानं) केवलज्ञान सो (उप्तन्नं) पैदा हो जावे। और (सार्धं) साथ ही (शुद्धं दृष्टितं) शुद्ध आत्मीक प्रत्यक्ष दर्शन हो जावे।

विशेषार्थ – शास्त्र ज्ञान का भलेप्रकार अभ्यास ऐसा करना चाहिये जिससे आत्मा व अनात्मा का दृढ़ ज्ञान संशय रहित हो जावे, भेद-विज्ञान पैदा हो जावे। भीतर से ऐसा झलक जावे कि मेरा आत्मा वास्तव में सर्व राग-द्वेषादि विकारों से व ज्ञानावरणादि कर्म मलों से व शरीरादि से रहित है। ऐसा भेदज्ञान होने पर जब इसी की भावना बारबार की जाती है और आत्मा का अनुभव किया जाता है, तब जितना-जितना आत्मध्यान बढ़ता है, उतना-उतना ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान की शक्ति बढती जाती है। इसी आत्मध्यान की योग्यता से संपूर्ण द्वादशांग का ज्ञान हो जाता हैं, आत्मा श्रुतकेवली हो जाता है, अनेक ऋद्धियाँ सिद्ध हो जाती हैं, शुद्ध आत्मीक ज्ञान की भावना करते रहने से अवधिज्ञान की दीप्ति व मनःपर्यय ज्ञान की दीप्ति भी चमक जाती है। जिन ज्ञानों के प्रभाव से सूक्ष्म रूपी पदार्थों का ज्ञान होने लगता है तथा उसी आत्मध्यान से उन्नति करते-करते जब यह ध्यान शुक्लध्यान के रूप में हो जाता है, एकाग्र शुद्धोपयोग हो जाता है, तब वही ज्ञान केवलज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है। अर्थात् पाँच प्रकार के ज्ञानावरणीय कर्म का नाश हो जाता है और केवलज्ञान प्रकाशमान हो जाता है। यह केवलज्ञान सर्व ज्ञानों में श्रेष्ठ है। इसके प्रगट

होते हुए अन्य चार ज्ञानों की जरूरत नहीं रहती है। यह केवलज्ञान सर्व द्रव्यों को और सर्व द्रव्यों की सर्व पर्यायों को एक साथ जान लेता है। साथ ही निजात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन जो अबतक न था, सो हो जाता है। श्रुतज्ञान से शुद्धात्मा का अनुभव यद्यपि स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष है, तथापि शास्त्र बल पर खड़ा हुआ परोक्ष ही है। जब केवलज्ञान का प्रकाश हो जाता है, तब प्रत्यक्ष शुद्ध आत्मा का यथार्थ अनुभव हो जाता है, निरालम्ब केवल आत्मबोध हो जाता है। इसलिये उपासक को नित्य ही सम्यग्ज्ञान की आराधना करते रहना चाहिये।

॥ श्लोक २५२ ॥

ज्ञानं लोचन भव्यस्य, जिनोक्तं सार्थ ध्रुवं।
सुये तत्वानि विज्ञानं, शुद्ध दृष्टिः समाचरतु॥

अन्वयार्थ – (भव्यस्य) **भव्य जीव की** (लोचन) **आँख** (ज्ञानं) **ज्ञान है। जो** (सार्थ ध्रुवं) **यथार्थ है निश्चल है** (जिनोक्तं) **ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है।** (शुद्ध दृष्टिः) **सम्यग्दृष्टि जीव** (सूये) **श्रुतज्ञान के द्वारा** (तत्वानि विज्ञानं समाचरतु) **तत्वों का विशेष ज्ञान प्राप्त करें।**

विशेषार्थ – **भव्यजीव जगत के पदार्थों को ज्ञानरूपी आँख से देखता है, जो अंतरंग में प्रकाशमान रहती है। दोनों आँखें तो मात्र रूपी स्थूल पदार्थों को ही जो वर्तमान में सामने हैं, उन हीं को देख सकती हैं, परन्तु शास्त्र ज्ञान से प्राप्त हुई सम्यग्ज्ञान की आँख सर्व पदार्थों को यथार्थ देख लेती है। जैसे पदार्थ जगत में यथार्थ हैं, उनको वैसा ही ठीक-ठीक जान लेना ही ज्ञान लोचन का कार्य है – ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। जहाँ तक केवलज्ञान का लाभ न हो, वहाँ तक सम्यग्दृष्टि को उचित है कि शास्त्रों का अभ्यास करते हुए तत्वों का विशेष ज्ञान बढाता रहे। शास्त्र समुद्र अगाध है, नित्य अभ्यास करते हुए भी १०० वर्ष का जीवनवाला मानव बहुत थोडा ही पार पा सकता है। तो भी एक श्रावक का मुख्य कर्तव्य है कि शास्त्रों का मनन करता हुआ ज्ञान का आचरण करता रहे। ज्ञानाचार ही आत्मा की भावना दृढ़ रखने को बड़ा भारी आलम्बन है।**

श्री मूलाचार में ज्ञानाचार का स्वरूप कहा है –

जेन तच्चं वि वुज्झेज्ज जेण णिरुज्झदि। जेण अत्ता विसुज्झेज्ज त णाणं जिणसासणो॥७०॥
जेण रागा विरज्जेज्ज जेण चित्तं माएसु रज्जदि। जेण मित्ती प्रभावेज्ज तं णाण जिणसासणे॥७१॥

भावार्थ – **जिसके द्वारा तत्वों का यथार्थ ज्ञान हो, जिसके द्वारा मन के व्यापार का निरोध हो, जिससे आत्मा रागादि रहित वीतराग हो, वही जिनशासन में ज्ञानाचार कहा गया है। जिससे यह जीव रागादि विकारों से वैरागी हो, जिससे अपने निर्वाण के भीतर अनुरागी हो, जिससे प्राणी मात्र में**

मैत्रीभाव बढ़ जावे, वही जिनशासन में ज्ञानाचार है।

इसप्रकार ज्ञान का महात्म्य जानकर भव्य जीव को उचित है कि योग्य काल में विनय पूर्वक चित्त को समाधान करके ज्ञान की आराधना करे। ज्ञानाभ्यास जीवन को सदा आनन्द प्रदान करनेवाला न चिंताओं को मेटनेवाला है।

॥ श्लोक २५३ ॥

आचरणं स्थिरीभूतं, शुद्ध तत्व ति अर्थकं।
ॐ वंकारं च विंदंते, तिष्ठते शाश्वतं पदं॥

अन्वयार्थ – (शुद्ध तत्व ति अर्थकं स्थिरीभूतं) **शुद्ध आत्मीक तत्व में जो तीन गुणों का अर्थात् रत्नत्रय का स्थिर हो जाना सो** (आचरणं) **सम्यक्चारित्र है। जहाँ** (ॐ वंकारं च विंदन्ते) **ॐ में गर्भित परमात्मा का अनुभव होता है, जो** (शाश्वतं पदं तिष्ठते) **अविनाशी पद में विद्यमान है।**

विशेषार्थ – **पहले दर्शनाचार व ज्ञानाचार को कह चुके हैं, अब चारित्राचार को कहते हैं। निश्चय सम्यक्चारित्र का यही स्वरूप है, जो अपने ही शुद्ध आत्मस्वरूप में उपयोग को जमा दिया जाय। यह आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र स्वरूप है। आत्मा का अनुभव करते हुए तीनों गुणों की एकता में परिणति जम जाती है, यही साक्षात् मोक्षमार्ग है। ॐकार को नमस्कार किया जाता है, क्योंकि उससे पाँच परमेष्ठी में गर्भित शुद्धात्मा का संकेत होता है। उसी शुद्धात्मा का अनुभव स्वानुभव में होता है। शुद्धात्मा का शुद्धात्मा रूप रहना यही अविनाशी पद है। यहाँ यह दिखलाया है कि श्रावक को भी इस निश्चय सम्यक्चारित्र का अभ्यास करना चाहिये। सम्यग्दृष्टि का मुख्य कर्तव्य है कि निज आत्मा की भावना करे।यद्यपि यह आत्मा कर्मों से लिप्त अशुद्ध है, तथापि इसको शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि से कर्मों से अलग करके देख लेना चाहिये। जैसे विवेकी मानव रंग से मिले पानी में पानी को रंग से भिन्न देखता है। तेली तिलों में भूसी से भिन्न तेल को देखता है। धान्य में चावल और छिलका मिला है तो भी पहचानने वाला चावल को छिलकों से भिन्न देखता है। म्यान में तलवार है, उसे चाँदी की तलवार चाँदी की म्यान होने के कारण से कहते हैं, तथापि समझदार चाँदी की म्यान को अलग और तलवार को अलग देखता है। उसी तरह भेद-विज्ञानी सम्यग्दृष्टि महात्मा आत्मा को अलग और कर्म-प्रपंच को अलग देखता है। इस शुद्ध नय की दृष्टि से बुद्धि-बल से अपने आत्मा को शुद्ध रूप ठहरा करके उसमें स्थिरता करना ही निश्चय सम्यक्चारित्र है, इसी का अभ्यास हितकारी है।**

॥ श्लोक २५४-२५५ ॥

आचरणं त्रिविधं प्रोक्तं, सम्यक्तं संयमं ध्रुवं।
प्रथमं सम्यक्तचरणस्य, अस्थिरीभूतस्य संयमं।।
चारित्रं संयमं चरणं, शुद्ध तत्त्व निरीक्षणं।
आचरणं अबंध्यं दिष्टं, सार्थं शुद्ध दृष्टितं।।

अन्वयार्थ – (आचरणं द्विविधं प्रोक्तं) **आचरण दो प्रकार का कहा गया है** (सम्यक्तं संयमं ध्रुवं) **एक सम्यक्त्व** आचरण, दूसरा **निश्चल संयम आचरण** (प्रथमं अस्थिरीभूतस्य सम्यक्तचरणस्य संयमं) **प्रथम जो** सम्यक्त आचरण है, वह श्रद्धान में स्थिर होकर भी चारित्र अपेक्षा चंचल रूप है। उस **चंचलपने** को मेटकर स्थिर होना सो संयम है (संयमं चरणं चारित्रं) **ऐसे संयम भाव में चर्या करना सो दूसरा** संयम आचरण या सम्यकचारित्र है। जहाँ (शुद्ध तत्त्व निरीक्षणं) शुद्ध आत्मीक तत्व का ही अनुभव होता है, वही (आचरणं अबंध्यं दिष्टं) **आचरण सफल देखा जाता है वही** (सार्थं शुद्ध दृष्टितं) यथार्थ शुद्धात्मा का दर्शन है।

विशेषार्थ – **यहाँ निश्चयनय की अपेक्षा लेकर के भी व्यवहारनय से चारित्र के दो भेद बताये हैं – एक दर्शनाचरण, दूसरा संयमाचरण। मैं शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा आनन्दमयी एक पदार्थ हूँ, राग-द्वेषादि से भिन्न हूँ – ऐसा जो श्रद्धान उसमें स्थिर होना सो सम्यक्‌दर्शन का आचरण है, अर्थात् अपने आत्मा के स्वरूप का यथार्थ निश्चय, जिसमें कोई शंका न रहे, वही दर्शनाचार है। वह सम्यक्ती इस बात को जानता है कि मेरा आत्मद्रव्य पर्याय की दृष्टि से वर्तमान में अशुद्ध हो रहा है, कर्म बन्ध सहित है तो भी यह आत्मा अपने द्रव्य स्वभाव की अपेक्षा से शुद्ध है। इसका स्वभाव अनादिकाल से कर्मों के साथ रहते हुए भी चला नहीं गया है। जैसे सोना दीर्घकाल से पाषाण से मिला है, तो भी सुवर्ण ने अपना सुवर्णपना नहीं त्यागा, वैसे निगोद पर्याय से लेकर इस मनुष्य पर्याय में आते हुए अनंतभव धारण करते हुए भी इस आत्मा ने अपना आत्मपना कभी ही नहीं त्यागा। ऐसे अपने सच्चे आत्म-स्वरूप का दृढ़ निश्चय रखना सो सम्यक्त्व आचरण है। यह स्वरूप-स्थिरतारूप नहीं है, मात्र श्रद्धारूप है। जब उपयोग अनेक पदार्थों से हटकर इस निश्चय किये हुए अपने ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप में एकाग्र हो जाता है, तब संयमाचरण प्राप्त हो जाता है। तब उपयोगरूप मन के संकल्प-विकल्पों से व इंद्रिय द्वारा जानने के कार्य से छूटकर अपने ही स्वामी उपयोगवान आत्मा में उसी तरह लय हो जाता है, जैसे नमक की डली खारे पानी में लय हो जाती है। शुद्धात्मा के अनुभव में स्थिरता पाना ही संयमाचरण है। यहीं शुद्धात्मा का दर्शन होता है। यहीं आचरण की सफलता प्राप्त होती है। यदि कोई बाहरी पाँच**

अणुव्रत या महाव्रत पालता है – उपवास, व्रत, जप, तप करता है, घंटों आसन लगाता है, ऊनोदर आदि रस-परित्यागादि तप करता है, परंतु शुद्धात्मा में स्थिरता नहीं पाता है तो उसका आचरण सफल नहीं है। परंतु यदि अपने शुद्ध आत्मा के अनुभव में ठहर जावे तो यह चारित्र सफल है। जहाँ स्वरूपाचरण चारित्र है, वहीं शुद्धात्मीक दृष्टि है। यही परम मंगलकारी है। यही कर्मों के बंध का संहार करनेवाली है। यही बार-बार आराधने योग्य है। यही धर्मध्यान है व यही शुक्लध्यान का नाम पाती है। तत्वानुशासन में कहा है –

न हीन्द्रियधिया दृश्य रूपादि रहितत्वत । वितर्कास्तत्र पश्यंति ते ह्यविस्पष्टतर्कणाः ।।१६६।।
उभयस्मिन्निरुद्धे तु स्याद्विस्पष्टमतीन्द्रियं । स्वसंवेदन हि तद्रूप स्वसवित्त्यैव दृश्यता।।१६७।।

भावार्थ – यह शुद्धात्मा इंद्रिय ज्ञान से नहीं देखा जा सकता है, क्योंकि इंद्रियाँ रूपी पदार्थ को देखती हैं, परन्तु यह आत्मा रूपादि से रहित अमूर्तीक है। और न मन के वितर्क या विचार आत्मा को देख सकते हैं, क्योंकि वे सर्व तर्कनाएँ स्पष्ट व स्थिर नहीं हैं। जब इन्द्रिय ज्ञान व मन के संकल्प-विकल्प दोनों रोक दिये जाते हैं, तब विशेष स्पष्ट साफ-साफ इंद्रिय रहित अतीन्द्रिय अपना स्वरूप जो अपने से ही अनुभव करने योग्य है, अनुभव में आता है। उसी को स्वानुभव के द्वारा ही अनुभव करना चाहिये, देखना चाहिये, यही यथार्थ सम्यक्चारित्र है, हरएक गृहस्थ श्रावक को इसका अभ्यास करना योग्य है।

।। दान का स्वरूप ।।

।। श्लोक २५६ ।।

पात्रं त्रिविधि जानंते, दानं तस्य सुभावना।
जिनरूपी उत्कृष्टं च, अव्रतं जघनं भवेत्।।

अन्वयार्थ – (त्रिविधि पात्र जानंते) पात्र तीन प्रकार जानने चाहिये (सुभावना तस्य दानं) शुभ भावों से उनको दान करना चाहिये (उत्कृष्टं च जिनरूपी) जो तीर्थंकर के समान नग्न दिगम्बर रूप के धारी निर्ग्रंथ मुनि हैं, वे उत्कृष्ट पात्र हैं, (अव्रतं जघनं भवेत्) जो व्रत रहित सम्यग्दृष्टी हैं, वे जघन्य पात्र हैं।

विशेषार्थ – अब यहाँ यह बताते हैं कि गृहस्थों को दान करना बहुत जरूरी है। गृहस्थों का दान धर्म मार्ग का चलानेवाला है। दान का लक्षण कहा है – "अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानं" अपना और दूसरे का उपकार हो, इसलिये अपने धनादि का त्याग करना सो दान है। अपना उपकार तो लोभ का त्याग होना व मंद कषाय से पुण्य का लाभ होना है व दान लेनेवाले पात्र का धर्म साधन व धर्म में

अनुराग बढ़ता है। धर्म की उन्नति गृहस्थों के आधीन है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साधक तीन प्रकार के पात्र होते हैं, उनको भक्तिपूर्वक दान करना उचित है। उत्तम पात्र जिनरूपी हैं अर्थात् निर्ग्रंथ साधु परिग्रह-त्यागी हैं। मध्यम पात्र व्रत पालनेवाले श्रावक हैं। जघन्य पात्र बाहरी प्रतिज्ञारूप बारह व्रत रहित सम्यग्दृष्टि हैं। इनकी यथायोग्य भक्ति करके बहुत ही श्रद्धा व उत्साह पूर्ण भावों से आहारादि का दान करना चाहिये। दान देते हुए अपने को धन्य मानना चाहिये। दातार का यह भाव रहना चाहिये कि मेरे निमित्त से यदि धर्मात्माओं के धर्मसाधन में स्थिरता न हुई तो मेरा धन निरर्थक है। मेरे गृहस्थपने की शोभा ही दान से है। नित्य मुझे दान किये बिना अन्न नहीं खाना चाहिये।

॥ श्लोक २५७ ॥

उत्तमं जिनरूवं च, जिन उक्तं समाचरति।
ति अर्थं जोयते येन, ऊर्ध अर्धं च मध्यमं।

अन्वयार्थ – (उत्तमं जिनरूवं च) **उत्तम पात्र जिनरूपी निर्ग्रंथ साधु हैं, जो** (जिन उक्तं समाचरति) **जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा प्रमाण चारित्र को पालते हैं,** (येन) **जिसने** (ति अर्थं जोयते) **तीनों तत्व सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अनुभव किया है तथा जो** (उर्ध अर्धं च मध्यमं) **ऊर्ध्व लोक, अधोलोक व मध्य लोक का स्वरूप जानते हैं।**

विशेषार्थ – **यहाँ उत्तम पात्र का स्वरूप कहते हैं। मुनि महाराज उत्तम पात्र हैं। वे जिन आगम के अनुसार अपना चारित्र भलेप्रकार पालते हैं। पाँच महाव्रत, पाँच समति व तीन गुप्ति के पालक हैं तथा जो निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय के स्वरूप को यथार्थ जान करके व्यवहार रत्नत्रय का यथायोग्य साधन करते हुए निश्चय रत्नत्रयमयी आत्मानुभव के अभ्यासी हैं। जिन्होंने श्रुतज्ञान के द्वारा तीन लोक का स्वरूप जाना है, छह द्रव्यों के गुण-पर्यायों को पहचाना है। सार समुच्चय में कहा है –**

संगादिरहिता धीरा रागादिमलवर्जिताः। शांता दांतास्तपोभूषा मुक्तिकांक्षणतत्पराः॥१९६॥
मनोवाक्कायोगेषु प्रणिधानपरायणाः। वृत्ताढ्या ध्यानसम्पन्नास्ते पात्रं करुणापराः॥१९७॥
धृतिभावनया युक्ता शुभभावनयान्विताः। तत्वार्थाहितचेतस्कास्ते पात्रं दातुरुत्तमाः॥१९८॥

भावार्थ – **जो परिग्रहादि से रहित हैं, धीर हैं, रागादि मलों से वर्जित हैं, शांत हैं, इंद्रियदमनशील हैं, तप आभूषण के धारी हैं, मोक्ष की भावना में तत्पर हैं, मन-वचन-काय की एकता में लीन हैं, चारित्रवान हैं, ध्यानी हैं, दयावान हैं, धैर्यवान हैं, शुभ भावना के कर्ता हैं, तत्वों के भीतर जिनका चित्त लीन हैं, वे ही उत्तम पात्र दातार के लिये दानयोग्य हैं।**

॥ श्लोक २५८ ॥

षट् कमलं त्रि ॐकारं, ध्यानं ध्यायति सदा बुधैः।
पंचदीप्तिं च विंदंते, स्वात्मादर्शन दर्शनं॥

अन्वयार्थ – (बुधैः सदा षट् कमलं त्रि ॐकारं ध्यानं ध्यायति) **विद्वान उत्तम पात्र साधुओं के द्वारा सदा छह बीजाक्षर और तीन ॐको कमल में स्थापित करके ध्यान का अभ्यास किया जाता है।** (पंचदीप्तिं च विंदंते) **इसी से वे पाँचों ज्ञानों का प्रकाश करते हैं तथा** (स्वात्मादर्शन दर्शनं) **अपने आत्मा के दर्शनरूपी दर्शन को प्राप्त करते हैं।**

विशेषार्थ – **यहाँ षट् कमल त्रिॐकार का कोई खुलासा नहीं है, इसमें जैसा समझा वैसा हम पहले ही लिख चुके हैं कि एक कमल हृदयस्थान में आठ पत्ते का विचार किया जाय। बीच में ॐ लिख कर फिर ॐ पाँच पत्तों पर ह्रां, ह्रीं, ह्रूं, ह्रौं, ह्रः लिखें। तीन पत्तों पर ॐ सम्यग्दर्शनाय नमः, ॐ सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः लिखे और क्रमशः नौ स्थानों पर ध्यान जमावे और हर एक के द्वारा शुद्धात्मा का स्वरूप विचारा जावे व अपने आत्मा की तरफ आ जावे अथवा ऐसा भी ध्यान किया जा सकता है कि इसी आठ पत्ते के कमल के ऊपर बीच में ॐ विराजमान करके पाँच पत्तों पर णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं लिखें। फिर तीनों पत्तों पर ॐ सम्यग्दर्शनाय नमः, ॐ सम्यग्ज्ञानाय नमः, ॐ सम्यक्चारित्राय नमः लिखें। और हरएक को भिन्न-भिन्न कर स्वरूप विचारा जावे। यह पदस्थ ध्यान का एक प्रकार है। इससे चित्त की एकाग्रता होती है, संकल्प-विकल्प हटते हैं, तब ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम विशेष होता है, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान बढता जाता है। इसी ध्यान के बल से शुद्धात्मा का अनुभवरूप आत्मदर्शन होने लगता है। उसके प्रताप से साधु के अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान तथा अंत में केवलज्ञान का भी प्रकाश हो जाता है। अरहंत पद पाने का उपाय मात्र आत्मध्यान है, जिसे श्री मुनिगण ध्याते हैं, वे ही उत्तम पात्र हैं।**

॥ श्लोक २५९ ॥

अवधिं येन संपूर्णं, रिजु विपुलं च दिष्टते।
मनपर्यय केवलज्ञान जिनरूपं उत्तमं बुधैः॥

अन्वयार्थ – (येन) **जिस उत्तम मुनि के चारित्र के द्वारा** (संपूर्णं अवधिं) **परमावधि सर्वावधि ज्ञान** (रिजु विपुलं च मनपर्यय) **रिजु व विपुल मती मनःपर्यय ज्ञान** (केवलज्ञानं दिष्टते) **और केवलज्ञान**

प्रकाशित होता है, वही (जिनरूपं) जिनेन्द्र का निर्ग्रंथ रूप (बुधैः) आचार्यों के द्वारा (उत्तम) उत्तम कहा गया है।

विशेषार्थ – यहाँ उत्तम पात्र साधु महाराज की महिमा बताई है कि यथार्थ रत्नत्रय के साधक आत्मध्यानी साधु आत्मध्यान के बल से परमावधि सर्वावधि पूर्ण अवधिज्ञान को पा लेते हैं। दोनों ही प्रकार के रिजुमति, विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान का प्रकाश कर लेते हैं और वही साधु सर्व ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करके केवलज्ञान को जगा लेते हैं। ऐसे ही परम साधु गणधरदेवादि आचार्यों के द्वारा उत्तम पात्र कहे गए हैं। उत्तम पात्र साधुओं के भी तीन भेद हैं – उत्तम, मध्यम, और जघन्य। जो तीर्थंकर भगवान साधु अवस्था में हैं, वे उत्तम में उत्तम हैं। जो ऋद्धिधारी साधु से लेकर चार ज्ञान के धारी तक हैं, वे उत्तम में मध्यम पात्र हैं। जो इसके सिवाय मात्र साधन करनेवाले, निश्चय आत्मानन्द के विलासी परमात्मतत्व के रमणकर्ता हैं, वे उत्तम में जघन्य हैं। इन उत्तम पात्रों को गृहस्थों के द्वारा दान दिया जाना मोक्ष-प्राप्ति में उनके लिये परम सहायक है। साधुगण न स्वयं भोजन-पान का प्रबन्ध करते, न कराते हैं, न ऐसी भावना भी करते हैं कि कोई हमारे लिये प्रबन्ध करें। वे उस आहार को भी नहीं लेते हैं, जो किसी ने मुनि को देने के निमित्त ही बनाया हो, इसमें उद्दिष्ट का दोष है। गृहस्थ ने जो अपने लिये बनाया हो उसी में से भक्तिपूर्वक दिये हुए आहार को जो लेते हैं, वे नहीं चाहते कि उनके निमित्त से कोई आरम्भ हो, क्योंकि आरम्भ में हिंसा थोड़ी-बहुत अवश्य होती है। वे स्वनिमित्त हिंसा कराकर अहिंसा व्रत में कमी नहीं करना चाहते हैं। इसीलिये बिना संकेत किये भिक्षारूप कहीं भी निकल जाते हैं। वहाँ गृहस्थ ने यदि भक्तिपूर्वक ले जाकर कुछ भाग हाथों में रख दिया तो उसे भी बड़े ही संतोष व समताभाव से लेकर संयम की रक्षा विचार कर धर्म भावना में निरत रहते हैं। मूलाचार अनगार भावना में कहा है –

ण वि ते अभित्थुणंति य पिंडत्थं, ण वि य किंचि जायंति।
मोणव्वदेण मुणिणो चरंति भिक्खं अभासंता॥५१॥

भावार्थ – मुनि महाराज न तो भोजन के लिये किसी की स्तुति करते हैं, न याचना करते हैं। मौनव्रत से भिक्षा को जाते हैं, बिना बोले हुए जो शुद्ध मिल गया उसे ही ले लेते हैं। यदि लाभ नहीं हुआ तो लौट आते हैं। और भी लिखा है –

पयणं व पायणं वा ण करेंति अ णेव ते करावेंति। पयणारंभणियत्ता संतुट्ठा भिक्खमेत्तेण॥५३॥

भावार्थ – वे साधु न स्वयं भोजन पचाते (पकाते) हैं, न पचन कराते हैं, वे भोजन क्रिया के आरम्भ से विरक्त हैं, भिक्षामात्र से संतोषी रहते हैं। ऐसे संतोषी साधुओं को भिक्षा देना परम धर्म की रक्षा करना है, साधुओं को मोक्ष पहुँचाने का साधन कर देना है। इसलिए दातार गृहस्थ बड़ा भारी

धर्म का सहायक है। इन उत्तम पात्रों को नवधा-भक्ति से दान करना चाहिए। पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कहा है –

संग्रहमुच्चस्थान पादोदकमर्चनं प्रणामं च। वाक्काय मनःशुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः॥१६८॥

भावार्थ – १. संग्रह अर्थात् अत्र तिष्ठ तिष्ठ तिष्ठ, आहार पानी शुद्ध है – ऐसा तीन बार कहकर यदि मुनि उधर भाव करें तो उनको आप आगे जाता हुआ भीतर ले जावे। २. फिर उच्च आसन पर पाट आदि पर विराजमान करे, ३. फिर शुद्ध जल से किसी बर्तन में उनके पग प्रच्छालन करे, ४. फिर आठ द्रव्यों से पूर्ण पूजा या अर्घ देवे, जैसा जितना समय हो, ५. फिर उनको तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार करे, ६. मन की शुद्धि. ७. वचन की शुद्धि, ८. काय की शुद्धि, व ९. आहार की शुद्धि रक्खे। इस नौ प्रकार विधि से मुनि को दान करना चाहिये। दातार में सात गुण होना चाहिये

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्व।
अविषादित्वमुदित्वे निरहंकारित्वमिति हि दातृगुणाः॥१६९॥

भावार्थ – दातार के ये गुण हैं – १. इस लोक के किसी फल की इच्छा न करे, २. क्षमाभाव रखे, उससमय किसी पर क्रोध न करे, ३. कपट रहित हो, ४. ईर्ष्याभाव न करे, ५. विषाद न करे, ६. प्रसन्न रहे, ७. अहंकार न करे।

गृहस्थी स्वयं भी धर्मसाधक भोजन खाता है व वैसा ही निरोगी आहार मुनि को देता है। वही बताया है कि ऐसा द्रव्य देना चाहिये –

रागद्वेषासयममददुःखभयादिकं न यत्कुरुते। द्रव्यं तदेव देयं सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरम्॥१७०॥

भावार्थ – ऐसा पदार्थ दान में देना चाहिये जो राग-द्वेष, असंयम दुःख, भय आदि को नहीं उत्पन्न करे तथा उत्तम तप व स्वाध्याय की वृद्धि में सहकारी हो। ऋतु के अनुसार सादा व पौष्टिक भोजन मुनि को देना उचित है। शुद्ध दूध, दाल, रोटी, चावल बहुत हितकारी है। प्रासुक फल भी योग्य हैं। गरिष्ठ मिठाई आदि व पकवानादि न देना ही अच्छा है।

॥ श्लोक २६० ॥

उत्कृष्टं श्रावकं येन, मध्यपात्रं च उच्यते।
मतिश्रुतज्ञान संपूर्णं, अवधी भावना कृतं॥

अन्वयार्थ – (येन श्रावकं उत्कृष्टं) जो भाई उत्कृष्ट श्रावक हैं, उनको (मध्यपात्र च उच्यते) मध्यम पात्र कहा जाता है, वे (मतिश्रुतज्ञान संपूर्णं) वे मति व श्रुतज्ञान से पूर्ण हो सकते हैं, (अवधी भावना कृतं) तथा अवधिज्ञान की भावना होती है।

विशेषार्थ – उत्कृष्ट श्रावक दसवीं व ग्यारहवीं प्रतिमाधारी होते हैं। दसवीं प्रतिमावाले को अनुमति त्यागी श्रावक कहते हैं, ग्यारहवीं प्रतिमावाले को उद्दिष्ट त्यागी कहते हैं। यह भी अपने उद्देश्य से किया हुआ आहार मुनि के समान नहीं लेते हैं। इस ग्यारहवीं प्रतिमा के दो भेद प्रसिद्ध हैं – एक क्षुल्लक, दूसरे ऐलक। क्षुल्लक एक खण्ड वस्त्र व लंगोटधारी होते हैं। मोर पिच्छिका व कमण्डल रखते हैं। बैठकर पात्र में भोजन करते हैं। कई एक ही घर से भिक्षा या भोजन करते हैं। कोई अपने भिक्षा के पात्र में कई घर से थोड़ा-थोड़ा लेकर अंतिम घर में बैठ भोजन करते हैं। ऐलक में विशेषता यह है कि वे मात्र एक लंगोट रखते हैं, हाथों से केशों का लोंच करते हैं व बैठकर एक ही घर भिक्षा से अपने हाथों में दिया हुआ भोजन करते हैं। मध्यम पात्र दर्शन प्रतिमा से लेकर उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा तक ११ प्रतिमावाले होते हैं। इनमें उत्तम १० वीं व ११ वीं प्रतिमाधारी हैं। मध्यम सातवीं से नौवीं तक होते हैं। पहली से छठवीं तक मध्यम में जघन्य हैं। कोई कोई तीर्थंकर जन्म से मति-श्रुत अवधिज्ञानी होकर श्रावक के व्रत धारते हैं, अन्य कोई मतिश्रुतज्ञानी होते हैं। यहाँ पूर्ण से भाव, पूर्ण द्वादशांग वाणी से नहीं है, क्योंकि पूर्ण द्वादशांग के ज्ञाता श्रुतकेवली साधु होते हैं, परंतु श्रावक भी यथार्थ मति व श्रुतज्ञान के धारी होते हैं व शास्त्रों के विशेष मर्मज्ञ होते हैं। प्रयोजन यह है कि शास्त्र का यथार्थ ज्ञान हुए बिना श्रावक का चारित्र ठीक-ठीक नहीं चल सकता है, इसलिये श्रावक को मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी होना चाहिये। तथा उत्कृष्ट श्रावक को यथायोग्य भक्तिपूर्वक दान देना चाहिये। उनमें से ११ वीं प्रतिमावाले को तो आहार-पानी शुद्ध कह कर पड़गाहना चाहिये व उच्च आसन-पर बिठा पग-प्रच्छालन करना चाहिये व यथायोग्य वन्दना करनी चाहिये, पूजन व अर्घ चढ़ाने की जरूरत नहीं है। पूजन मात्र देव, गुरु, शास्त्र की होती है। जो क्षुल्लक अनेक घर आहारी हैं, उनको खंड-खंड ही पात्र में भोजन दिया जायगा। भोजन व मन, वचन, काय की शुद्धि तो होनी ही चाहिए। १० वीं प्रतिमावाले को भोजन के समय बुलाकर जिमाना चाहिए, शेष पहले से निमंत्रण मान सकते हैं।

॥ श्लोक २६१ ॥

आज्ञावेदक सम्यक्तं, उपशमं सार्धं ध्रुवं।
पदवी द्वितीय आचर्यं, मध्यपात्रं सदा बुधैः॥

अन्वयार्थ – (आज्ञावेदक सम्यक्तं उपशमं ध्रुवं सार्धं) आज्ञा सम्यक्त्व, वेदक सम्यक्त्व, उपशम सम्यक्त्व तथा ध्रुव अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्व सहित (पदवी द्वितीय आचर्यं) जो दूसरी श्रावक की पदवी का आचरण करते हैं, उनको (बुधैः सदा मध्यपात्रं) आचार्यों ने सदा ही मध्यम पात्र कहा है।

विशेषार्थ – यहाँ ऐसा अभिप्राय झलकता है कि मध्यम पात्र को सम्यग्दर्शन सहित श्रावक के व्रतों का आचरण करना चाहिये। यदि वह एकदम मिथ्यात्व से पाँचवें गुणस्थान में अनंतानुबंधी कषाय और अप्रत्याख्यानावरण कषायों के उपशम व मिथ्यात्व के उपशम से आए तो वह श्रावक उपशम सम्यक्त्व सहित होगा अथवा द्वितीयोपशम सम्यक्त्वी उपशम श्रेणी से गिरकर पाँचवें में आवे तो भी उपशम सम्यक्त्व सहित श्रावक होगा। यदि वेदक सम्यक्त्व चौथे या पाँचवें में प्राप्त करे या वेदक सहित छठवें से पीछे आवे तो वेदक सम्यक्त्व सहित श्रावक होगा। यदि क्षायिक सम्यक्त्व चौथे या पाँचवें में प्राप्त करे या क्षायिक सम्यक्त्ववाला छठवें से पीछे आवे तो क्षायिक सम्यक्त्व सहित श्रावक होगा। यदि कोई जिनेन्द्र की आज्ञा के अनुसार तत्वों का श्रद्धान करके श्रावक के व्रत पालने लगे तो उसको आज्ञा सम्यक्त्व सहित श्रावक कहेंगे, परन्तु वह यदि उपशम या वेदक या क्षायिक सम्यक्त्व सहित नहीं है तो वह निश्चय से न सम्यग्दृष्टि है और न पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक है। किंतु उसको श्रावक चारित्रवान निश्चय सम्यक्त्व रहित मानेंगे और व्यवहार सम्यक्त्व का धनी व व्यवहार चारित्र का धनी मानते हुए उसे कुपात्रों में गिनेंगे, परन्तु वह भी दान का पात्र होगा। जैन सिद्धांत में कहा है कि जो सम्यक्त्व सहित चारित्रवान हैं, वे सुपात्र हैं, जो निश्चय सम्यक्त रहित यथार्थ चारित्रवान हैं, वे कुपात्र हैं। ये दोनों ही दान देने के योग्य हैं। जिसका निश्चय एवं व्यवहार चारित्र दोनों ही ठीक न होंगे वह अपात्र है, दान देने का पात्र नहीं है।

सुपात्र और कुपात्र में व्यवहार चारित्र की अपेक्षा कोई अंतर नहीं है, मात्र निश्चय सम्यक्त्व कुपात्र में नहीं होता। ऐसा ही अमितगति श्रावकाचार में कहा है –

चरति यश्चरणं परदुश्चरं, विकटघोरकुदर्शनवासितः।
सकलसत्वहितोद्यतचेतनो वितथकर्कशवाक्यपरांमुखः॥अ. १०-३४॥
धनकलत्रपरिग्रहनिस्पृहो नियमसंयमशीलविभूषितः।
कृतकषायहृषीकविनिर्जयः प्रणिगदंति कुपात्रमिमं बुधाः॥३९॥

भावार्थ – जो कठिन चारित्र को पालते हैं, परन्तु विकट व भयानक मिथ्यादर्शन सहित हैं, सर्व प्राणी मात्र के हित में उद्यमी हैं, झूठ और कठोर वचन के त्यागी हैं, धन, स्त्री आदि परिग्रह से ममता रहित हैं, नियम-संयम-शील से विभूषित हैं, कषाय को घटानेवाले व इंद्रियों के विजयी हैं – ऐसों को पंडितजन कुपात्र कहते हैं। ये दान के पात्र हैं।अपात्र का स्वरूप इसप्रकार है –

दृढ़कुटुम्बपरिग्रहपञ्जरः, प्रशमशीलगुणव्रतवर्जितः।
गुरुकषायभुजंगमसेवितं, विषयलोलमपात्रमुशंति तम्॥३८॥

भावार्थ – जो इस कुटुम्ब या परिग्रह के पिंजरे में बंद है, शांति शील गुण व व्रत से रहित हैं, तीव्र कषायरूपी सर्प से सेवित हैं, विषयों का लोलुपी है, उसको अपात्र कहते हैं।

सुपात्र या कुपात्र को दान –

पात्रेभ्यो यः प्रकृष्टेभ्यो मिथ्यादृष्टिः प्रयच्छति। स याति भोगभूमीषु प्रकृष्टासु महोदयः॥ ६२-११॥

कुपात्रदानतो याति, कुत्सितां भोगमेदिनीम्। उप्ते कः कुत्सिते क्षेत्रे सुक्षेत्रफलमश्नुते॥ ८४॥

यें ऽतरद्वीपजाः सति, ये नरा म्लेच्छखडजाः। कुपात्रदानतः सर्वे, ते भवंति यथायथम्॥ ८५॥

वर्यमध्यजघन्यासु, तिर्यचः सति भूमिषु। कुपात्रदानवृक्षोत्थं, भुंजते ते ऽखिलाः फलम्॥ ८६॥

दासीदामद्विपम्लेच्छसारमेयादयो ऽत्र ये। कुपात्रदानतो भोगस्तेषां भोगवतां स्फुटम्॥ ८७-११॥

भावार्थ – **मिथ्यादृष्टि यदि उत्तम सुपात्रों को दान दे तो उत्तम भोगभूमि में मानव होवें। कुपात्र दान से कुभोग भूमि में पैदा हो। जैसे खोटे क्षेत्र में बोए बीज का फल सुक्षेत्र में बोऐ बीज के समान कैसे हो सकता है? कुपात्र दान से उत्तम, मध्यम, जघन्य भोगभूमि में तिर्यंच पैदा होता है। अपात्र को दान देना ठीक नहीं, निष्फल है। कहा है –**

अपात्राय धन दत्ते, व्यर्थ सपद्यते ऽखिलं। ज्वलिते पावके क्षिप्तं बीज कुत्रांकुरीयति॥ ८९॥

भावार्थ – **अपात्र को दिया धनादि सो सब व्यर्थ जाता है, जैसे जलती आग में डाला हुआ बीज कभी उग नहीं सकता है।**

॥ श्लोक २६२ ॥

ॐ वंकारं च वेदंते, ह्रींकारं श्रुत उच्यते।
अचक्षुदर्शन जोयंते, मध्यपात्रं सदा बुधैः॥

अन्वयार्थ – (ॐ वकार च वेदते) **जो श्रावक ॐकार का अनुभव करते हैं** (ह्रीं कार श्रुत उच्यते) **व ह्रीं बीजाक्षर का उच्चारण करते हैं** (अचक्षुदर्शन जोयते) **अचक्षुदर्शन द्वारा आत्मा को देखते है** (सदा बुधै मध्यपात्र) **उनको ही आचार्यों ने सदा मध्यम पात्र कहा है।**

विशेषार्थ – **मध्यम पात्र श्रावक भी ॐका ध्यान करके पाँच परमेष्ठी के स्वरूप का चिंतवन करके उसके द्वारा अपने शुद्धात्मा पर उपयोग ले जाते हैं तथा वे ह्रीं का भी अंतरंग में जप करते हैं व उसका ध्यान करते हैं व इसके द्वारा चौबीस तीर्थंकरों का स्वरूप विचारते हैं, फिर उनके द्वारा अपने शुद्धात्मा पर उपयोग ले जाते हैं। तथा मन द्वारा अचक्षुदर्शन का प्रयोग करके निर्विकल्प आत्मा का दर्शन करते हैं। मन का विषय आत्मा है, मन द्वारा अचक्षुदर्शन अमूर्तीक आत्मा पर उपयोग ले जा सकता है। इसतरह जो आत्मा के प्रेमी, आत्मध्यानी व शुद्धात्मा के अनुभवशील होते हैं, वे ही मध्यम पात्र कहे गए हैं।**

॥ श्लोक २६३ ॥

प्रतिमा एकादशं येन, व्रतं पंच अणुव्रतं।
सार्द्धं शुद्धतत्वार्थं, धर्मध्यानं च जोइतं॥

अन्वयार्थ – (येन एकादशं प्रतिमा) **जो ग्यारह प्रतिमाओं को पालते हैं** (पंच अणुव्रतं व्रतं) **पाँच अणुव्रत व उनके सहकारी तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रतों को पालते हैं** (शुद्ध तत्वार्थं सार्द्धं) **शुद्ध तत्व का अनुभव करनेवाले हैं** (धर्मध्यानं च जोइतं) **और धर्मध्यान का अभ्यास करते हैं, वे मध्यम पात्र हैं।**

विशेषार्थ – **दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्त त्याग, रात्रि-भुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग, उद्दिष्ट त्याग – ये ग्यारह प्रतिमाएँ हैं। इनका स्वरूप इस ग्रन्थ में आगे कहा है। मध्यम श्रावक इस श्रेणियों के द्वारा चारित्र की उन्नति करते हैं। तथा बारह व्रतों को उत्तरोत्तर बढाते जाते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व परिग्रह प्रमाण – इन पाँच अणुव्रतों को पालते हैं। दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदंडत्यागव्रत – इन तीन गुण व्रतों को पालते हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण तथा अतिथिसंविभाग – इन चार शिक्षाव्रतों को पालते हैं। बाहरी चारित्र इसतरह पालते हुए शुद्ध आत्मीक तत्व का अनुभव किया करते हैं। उनकी मुख्य दृष्टि अपने आत्मीक विचार पर रहती है। इसी हेतु से सब श्रावक धर्मध्यान का अभ्यास भले प्रकार करते रहते हैं। श्रावकों की अंतरंग भावना मोक्ष-प्राप्ति की रहती है, इससे यही चाहते हैं कि कब हम मुनिव्रत के योग्य हो जावें, जो ध्यान की विशेष वृद्धि कर सकें। इन ग्यारह प्रतिमाओं में आगे आगे चारित्र की वृद्धि होती जाती है। दूसरी प्रतिमावाला पहली के नियमों को व तीसरीवाला दूसरी के नियमों को पालता रहता है। आगे आगे उन्नति करता जाता है। ये ११ श्रेणियाँ श्रावकाचार की क्रमशः वृद्धि के लिये बहुत ही उपयोगी हैं।**

॥ श्लोक २६४ ॥

अव्रतं त्रितियं पात्रं, देव शास्त्र गुरु मान्यते।
सद्दहति शुद्ध सम्यक्तं, सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (त्रितियं पात्रं अव्रतं) **तीसरा जघन्य पात्र अविरत सम्यग्दृष्टि है, जो** (देव शास्त्र गुरु मान्यते) **यथार्थ देव शास्त्र गुरु में दृढ श्रद्धा रखता है। व** (शुद्ध सम्यक्तं ज्ञानमयं ध्रुवं सार्थं सद्दहति) **जो ज्ञानमय निश्चल यथार्थ तत्व के साथ शुद्ध सम्यग्दर्शन की श्रद्धा रखता है।**

विशेषार्थ – **जघन्य पात्र वह है, जिसके नियम से अणुव्रत तो नहीं है, परन्तु व्रतों के धारण की तीव्र भावना है। अप्रत्याख्यानावरण** कषाय के उदय से अतिचार रहित व्रत **नहीं पाल सकता है,**

तथापि प्रशम, संवेग, अनुकम्पा व आस्तिक्य सहित होता है। प्रशम भाव अर्थात् इसके परिणामों में आकुलता व अन्य कषायपना नहीं रहता है। आत्मा का पक्का श्रद्धान होने से उसके भीतर शांति झलका करती है। जिसके भीतर सवेग भाव होता है अर्थात् जो संसार-शरीर-भोगों से दृढ़ वैराग्यवान होता हुआ धर्म से परम प्रीति रखता है। अनुकम्पा भाव के कारण वह सर्व प्राणी मात्र पर दया रखता है। दुःखियों को दुःखी देखकर उसका हृदय कम्पायमान हो जाता है। यथाशक्ति वह दुःख दूर करने का प्रयत्न करता है, कराता है, व दुःखी का दुःख मिट जाने पर हर्ष मानता है। आस्तिक्य भाव तो ऐसा है कि उसे अपने आत्मा के ऊपर पूर्ण विश्वास होता है, परलोक का श्रद्धान होता है, कर्म के बंध व उसकी मुक्ति के ऊपर विश्वास रखता है, सच्चे वीतराग सर्वज्ञ भगवान अर्हंत-सिद्ध भगवान को देव मानता है, परिग्रह त्यागी निर्ग्रंथ साधु को गुरु मानता है तथा जिनप्रणीत अहिंसा धर्म को धर्म मानता है व जिनवाणी को अनेकांत रूप वस्तु स्वरूप का प्रकाशक शास्त्र मानता है। उसका सम्यक्त्वभाव निर्मल होता है। वह शुद्धात्मा को पहचानता है तथा शुद्धात्मा का अनुभव करता है। यह तीसरा पात्र भी मोक्षमार्गी है व दान देने योग्य है।

॥ श्लोक २६५ ॥

शुद्धदृष्टि च सम्पूर्णं, मलमुक्तं शुद्ध भावना।
मति कमलासने कंठे, कुज्ञानं त्रिविधि मुक्तयं॥

अन्वयार्थ – (सम्पूर्णं शुद्धदृष्टी च) यह अविरत सम्यग्दृष्टि पूर्ण शुद्ध आत्मा का श्रद्धावान होता है (मलमुक्तं) अतिचार रहित होता है (शुद्ध भावना) शुद्ध आत्मा की भावना करता रहता है (कण्ठे कमलासनं) कण्ठ में कमल को विराजमान करके (मति) बुद्धि स्वरूप ॐको ध्याता है (त्रिविधि कुज्ञान मुक्तयं) तीन कुज्ञान रहित होता है।

विशेषार्थ – यह जघन्य पात्र शुद्धात्मा पर पूर्ण विश्वास रखता हुआ उसी शुद्ध आत्मा के स्वरूप की भावना भाता है। अपने कण्ठ में कमल विराजमान करके उस में ॐ स्थापित करके ॐके द्वारा परमात्मा का ध्यान करता है। इसके कुमति, कुश्रुत, कुअवधिज्ञान नहीं होते हैं। यह पाँच अतिचारोंको बचाकर निर्मल सम्यक्त्व पालता है।

वे पाँच अतिचार हैं – शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा, अन्यदृष्टिसंस्तव।

शंका – जिनधर्म के प्रयोजनभूत सात तत्त्वों में दृढ़ श्रद्धा रखता हुआ उनमें शंका नहीं लाता है। यदि शास्त्रों में कही हुई कोई बात समझ में नहीं आती है तो अपनी समझ की कमी समझता है व विशेष ज्ञानियों से समझने की चेष्टा करता है। उसके ऊपर मिथ्या श्रद्धा नहीं रखता है। तथा वह

सात प्रकार का भय नहीं रखता है। १. इसलोक भय – ये जगत के लोग मेरा बिगाड़ करेंगे व मुझ पर हँसेगे, २. परलोक भय – परलोक में बुरी गति में जाऊँगा तो क्या होगा, ३. रोग भय – रोग हो जायगा तो मैं क्या करूँगा, ४. अनरक्षा भय – मेरा कोई रक्षक नहीं है, कैसे मेरे प्राण बचेंगे, ५. अगुप्त भय – मेरा माल कोई चुरा लेगा तो मैं क्या करूँगा। ६. मरण भय – यदि मर जाऊँगा तो सबकुछ छूट जायगा, इससे न मरूँ तो ठीक, ७. अकस्मात् भय – कहीं मकान न गिर पड़े, भूचाल न आ जावे, ऐसा होगा तो क्या करूँगा। इसतरह सात तरह का भय सम्यक्त्वी नहीं रखता है। यथायोग्य हर प्रकार की सम्हाल रखता हुआ निर्भय सिपाही के समान संसार के युद्धक्षेत्र में कर्मों से लड़ाई करता है, शंका दोष से दूर रहता है।

कांक्षा – संसार के क्षणिक विषय-भोगों की इच्छा नहीं रखता है। इन भोगों को अतृप्तिकारी विनाशीक व हेय समझता है, इनकी इच्छा करके धर्म का सेवन नहीं करता है, केवल सुख का अभिलाषी होता है।

विचिकित्सा – किसी को रोगी, दु:खी, दरिद्री, गरीब देखकर घृणा नहीं करता है, वस्तुस्वरूप विचारकर, दया लाकर उनकी सहायता करता है।

अन्यदृष्टि प्रशंसा – मिथ्यादृष्टि अज्ञानी अधर्म को धर्म जानकर जो क्रिया करें – पूजा, भक्ति, जप, तप, दान करें उसकी मन में प्रशंसा नहीं करता है, क्योंकि उनमें मिथ्यात्व का आशय है, जिस आशय को त्यागना चाहिये। इस आशय से किया हुआ धर्म-कर्म प्रशंसनीय नहीं हो सकता है।

अन्यदृष्टि संस्तव – अपने वचनों से भी सम्यक्त्वी मिथ्यात्व धर्मक्रिया की प्रशंसा नहीं करता है क्योंकि वह मिथ्या अभिप्राय को पुष्ट करनेवाली हो जायेगी। इसतरह पाँच अतिचारों को टालकर सम्यक्त्व भाव को निर्मल रखता है।

नोट – यहाँ 'मति कमलासने' का जो अर्थ समझ में आया सो पहले लिखा है।

॥ श्लोक २६६ ॥

मिथ्या त्रिविधि न दिष्टंते, शल्यत्रय निरोधनं।
सुयं च शुद्ध द्रव्यार्थं, अविरत सम्यग्दृष्टितं॥

अन्वयार्थ – (मिथ्या त्रिविधि न दिष्टंते) उस अविरत सम्यक्त्वी में तीन प्रकार मिथ्यात्वभाव नहीं दिखलाई पडता है। (शल्यत्रय निरोधनं) उसने तीन प्रकार की शल्य को निकाल डाला है। (सुयं च शुद्ध द्रव्यार्थं) श्रुतज्ञानी है व शुद्ध द्रव्यार्थिक नय को समझता है ऐसा (अविरत सम्यग्दृष्टितं) यह अविरत सम्यग्दृष्टि होता है।

विशेषार्थ – इस सम्यक्ती के भीतर तीन प्रकार का मिथ्यात्व नहीं होता है – मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्व प्रकृति मिथ्यात्व, क्योंकि इसने इन तीन कर्म की प्रकृतियों का उपशम या क्षय कर डाला है।

तत्त्वों को और का और समझना मिथ्यात्व है – मिथ्या और सत्य दोनों तत्त्वों पर मिश्र श्रद्धा रखना सम्यग्मिथ्यात्व है। सम्यग्दर्शन रखते हुए भी उसमें चल, मल, अगाढ तीन प्रकार दोष लगाना, निर्मल सम्यक्त का न होना सो सम्यक्त्व प्रकृति का भाव है। ये तीनों दोष इस जघन्य पात्र में नहीं होते, न उसमें माया, मिथ्या, निदान तीन शल्य होती हैं। वह सम्यक्त्वी कपट रहित, श्रद्धा सहित व आगामी भोगाभिलाष रहित धर्म पालता है, शास्त्रज्ञान का प्रेमी होता है, शास्त्रों के मर्म को समझता है तथा शुद्ध द्रव्यार्थिक नय पर विशेष लक्ष्य रखता है, क्योंकि इस नय से हर एक शरीर में आत्मा का पवित्र शुद्ध दर्शन होता है। ऐसा अविरत सम्यक्त्वी मोक्ष का पात्र है।

।। श्लोक २६७-२६८ ।।

त्रिविधि पात्रं च दानं च, भावना चिंत्यते बुधैः।
शुद्धदृष्टिरतो जीवः, अट्ठावन लक्ष त्यक्तयं।
नीच इतर अप तेजं च, वायु पृथ्वी वनस्पती।
विकलत्रयं च योनी च, अठ्ठावन लक्ष त्यक्तयं।

अन्वयार्थ – (बुधै) बुद्धिमान लोग (त्रिविधि पात्र च दान च भावना चित्यते) तीन प्रकार के पात्रों को दान की भावना विचारते रहते हैं। ऐसा दानी (शुद्धदृष्टिरतः जीव) जो जीव शुद्ध आत्मीक श्रद्धा में लवलीन है, सम्यग्दृष्टि है, वह (अट्ठावन लक्ष त्यक्तयं) ८४ लाख में से ५८ लाख योनियों में जन्म नहीं लेता है। (नीच) नित्य निगोद (इतर) इतर निगोद, (अपतेज च वायु पृथ्वी वनस्पति) जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, पृथ्वीकायिक तथा वनस्पतीकायिक की तथा (विकलत्रय च योनी च) द्वीन्द्रिय, त्रीद्रिय, चतुरिन्द्रिय की योनि। (अट्ठावन लक्ष त्यक्तयं) इसतरह अट्ठावन लाख योनियों से बचा रहता है।

विशेषार्थ – जो सम्यग्दृष्टि शुद्ध आत्मा का अनुभवी बुद्धिवान प्राणी है, वह अति भक्तिपूर्वक बडी श्रद्धा से उत्तम, मध्यम, जघन्य – इन तीन प्रकार के पात्रों को दान देता है। निरन्तर भावना भाता है कि मैं दान दूँ। जब अवसर पाता है दान देने से चूकता नहीं है। श्रद्धावान जैनियों को, जो गृहस्थ हैं व अविरति हैं, उनको भी मोक्षमार्गी समझकर आदर से बुलाकर दान करता है। दान करना श्रावक का मुख्य कर्तव्य है। दान से दातार व पात्र दोनों के भाव प्रफुल्लित हो जाते हैं। दान धर्म के भावों को

बढ़ानेवाला है। वास्तव में पात्रों को दान देना है वह रत्नत्रय धर्म की प्रतिष्ठा करना है। जो गृहस्थ सम्यक्ती है व दानी है वह कभी ८४ लाख में से ५८ लाख योनियों में पैदा नहीं होता है। ५८ लाख का वर्णन इस भांति है –

नित्य निगोद साधारण वनस्पतिकायिक – ७ लाख इतर निगोद साधारण वनस्पतिकायिक ७ लाख – पृथ्वीकायिक – ७ लाख, जलकायिक – ७ लाख, अग्निकायिक – ७ लाख, – वायुकायिक – ७ लाख, प्रत्येक वनस्पतिकायिक – १० लाख, द्विन्द्रिय प्राणी – २ लाख, त्रीन्द्रिय प्राणी – २ लाख, चतुरिन्द्रिय प्राणी – २ लाख, कुल – ५८ लाख

इससे सिद्ध हुआ कि सम्यक्त्वी कभी एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक की किसी पर्याय में जन्म नहीं लेता है। पराधीन व अज्ञानमयी पर्यायों से तो छूट जाता है। सम्यक्त्व अवस्था में यदि आयु बाँधे तो मनुष्य और पशु देव आयु बाँधेगा तथा देव और नारकी मनुष्य आयु बाँधेगा, परंतु जो सम्यक्त्व होने के पहले नरक, तिर्यंच, मनुष्य आयु बाँध ली हो तो मानव या तिर्यंच का भी नरक, तिर्यंच या मनुष्य पंचेंद्रिय में जन्म होता है। इसलिये ८४ लाख में से पंचेंद्रिय की योनियाँ जो २६ लाख हैं, उनको यहाँ नहीं गिनाया है। वे २६ लाख इसप्रकार हैं –

पंचेंद्रिय तिर्यंच – ४ लाख, नारकी – ४ लाख, देव – ४ लाख, मानव – १४ लाख
कुल २६ लाख

कुल ५८-२६-८४ लाख योनियाँ होती हैं। वास्तव में सम्यक्त्व की बड़ी अपूर्व महिमा है।

॥ श्लोक २६९ ॥

शुद्ध सम्यक्त संयुक्ताः, शुद्ध तत्व प्रकाशकाः।
ते नरा दुःखहीना स्युः, पात्रदानरता सदा॥

अन्वयार्थ – (शुद्ध सम्यक्त संयुक्ताः) **जो शुद्ध सम्यक्त के धारी हैं** (शुद्ध तत्त्व प्रकाशकाः) **व शुद्ध आत्मीक तत्त्व के प्रकाशक हैं।** व (सदा पात्रदानरताः) **पात्रों को दान देने में रत हैं** (ते नरा दुःखहीना स्युः) **वे मानव दुःखों से छूट जाते हैं।**

विशेषार्थ – **सम्यग्दर्शन के धारी जो व्रत रहित भी हैं, परन्तु शुद्धात्मीक तत्व के अनुभव करनेवाले हैं तथा नित्य ही पात्रों को दान देते रहते हैं, वे पुण्य को बाँधकर उत्तम गति में जाते हैं – वे कभी दुःखों से भरी गतियों में नहीं जाते हैं। मिथ्यादृष्टि यदि पात्रदान करे तो भोगभूमि में जाता है तब यदि सम्यग्दृष्टि दान करे तो वह तो स्वर्ग ही को प्राप्त होगा। वहाँ पर भी नीच जाति का देव नहीं होगा। सम्यक्त्व के धारी जीवों के सदा ही परिणामों में विशुद्धता रहती है। अंतरंग में किसी से**

अति द्वेषपूर्ण भाव नहीं करता है। यदि कदाचित् वैरभाव होता भी है तो वह उस वैरी के कृत्य मात्र से होता है। सम्यक्त्वी उसकी आत्मा का तो हित ही चाहता है।

रत्नकरंडश्रावकाचार में कहा है –

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः॥ ३५॥
ओजस्तेजो विद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः।
महाकुलाः महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः॥ ३६॥

भावार्थ – **जिनके सम्यकदर्शन शुद्ध है वे नारकी, पशु, नपुंसक, स्त्री, नीच कुल, विकलांगी अल्पायु, दरिद्री नहीं होते हैं। व्रत रहित हैं तोभी खोटी अवस्था नहीं पाते हैं। वे दीप्तिवान, तेजस्वी, विद्वान, वीर्यवान, यशस्वी, विजयी, सम्पत्ति के धारी, उन्नतिशील, महा कुलवान, महान कार्य करनेवाले पुरुषश्रेष्ठ होते हैं। सम्यग्दर्शन की शुद्धता परमोपकारिणी है।**

॥ श्लोक २७० ॥

पात्रदानं च चत्त्वारि, ज्ञानं आहार भेषजं।
अभयं च भयं नास्ति, दानं पात्र सदा बुधैः॥

अन्वयार्थ – (पात्रदान च चत्वरि) **पात्र दान चार प्रकार का होता है** (ज्ञान आहार भेषजं अभयं च) **ज्ञान दान, आहार दान, औषधि दान, तथा अभय दान** (सदा बुधैः पात्रदानं) **बुद्धिमान सदा पात्रों को दान दिया करते हैं, इससे उनको** (भय नास्ति) **भय नहीं होता है, वे निर्भय रहते हैं।**

विशेषार्थ – **पात्रों के दो भेद कहे गए हैं जो दान देने योग्य हैं – एक सुपात्र व एक कुपात्र। यदि कुपात्रों को भी दान हो जावे तो कुभोगभूमि का फल होता है, तब पात्रदान की तो महिमा ही क्या कही जा सकती है। ज्ञानी गृहस्थ निरन्तर धर्म के तीन प्रकार पात्रों को दान दिया करते हैं। जैन सिद्धांत में चार ही दान मुख्य हैं। ये ही सच्चे दान हैं।**

१ ज्ञान दान – **अर्थात् ज्ञान सिखाना, शास्त्रों को देना, शास्त्र प्रकाश करना, विद्यालय स्थापन करना, छात्रों को सहाय करना, विद्वतापूर्ण भाषण देना, मिथ्यात्वभाव हटाकर सम्यक्त्व की प्राप्ति कराना, उत्तम पात्रों को शास्त्र भेंट करना, मध्यम पात्रों को भी शास्त्र देना। यदि विद्या की कमी हो तो विद्या के साधन जोड़ देना। जघन्य पात्रों को भी शास्त्र देना व उनकी ज्ञान वृद्धि का उपाय कर देना।**

२ आहारदान – **तीनों पात्रों को यथायोग्य भक्ति करके भोजन कराना। यह धर्म की वृद्धि व शरीर की स्थिरता का कारण है।**

३. औषधिदान – **पात्रों को रोगग्रस्त जानकर** रोग मेटने के लिये औषधि का दान करना, **औषधालय खुलवाना, शुद्ध प्रासुक दवा बँटवाना,** रोगियों की टहल चाकरी करना।

४. अभयदान – **पात्रों को आश्रय देना, निर्भय करना, योग्य स्थान बताना,** उनके ऊपर संकट **पड़ें तो निवारण करना।**

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में भी चार दान यही कहे हैं –

आहारौषधयोरप्युपकरणावामयोश्च दानेन। वैय्यावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मतत्वेन चतुरस्रा ॥११७॥

भावार्थ – **अरहंत भगवान ने चार तरह से पात्रों की सेवा करने को कहा है। आहार देकर, औषधि देकर, उपकरण अर्थात् शास्त्र देकर व आवास अर्थात् निर्भय आश्रय स्थान देकर।**

श्री अमितगति श्रावकाचार में नवम परिच्छेद में कहा है –

अभयान्नौषधिज्ञानभेदश्चतुर्विधम्।

दान निगद्यते सद्भिः प्राणिनामुपकारकम्॥८३॥

भावार्थ – **ज्ञानियों ने प्राणियों के उपकार करनेवाले चार ही दान कहे हैं – अभयदान, अन्नदान, औषधिदान तथा ज्ञानदान।**

न सुवर्णादिक देय न दाता तस्य दायकः। न च पात्रं गृहीताऽस्य जिनानमिति शासन॥७९॥

भावार्थ **सुवर्ण आदिक नहीं देना चाहिये। सुवर्णादिक देनेवाला न दाता सच्चा दातार है, न लेनेवाला सच्चा पात्र है ऐसी श्री जिनेंद्रों की आज्ञा है। कन्यादान भी दान नहीं है। वहीं कहा है –**

या धर्मवनकुठारी पातकवसतिस्तपोदया चौरी।वैरायासासूया, विषादशोकश्रमक्षोणी॥५७॥

यस्यां सक्ता जीवा दुःखतमान्नोत्तरंति भवजलधेः। कः कन्यायां तस्यां दत्तायां विद्यते धर्मः॥५८॥

भावार्थ – **जो कन्या धर्मवन काटने को कुल्हारी समान, पाप की बसती, तप व दया की चोर, वैर, उद्यम, इर्ष्या, विषाद, शोक, खेद की भूमिका जननी है, जिस कन्या में आसक्त जीव दुःखमयी संसारसागर से पार नहीं को सकते हैं, उन कन्या के देने में कौनसा धर्म होता है? अर्थात् कन्यादान धर्म नहीं है।**

दयापूर्वक प्राणीमात्र को चार प्रकार का दान करना यह करुणादान है। सम्यक्त्वी गृहस्थ सदा कृपालु होता है, जगत मात्र को उपकारी होता है, दुखित, भुखित, रोगी, अविद्या-ग्रसित व आश्रय रहित को निरंतर चार दानों से संतोषित करता है, पशु-पक्षी आदि की भी दान से सेवा करता है।

॥ श्लोक २७१ ॥

ज्ञानदानं च ज्ञानं च, आहारं दान आहारयं।
अबाध्यं भेषजश्चैव, अभयं अभयदानयं॥

अन्वयार्थ – (ज्ञानदानं च ज्ञानं च) **ज्ञान दान करने से ज्ञान की वृद्धि होती है** (आहारं दान आहारयं) **आहारदान से आहार की कमी नहीं रहती है** (भेषजश्चैव अबाध्यं) **तथा औषधि दान से शरीर में व्याधि नहीं होती है** (अभयदानयं अभयं) **अभयदान से भय नहीं प्राप्त होता है।**

विशेषार्थ – **यहाँ चारों दान के फल बताए हुए हैं। जो ज्ञान दान देते हैं, पात्रों के ज्ञान की वृद्धि चाहते हैं, उनको स्वयं ज्ञानावरणीय कर्म का विशेष क्षयोपशम होता है। वे यहाँ भी तथा परलोक में भी ज्ञानी होते हैं। व थोडे ही प्रयास में ज्ञानवान् विद्वान हो जाते हैं। जो आहारदान देते हैं, वे अटूट पुण्य बाँधते हैं, यहाँ भी अन्न से दुःखी नहीं रहते हैं व परलोक में ऋद्धिधारी देव व धनशाली मानव होते हैं, औषधिदान करने से ऐसे पुण्य बाँधते हैं, जिससे भविष्य में निरोग सुन्दर शरीर होता है। व अभयदान करने से सदा निर्भयता का साधन मिलता है, आश्रयहीन कभी नहीं होते हैं, वे सुन्दर आवास व रक्षकों के मध्य में रहते हैं। ये चार दान अटूट पुण्य को बाँध देते हैं।**

अमितगति श्रावकाचार में एकादश परिच्छेद में कहा है –

यत्किंचित्सुन्दरं वस्तु दृश्यते भुवनत्रये। तदन्नदायिना क्षिप्रं लभ्यते लीलयाऽखिलम्॥ ३०॥
वातपित्तकफोत्थानै रोगैरेष न पीड्यते। दावैरिव जलस्थायी भेषजं येन दीयते॥ ३४॥
शास्त्रदायी सतां पूज्यः सेवनीयो मनीषिणाम्। वादी वाग्मी कविर्मान्यः ख्यातशिक्षः प्रजायते॥ ५०॥
विचित्ररत्ननिर्माणः प्रोत्तुंगो बहुभूमिकः। लभ्यते वासदानेन वासश्चंन्द्रकरोज्ज्वलः॥ ५१॥

भावार्थ – **जो तीन लोक में सुन्दर वस्तु है सो सब आहारदानी को शीघ्र प्राप्ति होती है। जो औषधि दान करता है वह वात, पित्त, कफ से होनेवाला रोगों से पीडित नहीं होता है, जैसे जल में रहनेवाले अग्नि से पीडित नहीं होता। जो शास्त्र देता है वह सज्जनों में पूज्य, पंडितों से सेवनीय, वादी को जीतनेवाला, वक्ता, कवि, मान्य और प्रसिद्ध शिक्षक होता है। जो वस्तिका देता है, वह विचित्र रत्नों से बना हुआ ऊँचा बहुत खण्डवाला चन्द्रमा के समान उज्वल महल पाते हैं।**

॥ श्लोक २७२ ॥

पात्रदानं च शुद्धं च, कर्मं क्षिपति सदा बुधैः।
जे नरा दान चिंतंते, अविरत सम्यग्दृष्टितं॥

अन्वयार्थ – (सदा बुधै: शुद्ध च पात्र दानं) सदा बुद्धिमानों के द्वारा हुआ शुद्ध पात्र दान (कर्म क्षिपति) कर्मों को क्षय करता है (जे नरा दान चिंतते) जो मानव दान की भावना भाते हैं, वे ही (अविरत सम्यग्दृष्टितं) अविरत सम्यग्दृष्टि सामान्य गृहस्थ श्रावक हैं।

विशेषार्थ – जो ज्ञानी वीतरागभाव से मात्र दान करते हैं, पात्रों के आत्मीक गुणों में प्रीति रखते हैं। उनके शुद्धात्मीक भावनारूप निश्चय रत्नत्रय की भावना दृढ़ रहे – ऐसी भावना मन में रखकर दान करते हैं व दान देते हुए व देखते हुए पात्र के अंतरंग गुणों के प्रेमालु होते हुए संसार-शरीर-भोगों से वैराग्य की भावना भाते हैं, उनके परिणामों की बहुत निर्मलता हो जाती है। उन भावों से वे अपने बहुत से पापकर्म क्षय कर डालते हैं व जितना अंश उन भावों में मंद कषायरूप शुभ राग होता है, उनसे वे अतिशयकारी पुण्यकर्म बाँध लेते हैं। दान यद्यपि शुभ कार्य है, परन्तु सम्यदृष्टि ज्ञानी गृहस्थ के लिये मोक्षमार्ग रूप हो जाता है, वह ज्ञानी दान के द्वारा भी शुद्धात्मा की भावना कर लेता है। पात्रों को दान देना रत्नत्रय के पालन में उत्साह बढानेवाला है। इसलिये सम्यग्दृष्टि निरंतर पात्र दान करने की चिन्ता करता रहता है और जब अवसर पाता है, तब दान करके अपने जन्म को सफल मानता है।

॥ श्लोक २७३ ॥

पात्रदानं वट बीजं, धरणी वर्द्धति जेतवा।
ज्ञानं वर्द्धति दानं च, दान चिंता सदा बुधैः॥

अन्वयार्थ – (पात्रदानं) पात्रों को दिया हुआ दान (धरणी वट वीजं जेतवा वर्द्धति) पृथ्वी में बोए हुए बर्गत के बीज के समान बहुत भारी फलता है (दानं च ज्ञानं वर्द्धति) ज्ञानदान ज्ञान को बढाता है (बुधैः सदा दान चिंता) बुद्धिमानों को सदा दान करने को उत्साह रखना चाहिये।

विशेषार्थ – जैसे बर्गत का बीज बहुत छोटा होता है, परन्तु पृथ्वी में बोए जाने पर बडा भारी वृक्ष होकर फलता है, तैसे पात्रों को दिया हुआ दान बहुत भारी फल देता है। जो ज्ञानदान करते हैं, उनका ज्ञान बढते-बढते केवलज्ञानरूप हो सकता है। जो आहारदान करते हैं वे भविष्य में विपुल धनशाली होते हैं, जो औषधि दान करते हैं वे बडे बलिष्ट, वीर्यवान, साहसी मानव होते हैं। जो अभयदान करते हैं वे कभी किसी शत्रु द्वारा भय को प्राप्त नहीं होते हैं। केवलज्ञान के समान और कोई फल नहीं है। जो दान अरहंत पद में सहकारी है वह दान देने की भावना बुद्धिमान सदा करते रहते हैं। गृहस्थों के घर की शोभा ही पात्रदान से है। जो लक्ष्मी कमाई जाती है वह लोभ और मान कषाय को बढ़ा देती है। यदि उसे दान में न लगाई जावे तो वह कुगति में पटकने का कारण हो जाती

है। और यदि निरंतर दान व परोपकार में व्यय की जावे तो लक्ष्मी के कारण न तो लोभ बढने पाता है और न मान भाव ही बढता है। लक्ष्मी अपनी नहीं है, पर वस्तु है, चंचल है। जबतक इसका स्वामीपना मेरे पास है, मुझे यही योग्य है कि इसे दान में लगाकर सफल कर लें – ऐसा विचार दानी उदारचित्त मंदकषायी व संतोषी रहता है, इसी से वह धन द्वारा धर्म कमाता है। कृपण दान न करता हुआ कठोर भावों से पाप कमाता है।

॥ श्लोक २७४ ॥

पात्रदानं मोक्षमार्गस्य, कुपात्रं दुर्गतिकारणं।
विचारनं भव्यजीवानां, पात्रदानरता सदा॥

अन्वयार्थ – (पात्रदान मोक्षमार्गस्य) पात्र दान मोक्षमार्ग की सिद्धि का उपाय है (कुपात्र दुर्गतिकारण) परन्तु अपात्र दान दुर्गति का कारण है। (भव्यजीवाना विचारन) भव्य जीवों का कर्तव्य है कि वे भले प्रकार विचार करके (पात्रदानरता सदा) पात्र दान में सदा रत हों।

विशेषार्थ – यहाँ कुपात्र का अर्थ कुत्सित पात्र अर्थात् अपात्र है। अपात्र का भाव यही है कि जिसमें न व्यवहार सम्यक्त्व है, न व्यवहार चारित्र है। जो जिनमार्ग से विरुद्ध आचरण करते हैं, मिथ्यात्व में लीन हैं, मिथ्यामार्ग के पोषक हैं, उनको अपात्र कहते हैं। पात्र दान अर्थात् सुपात्र दान जब मोक्षमार्ग को दृढ करनेवाला है तब अपात्र दान दुर्गति का कारण है। अपात्रों को भक्ति पूर्वक दिया हुआ दान मिथ्याश्रद्धान व मिथ्याचारित्र का पोषक है, मिथ्यात्वरूपी पाप का प्रचारक है, इसलिये पापबंध कारक है। पाप की अनुमोदना अवश्य पाप लानेवाली है, क्योंकि दाता की विनय मिथ्यामार्ग से हो गई। इसलिये भव्य जीव सम्यग्दृष्टि भलेप्रकार विचार करके अपात्रों को दान नहीं देकर सुपात्रों को दान देते हैं और मोक्षमार्ग का प्रचार कराते हैं। उत्तम पात्र मुनि, मध्यम पात्र श्रावक, जघन्य पात्र अविरत सम्यग्दृष्टि तीनों को भक्ति पूर्वक दिया हुआ दान मोक्षमार्ग की भक्ति करना है अतएव कर्तव्य है व महान पुण्यबंध करनेवाला है। जिनके निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं है, परंतु व्यवहार सम्यक्त्व व व्यवहार चारित्र वैसा ही है, जैसा एक मोक्षमार्गी को होना चाहिये वे कुपात्र हैं, उनको भी धर्मात्मा पुरुष दान देते हैं, क्योंकि दान देना भी व्यवहार है तथा व्यवहार में व्यवहार ही देखा जाता है व व्यवहार की ही प्रतिष्ठा की जाती है। निश्चय वचन-अगोचर है तथा निश्चय सम्यक्त्व अंतर्मुहूर्त में हो सकता है व छूट सकता है। अतएव दातार तो जिसका व्यवहार चारित्र शास्त्रोक्त पाएगा, उसको पात्र जानकर दान देगा। यदि उस पात्र के अंतरंग में निश्चय सम्यक्त्व होगा तो दातार के भाव अधिक निर्मल होंगे। यदि वह सम्यक्त्व रहित होगा तो भाव कम निर्मल होंगे, क्योंकि जैसा

निमित्त होता है वैसा परिणाम हो जाता है। परिणामों के अनुसार अधिक व कम पुण्य का बंध होगा। अपात्रों को भक्ति पूर्वक दान का निषेध है। परंतु यदि कोई अपात्र करुणा का पात्र दीखे, भूखा-प्यासा हो, रोगी हो, आश्रय रहित हो तथा विद्या व ज्ञान की जरूरत रखता हो तो धर्मात्मा श्रावक उसको दया बुद्धि से बिना भक्ति किये उसका क्लेश मेट सकता है। करुणा दान में पात्र-अपात्र का विचार नहीं है, मात्र परोपकार का भाव है

॥ श्लोक २७५-२७६ ॥

कुगुरु कुदेव उक्तं च, कुधर्मं प्रोक्तं सदा।
कुलिंगी जिनद्रोही च, मिथ्या दुर्गतिभाजनं॥
तस्य दानं च विनयं च, कुज्ञान मूढ़ दृष्टितं।
तस्य दानं चिंतनं येन, संसारे दुःखदारुणं॥

अन्वयार्थ - (कुगुरु) अपात्र जो कुगुरु हैं वे (कुदेव उक्तं च) कुदेवों की भक्ति का उपदेश देते हैं (कुधर्मं सदा प्रोक्तं) सदा ही कुधर्म का व्याख्यान करते हैं (कुलिंगी जिनद्रोही च) वे मिथ्यात्व के धारी हैं व जिनेन्द्र के अनेकांत मत से द्वेष करनेवाले हैं (मिथ्या दुर्गति भाजनं) वे मिथ्यात्व के कारण दुर्गति के पात्र हैं। (तस्य दानं च विनयं च) ऐसे कुगुरु को दान देना व उसकी विनय करना (कुज्ञान मूढ़ दृष्टितं) मिथ्या ज्ञान व मूढ़ श्रद्धा है (येन तस्य दानं चिंतनं) क्योंकि उनके दान देने की चिंता (संसारे दुःखदारुणं) संसार में भयानक दुःखों का कारण है।

विशेषार्थ - यहाँ यह बताया है कि जो कुगुरु हैं वे ही अपात्र हैं, जिनकी कथा पहले भी बहुत कर चुके हैं। ये कुगुरु स्वयं भी रागी-द्वेषी देवों की आराधना करते हैं व राग-द्वेष पूर्ण धर्म की सेवा करते हैं व दूसरों को भी मिथ्या धर्म की सेवा का उपदेश करते हैं, उनका भेष यथार्थ जिनेन्द्र के मार्ग के भेष से विपरीत है तथा वे जिनधर्म का स्वरूप ठीक न समझकर अपने अज्ञान से जिनमत से द्वेष रखते हैं। एकांत का पक्ष लेकर मिथ्यात्व के योग से स्वयं दुर्गति जाते हैं तब जो उनकी भक्ति करेंगे, विनयपूर्वक दान देंगे उन्होंने वास्तव में मिथ्यात्व की भक्ति की, मिथ्यादर्शन व मिथ्याज्ञान को ही पुष्ट किया। इसलिये उनको दान देने की चिंता से जो भावों की परिणति होती है वह अशुभ ही है तथा पाप को बाँधनेवाली है, नरक-निगोद के भीतर पटकनेवाली है। भक्ति वास्तव में उसी की ही करनी योग्य है जिसमें भक्तियोग्य गुण हों। भक्तियोग्य तो रत्नत्रय धर्म है। जहाँ ये पाये जावेंगे वे पात्र ही भक्ति करने योग्य हैं। जब रत्नत्रय से विरुद्ध धर्म अमाननीय है, तब उस विरुद्ध धर्म के धारी माननीय कैसे हो सकते हैं। इसलिये श्रावक को विवेकपूर्वक दान करना चाहिये। जो जिन-शास्त्रोक्त

साधु का व श्रावक का आचरण पालनेवाले हैं व जिन-शास्त्रोक्त श्रद्धा रखनेवाले हैं, उनको ही पात्र मानकर उनको यथायोग्य भक्ति सहित दान करना योग्य है। उनकी भक्ति वास्तव में रत्नत्रय की ही भक्ति है अतएव हितकारी है। अपात्रों की भक्ति अधर्म की भक्ति है अतएव पाप-बंधकारी व मिथ्या मार्ग की अनुमोदना करानेवाली है। भक्तिपूर्वक यथार्थ चारित्रवान को ही दान देना योग्य है यह तात्पर्य है। विनय योग्य वे ही पात्र हैं।

॥ श्लोक २७७ ॥

पात्र अपात्र विशेषत्वं, पन्नग गवं च उच्यते।
तृणभुक्तं च दुग्धं च, दुग्धं भुक्तं विषं पुनः॥

अन्वयार्थ – (पात्र अपात्र विशेषत्वं) **पात्र-अपात्र का विशेषपना** (गवं च पन्नग उच्यते) **गाय और सर्पिणी के समान कहा गया है** (तृणभुक्तं च दुग्धं च) **गाय तृण खाती है, परन्तु दूध देती है** (दुग्धं भुक्तं विष पुनः) **परन्तु सर्पिणी दूध पीती है व विष उगलती है।**

विशेषार्थ – यहाँ ग्रंथकर्ता ने स्वयं बता दिया है कि कुपात्र से प्रयोजन अपात्र से है, क्योंकि श्लोक में अपात्र शब्द है। पात्र तो हितकारी है जब कि अपात्र हानिकारी है। इसका दृष्टांत दिया है। जैसे गाय तृण चारा खाती है, परन्तु दूध प्रदान करती है वैसे धर्म के पात्र अल्प शुद्ध आहार संतोष पूर्वक करते हैं, परंतु स्वयं रत्नत्रय धर्म का साधन करते हैं और दूसरे अनेक प्राणियों को सत् धर्म में लगाते हैं। उनको अल्प भी दान स्व-पर मंगलकारी है। उन पात्रों का भी हित होता है और जो दान करते हैं, उनकी रुचि मोक्षमार्ग में बढ़ती है तथा महान पुण्य का बंध होता है. यदि सर्पिणी को दूध पिलाया जावे तो वह विष रूप हो जाता है, जिसप्रकार विष हानिकारक है, उसी तरह अपात्रों को पोषना, उनकी भक्ति करना, विनय करना, मिथ्यात्व का मार्ग प्रचार करानेवाला है। जिस कुधर्म से प्राणियों के जीवन का बिगाड़ हो, मानव-जन्म कुगति का देनेवाला हो जावे। ऐसे कुधर्म का प्रचार उचित नहीं है। वे अपात्र यदि इस कुधर्म को छोड दें तो वे पात्र हो जाने पर भक्ति व दान के योग्य हैं। अभिप्राय यहाँ यही है कि दान भक्ति से पात्रों को ही देना योग्य है। अपात्रों को कदापि नहीं देना योग्य है। तथापि यदि कोई जैनधर्म के श्रद्धान व चारित्र से बाहर है व भूखा है, रोगी है तथा उनका भक्त और उनका रक्षक नहीं है तो दयावान श्रावकों का यह कर्तव्य नहीं है कि उन पर करुणाभाव न लावें। दयाभाव से जब श्रावकों का धर्म प्राणी मात्र के साथ उपकार करना है तो अपात्र होने पर भी वे करुणा के पात्र हैं। उनका कष्ट निवारण करना ही योग्य है, साथ ही उनको सम्यक् धर्म का उपदेश भी देना योग्य है, यदि वे सुधर जावें तो उत्तम है, ऐसा प्रेम भाव श्रावक को रखना योग्य है,

द्वेषभाव तो किसी से करना न चाहिये। मात्र भक्ति करने का निषेध है, क्योंकि वह भक्ति मिथ्याधर्म की पोषक है।

॥ श्लोक २७८ ॥

पात्रदानं च भावेन, मिथ्यादृष्टी च शुद्धए।
भावनाशुद्ध सम्पूर्णं, दानं फलं स्वर्गगामिनं॥

अन्वयार्थ – (पात्रदानं च भावेन) पात्रदान करने से व उसकी भावना करने से (मिथ्यादृष्टीं च शुद्धए) मिथ्यादृष्टि की शुद्धि हो सकती है। (शुद्धभावनं संपूर्णं) जो शुद्ध आत्मा की भावना से परिपूर्ण सम्यग्दृष्टि है, उसको (दानं फलं स्वर्गगामिनं) पात्रदान का फल स्वर्गगमन है।

विशेषार्थ – पात्रदान का यह माहात्म्य है कि यदि कोई शुद्ध आत्मा की भावना करनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव पात्रों को दान करे तो स्वर्ग में जाकर देव होने योग्य पुण्य बाँधेगा। यहाँ भाव यह है कि सम्यक्त्वी गृहस्थ स्वभाव से पात्र भक्त हो जाता है और वह पात्रों को दान देता है। सम्यक्त्वी तो स्वर्ग में देव अवश्य ही होता है। यदि सम्यक्त्व के पहले और आयु बाँधी होगी तो अन्यत्र पैदा होगा। जो कोई मिथ्यादृष्टि जीव है अर्थात् निश्चय सम्यक्त्वी तो नहीं है किन्तु व्यवहार में देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धावान है और पात्रों को दान देता है तो उसका वह पात्रदान व रत्नत्रयधारियों की भक्ति निश्चय सम्यक्त्व के लिये कारणरूप है। ऐसे ही निमित्तों के मिलाने से वह सम्यक्त्व के बाधक कर्मों का उपशम करके निश्चल सम्यक्त्वी हो जाता है। तथा पात्रदान के फल से मिथ्यादृष्टि भोगभूमि में जाने लायक पुण्य बाँध लेता है।

यहाँ प्रयोजन यह है कि पात्रदान हरएक श्रद्धावान को करते रहना चाहिये। अपना गृहस्थ का घर दान बिना पवित्र नहीं हो सकता है। दान करने से परिणाम उदार रहते हैं। लक्ष्मी के संचय का मोह कम हो जाता है।

॥ श्लोक २७९ ॥

पात्रदानरतो जीवः, संसारदुःखं निपातए।
कुपात्रदानरतो जीवः, नरयं पतितं ते नरा॥

अन्वयार्थ – (पात्रदानरतो जीवः) जो जीव पात्रों को दान देने में लवलीन हैं वह (ससारदुःख निपातए) संसार के दुःखों को दूर कर देता है (कुपात्रदानरतो जीव.) परन्तु जो अपात्रों के दान में रत (ते नरा नरयं पतितं) वे मानव नरक में जाते हैं।

विशेषार्थ – **जब पात्रदान धर्म का पोषक है तब अपात्र दान अधर्म का पोषक है। पात्रदान से रत्नत्रय का लाभ होता है, क्योंकि दातार रत्नत्रय स्वरूप मुनि, श्रावक व श्रद्धावानों की भक्ति करता है, उनकी संगति ही परिणामों में वैराग्यभाव ला देती है, उनका उपदेश भी भावों को शांत कर देता है। धर्म में गाढ़ रुचि पैदा कर देता है। जो कुछ मिथ्यात्व की व माया की व निदान की शल्य अंतरंग में हो, उसको निकाल डालना है। छिपा हुआ सम्यग्दर्शन रूपी रत्न प्रकाशमान हो जाता है। वीतराग के अंशों के बढ़ने से मिथ्यादृष्टि जीव पात्रों के संपर्क से सम्यग्दृष्टि हो जाता है। वे धर्म के पात्र साधु व श्रावक बड़े दयालु होते हैं। उनके निरंतर अपायविचय धर्मध्यान होता है कि हम किसी तरह संसारी प्राणियों के मिथ्यात्व अंधकार के मिटाने में कारणीभूत हों। जैसे हमको आत्मीक सुख-शांति का लाभ है वैसा ही लाभ जगत के प्राणियों को हो। ऐसे महात्माओं का सन्मान – उनको दान देना, अपने परम कल्याण का उपाय है। धर्म के इच्छावानों को निरन्तर पात्र दान करना चाहिये। दान किये बिना आहार ही न करना चाहिये। नित्य पात्र दान करना मानों नित्य सुख-शांति के सागर पात्रों की संगति से आत्मधर्म का लाभ करना है। इसलिये जैसे मधुमक्खी, मधु के एकत्र करने में आसक्त रहती है, उसी तरह विवेकी मानव को पात्रों की सेवा में तल्लीन रहना चाहिये। इसी से धर्म का संग्रह होगा पापों, का नाश होगा, तब संसार के दुःखों से रक्षा रहेगी। इसके विरुद्ध जो अपात्रों को मान या लोभ के वशीभूत हो दान करते रहते हैं, वे कुधर्म की शिक्षा लेते हुए संसारासक्त बन जाते हैं। जगत की माया जाल में फँसे हुए वे नरकायु बाँधकर नरक में चले जाते हैं। अतएव अपात्रों की भक्ति से बचकर पात्रों की भक्ति से स्वहित करना चाहिये।**

॥ श्लोक २८० ॥

पात्रदानं च प्रति पूर्णं, प्राप्तं च परमं पदं।
शुद्धतत्वं च सार्धं च, ज्ञानमयं सार्थं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (पात्रदान च प्रति पूर्ण) **पात्रदान का पूर्ण फल यह है कि** (परम पद प्राप्त) **परमपद जो मोक्ष, उसकी प्राप्ति होती है** (शुद्धतत्व च सार्ध च) **जो शुद्ध आत्मीक तत्व सहित है** (ज्ञानमय सार्थं ध्रुव) **व ज्ञानमय यथार्थ निश्चल है।**

विशेषार्थ – **पात्रदान का फल अंत में मोक्ष की प्राप्ति है। जो पात्रों को भक्तिपूर्वक दान देते हैं, उनके भीतर रत्नत्रय धारकों से श्रद्धा बढ़ती जाती है, जिसका असर उनकी बुद्धि में यह पड़ता है कि वे सम्यक्त्वी हो जाते हैं। सम्यक्त्वी होना ही मोक्षमार्ग को प्राप्त कर लेना है। एक बार सम्यक्त्व हो गया तो वह प्राणी अवश्य मोक्ष को पहुँचेगा। जहाँ ज्ञानमयी शुद्ध आत्मीक तत्त्व निश्चल अपने स्वरूप**

में कल्लोल किया करता है। गृहस्थ श्रावकों को और कोई इच्छा मन में न रख कर मात्र शुद्ध आत्मीक तत्त्व के लाभ के लिये ही पात्र दान करना चाहिये। पात्रों की सच्चे भाव से भक्ति करना चाहिये। मुनि उत्तम पात्र हैं, उनका समागम कठिन है, परंतु श्रावक पद के धारी मध्यम पात्र पहली से ग्यारहवीं प्रतिमा तक सुगमता से मिल सकते हैं उनको आहार, औषधि, आश्रय व ज्ञान दान करना चाहिये – उनको शास्त्र बाँटना चाहिये, किसी विद्वान शास्त्री का निमित्त मिलाकर उनके ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिये। जघन्य पात्र तो बहुत से स्त्री-पुरुष, बालक, बालिकाएँ मिल सकते हैं। जिनके यहाँ कुदेवों की भक्ति नहीं है, उनको चार प्रकार के दान से सन्तुष्ट करना चाहिये। ज्ञान की वृद्धि के लिये धर्म शिक्षा देना चाहिये, पुस्तकों को बाँटना चाहिये, स्वयं धर्मोपदेश देना चाहिये, अनाथों की रक्षा के हेतु अनाथालय खोलना चाहिये, ब्रह्मचर्याश्रम खोलना चाहिये, जिससे बालक ब्रह्मचारी रूप में रहकर विद्या का अभ्यास करें। श्राविकाश्रम व कन्याशाला आदि खोलना चाहिये, यह सब पात्र दान का अंग है, धर्म की वृद्धि का कारण है।

॥ श्लोक २८१ ॥

पात्रं प्रमोदनं कृत्वा, त्रिलोकं मुदा उच्यते।
यत्र तत्र उत्पाद्यंते, प्रमोदं तत्र जायते॥

अन्वयार्थ – (पात्रं प्रमोदनं कृत्वा) जो पात्रों को देखकर मन में प्रसन्नता लाते हैं, उनके लिये (त्रिलोकं मुदा उच्यते) तीन लोक के प्राणी प्रसन्नता देनेवाले कहे गए हैं (यत्र तत्र उत्पाद्यंते) जहाँ तहाँ पात्रदानी पैदा होता है (तत्र प्रमोदं जायते) वहाँ वहाँ उसको प्रमोदभाव प्राप्त होता है।

विशेषार्थ – उत्तम, मध्यम, जघन्य तीनों ही प्रकार के पात्रों का दर्शन करके जिनका चित्त प्रमोदभाव से भरकर प्रसन्न हो जाता है, उनके ऐसा अपूर्व पुण्य का बंध होता है। ऐसा सातावेदनीय, सुभग नामकर्म, आदेय नामकर्म, यशःकीर्ति, उच्च गोत्र आदि पुण्य प्रकृतियों का बंध पडता है, जिससे वे तीन लोक में जहाँ कहीं भी उत्पन्न होते हैं, उनको हर जगह प्रसन्नता प्राप्त होती है। वे दुःखी, म्लानित व खेदित नहीं होते हैं। पात्रदान के फल से भोगभूमि में यदि जावे तो वहाँ तीन पल्य, दो पल्य, एक पल्य तक कोई शारीरिक बाधा नहीं होती है, न मानसिक तीव्र दुःख होता है, किन्तु जन्म-पर्यंत तक संतोष व सुख बना रहता है। यदि स्वर्ग में देव हो जावे तो वहां भी वह उच्च देव होता है, उसको देखकर अनेक देवी-देव प्रसन्न होते हैं। उसके मन की प्रसन्नता के कारण ही उपलब्ध होते हैं। भोगभूमि से भी देव ही होता है। देवगति में भी पूर्व संस्कार से वहाँ पात्रों की भक्ति करता है। मुनिगणों को धर्म का आराधन करते देखकर व श्रावकों को धर्म पालते देखकर वह भक्ति करता है,

उपदेश सुनता है, कभी साधु संतों पर पडनेवाले उपसर्गों को दूर करता है। इससे पुण्य को बाँधकर फिर उत्तम तेजस्वी मानव होता है, जिसे देखकर सबको प्रमोद होवे। वास्तव में पात्रों की भक्ति व प्रतिष्ठा का अपूर्व फल प्राप्त होता है।

॥ श्लोक २८२ ॥

पात्रं अभ्यागतं कृत्वा, त्रिलोकं अभ्यागतं भवे।
यत्र तत्र उत्पाद्यंते, तत्र अभ्यागतं भवेत्॥

अन्वयार्थ – (पात्रं अभ्यागतं कृत्वा) **जो पात्रों का स्वागत करता है – उनको दान देता है, उसके लिये** (त्रिलोकं अभ्यागतं भवे) **तीन लोक में स्वागत प्राप्त होता है** (यत्र तत्र उत्पाद्यंते) **जहाँ जहाँ वह पैदा होता है** (तत्र अभ्यागतं भवेत्) **वहाँ वहाँ उसका स्वागत व सन्मान होता है।**

विशेषार्थ – **पात्रों को देखकर प्रसन्न होना उससे अधिक क्रिया यह है कि पात्रों का भक्तिपूर्वक स्वागत करके उनको दान देना। इस क्रिया से और भी अटूट पुण्यबंध होता है। तीन लोक के प्राणी उसका स्वागत करते हैं, उसकी प्रतिष्ठा करते हैं। वह दानी दुर्गति से बचता है, मानव व देवगति के ऐसे ऊँचे पद पाता है कि उसका अन्य देव तथा मानव बड़ी प्रतिष्ठा से स्वागत करते हैं। उनका कभी अपमान नहीं करते हैं, उनको देखते ही प्रभावित हो जाते हैं। उनकी आत्मा में बँधा हुआ पुण्य कर्मबंध उनके तेज व माहत्म्य को ऐसा बढा देता है कि सर्व कोई उनके वशीभूत हो जाते हैं। ऐसे ज्ञानी प्राणी यदि कहीं निर्जन वन में भी चले जाते हैं तो उनको सब प्रकार का शारीरिक आराम देनेवाले वहाँ भी मिल जाते हैं। जिन्होंने पुण्यात्मा जीवों के प्रवास पढ़े हैं, वे जानते हैं कि ऐसे मानवों को जंगल में मंगल मिलते है। श्री रामचंद्र, सीता, लक्ष्मण अपने वन के प्रवास में जहाँ भी जाते थे, अपूर्व स्वागत पाते थे। धन्यकुमार सेठपुत्र अकेला उज्जैनी से राजग्रही में जाता है और वहाँ पुण्य के बल से धन का लाभ, स्त्री का लाभ व राज्य का लाभ तक कर लेता है। पूर्व जन्म में धन्यकुमार के जीव ने भक्तिपूर्वक पात्रदान किया था – ऐसा जानकर गृहस्थ श्रावकों को निरंतर पात्रदान करना चाहिये।**

॥ श्लोक २८३ ॥

पात्रस्य चिंतनं कृत्वा, तस्य चित्तं सुचिंतये।
चेतयति प्राप्तं वीर्यं, पात्र चिंता सदा बुधैः॥

अन्वयार्थ – (पात्रस्य चिंतनं कृत्वा) **जो श्रावक गृहस्थ निरंतर चित्त में पात्रों के लाभ की चिंता किया करता है** (तस्य चित्तं सुचिंतये) **उसका मन सदा शुभ भावों में लीन रहता है** (चेतयति प्राप्तं

वीर्यं) वह अपने आत्म वीर्य का भलेप्रकार उपभोग करता है अर्थात् चिंतित कार्य सिद्ध कर लेता है (सदा बुधैः पात्र चिंता) इसलिये बुद्धिमानों को सदा पात्रों की चिंता रखना चाहिये।

विशेषार्थ – जो गृहस्थ निरंतर यह भावना भाता है कि मुझे पात्रों का लाभ हो जावे तो मैं दान दूँ। इस पात्रदान की भावना से वह अपनी कषायों की शक्ति को ऐसी मंद कर देता है कि उसके चित्त में सदा ही शुभ कार्यों के करने की भावना रहा करती है। और जिन शुभ कार्यों को वह करना चाहता है, उनके करने का आत्मबल वह अपने में जागृत कर लेता है। आत्मबल के प्रताप से उसके सर्व ही शुभ कार्य सिद्ध हो जाते हैं। यहाँ ग्रंथकर्ता ने पात्रदान की बड़ी महिमा बताई है, सो बिलकुल ठीक है। दान के भावों से, पात्रों की भक्ति से अपूर्व पुण्यकर्म का बंध हो जाता है। जैसे हिंसाकर्म की चिंता से, असत्य भाषण की चिंता से, चोरी की चिंता से, कुशील की चिंता से, परिग्रह की चिंता से निरंतर पापकर्म का बंध होता है वैसे पात्रदान की चिंता से जबतक चिंता रहेगी, अपूर्व पुण्यकर्म का बंध होता है। दानी गृहस्थ को प्रतिदिन पात्र की चिंता करके पात्रों का समागम मिलाकर दान करके फिर भोजन करना चाहिये। यदि पात्र का लाभ न मिले तो दुःखित-भुक्षित को जिमाकर आप जीमना चाहिये। वास्तव में पात्रदान व करुणादान दोनों के भाव गृहस्थ के सदा रहने चाहिये। दान से ही गृही की शोभा है।

॥ श्लोक २८४ ॥

कुपात्रं अभ्यागतं कृत्वा, दुर्गति अभ्यागतं भवेत्।
सुगतिः तत्र न दिष्टंते, दुर्गतिं च भवे भवे॥

अन्वयार्थ – (कुपात्रं अभ्यागतं कृत्वा) जो कोई अपात्रों का स्वागत करते हैं, वे (दुर्गति अभ्यागतं भवेत्) अपने लिये कुगति का स्वागत करते हैं (तत्र सुगतिः न दिष्टंते) उनको सुगति का दर्शन नहीं होता है, (दुर्गतिं च भवे भवे) उनको भव-भव में दुर्गति की प्राप्ति होती है।

विशेषार्थ – जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र से वासित भेषी कुलिंगी हैं, उनका जो स्वागत करना है, उनको भक्ति पूर्वक दान देना है सो संसार के कारण मिथ्यादर्शन आदि का ही पोषण करना है। जिसका फल कुगति का ही बंध है। तथा मिथ्यात्व के बंध की अति दृढ़ता पाना है। उस मिथ्यात्व के उदय से प्राणी को अनंत भव में दुर्गति का सामना करना पड़ेगा। बार-बार एकेन्द्रिय पर्याय में जन्मना होगा। उनको फिर उन्नति करके पंचेंद्रिय सैनी का जीवन पाना अति कठिन हो जायेगा। गुण और अवगुण का ही आदर या निरादर है। मिथ्यात्वादि दुर्गुण अप्रतिष्ठा के योग्य हैं इसलिये उनके धारी व्यक्ति भी भक्ती करने के योग्य नहीं है। यदि द्यूत रमन बुरी वस्तु है तो द्यूत में

रमन करने वाले का आदर भी उचित नहीं है, उससे जूए खेलनेवाले को जूए के खेलने की उत्तेजना मिलती है व स्वयं भी जूए के फँदे में पड़ जाने की आशंका है। इसलिये प्रतिष्ठा के योग्य रत्नत्रय हैं व उनके धारी सुपात्र हैं। अपात्रों को दान देना केवल निरर्थक ही नहीं है, उल्टा पापबंध कारक हैं। मिथ्यादृष्टि ही किसी मान व लोभ आशा के वशीभूत हो ऐसे अपात्रों का स्वागत करके तीव्र दर्शनमोह का बंध करते हैं। विवेकी को ऐसा करना उचित नहीं है।

॥ श्लोक २८५ ॥

कुपात्रं प्रमोदनं कृत्वा, एकेन्द्रि थावरे उत्पाद्यं।
तिरियं नरय प्रमोदं च, कुपात्रदान फलं सदा॥

अन्वयार्थ – (कुपात्रं प्रमोदनं कृत्वा) **जो अपात्रों को देखकर आनन्द मनाते हैं वे** (एकेन्द्रि थावरे उत्पाद्यं) **एकेन्द्रिय स्थावरों में जन्मते हैं** (तिरियं नरय प्रमोदं च) **उनको नरक व तिर्यंचगति आनन्द से ग्रहण करती है** (कुपात्रदान फलं सदा) **अपात्र दान का सदा ही ऐसा फल होता है।**

विशेषार्थ – **अपात्रों को देखकर आनन्द मनाना, उनकी अपात्रता का अनुमोदन करना है। मिथ्यात्व भावों की ही उनमें पात्रता है। मिथ्यात्व भावों की वासना से व अनन्तानुबन्धी कषाय की तीव्रता से एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म, साधारण नाम कर्म, अपर्याप्ति नाम कर्म आदि प्रकृतियों का बंध होने से यह जीव एक मानव से मरकर सीधा साधारण वनस्पति रूप निगोद पर्याय में चला जाता है, वहाँ से फिर अनंतकाल में भी निकलना कठिन हो जाता है। अथवा नरकगति बांधकर नरक चला जाता है या अन्य पशु-पक्षी की पर्याय पा लेता है। मिथ्यात्व के समान कोई पाप नहीं है। मिथ्यात्व सहित व्यक्ति को धर्मात्मा मान कर उसके अधर्म की प्रतिष्ठा करनी उसे भी पतित रखना है व आप भी पतित होना है। विवेकी मानव को पात्र व अपात्र का विचार करके ही दान देना चाहिये।**

श्री अमितगति श्रावकाचार में कहा है: –

यथा रजोधारिणि पुष्टिकारणं, विनश्यति क्षीरमलाबुनि स्थितम्।
प्ररूढमिथ्यात्वमलाय देहिने, तथा प्रदत्तं द्रविणं विनश्यति॥१६॥

भावार्थ – **जैसे पुष्टिकारी दूध रज को रखनेवाली तूंबी में रखा हुआ नाश हो जाता है, वैसे मिथ्यात्व मलरूपी मलधारी प्राणी को दिया हुआ द्रव्य नाश को प्राप्त हो जाता है।**

॥ श्लोक २८६ ॥

पात्रदानं च शुद्धं च, दात्र शुद्धं सदा भवेत्।
तत्र दानं च मुक्तं च, शुद्ध दृष्टि यथा मतं॥

अन्वयार्थ – (पात्रदानं च शुद्धं च) **पात्रदान शुद्ध दान है इससे** (दात्र शुद्ध सदा भवंतु) **दातार निरंतर शुद्ध होता है।**(तत्र दानं च मुक्तं च) **पात्रों को दान देना मुक्ति का उपाय है** (यथा शुद्ध दृष्टि मतं) **जैसे शुद्ध सम्यग्दर्शन मोक्ष का उपाय माना गया है।**

विशेषार्थ – **सम्यग्दर्शन सहित सुपात्रों को दान देना शुद्ध दान इसलिये है कि उस दान के कारण दातार के परिणाम शुद्ध हो जाते हैं। उसको मोक्षमार्ग की गाढ़ रुचि पैदा हो जाती है। यदि कदाचित् दातार शिथिल श्रद्धानी हो तो दान के बाद सुपात्रों के द्वारा ऐसा योग्य धर्मोपदेश मिलता है, जिससे वह मोक्षमार्ग के सन्मुख हो जावे। इसलिये जहाँ पात्रों को दान देना है वहाँ मोक्ष के मार्ग पर चलना है। जिसतरह सम्यग्दर्शन मोक्ष का उपाय है, वैसे पात्रदान मोक्ष का उपाय है। जैसी संगति होती है वैसा प्रभाव आत्मा के परिणामों पर पड़ता है। यही कारण है जो मिथ्यादृष्टि भी सुपात्रों को दान दे तो भोगभूमि का पुण्य बाँध लेता है और यदि पात्र सम्यग्दर्शन रहित कुपात्र हो तो उनकी संगति से कुभोगभूमि का पुण्य बँध जाता है। सुगंधित वस्तु के संपर्क से वस्त्रों में सुगंध व दुर्गंधित वस्तु के संसर्ग से वस्त्रों में दुर्गंध आने लगती है। बाहरी पदार्थों का बडा भारी असर प्राणी के भावों में पड़ता है। इसलिये विचारवान गृहस्थ को उचित है कि सदा ही पात्रदान के लिये उत्साहित रहे, पात्रदान निरंतर करे। पात्रदान मोक्ष के परम्परा साधनों में एक प्रबल कारण है। रत्नत्रय धारी की भक्ति रत्नत्रय की भक्ति ही है।**

॥ श्लोक २८७ ॥

पात्रशिक्षा च दात्रस्य, दात्र दानं च पात्रये।
दात्र पात्रं च शुद्धं च, दानं निर्मलितं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (दात्रस्य) **दातार को** (पात्रशिक्षा च) **पात्र द्वारा योग्य शिक्षा प्राप्त होती है** (दात्र पात्रये दानं च) **दातार द्वारा पात्र को दान होता है** (दात्र पात्रं च शुद्धं च) **जहाँ दातार तथा पात्र दोनों ही शुद्ध हैं** (दानं निर्मलितं ध्रुवं) **वहाँ निरंतर दान निर्मल होता है।**

विशेषार्थ – **यहाँ बताया है कि सुपात्र दान का बडा भारी माहात्म्य है। दातार और पात्र दोनों का उपकार पात्रदान से होता है। धर्म के पात्र धर्म के साधक हैं, उनको दान देने से उनके परिणामों की स्थिरता होती है। उनके संयम का साधन होता है। धर्म के प्रति सम्मान होने से उनकी रुचि विशेष बढ़ जाती है। यह उपकार तो दाता द्वारा पात्र का होता है। पात्र द्वारा दाता का उपकार यह है कि पात्र उत्तम धर्मोपदेश देते हैं। उत्तम शिक्षा के मिलने से दातार के भीतर जो कुछ मलिनता होती है, वह दूर हो जाती है। वह धर्म का विशेष अनुरागी हो जाता है। बहुधा धर्म के पात्र मुनि या श्रावक दान ले चुकने**

के पश्चात् किसी तरह के संयम धारने का उपदेश देते हैं। दातार यथायोग्य नियम लेकर धर्मकार्य में विशेष आचरण करने लग जाता है। वास्तव में सुपात्र दातार के लिये बड़े ही उपकारी हैं। अपात्रों को दान देने से जब मिथ्यात्व की शिक्षा मिलती है, तब सुपात्रों को दान देने से सम्यग्दर्शन की शिक्षा मिलती है। जहाँ दातार का भाव शुद्ध है, सम्यग्दर्शन से पूर्ण है व पात्र भी शुद्धभावधारी सम्यग्दृष्टि है, वहाँ अपूर्व निर्मल दान होता है। दोनों के भाव अति पवित्र हो जाते है। यह दान सदा ही भावों की अति विशुद्धता करनेवाला है। पात्रदान धर्म का मुख्य साधक है।

॥ श्लोक २८८ ॥

दात्रं शुद्ध सम्यक्तं, पात्रं तत्र प्रमोदनं।
दात्र पात्रं च शुद्धं च, दानं निर्मलितं सदा॥

अन्वयार्थ – (दात्र शुद्ध सम्यक्तं) दातार शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारी होता है (तत्र पात्रं प्रमोदनं) तब वह पात्रों के लिये प्रमोद भाव रखता है (दात्र पात्र च शुद्धं च) जहाँ दातार और पात्र शुद्ध हों (दानं निर्मलितं सदा) वहाँ निरंतर दान की निर्मलता है।

विशेषार्थ – जिस दाता के भीतर शुद्ध सम्यक्त्व है, जो निज शुद्धात्मा का अनुभव करनेवाला है, जो धर्म का परम अनुरागी है, जो धर्मात्माओं की सेवा में नित्य भाव रखता है। ऐसा दातार नित्य मन में ऐसा चाहता है कि मुझे पात्रदान का अवसर मिले। जब कभी वह किसी उत्तम पात्र मुनि को, मध्यम पात्र श्रावक को व जघन्य पात्र अविरत सम्यग्दृष्टि को देखता है, उनका मन प्रफुल्लित हो जाता है, वह उनकी सेवा के लिये अति अनुरागी हो जाता है और भक्तिपूर्वक उनको यथायोग्य दान देता है। इस सम्यग्दृष्टि दातार का भाव शुद्ध आत्मीक भाव की तरफ झुका हुआ है। वह यही चाहता है कि जो जो मोक्षमार्ग पर आरूढ हैं, वे वंदनीय, आदरणीय व प्रतिष्ठा के योग्य हैं। उसका रत्नत्रय का अनुराग अपूर्व रहता है। सम्यग्दृष्टि पात्रों का भी भाव रत्नत्रय के प्रेम से पूर्ण होता है। दाता और पात्र दोनों की दृष्टि जहाँ स्वात्मानुभव पर हो और वे दोनों दान के समय परस्पर मिलें तब परस्पर भावों की उज्वलता में बड़ा ही प्रभाव पड़ता है। सम्यग्दृष्टि द्वारा सम्यग्दृष्टि को दान हो जाना ही सच्चा पवित्र दान है। यह दान अतिशयकारी पुण्यबंध का कारण है। यह बाँधा हुआ पुण्य जीव को संसार में आसक्त करनेवाला नहीं होता है। किन्तु ऐसे उत्तम निमित्त मिला देता है, जिससे संयम पालने की योग्यता हो जाती है तथा मोक्ष प्राप्त करने योग्य वज्रऋषभनाराच संहनन आदि का लाभ हो जाता है। सम्यक्त्वी दाता व पात्र दोनों दान के समय आनंद पाते हैं।

॥ श्लोक २८९ ॥

पात्रं यत्र शुद्धं च, दात्र प्रमोद कारणं।
पात्र दात्र शुद्धं च, उक्तं दान जिनागमे॥

अन्वयार्थ – (यत्र पात्रं शुद्धं च) **जहाँ पात्र शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है** (दात्र प्रमोद कारणं) **वह दातार को प्रमोद उत्पन्न करने का कारण होता है** (पात्र दात्र शुद्धं च) **जहाँ पात्र और दातार दोनों शुद्ध सम्यग्दृष्टि हो,** (जिनागमे दान उक्तं) **वही दान जिनागम में उचित कहा गया है।**

विशेषार्थ – **सम्यग्दर्शन का ऐसा महात्म्य है कि जिसके कारण मुख पर एक अपूर्व शांति का झलकाव होता है। सम्यक्त्वी पात्र के दर्शन करते ही दाता शांतरस में पहुँच जाता है। सम्यक्त्वी पात्र के द्वारा कोई ऐसी क्रिया नहीं होती है, जिससे दातार को कुछ भी कष्ट हो, वह बड़ा ही संतोषी होता है। जो उद्दिष्टआहार के त्यागी हैं वे तो रस-नीरस जो मिला, उसे लेकर अपने आत्म-कार्य में लग जाते हैं। वे तो यहाँ तक सम्हाल रखते हैं कि उनके निमित्त कोई आरम्भ नहीं किया जावे। जो गृहस्थ के स्व-कुटुम्ब के लिये भोजन तैयार किया हो उसी में से मुनिगण आहार लेते हैं। जिससे उनके निमित्त से न तो हिंसा हो और न कुछ भी कष्ट हो। अन्य मध्यम या जघन्य पात्र भी बड़े ही उत्साही व धर्म के प्रेमी होते हैं। किसी तरह का अभिमान नहीं रखते हैं। यदि कोई भक्तिपूर्वक निमंत्रण करे तो वे कभी मान से उसका निषेध नहीं करते हैं। जैन आगम में उस ही को उत्तम दान कहा गया है, जहाँ पात्र और दान दोनों योग्य हों। सम्यग्दृष्टि द्वारा सम्यग्दृष्टि को दान हो जाना ही प्रशंसनीय दान है। जहाँ सम्यदृष्टि मोक्षगामी दातार हो और तीर्थंकर सरीखे मोक्षगामी महात्मा पात्र हों, वह दान महान है। राजा श्रेयांस द्वारा श्री ऋिषभदेव भगवान को दान हो जाना व चन्दना सती द्वारा श्री महावीर भगवान को दान हो जाना ऐसे सुयोग्य दान के उदाहरण हैं। सम्यग्दर्शन की अपूर्व सुगन्ध है।**

॥ श्लोक २९० ॥

मिथ्यादृष्टी च दानं च पात्र न गृहिते पुनः।
यदि पात्र गृहिते दानं, पात्रं अपात्र उच्यते॥

अन्वयार्थ – (मिथ्यादृष्टी च दानं च) **मिथ्यादृष्टि के द्वारा दिये हुए दान को** (पात्र न गृहिते पुनः) **पात्र नहीं ग्रहण करते हैं** (यदि पात्रदान ग्रहिते) **यदि पात्र दान को ग्रहण कर ले तो** (पात्र अपात्र उच्यते) **वह पात्र अपात्र कहा जाता है।**

विशेषार्थ – **यहाँ यह बताया है कि जो सम्यग्दृष्टि पात्र होते हैं, वे श्रद्धावान भाई-बहन दातार के ही हाथ से भोजन लेते हैं। जो मिथ्यादृष्टी हैं, सच्चे देव, गुरु शास्त्र के श्रद्धानी नहीं हैं, उनके**

सच्ची भक्ति सुपात्रों से नहीं हो सकती है। यदि कदाचित् वे किसी कारणवश पात्रों को दान देने के लिये तैयार भी हो जावें तो पात्र जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे उनको उपदेश देकर पहले सम्यग्दृष्टि अर्थात् व्यवहार श्रद्धावान बना लेंगे, तब उनको दातार मानकर उनके यहाँ भोजन करेंगे। जो सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के श्रद्धानी हैं, वे ही शुद्ध भोजन तैयार कर सकते हैं, छना पानी व्यवहार कर सकते हैं। शुद्ध अन्न, घी, दूधादि काम में लेंगे, जीवदया पूर्वक रसोई बनायेंगे। मिथ्यादृष्टि की भोजन की क्रिया जैन शास्त्रोक्त नहीं होगी। इसलिये जो श्रद्धावान तीन प्रकार के पात्र हैं, वे ऐसी अशुद्ध रसोई को स्वीकार नहीं कर सकते। न तो वह वस्तु ही लेने योग्य है, न दातार मिथ्यादृष्टि की भक्ति उस रत्नत्रय धर्म में है, जिसके धारी वे पात्र हैं। भक्ति विना पात्रदान नहीं होता है। यदि कोई पात्र ऐसी अशुद्ध रसोई को मिथ्यादृष्टि के द्वारा दिये जानेपर ले लेवे तो तौ वह स्वयं अपात्र हो जाता है अर्थात् स्वयं मिथ्यादृष्टी व जैनाचार के विरुद्ध हो जाता है – ऐसा आचार्यों ने कहा है। जब तक श्रद्धा न हो, तब तक दातापना नहीं। जहाँ श्रद्धा बिगडी, वहाँ पात्रपना नहीं। पात्र को वही दान लेना योग्य है, जो उसको दातार द्वारा धर्मपात्र समझकर शुद्धता के साथ दिया जावे। जो पात्र इसके विरुद्ध आहार करता है, वह स्वयं अपात्र हो जाता है।

॥ श्लोक २९१ ॥

मिथ्यादान विषं प्रोक्तं, घृतं दुग्ध विनाशए।
नीचसंगेन पात्रं च, गुणं नाशन्ति यत्पुनः॥

अन्वयार्थ – (मिथ्यादान विषं प्रोक्तं) **मिथ्यात्वी का दान विषरूप कहा गया है** (घृतं दुग्ध विनाशए) **जैसे विष के संयोग से घी और दूध के गुण नष्ट हो जाते हैं, वैसे** (नीचसंगेन पात्रं च गुणं नाशन्ति यत्पुन) **मिथ्यादृष्टि की संगति से पात्र के गुण भी नाश हो जायेंगे।**

विशेषार्थ – **दान श्रद्धावान का ही गुणकारी है। जो अन्नादि ग्रहण किया जाता है, उसमें दातार के भावों का भी असर हो जाता है। मिथ्यात्व भाव से मिला हुआ वह दान है। अतएव ऐसा दान ग्रहण करनेवाले पात्र की बुद्धि को मलीन कर देता है। जैसे विष के संयोग से घी व दूध नष्ट हो जाते हैं, वैसे मिथ्यादान के संयोग से पात्र के सम्यक्त्वादि गुण नष्ट हो जाते हैं। यदि कोई पात्र न हो, परन्तु अपने को पात्र मानकर मिथ्यादृष्टि दातार से दान लेने का अभ्यास बना ले तो उस पात्र का प्रेम उस मिथ्यादृष्टि से हो जायेगा अर्थात् मिथ्यात्व की अनुमोदना उसके हो जायगी। वह दातार भी समझेगा कि मुझे इन पात्रों ने योग्य ही समझा तब ही तो मेरा दान लिया। वह और भी मिथ्यात्व ग्रंथि को दृढ कर लेगा। अतएव ऐसा दान उपकारक न होकर अपकारक होगा।**

यहाँ तात्पर्य यह है कि सुपात्र वही है, जो धर्म का दृढ श्रद्धावान हो व धर्म के प्रति दृढ़ श्रद्धानियों के ही द्वारा भक्ति से दिये हुए दान को ग्रहण करे, तब ही यह शुद्ध दान दातार व पात्र दोनों को मोक्षमार्ग में प्रेरक है। मिथ्यात्वी की पात्रों में सच्ची भक्ति नहीं होती है। अतएव उसका दिया हुआ दान पात्र के लिये उचित नहीं है। यदि कोई ले ले तो वह अपात्र हो जायेगा। दातार के अशुद्ध द्रव्य का व उसके कुभावों का भोजन करनेवाले के परिणामों में असर होता है, वह विकार का हेतु है। एक वेश्या ने मायाचार से श्राविका बनकर धोखे से एक जैन साधु को आहार करा दिया। आहार करते हुए उनकी दृष्टि ऊपर गई। उन्होंने एक मोतियों का हार टँगा हुआ देखा। उनके परिणाम ऐसे हुए कि हम हार को चुरा ले जावें, तब उस साधु ने अपने गुरु से यह हाल कहा। गुरु ने कहा कि तुमने अशुद्ध दातार का अशुद्ध भोजन खाया है। प्रायश्चित्त लेकर दोष से मुक्त होना चाहिये। अतएव श्रद्धावान के द्वारा शुद्ध भोजन ही पात्रों को ग्रहण करना चाहिये।

॥ श्लोक २९२ ॥

मिथ्यादृष्टी च संगेन, गुणं निर्गुणं भवेत्।
मिथ्यादृष्टी जीवस्य, संगं तजंति ये बुधाः॥

अन्वयार्थ – (मिथ्यादृष्टी च संगेन) **मिथ्यादृष्टि की संगति से** (गुणं निर्गुण भवेत्) **पात्र के गुण अवगुण रूप हो जाते हैं, अतएव** (ये बुधाः) **जो बुद्धिमान हैं, वे** (मिथ्यादृष्टी जीवस्य सगं तजंति) **मिथ्यादृष्टि जीव की संगति छोड देते हैं।**

विशेषार्थ – **जो सच्चे तत्त्व के श्रद्धावान नहीं है, उनकी संगति से लाभ होने के बदले में हानि होना बहुत संभव है। उनके प्रभाव में आकर सच्चे श्रद्धावानों की श्रद्धा बहुधा बिगड़ जाती है। तथा गुणों का नाश होकर अवगुणों की उत्पत्ति हो जाती है। बहुधा कुसंगति से ही लोग जुआरी, शिकारी, नशेबाज, वेश्यागामी, माँसाहारी, परस्त्री-रत, चोर हो जाया करते हैं। कुसंगति से विषयासक्ति हो जाती है। जिन दातारों की संगति से सम्यक्त्व दृढ़ हो, उन ही के द्वारा दान लेने से सम्यक्तवादि गुणों की वृद्धि होगी। यदि दातार सम्यक्त्व रहित है, मिथ्या देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धानी है तो पात्र के भीतर उसके भावों का असर पडने से सम्यक्त्व भाव में बाधा हो जायेगी। अतएव सम्यक्त्वी सर्व ही पात्र उन अनायतनों की संगति नहीं करते हैं, जिनसे श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र में अन्तर पड़ जावे। इसीलिये मिथ्यादृष्टि के दान को वे ग्रहण नहीं करते। श्रद्धावान श्रावक गृहस्थ के ही द्वारा दिया हुआ दान लेते हैं।**

॥ श्लोक २९३ ॥

मिथ्याती संगते येन, दुर्गति भवति ते नरा।
मिथ्यासंग विनिर्मुक्तं, शुद्ध धर्म रता सदा॥

अन्वयार्थ – (येन) **क्योंकि** (मिथ्याती संगते दुर्गति भवति) **मिथ्यात्वी संसारासक्त मानवों की संगति से खोटी गति होती है, अतएव** (ते नरा मिथ्यासग विनिर्मुक्तं) **वे मानव मिथ्यात्व की संगति को छोडकर** (शुद्ध धर्म रता सदा) **सदा ही शुद्ध रत्नत्रय धर्म में लीन रहते हैं।**

विशेषार्थ – **संगति का बड़ा भारी असर होता है। कुसंगति से यह प्राणी मिथ्यादृष्टि होकर कुदेव, कुशास्त्र व कुगुरु का भक्त बन जाता है व इंद्रियों के विषयों का लम्पटी होकर विषयांध हो जाता है या ख्याति-पूजा-लाभदि के लोभ में पड जाता है, आत्मानुभव के हेतु रूप सच्चे धर्म का श्रद्धान खो बैठता है। अतएव नरक व पशुगति बाँधकर नारकी या तिर्यंच हो जाता है। इसीलिये जो पंडित पात्र हैं, चाहे मुनि हों या श्रावक हों या व्रतरहित सम्यक्त्वी हों, वे कुसंगति से सदा बचते हैं। मिथ्यादृष्टि की संगति नहीं करते हैं, तब वे मिथ्यात्वी द्वारा दिया हुआ दान भी नहीं लेते। क्योंकि भोजन की संगति व मिथ्यात्वी दातार की संगति परिणामों में विकार उत्पन्न कर देगी। ज्ञानी पात्र सदा ही शुद्ध आत्मीक तत्त्व में रमण किया करते हैं व उसके साधक पाँच परमेष्ठी की भक्ति करते हैं। धर्मात्मा गृहस्थों की ही संगति रखते हैं व धर्मात्मा गृहस्थों के ही द्वारा दिया हुआ दान लेते हैं। उनके इस बात की बड़ी सम्हाल रहती है कि हमारा रत्नत्रय धर्म किसी तरह भी मलिन न हो। वह पूर्णपने सुरक्षित रहे, इसलिये वे श्रद्धावान श्रावक गृहस्थों के द्वारा दिया हुआ दान ही लेते हैं। मिथ्यादृष्टियों को सम्यक्त्वी बनाकर फिर उनके द्वारा आहार, वस्त्र आदि ले सकते हैं।**

॥ श्लोक २९४ ॥

मिथ्या संगं न कर्तव्यं, मिथ्या वासना वासितं।
दूरे त्यजंति मिथ्यात्वं, देश इत्यादि त्यक्तयं॥

अन्वयार्थ – (मिथ्यासग न कर्तव्य) **मिथ्यात्व का संग न करना चाहिये** (मिथ्या वासना वासित) **मिथ्यात्व की वासना से वासित** (देश इत्यादि त्यक्तय) **क्षेत्र आदि का त्याग करना चाहिये। ज्ञानीजन** (मिथ्यात्व दूरे त्यजति) **मिथ्यादर्शन को दूर से ही त्याग देते हैं।**

विशेषार्थ – **मिथ्यादर्शन के समान कोई पाप नहीं है। सम्यग्दर्शन के समान कोई गुण नहीं है। व्यवहार मिथ्यात्व का सेवन अंतरंग मिथ्यात्व की वासना को दृढ़ करनेवाला है, जैसे व्यवहार**

सम्यग्दर्शन का सेवन अंतरंग सम्यग्दर्शन को दृढ़ करनेवाला है, इसलिये धर्मात्मा श्रावक गृहस्थों को मिथ्यात्व के पोषक अपात्रों का संग नहीं करना चाहिये। उनको उस क्षेत्र में भी नहीं जाना चाहिये, जहाँ मिथ्यात्व की पुष्टि हो व सम्यग्दर्शन की विराधना की शंका हो। मिथ्यादर्शन से उसीतरह बचना चाहिये, जैसे दुर्गंध वायु, जल, भूमि से बचा जाता है। कुदेव, कुगुरु, कुधर्म की संगति मिथ्यात्व की वासना को पैदा करनेवाली है। इसलिये उनकी संगति न करना ही उचित है। जिस देश में मिथ्यात्व का ही प्रचार है, व्यवहार सम्यग्दर्शन के साधन नहीं है, उस देश में प्रथम तो जाना ही उचित नहीं है। यदि लौकिक कार्यवश जाना पड़े तो सम्यग्दर्शन की साधक क्रियाओं को करता रहे। जप, पाठ, सामायिक ध्यानादि को कभी न छोड़े तथा मिथ्यात्व क्रियाओं की संगति में आप न बैठे। धर्मबुद्धि से मिथ्या धर्म के धारकों का सन्मान आदि न करे। जैसे शुद्ध श्वेत वस्त्र का धारी इस बात की सम्हाल रखता है कि कहीं कोई कीचड का धब्बा मेरे कपड़ों पर न लग जावे, वैसे विवेकी को सम्हाल रखना चाहिये कि मेरे श्रद्धान में कोई मलिनता न आ जावे। इसीलिये अपात्रों की भक्ति करना उचित नहीं है।

॥ श्लोक २९५ ॥

मिथ्या दूरे हि वाचंति, मिथ्या संग न दिष्टते।
मिथ्या माया कुटुंबस्य, संगं विरचे सदा बुधैः॥

अन्वयार्थ – (मिथ्या दूरे ही वाचंति) **मिथ्यात्व से दूर से ही बचना चाहिये** (मिथ्या संग न दिष्टते) **मिथ्यात्व का संग न दिखना चाहिये** (मिथ्या माया कुटुंबस्य संगं) **मिथ्यात्व व माया में फँसे हुए कुटुंब का संग भी** (बुधैः सदा विरचे) **बुद्धिमान सदा ही बचावे।**

विशेषार्थ – **यहाँ पर भी मिथ्यात्व की संगति का निषेध किया है। ग्रंथकर्ता का अभिप्राय यही है कि गृहस्थजन शुद्ध सम्यक्त्व में परिपक्व रहें। क्योंकि सम्यग्दर्शन ही मोक्षमार्ग की प्रथम सीढी है। इसके बिना व्रत, जप, तप सब असार है। आत्मानुशासन में कहा है –**

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः। पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्तसंयुक्तम्॥१५॥

भावार्थ – **समभाव, ज्ञान, चारित्र तप का मूल्य सम्यग्दर्शन के बिना पाषाण खण्ड के समान है, परन्तु यदि वे सम्यग्दर्शन के साथ हों तो उनका मूल्य व आदर महामणि के समान होता है।**

इसीलिये मिथ्यात्व से भले प्रकार से बचने का उपदेश है। ज्ञानी गृहस्थ को उचित है कि सदा ही सम्यग्दर्शन की दृढ़ता के कारक आयतनों की संगति रखे। जिन-चैत्यालय, जिन-शास्त्र, जैन गुरु, जैन धर्मात्मा ज्ञानी पुरुष, जिनेंद्र-भक्ति, सद्गुरु को दान, सद्गुरु द्वारा उपदेश-श्रवण आदि निमित्तों को मिलाता रहे, इनके विरुद्ध निमित्तों की संगति न करे, उनसे माध्यस्थ्य भाव रखे, लौकिक

व्यवहार न बिगड़े, उतना मात्र सहयोग देवे, परन्तु अपनी श्रद्धा में किसी तरह मलिनता आ जावे – ऐसा सहयोग न करे। जो गृहस्थ कुटुम्बी मिथ्यात्व के पोषक हैं व जो मायाचार के पोषक हैं, ठग हैं, अन्यायी हैं, उनकी संगति से बचना ही उचित है। जिसतरह बने सम्यग्दर्शन की रक्षा करे – यह अभिप्राय है।

॥ श्लोक २९६ ॥

मिथ्यात्वं परमं दुःखं, सम्यक्तं परमं सुखं।
तत्र मिथ्यामतं त्यक्तं, शुद्ध सम्यक्त सार्द्धयं॥

अन्वयार्थ – (मिथ्यात्वं परमं दुःखं) **मिथ्यादर्शन परम दुःख का कारण है** (सम्यक्त परमं सुखं) **सम्यग्दर्शन परम सुख का कारण है** (तत्र मिथ्यामतं त्यक्तं) **इसीलिये मिथ्यादर्शन का त्याग करे** (शुद्ध सम्यक्त सार्द्धयं) **शुद्ध सम्यग्दर्शन को अपना साथी बनाए रखे।**

विशेषार्थ – **संसार में नरक, निगोद, एकेंद्रिय, विकलत्रय, पशु आदि के घोर से घोर दुःखों में पटकनेवाले कर्मों का बंध मिथ्यादर्शन से होता है इसलिये मिथ्यादर्शन ही परम दुःखरूप है अथवा मिथ्यात्वी जीव संसार में तीव्र रागी होता है, वह निरंतर इष्ट का समागम चाहता है। जब इष्ट का वियोग हो जाता है या कोई उसके अनुकूल नहीं चलता है तो उसे महा दुःख होता है। वह रात-दिन तृष्णा की व्याधि से पीडित रहता है, विषयों के कारण आकुलित रहता है। इच्छा व चिंता ये ही महान दुःख हैं। इच्छित वस्तुओं के मिलने पर भी वह तृष्णा को बढ़ाकर अधिक चाह की दाह में जला करता है। मिथ्यात्वी का जीवन सदा दुःखरूप रहता है। वह परलोक में भी कष्ट पाता है। सम्यग्दर्शन परम सुख का कारण है। सम्यक्त्वी जीव मोक्ष पाता है। सम्यक्त्वी इस लोक व परलोक दोनों में सुखी रहता है। यहाँ यदि कर्मों के उदय से दुःख के सामान (निमित्त) मिलते हैं तोभी समभाव रखता है। यदि पुण्य के उदय से सुख के सामान (निमित्त) मिलते हैं तो उनसे वैरागी रहता हुआ उनमें रंजायमान नहीं होता है। इसीलिये इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि शुद्ध सम्यक्त्व की रक्षा की जावे, सम्यक्त्व में कोई दोष न लगाया जावे। मिथ्यादर्शन को भलेप्रकार त्याग दिया जावे। जिनकी संगति से विषय-कषायों में लीनता हो, मिथ्या पूजा-पाठ व रूढियों में भी जकड़ना पडे, उनकी संगती विवेकी न करें। इसी हेतु से भक्तिपूर्वक अपात्रों को दान न करे। व्यवहार सम्यग्दर्शन के धारी पात्रों को ही भक्ति से दान करे, चाहे वे सुपात्र हों या कुपात्र अर्थात् निश्चय सम्यक्त्व रहित हो। परन्तु व्यवहार सम्यक्त से शून्य मिथ्यादृष्टि को भक्तिपूर्वक दान करना उचित नहीं है, क्योंकि वहाँ धर्म की पात्रता नहीं है। दया बुद्धि से हरएक प्राणी को आहार, औषधि, अभय व विद्यादान करना उचित है, उनमें**

पात्र-अपात्र का विचार नहीं है। धर्मबुद्धि से मिथ्यात्व की भक्ति हानिकारक है, जिसे करना उचित नहीं है। सम्यग्दर्शनरूपी रत्न की रक्षा करना विवेकी का कर्तव्य है।

॥ रात्रि भोजन त्याग ॥

॥ श्लोक २९७ ॥

अनस्तमितं बेघडियं च, शुद्ध धर्म प्रकाशये।
सार्धं शुद्ध तत्वं च, अनस्तमितं रतो नराः॥

अन्वयार्थ – (अनस्तमितं बेघडियं) सूर्य के अस्त होने से दो घडी पहले भोजन कर लेना चाहिये (शुद्ध धर्म प्रकाशये) ऐसा अहिंसाधर्म प्रकाशित करता है (शुद्धतत्वं च सार्द्धं) जो धर्म शुद्ध वस्तुस्वरूप को बतानेवाला है, इसतरह (नराः अनस्तमितं रताः) मानवों को रात्रि-भोजन त्याग में रत होना योग्य है।

विशेषार्थ – अब ग्रंथकर्ता रात्रि-भोजन त्याग के सम्बन्ध में कहते हैं कि धर्मात्मा श्रावकों को जो अहिंसाधर्म के प्रेमी हैं, जो चाहते हैं कि वृथा ही जंतुओं का वध न हो, उन्हें यह उचित है कि रात्रि को भोजन न करें। दो घडी अर्थात् ४८ मिनट सूर्य के अस्त में शेष रहे, तब भोजन-पान समाप्त कर लें व दो घडी दिन निकले बिना भोजन-पान प्रारम्भ न करे। शुद्ध वस्तुस्वरूप को बतानेवाला यह जैनधर्म हिंसा से बचने के लिये ऐसा उपदेश करता है। रात्रि को अंधेरा रहता है। यदि दीपक जलाया जावे व उस प्रकाश में रसोई बनाई जावे व खाई जावे तो उसमें चौइंद्रिय प्राणियों का वध होगा, जो दिन में विश्राम करते हैं व रात्रि को उड़ा करते हैं। अहिंसा व्रत की पूर्णता के लिये रात्रि को पूर्ण उपवास पालना चाहिये। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है –

रात्रौ भुंजानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा। हिंसाविरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि॥ १२९॥
अर्कालोकेन बिना भुंजानः परिहरेत् कथं हिंसां। अपि बोधितः प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजंतूनां॥ १३३॥

भावार्थ – जो रात्रि को भोजन करते हैं, उनको नियम से हिंसा करनी पड़ती है, इसलिये जो हिंसा से बचना चाहते हैं, उनको रात्रि को भोजन भी न करना चाहिये। सूर्य के प्रकाश बिना खाते हुए हिंसा कैसे छोडी जा सकती है। क्योंकि प्रदीप के जलाने पर अनेक छोटे-छोटे जन्तु आ जावेंगे व उनका भोजन में सम्बन्ध होने से उनकी हिंसा होगी व उनका कलेवर भोजन के साथ खाया जायगा।

विवेकी गृहस्थ रात्रि को जल भी नहीं लेते हैं, तथापि गृहस्थों को रात्रि-भोजन त्याग का यत्न करना उचित है। खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय – चार प्रकार का आहार है – अभ्यास करनेवाले इनका

यथाशक्ति त्याग करे। उद्यम इस बात का करे कि रात्रि को जल भी न लेना पडे तो उत्तम है। रात्रि को पूर्ण खान-पान के त्याग करने से वर्ष में छह मास के उपवास का फल होता है।

॥ श्लोक २९८ ॥

अनस्तमितं कृतं येन, मन वच काय योगभिः।
शुद्ध भावं च भावं च, अनस्तमितं प्रतिपालए॥

अन्वयार्थ – (येन) **जिसने** (मन वच काय योगभि:) **मन-वचन-काय तीनों योगों के द्वारा** (अनस्तमित कृतं) **रात्रि-भोजन का त्याग कर दिया** (शुद्ध भावं च भावं च) **उसी ने शुद्ध भावों की भावना भाई है।** (अनस्तमितं प्रतिपालए) **और रात्रि-भोजन त्याग व्रत प्रतिपालन किया है।**

विशेषार्थ – **रात्रि को भोजन की इच्छा मन से भी न करे, न रात्रि-भोजन सम्बन्धी वचन बोले, न काय से रात्रि-भोजन करे। मन-वचन-काय से जिसने रात्रि-भोजन का त्याग किया, उसने अहिंसाधर्म को यथार्थ पालन किया है। धर्मात्मा श्रावकों को उचित है कि रात्रि को भोजन का सर्व विकल्प मेटकर परम सन्तोष रखें, और धर्मध्यान में समय लगावें। शुद्ध भाव की भावना करें, आत्मतत्त्व का चिंतवन करें। भोजनादि कुकथा को भी त्यागे। पूर्णपने इस रात्रि-भोजन त्याग व्रत को पालें।**

जैन गृहस्थों के अहिंसा धर्म व वीतराग धर्म की यही शोभा है, जो सूर्यप्रकाश में ही भोजन-पान कर लिया जावे। भोजन-सम्बन्धी आरम्भ भी दिन में किया जावे। दिन में ही रसोई तैयार की जावे। दिन में ही खाया-खिलाया जावे। सम्यक्त्वी स्वभाव से ही दयालु होता है। वह यह उद्यम रखता है कि जितना अधिक हिंसा से बचा जावे, उतना धर्म है।

॥ श्लोक २९९ ॥

अनस्तमित्वं पालंते, वासी भोजन त्यक्तये।
रात्रि भोजनं कृतं येन, भुक्तं तस्य न शुद्धए॥

अन्वयार्थ – (अनस्तमित्वं पालंते) **जो रात्रि-भोजन त्याग व्रत पालते हैं, वे** (वासी भोजन त्यक्तये) **रात्रि का बासी भोजन छोड़ देते हैं।** (येन रात्रि भोजनं कृतं) **जिसने रात्रि भोजन किया,** (तस्य भुक्तं न शुद्धए) **उसका भोजन शुद्धि के लिये नहीं है।**

विशेषार्थ – **रात्रि-भोजन के त्यागी को न तो रात का बनाया खाना चाहिये, न रोटी-पुरी आदि जिसकी मर्यादा मात्र दिन भर की है, रात्रि का बासी भोजन सबेरे खाना चाहिये। भोजन की शुद्धि भी अति आवश्यक वस्तु है। शुद्ध भोजन वही है, जिसमें हिंसा का दोष जितना बचाया जा सके, बचता**

हो। रात्रि का पीसा आटा व मसाला आदि न खाना चाहिये। त्रस जंतुओं की हिंसा बचाना बहुत जरूरी है। त्रस-जंतु के कलेवर को माँस कहते हैं। ऐसा माँस अपने खानें मे न आवे, इसलिये रात्रि को बनाना व रात्रि को खाना उचित नहीं है। परिणामों की उज्ज्वलता के लिये शुद्ध भोजन बहुत उपकारी है। गृहस्थ श्रावक को उचित है कि अपने भोजन को ऐसा शुद्ध तैयार करे, जो मुनि आदि पात्रों को दान भी किया जा सके व अपने को भी शुद्धतापूर्ण प्राप्त हो।

॥ श्लोक ३०० ॥

खाद स्वाद पीवं च, लेयं आहार क्रियते।
वासी स्वाद विचलंते, त्यक्तं अनस्तमितं कृतं॥

अन्वयार्थ – (खाद स्वाद पीवं च लेयं आहार क्रियते) **खाद्य, स्वाद्य, पेय, लेह्य – ऐसे चार प्रकार का आहार होता है, इनको रात्रि में तथा** (वासी स्वाद विचलंते) **वासी भोजन को, जिनका स्वाद चलायमान हो गया है,** (त्यक्तं) **छोड दिया जाय, तब ही** (अनस्तमितं कृतं) **रात्रि-भोजन त्याग व्रत पूर्ण हुआ समझना चाहिये।**

विशेषार्थ – **भोजन के चार भेद हैं। जिससे पेट भरे ऐसे अन्नादि** खाद्य **है। इलायची ताम्बूल** आदि स्वाद्य **है। दूध, पानी आदि** पेय **हैं तथा चाँटने की चीज चटनी आदि** लेह्य **है। रात्रि-भोजन त्यागी को इन चारों ही प्रकार का भोजन नहीं लेना योग्य है। न रात्रि का बनाया हुआ, न रात्रि का बासी भोजन जिसका स्वाद और का और हो गया है, लेना योग्य है। वास्तव में सन्तोष व इंद्रिय-विजय का भाव श्रावक गृहस्थ में होना चाहिये। जो सच्चे धर्म के श्रद्धावान हैं, उनको इस व्रत के पालन में कोई कठिनाई नहीं होती है। वे बडे दयावान होते हैं। जितना बचे उतना हिंसा को बचाते हैं, उनको विश्वास होता है कि दिन की अपेक्षा रात्रि को खान-पान का आरम्भ करने में या खाने में बहुत त्रस-जन्तुओं का घात होता है। यदि हमको कोई लाचारी नहीं है तो हमें अवश्य खान-पान दिन ही में कर लेना चाहिये। यद्यपि जो गृहस्थ ऐसी स्थिती में हो कि एकदम रात्रिभोजन नहीं त्याग सकते वे छठवीं प्रतिमा में पहुँचकर अवश्य रात्रि-भोजन का पूर्ण त्याग कर देते हैं।**

॥ श्लोक ३०१ ॥

अनस्तमितं पालितं येन, रागदोषं न चिंतये।
शुद्ध तत्त्वं च भावं च, सम्यग्दृष्टी च पश्यते॥

अन्वयार्थ – (येन अनस्तमितं पालितं) **जिसने रात्रि-भोजन त्याग व्रत पाला है, वह** (रागदोषं न चिंतये) **राग-द्वेष भावों की चिंता नहीं करता है, किंतु** (शुद्धतत्व चभावं च) **शुद्ध आत्मीक तत्व की**

भावना करता है, (सम्यग्दृष्टी च पश्यते) वही सम्यग्दृष्टि देखा जाता है।

विशेषार्थ – यहाँ पर ग्रन्थकर्ता रात्रि-भोजन त्यागी के भावों की तस्वीर बताते हैं कि उसमें बड़ा ही सन्तोष व दयाभाव होता है। वह निस्पृही सम्यग्दृष्टि जीव अपने अंतरंग से राग व द्वेष बढ़ानेवाली चर्चा या चिंता नहीं करता है, निरन्तर शुद्ध निश्चय नय का आश्रय लेता हुआ शुद्ध आत्मा का विचार किया करता है। यद्यपि अपनी-अपनी स्थिती के अनुसार सम्यग्दृष्टि लौकिक क्रिया करता है, तथापि उसकी भावना आत्मीक तत्व की ही रहती है। राग-द्वेष करना भाव हिंसा है। इससे वह अपने को बचाता है। कोई कोई ऐसा मानते हैं कि दिन में भोजन न करके रात्रि को करे तो क्या दोष है। सम्यक्त्वी ऐसा तर्क नहीं करता है, क्योंकि दिन की अपेक्षा रात्रि को घोर हिंसा होती है।

अमितगति श्रावकाचार में अमितगति महाराज कहते हैं –

ये ब्रुवंति दिनरात्रिभोगयोस्तुल्यतां रचितपुण्यपापयोः।
ते प्रकाशतमसोः समानतां दर्शयन्ति सुखदुःखकारिणोः॥५३-५॥

भावार्थ – जो ऐसा कहते हैं कि दिन व रात दोनों में भोजन समान है, वे पुण्य व पाप को समान कहते हैं, वे प्रकाश व अन्धकार को समान बताते हैं व सुख व दुःख के कारण को समान कहते हैं। यह ठीक नहीं है, क्योंकि दिन में भोजन दया का अंग है, धर्मरूप है, पुण्यरूप है, जबकि रात्रि को भोजन पापरूप है, अधर्म है।

॥ श्लोक ३०२ ॥

शुद्ध तत्वं न जानंते, न सम्यक्तं शुद्ध भावना।
श्रावकं तत्र न उत्पाद्यं, अनस्तमितं न शुद्धए॥

अन्वयार्थ – (शुद्ध तत्व न जानते) जो कोई गृहस्थ शुद्ध आत्मीक तत्व को नहीं समझते हैं (न सम्यक्त शुद्ध भावना) न उनके सम्यग्दर्शन है, न शुद्ध आत्मीक तत्व की भावना है (तत्र श्रावकं न उत्पाद्य) वहाँ श्रावकपना नहीं उत्पन्न हो सकता (अनस्तमित न शुद्धए) उनको रात्रि का आहार त्याग कर देना उनकी आत्मा की शुद्धि के लिये कारणभूत नहीं है।

विशेषार्थ – यहाँ यह दिखलाया है कि सम्यक्त्व सहित ही वह रात्रि-भोजन त्याग व्रत उपकारी है व मोक्ष का साधक है। यदि कोई सम्यक्त्वी नहीं है और वह शुद्धतत्व की भावना नहीं करता है तो उसका त्याग व नियम व व्रत सर्व पुण्य बन्धनकारक नहीं होगा। बिना सम्यक्त्व के श्रावकपना नहीं हो सकता है। इसलिये श्रावक को मात्र हिंसा के बचाव के लिये ही रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिये। व उस व्रत के बदले में मुझे पुण्य होगा – ऐसा निदान न करना चाहिये। श्रद्धापूर्वक शुद्ध भाव

से रात्रि-भोजन त्याग व्रत पालना चाहिये। सम्यक्त्वी के रात्रि-भोजन के त्याग का फल विशेष होता है। वह रात्रि को बहुत समय को धर्मध्यान में लगाकर सफल करता है।

अमितगति श्रावकाचार में फल बताया है –

ज्ञानदर्शनचरित्रभूतयः सर्वयाचितविधानपण्डिताः।
सर्वलोकपतिपूजनीयता, रात्रिभुक्तिविमुखस्य जायते॥ ६४-५॥

भावार्थ – **सर्व वांछित कार्य करने में समर्थ ऐसी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की विभूतियाँ व सर्व इन्द्रादि से पूज्यनीयपना रात्रि-भोजन त्यागी के प्राप्त होता है। वास्तव में ऐसा व्रती बड़ा ही संतोषी दयावान आत्मानुभवी होता हुआ उत्तम फल पाता है।**

॥ श्लोक ३०३ ॥

जे नरा शुद्धदृष्टी च, मिथ्या माया न दिष्टते।
देवं गुरुं श्रुतं शुद्धं , तं अनस्तमितं व्रतं॥

अन्वयार्थ – (जे नरा शुद्धदृष्टी च) **जो मानव शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं**, (मिथ्या माया न दिष्टते) **जिनमें मिथ्यात्व व मायाचार नहीं दिखलाई पडता है, जो** (शुद्धं देवं गुरुं श्रुतं) **शुद्ध वीतराग देव, वीतरागी साधु व वीतराग-विज्ञानमय शास्त्र को मानते हैं**, (तं अनस्तमितं व्रतं) **उन ही का रात्रि-भोजन त्याग व्रत सफल है।**

विशेषार्थ – **यहाँ यह दिखलाया है कि कोई रात्रि-भोजन मात्र त्याग कर अपने को धर्मात्मा श्रावक मान ले तो वह सच्चा श्रावक गृहस्थ नहीं हो सकता। हर एक मानव को जो इस व्रत को पाले शुद्ध सम्यग्दृष्टि होना चाहिये – उसके भीतर भेद-विज्ञान के प्रताप से आत्मा निजस्वभावरूप अनुभव में आ रहा हो, जिनको जीवादि सात तत्वों का यथार्थ श्रद्धान हो, जिनमें न तो मिथ्यात्व हो, न कोई मूढता हो, न कोई मायाचार हो, सरल शुद्ध भाव से जिनकी श्रद्धा जैनधर्म के तत्वों में हो तथा जो सर्वज्ञ-वीतराग देव को ही देव, निर्ग्रंथ-वीतरागी साधु को ही गुरु, स्याद्वाद नय से वस्तु के अनेकांत स्वरूप को बताने व आत्मा को वीतराग-विज्ञान के मार्ग पर चलाने का उपदेश देनेवाले शास्त्र को मानते हों – ऐसा सम्यग्दृष्टि श्रावक अहिंसा तत्त्व का प्रेमी व आत्मध्यान का अभ्यासी होगा। दिवस में संतोषपूर्वक शुद्ध भोजन करना श्रावक के आत्मध्यान में सहायक होगा, व उसके अहिंसा व्रत को दृढ करेगा। रात्रि को वह भोजन-सम्बन्धी आरंभ से विरक्त हो, खान-पान की चर्चा से अलग हो, अपना समय धर्मध्यान में दे सकेगा। जो आत्मज्ञानी होगा, सच्चा रात्रि-भोजन त्याग व्रत होगा।**

॥ पानी छानना ॥

॥ श्लोक ३०४ ॥

पानी गालितं येनापि, अहिंसा चित्त शंकए।
विलछितं शुद्ध भावेन, फासू जल निरोधनं॥

अन्वयार्थ -- (येनापि पानी गालित) **जिस किसी ने भी पानी को छानने की विधि की, वही श्रावक होगा** (अहिंसा चित्त शंकए) **जिसके चित्त में अहिंसा के पालने का भय होगा, वह** (शुद्ध भावेन विलछितं) **शुद्ध भाव से विलछन पहुँचावेगा तथा** (फासू जल निरोधनं) **प्रासुक जल को बंद रखेगा -- ढ़का रखेगा।**

विशेषार्थ -- **अब श्रावक की त्रेपन क्रियाओं में जो पानी छानने की आज्ञा है, उस पर ग्रंथकर्ता ने प्रकाश डाला है कि पानी के छानने की विधि वही करेगा, जो अहिंसाव्रत भलेप्रकार पालने का उद्योगी होगा तथा स्थावर व त्रस की हिंसा से भयभीत होगा। बिना छना पानी काम में लेने से अनगिनती त्रस जंतुओं का घात होता है। दयावान गृहस्थ गाढे के दोहरे छन्ने से कूप, बावडी, नदी आदि का पानी सम्हालकर छानेगा, एक बर्तन से दूसरे बर्तन में छानेगा। छन्ना इतना बड़ा होना चाहिये कि दोहरा करने पर बर्तन के मुख से तीन गुणा चौडा हो, ताकि बिना छना पानी बर्तन में न आवे। पानी छानकर उसका विलछन या जीवानी वहीं सम्हालकर पहुँचा देनी चाहिये, जहाँ से पानी भरा गया हो। छना पानी दो घड़ी या ४८ मिनट से अधिक नहीं चल सकता है, इसलिये पुनः पुनः छानने की जरूरत पड़ेगी। उचित है कि सब विलछन एक बर्तन में एकत्र कर लिया जावे। जब फिर पानी भरने को जावे तब उसी बर्तन में रखकर बर्तन को कूप में डाल दे। नदी व सरोवर में तो तुरंत छने पानी की धार से छन्ने को धो देना चाहिये। इस छने पानी को सदा ढ़का हुआ रखना चाहिये, जिससे कोई जंतु उसमें पडे नहीं। ४८ मिनट बीतने पर फिर छानकर वर्तना चाहिये। यदि प्रासुक करना हो तो लवंग, कसायला द्रव्य, नमक, मिर्च आदि कोई पदार्थ कूट करके ऐसा मिलाया जावे, जिससे पानी का स्वाद व रंग बदल जावे। ऐसा प्रासुक पानी छः घंटे चल सकेगा। यदि उसको औटा लिया जावे तो वह चौबीस घंटे चलेगा। यदि अधन न हो, मात्र खूब गर्म हो तो १२ घंटे चलेगा। या १२ या २४ घंटे के भीतर-भीतर उस प्रासुक पानी को वर्त लेना चाहिये, वह फिर छानने से काम के लायक नहीं होता है। जिसमें स्थावर जलकायिक जीव भी न हों, उस जल को प्रासुक कहते हैं। दयावान गृहस्थ अनछने पानी का वर्ताव नहीं रखेगा।**

॥ श्लोक ३०५ ॥

जीवरक्षा षट् कायस्य, शंकये शुद्ध भावना।

श्रावको शुद्ध दृष्टी च, जलं फासू प्रवर्तते॥

अन्वयार्थ – (शुद्ध भावना) **शुद्ध सम्यग्दर्शन की भावना करनेवाला** (श्रावको शुद्धदृष्टि च) **श्रावक शुद्ध दृष्टि रखनेवाला** (षट्कायस्य जीवरक्षा) **छह काय के प्राणियों की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझता है, इसलिये** (फासू जलं प्रवर्तते) **प्रासुक जल काम में लेता है।**

विशेषार्थ – **सम्यदृष्टि श्रावक के भीतर सर्व प्राणी मात्र पर दयाभाव होता है। यह सर्व प्राणियों पर मैत्रीभाव रखता है। इसलिये वह पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक, वनस्पतिकायिक तथा त्रसकायिक, – इन शरीरधारी छहों जाति के प्राणियों पर परमदयालु होता है। वह जीवरक्षा के हेतु से पानी छानने में कोई प्रमाद नहीं करता है। यहाँ ग्रन्थकर्ता ने लिखा है कि श्रावक प्रासुक जल का व्यवहार करता है। इससे पता चलता है कि प्राचीन काल में यही रीति होगी कि पानी को छानकर गर्म कर लेते होंगे, इससे बार-बार छानने का काम मिट जाता है। तथा प्रासुक जल बहुत मर्यादा का बहुत देर तक बिना चिंता के वर्ता जाता है। उसमें न तो त्रस जंतु पैदा होते हैं, न स्थावर। गृहस्थ श्रावक के यहाँ ऐसा रिवाज होना उचित दीख पडता है। इसतरह प्रासुक जल गृह में रखने से मुनि आदि पात्रों को बडी सुगमता से दान हो सकता है। पुनः पुनः छानने में प्रमाद होना संभव है। जल को छान के तुरंत प्रासुक कर लिया गया, अब छानने में प्रमाद को अवकाश भी न रहा, यह प्रवृत्ति उचित मालूम पडती है।**

सर्व काम प्रासुक जल से ही करना उचित है। यद्यपि इसमें एक बार जलकायिक जंतुओं की हिंसा होती है, परंतु मर्यादा तक उसमें ऐसे जीव उत्पन्न न होंगे, न फिर उनके घात की जरूरत होगी।

॥ श्लोक ३०६ ॥

जलं शुद्धं मनः शुद्धं, अहिंसा दया निरूपणं।

शुद्ध दृष्टी प्रमाणं च, अव्रत श्रावक उच्यते॥

अन्वयार्थ – (जलं शुद्धं मनः शुद्धं) **जल की शुद्धता से मन की शुद्धता होती है** (अहिंसा दया निरूपणं) **अहिंसा तथा दया का पालन होता है** (शुद्ध दृष्टी प्रमाणं च) **जिसका सम्यक्त्व निर्मल है व ज्ञान सम्यक् है, वही** (अव्रत श्रावक उच्यते) **अविरत श्रावक कहा जाता है।**

विशेषार्थ – **शुद्ध प्रासुक जल पीने से मन के विचारों में निर्मलता रहती है। यह कहावत प्रसिद्ध है –** "जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन, जैसा पीवे पानी वैसी बोले वाणी।" **वास्तव में पुद्गल का असर**

जीव के भावों में और जीवों के भावों का असर पुद्गल पर पड़ता रहता है। जहाँ तक आत्मा अशुद्ध है। पुद्गल के कारण उसकी शुद्ध शक्ति आच्छादित है। जब मन या आत्मा का अशुद्ध उपयोग प्रसन्न होता है, सर्व शरीर शुद्ध दिखता है, रुधिर का संचार ठीक होता है, भोजन ठीक पाचन होता है ;उसी तरह जब शरीर निर्बल, अस्वस्थ व खेदित हो जाता है, थक जाता है, तब जीवों के अशुद्ध भाव म्लानित व ढीले पड़ जाते हैं। मादक पदार्थों के खाने-पीने से बुद्धि उन्मत्त हो जाती है। आत्मध्यान करने से शरीर प्रफुल्लित व निरोग हो जाता है, इसीतरह शुद्ध खान-पान करने से उससे रुधिर व वीर्य शुद्ध होता है। जिसका असर सर्व शरीर पर पड़ता है – उपयोग पर भी असर पड़ता है। जो मोक्षमार्ग का पंथी है, चाहे वह अविरत सम्यग्दृष्टी ही क्यों न हो उसे शुद्ध खान-पान करके अपने भावों को शुद्ध रखना चाहिये तथा अहिंसा पालना चाहिये। अशुद्ध खान-पान का राग हटने से भाव अहिंसा व अशुद्ध खानपान में जो प्राणी घात होता था, वह नहीं होता है इससे द्रव्य अहिंसा पलती है, जीवों की रक्षा हो यह शुभ राग होता है। इसतरह दया का पालन होता है। जो शुद्ध जल पीवे, उसको सम्यग्दृष्टि व सम्यग्ज्ञानी होना चाहिये। तब ही वह अविरत सम्यदृष्टि होगा। मात्र पानी छानकर पीने से ही कोई जैनी नहीं हो सकेगा, उसे आत्मानुभवी व संसार-शरीर-भोगों से वैरागी होना चाहिये।

॥ श्रावक के छह नित्यकर्म ॥

॥ श्लोक ३०७ ॥

अव्रतं श्रावकं येन, षटकर्मं प्रतिपालए।
षटकर्मं दुविधश्चैव, शुद्ध अशुद्ध पश्यते॥

अन्वयार्थ – (अव्रतं श्रावकं येन) जो अव्रती श्रावक है उसको भी (षट्कर्मं प्रतिपालए) छह नित्यकर्म पालने चाहिये (षट्कर्मं दुविधश्चैव) वे छः कर्म दो प्रकार से हैं (शुद्ध अशुद्ध पश्यते) कोई शुद्ध कोई अशुद्ध दिखाई पड़ते हैं।

विशेषार्थ – श्रावकों को व्रतों का नियम न होने पर भी सम्यग्दर्शन की दृढ़ता के लिये तथा सम्यक्चारित्र पर आरूढ होने की तैयारी करने के लिये नित्य छह कर्म पालने चाहिये – देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप तथा दान। इनके पालन से परिणामों में निर्मलता व आत्मभावना होती है, कषायों की मंदता होती है, परिणाम उदार होते हैं, जगत के मानव इन कर्मों को करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। कोई तो शुद्ध रीति से पालते हैं, कोई अशुद्ध रीति से पालते हैं। मिथ्यात्व सहित सर्व कर्म अशुद्ध हैं। सम्यक्त सहित सर्व कर्म शुद्ध हैं। जहाँ पर यह आशय या अभिप्राय है कि मुझे

पुण्य का लाभ हो जिससे धन, पुत्र, राज्य, स्वर्ग के भोग, देवियों का सामागम प्राप्त हो, यहाँ पर बाहर में यथार्थ दीखनेवाले छह कर्म किये हुए भी अशुद्ध कहे जाते हैं। क्योंकि अभिप्राय की मलीनता साथ में है। जहाँ आशय मात्र आत्मशुद्धि का है, निर्वाण का है – यहाँ ये षट्कर्म शुद्ध कहे जाते हैं। क्योंकि वह ज्ञानी इन छह कर्मों में भी शुद्ध आत्मीक भाव की खोज कर रहा है।

॥ श्लोक ३०८ ॥

शुद्ध षट्कर्म जानीते, भव्यजीव रतो सदा॥
अशुद्धं षट्कर्मं रत, अभव्य जीव न संशयः॥

अन्वयार्थ – (भव्य जीव) **भव्य जीव जो मोक्षगामी है, सम्यक्त्वी है वह** (शुद्ध षट्कर्म जानीते) **शुद्ध छह कर्मों को समझता है और** (सदा रत) **निरंतर उनके पालन में लीन रहता है** (अशुद्ध षट्कर्मं रत) **जो अशुद्ध षट्कर्मं में लीन है, वह** (अभव्य जीव न सशयः) **अभव्य जीव है, इसमें कोई संशय नहीं है।**

विशेषार्थ – **यहाँ भव्य-अभव्य का स्थूलपने कथन है, सूक्ष्मदृष्टि से कथन नहीं है। यहाँ सम्यक्त्वी को व सम्यक्त्व के सन्मुख को, व्यवहार सम्यग्दृष्टि को भव्य कहा है, जिसको शुद्ध आत्मा की रुचि है, व आत्मा को पवित्र करने का चाव है तथा जिसको शुद्ध आत्मा की रुचि न होकर विषयों के भोग की रुचि है, उसको अभव्य कहा है। भव्य जीव देवपूजादि छहों कार्यों का यथार्थ आशय समझता है कि ये मात्र आलम्बनरूप हैं, शुभ रागरूप हैं, परन्तु उन ही के सहारे से शुद्ध भाव का लाभ हो सकेगा – ऐसा जानता है, इसलिये शुद्ध भावों की खोज करता हुआ व शुद्ध भावों की तरफ दृष्टि रखता हुआ यह ज्ञानी देवपूजादि छह कर्मों को करता है तो उसे इनके भीतर से स्वात्मानुभव हो जाता है। देवपूजा में जिनेन्द्र गुणगान करते हुए जब उपयोग शुद्ध गुणों के मनन में तन्मय हो जाता है तो तुरंत शुद्ध भाव जग जाता है। गुरुभक्ति करते हुए आत्मध्यानी गुरु की संगति से भावों में आत्मध्यान जग उठता है। शास्त्र स्वाध्याय में, मुख्यता से अध्यात्म ग्रंथों को पढने से भावों में आत्मानुभव झलक जाता है। संयम का विचार करते हुए, प्रतिदिन सबेरे १७ नियम लेते हुए ज्ञानी को आत्मसंयम का भाव आ जाता है। प्रतिदिन सबेरे व शाम सामायिक करते हुए साक्षात् आत्मानुभव प्राप्त कर लिया जाता है। सम्यग्दृष्टि के भाव का, तीन प्रकार के पात्रों में से किसी को दान देते हुए, उनकी सनमुखता से रत्नत्रय में भक्ति होते होते अभेद रत्नत्रय या स्वात्मानुभूति में पहुँच जाना हो जाता है। भव्य जीव पुण्य की प्राप्ति का आशय बिलकुल नहीं रखता है। केवल शुद्धोपयोग के अभिप्राय से इन छः कर्मों को साधता है। इसी कारण उसके जितने अंश वीतरागता**

होती है, उतने अंश भाव से बंध न होकर कर्म की निर्जरा होती है व जितने अंश सरागता होती है, उतने अंश कर्म का बंध होता है। खेद है मिथ्यादृष्टि जीव इस रहस्य को नहीं पहचानता है। वह लोभ के लिये लोभ रहित देव की भक्ति आदि करता हुआ मानो मैल लपटने के लिये मैल को जल से धोता है, वह संसारमार्गी ही है। पुण्य बाँधकर फिर देव होकर फिर एकेंद्रियादि पर्यायों में रुलनेवाला है।

श्री पूज्यपादस्वामी ने इष्टोपदेश में कहा है –

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः। स्वशरीरं स पंकेन स्नास्यामीति विलंपति।।१६।।

भावार्थ – **जो कोई धन रहित पुरुष इसलिये धन कमावे कि धन कमाकर दान करूँगा व दान से पुण्य बाँधूँगा तो वह ऐसा ही मूर्ख है, जो अपने शरीर को इसलिये कीचड से लपटे कि फिर स्नान करके साफ कर लूँगा। अभव्य की क्रिया जब संसारवर्द्धक है, तब भव्य की संसार छेदक है।**

॥ श्लोक ३०९ ॥

अशुद्धं अशुचिं प्रोक्तं, अशुद्धं अशाश्वतं कृतं।
शुद्धं मुक्तिमार्गस्य, अशुद्धं दुर्गति भाजनं।।

अन्वयार्थ – (अशुद्धं अशुचिं प्रोक्तं) **अशुद्ध षट्कर्म अपवित्र कहे गए हैं।** (अशुद्धं अशाश्वतं कृतं) **अशुद्ध षट्कर्म शाश्वत नहीं हैं, कल्पित हैं।** (शुद्धं मुक्तिमार्गस्य) **शुद्ध षट्कर्म मोक्षमार्ग के साधक हैं।** (अशुद्धं दुर्गतिभाजनं) **अशुद्ध षट्कर्म दुर्गति कारण हैं।**

विशेषार्थ – **मिथ्यात्व सहित जो षट्कर्मों का सेवन है वह अशुद्ध है, अपवित्र है, कल्पित है। वह अनादि का सनातन मार्ग नहीं है, मनोकल्पना से चलाया हुआ है। अशुद्ध षट्कर्म के सेवन का फल कुगति में भ्रमण है, जबकि शुद्ध षट्कर्म सेवन का फल परम्परासे मोक्ष है।**

मिथ्यात्व दो प्रकार का है – एक अन्तरंग या अगृहीत, दूसरा बहिरंग या गृहीत। अन्तरंग मिथ्यात्व के होते हुए व व्यवहार मिथ्यात्व के न होते हुए यह प्राणी कुदेवादि की भक्ति तो नहीं करता है, न कुगुरु की सेवा करता है, न कुशास्त्रों को पढता है, न अपात्रों को दान देता है। जैनधर्म के अनुसार सर्व बाहरी चारित्र पालता है। परन्तु अन्तरंग में शुद्धात्मा की रुचि प्राप्त नहीं हुई है, आत्मानुभव नहीं, है किन्तु विषयवासना ही वर्त रही है – ऐसा प्राणी यद्यपि अतिशय रहित पुण्य का बंध कर लेता है व उससे देवादि गति पा लेता है, परन्तु फिर वह एकेन्द्रियादि पर्यायों में जाकर दुःख उठाता है। उसका संसार कभी नाश नहीं हो सकता। अन्तरंग मिथ्यादर्शन सहित व्यवहार से योग्य षट्कर्म का साधन भी मोक्षमार्ग नहीं है। यदि शुद्धात्मानुभव की रुचि सहित व्यवहार षट्कर्म का साधन करे तो व्यवहारनय से कहा मोक्षमार्ग जा सकता है। जिनके व्यवहार में भी मिथ्यात्व है, जो

कुदेवादि की भक्ति करते हैं, अपात्रों को दान देते हैं, कुशास्त्रों को पढ़ते हैं, हिंसात्मक क्रिया को धर्म मानते हैं, उनके तो व्यवहार में भी अशुद्ध षट्कर्म हैं। ये पाप को बाँधनेवाले व दुर्गति में पटकनेवाले हैं।

॥ श्लोक ३१० ॥

अशुद्धं प्रोक्तश्चैव, देवलि देवंपि जानते।
क्षेत्र अनंत हिंडंते, अदेवं देव उच्यते॥

अन्वयार्थ – (अशुद्ध प्रोक्तश्चैव) **अशुद्ध देवभक्ति यह कही गई है जो** (देवलि देवपि जानते) **मंदिर में ही देव को जाने। जो** (अदेव देव उच्यते) **अदेव को देव कहता है, वह** (अनंत क्षेत्र हिंडते) **अनंत क्षेत्र परावर्तन करता है।**

विशेषार्थ – **अब यहाँ अशुद्ध षट्कर्म का विस्तार कहते हैं। पहले देव पूजा है। अशुद्ध देव पूजा वह है, जो मंदिर में ही देव विराजित हैं – ऐसा जाने परन्तु यह न जाने कि मंदिर में देव की मूर्ति मात्र स्थापनारूप है, देव का स्वरूप बतानेवाली है, उसमें साक्षात् देव नहीं है। साक्षात् देव तो सिद्ध भगवान मोक्ष क्षेत्र में हैं या अपना आत्मारूपी देव शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध परमातम देव है। जैसे किसी बादशाह की तसवीर मात्र इसलिये होती है कि उससे बादशाह के स्वरूप का ज्ञान हो तथा उसका आदर वह बादशाह का आदर व उसका निरादर बादशाह का निरादर समझा जाता है। कोई मूर्ख यह भले ही समझे की चित्र में बादशाह साक्षात् है, परन्तु बुद्धिमान ऐसा कभी नहीं समझेगा। वह उसे बादशाह की प्रतिमूर्ति मात्र समझेगा। इसी तरह भगवान की मूर्ति को साक्षात् भगवान समझना मूर्खता है। वह भगवान की स्थापना है जिसमें भगवान के ध्यानमय रूप की कल्पना की गई है। उस रूप के देखने से ध्यानमय स्वरूप की याद आती है व उसके द्वारा की गई भक्ति भगवान की ही भक्ति समझी जाती है। उसे कोई बुद्धिमान साक्षात् महावीर भगवान नहीं मान सकता, मात्र उनकी स्थापना उनके स्वरूप की द्योतक है। जो कोई मोक्ष प्राप्त आत्मा को व अपने आत्मा के असली स्वभाव को जो साक्षात् देव है, उसको न समझकर मात्र मूर्ति को ही भगवान मान कर पूजे तो उसकी मूढता ही कही जायगी। वह कभी शुद्ध तत्व पर नहीं पहुँचेगा। इसी तरह जो अदेव हैं, जिनका स्वरूप पहले कहा जा चुका है। जैसे गौ, घोड़ा, हाथी, पीपल, बर्गत आदि, उनको देव मानकर पूजना अशुद्ध देवभक्ति है। जो मिथ्यात्वी जीव ऐसी मूढ भक्ति में लगे हैं, वे ज्ञानावरणीय कर्म का विशेष बन्ध कर अनंत बार क्षेत्र परिवर्तन में जन्म धार-धार कर मरेंगे और जीवन के कष्ट उठाएँगे।**

॥ श्लोक ३११ ॥

मिथ्या माया मूढदृष्टी च, अदेवं देव मानते।
प्रपंचं येन कृतं सार्द्धं, मान्यते मिथ्यादृष्टितं॥

अन्वयार्थ – (मिथ्या माया मूढदृष्टी च) जो मिथ्यात्वी है, मायाचारी है, मूढ श्रद्धा सहित है वह (अदेवं देव मान्यते) **अदेव को देव मान लेता है** (सार्द्धं येन प्रपचं कृतं) **साथ में वह प्रपंच करता है,** (मान्यते मिथ्यादृष्टित) **जो ऐसा माने वह मिथ्यादृष्टि है।**

विशेषार्थ – **जिनमें देवपना बिलकुल नहीं है ऐसे अदेवों को जो देव मान कर पूजते हैं, वे वास्तव में संसार की वासनाओं में लिप्त होते हैं। उनको यदि किसी ने कह दिया कि अमुक देव की मान्यता करने से धन लाभ होगा, पुत्र लाभ होगा, यश लाभ होगा, जय का लाभ होगा तो वे अज्ञानी इस बात का बिना विचार किये कि इनमें देव के लक्षण सर्वज्ञ वीतरागपना मिलते हैं या नहीं, लोभ के वशीभूत हो चाहे जिस कुदेव को या अदेव को पूजने लग जाते हैं, उनकी यह मूढ़भक्ति मिथ्यात्व रूप है। मायाचार रूप यों है कि कपट से भरी हुई है। इस मूढ़भक्ति के कारण उसको अनेक प्रपंच रचना पडते हैं, अनेक आडम्बर करने पडते हैं। इसप्रकार की कुदेव की या अदेव की पूजा-भक्ति से अंतरंग मिथ्यात्व दृढ होता है। मिथ्यादृष्टि ऐसी अशुद्ध देव की भक्ति किया करता है। इससे राग-द्वेष-मोह को बढा ही लेता है, घोर पाप बाँधकर दुर्गति का पात्र होता है।**

॥ श्लोक ३१२-३१३ ॥

ग्रन्थं राग संयुक्तं, कषायं रमते सदा।
शुद्ध तत्वं न जानंते, ते कुगुरुं गुरु मान्यते॥
मिथ्या माया प्रोक्तं च, असत्यं सत्य उच्यते।
जिनद्रोही वच लोपंते, कुगुरुं दुर्गति भाजनं॥

अन्वयार्थ – (राग-संयुक्तं ग्रन्थं) **राग सहित धन-धान्यादि परिग्रह में** (कषायं) **व क्रोधादि कषायों में जो** (सदा रमते) **सदा रमते हैं** (शुद्ध तत्वं न जानंते) **वे शुद्ध आत्मीक तत्व को नहीं पहचानते हैं** (ते कुगुरुं) **वे कुगुरु हैं, उनको** (गुरु मान्यते) **मिथ्याश्रद्धानी मूढबुद्धि गुरु मान लेता है।** (मिथ्या माया प्रोक्तं च) **वे कुगुरु मिथ्यात्व व मायाचार से पूर्ण उपदेश देते हैं।** (असत्यं सत्य उच्यते) **जो असत्य है उसे सत्य कहते हैं।** (जिनद्रोही वच लोपते) **वे जिनेन्द्र भगवान के मत के द्रोही हैं। तथा जिन-वचन का लोप करके वे कथन करते हैं,** (कुगुरुं दुर्गतिभाजनं) **वे कुगुरु दुर्गति के पात्र है।**

विशेषार्थ – यहाँ अशुद्ध कुगुरु भक्ति को बताया गया है। कुगुरु का स्वरूप पहले बहुत विस्तार से कहा जा चुका है। परिग्रह-आरंभ रहित आत्मध्यानी वैरागी अनेकांत मत के ज्ञाता निर्ग्रंथ साधु ही सुगुरु हैं। इनके सिवाय जो परिग्रहधारी, विषयानुराग में व मान लोभ माया कषाय में अनुरक्त हैं, जिनको शुद्ध आत्मीक तत्त्व का अनुभव नहीं है, न द्रव्यों का व तत्त्वों का व पदार्थों का यथार्थ ज्ञान है, जो स्वयं मिथ्यात्वी हैं व मिथ्यात्व का ही उपदेश देते हैं, जो मायाचार से परिपूर्ण होते हुए अपना स्वार्थ साधन करते हैं, जो असत्य है, एकांत है, अवस्तु है, उसे सत्य कहते हैं, जैनधर्म का भीतर से द्रोह रखते हैं, वे जिन-वचन का लोप हो – ऐसा उपदेश करते हैं, वीतराग-विज्ञानमय धर्म को न तो वे स्वयं पालते हैं, न दूसरों को उस मार्ग पर ले जाते हैं, वे कुगुरु पाषाण की नाव समान हैं, स्वयं संसार में डूबते हैं व दूसरों को डुबाते हैं।

संसार में बहुत-सी रागवर्द्धक हिंसा पोषक पशुओं की बलि आदि क्रियाएँ व मूढ़ता से भरा हुआ पूजा-पाठ कुगुरुओं ने ऐसा चला दिया है, जिसके द्वारा वे द्रव्य के कमाने का उपाय कर लेते हैं। उस द्रव्य से मनमाने विषय-सेवन करते हैं, महन्त बनकर रहते हैं, न्याय-अन्याय, भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार छोडकर वर्तन करते हैं, अपने को साधु, गुरु, गुसाई व महन्त कहते हुए भी राजाओं से भी अधिक भोग-विलास करते हैं, भक्तों को नाना प्रकार लौकिक लोभ दिखाकर उनसे धन संग्रह करते हैं। जैसे वे कुगुरु राग-रंग से लिप्त हैं, वैसे वे पूज्य परमात्मा ईश्वर के भीतर भी रागभाव की कल्पना कर लेते हैं। वीतराग-विज्ञानमय जैनमार्ग का खण्डन करते हैं। अनेकांत को संशयवाद बताते हैं। परम निस्पृही जिनदेव के वीतराग स्वरूप की निंदा करते हैं। ऐसे कुगुरुओं की भक्ति अशुद्ध कुगुरु भक्ति है, वह न करनी चाहिये। अथवा जो अपने को जैन गुरु मानकर परिग्रह रखते हैं, आरम्भ करते हैं, बाहरी व्यवहार पूजा-पाठ कराने में लीन हैं, कभी शुद्ध आत्मीक तत्त्व का न स्वयं मनन करते हैं, न भक्तों को उपदेश देते हैं, मात्र कथाएँ सुनाकर मन को रंजायमान करके अपनी मान्यता कराते हैं, वे भी कुगुरु ही हैं, उनकी भक्ति भी अशुद्ध कुगुरु कुभक्ति है।

अथवा जो जैन का साधु चारित्र पालते हुए नग्न दिगम्बर रहते हुए, ख्याति-लाभ-पूजादि की चाह-वश वर्तन करते हैं, जैन भेष होकर भी ईर्या समिति नहीं पालते हैं, भाषा समिति नहीं पालते हैं, उद्दिष्ट भोजन कर लेते हैं, शीत-उष्ण-नग्नादि परीषहों के जीतने में कायर हैं। न स्वयं आत्मा का मनन करते न दूसरों को उपदेश देते हैं, वे भी कुगुरु हैं। उनकी भक्ति भी अशुद्ध कुगुरु भक्ति है। ऐसे कुगुरुओं की सेवा उन कुगुरुओं का भी बिगाड करनेवाली है व उनके पूजकों का भी बिगाड करनेवाली है, क्योंकि यह मूढ भक्ति संसारवर्द्धक है।

॥ मिथ्या सामायिक ॥

॥ श्लोक ३१४ ॥

अनेक पाठ पठनं च, वंदना श्रुत भावना।
शुद्धतत्व न जानंते, सामायिक मिथ्या उच्यते॥

अन्वयार्थ – (अनेक पाठ पठन च) **अनेक पाठों का पढना** (वदना श्रुत भावना) **वंदना करनी, शास्त्र की भावना करनी। यदि** (शुद्ध तत्व न जानते) **शुद्ध आत्मीक तत्व का ज्ञान नहीं है तो यह** (सामायिक मिथ्या उच्यते) **सामायिक मिथ्या कहलाती है।**

विशेषार्थ – **यहाँ तीसरे अशुद्ध कर्म स्वाध्याय का कथन है। शास्त्र पढ़ने का नाम भी स्वाध्याय है तथा अपने आत्मा के मनन को भी स्वाध्याय कहते हैं। यहाँ सामायिक को भी स्वाध्याय में गर्भित करके कहा है कि जो कोई अनेक पाठों को पढें, शास्त्रों को पढें, तीर्थकरों की वन्दना करे, स्तुति करे, प्रतिक्रमण करे, प्रत्याख्यान करे, कायोत्सर्ग करे, णमोकार मंत्र का जप करे, परंतु शुद्ध आत्मा का यथार्थ तत्त्व न जाने, न माने, न अनुभव करे तो वह सच्ची सामायिक नहीं, अशुद्ध स्वाध्याय कर्म है। अथवा जो कोई एकांत नय पोषक व राग-द्वेष वर्द्धक शास्त्रों को पढें व विषय-भोगों की इच्छा से राग-वर्द्धक, एकांत-पोषक पाठ पढें, व रागी-द्वेषी देवों की आराधनारूप जप करे, ध्यान करे सो भी अशुद्ध स्वाध्याय कर्म है। अशुद्ध स्वाध्याय व सामायिक का फल परिणामों में शांति व वैराग्य व आत्मानुभव की रुचि उत्पन्न होना न होगा। किंतु कषायों की पुष्टिरूप भाव होगा, जो ज्ञानावरणादि कर्मों का तीव्र बंध करनेवाला होगा, इसलिये अशुद्ध स्वाध्याय कर्म त्यागने योग्य है।**

॥ श्लोक ३१५ ॥

संयमं अशुद्धं येन, हिंसा जीव विराधनं।
संयम शुद्ध न जानंते, तत्संयम मिथ्या संयमं॥

अन्वयार्थ – (येन हिसा जीव विराधन) **जिससे हिंसा हो, प्राणियों का घात हो वह** (अशुद्ध सयम) **अशुद्ध संयम है** (सयम शुद्ध न जानते) **अथवा जो शुद्ध आत्म-संयम को नहीं जानते** (तत्सयम मिथ्या सजम) **वह संयम भी मिथ्या संयम है।**

विशेषार्थ – **जो संयम का नाम तो लें परन्तु असंयम पालें वह साक्षात् मिथ्या संयम है। जैसे जिन नियम व्रतों से इंद्रियों का स्वाद अधिक पुष्ट हो व प्राणियों की अधिक हिंसा हो, वह हिंसाकारक**

संयम अशुद्ध असंयम है, असंयम ही है। जैसे दिन को अन्न न खाकर रात्रि को स्वादिष्ट फलाहार मिठाई आदि खाना और अपने को व्रती संयमी मानना। इससे असंयम ही हुआ, क्योंकि रात्रि को खाना हिंसाकारक है, स्वादिष्ट भोजन जिह्वा की लोलुपता वर्द्धक है। कोई यह नियम ले कि मैं अन्न न खाऊँगा, कंदमूल खाऊँगा। इसमें संयम अशुद्ध ही हुआ, क्योंकि कंदमूल के खाने में अधिक हिंसा हुई। अन्न में उतनी न होती। जहाँ मन व इंद्रिय वश में रहें, वहीं संयम हो सकता है। जहाँ इन्द्रियों का पोषण हो, वह अशुद्ध संयम ही है।

अथवा कोई जैन शास्त्रानुसार श्रावक का बाहरी संयम पाले, रात्रि को अन्न न खावे, कंदमूल न खावे, रसचलित न खावे, रस त्यागे, उपवास करे, नित्य १७ नियम का विचार करे, अनेक प्रकार की प्रतिज्ञाएँ पालें। परन्तु निश्चय संयम जो आत्मा की सामायिक है, उसको न पहचाने, मन व इंद्रियों से अगोचर जो आत्माराम है, उसके अनुभव में लीन न हो, आत्मानन्द रस का पान न करें तो वह संयम भी मिथ्या संयम है। केवल कुछ पुण्यकर्म बंध का कारण है, मोक्ष का मार्ग नहीं। अशुद्ध संयम से श्रावक को बचना योग्य है।

॥ श्लोक ३१६ ॥

अशुद्धं तप तप्तं च, तीव्र उपसर्ग सहं।
शुद्धतत्वं न पश्यंते, मिथ्या माया तपं कृतं॥

अन्वयार्थ – (अशुद्ध तप तप्तं च) जो अशुद्ध तप को तपते हैं (तीव्र उपसर्ग सह) व कठिन-कठिन शरीर के कष्टों को सहन करते हैं, परन्तु (शुद्धतत्वं न पश्यंते) शुद्ध आत्मतत्व का अनुभव नहीं करते हैं, वे (मिथ्या माया तपं कृतं) मिथ्यात्व व मायाचारमय तप करते हैं।

विशेषार्थ – अशुद्ध तप वह है जहाँ शुद्ध तप का ज्ञान व अनुभव न हो, किन्तु नानाप्रकार शरीर को कष्ट दिया जावे, क्षुधा-तृषा-दंशमशकादि का परीषह तथा देव, मनुष्य, पशु व अचेतन कृत उपसर्ग सहन किये जावे। जो कोई जैन शास्त्रों के अनुसार अनशन, ऊनोदर आदि बारह प्रकार तप करे, नग्न रहे, शास्त्रोक्त शुद्ध आहार ग्रहण करे, कोई क्रियाशास्त्र के विरुद्ध न हों, परंतु यदि आत्मीक ध्यान अग्नि में तपनरूप तप न हो तो वह अशुद्ध ही मिथ्या तप है। समयसार में कहा है –

वदणियमाणिधरन्ता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठबाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी ॥१६०॥

भावार्थ – जो व्रत-नियम धारण करे, शील पाले तथा तप करे, परंतु शुद्धात्मा के अनुभव स्वरूप परमार्थ से शून्य हो तो वह अज्ञानी ही है। सम्यक्त्व रहित द्रव्यलिंगी मुनि का तप अशुद्ध तप है। इसी

तरह कोई श्रावक व्रत-उपवास करे, रस छोड़े, कठिन-कठिन तप करे, परंतु सम्यग्दर्शन रहित हो तो उसका सब तप मिथ्या तप है। यदि कोई बाहर से भी मिथ्या तप पाले, पंचाग्नि तपे, भस्म रमावे, काष्ट जलावे, शरीर शोखे, वनफल खावे, एक हाथ ऊँचा करे, खडा रहे, अल्पाहार करे तो वह भी मिथ्या तप है अथवा कोई पर को वश करने के लिये नानाप्रकार तप करके अपना महत्व दिखावे, वह भी मिथ्या व मायाचार सहित तप है। गृहस्थी का भी वह तप जो शरीर-कष्टरूप है, हिसारूप है व किसी मायाचार के अभिप्राय को लिये हुए है, वह सब मिथ्या तप है।

॥ श्लोक ३१७ ॥

दानं अशुद्धं दानं च, कुपात्रं दिंति सर्वदा।
व्रतभंगं कृतं मूढा, दानं संसार कारणं॥

अन्वयार्थ – (कुपात्रं दिंति सर्वदा दान च) **अपात्रों को निरन्तर दिया हुआ दान** (अशुद्ध दान) **अशुद्ध दान कर्म है** (व्रतभग कृत मूढा) **इससे मिथ्यादृष्टि मूढ़ पुरुषों का सम्यग्दर्शन का व्रत भी भंग हो जाता है** (दान ससार कारण) **ऐसा दान संसार का कारण है।**

विशेषार्थ – अशुद्ध दान भी दो प्रकार है – एक तो सम्यग्दर्शन रहित कुपात्रों को दिया हुआ दान यह भी संसार मूलक है, पुण्य बाँधकर कुभोग भूमि में जन्म कराता है। फिर भवनत्रिकादि में, फिर अन्य जन्म में संसार का भ्रमण करानेवाला है। जिनका बाहरी चारित्र ठीक है, शास्त्रोक्त है, परन्तु अन्तरंग में सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मानुभव नहीं है, वे कुपात्र हैं, यह भी सम्यक्त्व रहित दान होने से अशुद्ध दान है। दूसरा अशुद्ध दान वह है, जो उनको दिया जाता है, जो अपात्र हैं, जो बाहरी चारित्र जिन-शास्त्र से विरुद्ध पालते हैं। जो एकांत व मिथ्या मत के पोषक हैं। जिनको दान देने से मिथ्यामत की सराहना होती है, वह बिलकुल मिथ्या दान है व पाप का बंध करानेवाला हैं। गृहस्थ श्रावक को उचित है कि अपात्रों को भक्तिपूर्वक दान न करें। दान करूणाभाव से हरएक को किया जा सकता है, उसमें भक्ति की जरूरत नहीं है। जिस दान में सम्यक्त्व की प्रतिष्ठा हो, वही शुद्ध दान है यह पहले बता चुके हैं। अपात्र दान संसार-भ्रमण का ही कारण है।

॥ श्लोक ३१८ ॥

ये षट्कर्म पालंते, मिथ्या अज्ञान दिष्टते।
ते नरा मिथ्यादृष्टी च, संसारे भ्रमनं सदा॥

अन्वयार्थ – (ये षट्कर्म पालंते) **जो कोई इन अशुद्ध छह कर्मों को पालते हैं** (मिथ्या अज्ञान दिष्टते) **उनमें मिथ्यात्व व अज्ञान दिखलाई पडता है** (ते नरा मिथ्यादृष्टी च) **वे मानव मिथ्यादृष्टि ही**

हैं, (ससारे भ्रमण सदा) उनका सदा इस संसार में भ्रमण रहेगा।

विशेषार्थ – जो कोई कुदेव पूजा करते हैं, कुगुरु सेवा करते हैं, मिथ्यात्व वर्द्धक शास्त्रों का पठन करते हैं, हिंसाकारक संयम पालते हैं, काय-क्लेशादि तप आत्मज्ञान रहित करते हैं तथा अपात्रों को दान देते हैं, इसतरह जो कोई इन छह गृहस्थों के अशुद्ध षट्कर्म पालते हैं, वे मिथ्याज्ञानी व मिथ्या-श्रद्धानी हैं। ऐसा मिथ्यादृष्टि मानव मिथ्या धर्म का पुरुषार्थ करते हुए मिथ्या फल ही पाते हैं। पाप ही बाँधते हैं व दुर्गति में जाकर कष्ट पाते हैं। जिन गृहस्थों को अपना आत्महित करना हो, उनको विवेकपूर्वक पहचानना चाहिये कि कौन देव सच्चा है, कौन गुरु सच्चा है, तथा कौन धर्म सच्चा है। फिर उनकी ही भक्ति में रहकर उनकी आज्ञा-पालन करना चाहिये। यह भलेप्रकार समझना चाहिये कि राग-द्वेष-मोह संसार है व वीतरागमय आत्मज्ञान ही मोक्ष या मोक्ष का उपाय है। यह प्राणी कषायों के कारण जगत में अनादिकाल से भ्रमण कर रहा है। जब जहाँ कषायों की पुष्टि को धर्म पोषा जावे तो वह उल्टा अधर्म सेवन ही है, धर्म नहीं हो सकता है। जहाँ शुद्धात्म-लाभ पर दृष्टि है, वह तो यथार्थ धर्म है। जहाँ सांसारिक सुख प्राप्ति की भावना है, वहीं अधर्म है। गृहस्थ श्रावक को बहुत विचारपूर्वक अपना श्रद्धान निर्मल करना चाहिये और सच्ची श्रद्धा सहित धर्माचरण करना चाहिये।

अमितगति श्रावकाचार में कहा है –

मिथ्यात्वदूषणमपास्य विचित्रदोषं, सरूढसंसृतिवधूपरितोषकारि ।
सम्यक्तरत्नममलं हृदि यो विधत्ते, मुक्त्यंगनामितगतिस्तमुपैति सद्यः ॥९८-४॥

भावार्थ – बढ़ती हुई संसार-वधू के संतोष देनेवाले नानाप्रकार दोष से पूर्ण मिथ्यात्व के दोष को दूर करके जो निर्मल सम्यग्दर्शनरूपी रस हृदय में धरते हैं, वे अनंतज्ञान सहित मुक्ति-स्त्री को शीघ्र ही पाते हैं।

॥ श्लोक ३१९ ॥

ये षट्कर्म जानंते, अनेय विभ्रम कृते।
मिथ्यात्व गरुवे संते, दुर्गतिभाजन ते नरा॥

अन्वयार्थ – (ये) जो कोई (अनेय विभ्रम कृते) अनेक प्रकार मिथ्याभाव को करनेवाले (षट्कर्म) छह अशुद्ध कर्मों को (जानंते) जानते हैं, (ते नरा) वे मानव (मिथ्यात्व गरुवे संते) मिथ्यादर्शन से भारी होते हुए (दुर्गतिभाजन) दुर्गति के पात्र होते हैं।

विशेषार्थ – जिनको शुद्ध देवपूजादि षट्कर्म का न ज्ञान है, न श्रद्धान है, न उसका आचरण है,

वे अशुद्ध षट्कर्म को ही करने योग्य कर्म मान लेते हैं। अनेक प्रकार के मिथ्या भावों में पड़े हुए अनेक प्रकार के कुदेवों की व अदेवों की भक्ति करते हैं, कुगुरुओं की सेवा करते हैं, राग-द्वेष-मोह वर्द्धक ग्रंथों को पढते हैं, असंयम व हिंसा को संयम मान लेते हैं, मात्र कायक्लेश को तप ठान लेते हैं, अपात्रों को दान देकर संतोष मान लेते हैं – ऐसे अशुद्ध षट्कर्म के सेवनेवालों के परिणामों में कषायों के पोषने का ही भीतरी अभिप्राय रहता है। या तो वे पुत्र व सम्पत्ति के लोभ से या स्वर्गादि सुखों के लोभ से षट्कर्म करते हैं या अपनी मान-बड़ाई पुष्ट करने को या किसी तरह के कपट भाव से करते रहते हैं। जैसा अभिप्राय होता है, वैसा ही फल होता है। कषाय-पुष्टि का अभिप्राय संसार का ही बढानेवाला है। वे दुर्गति में रुलते हुए जन्म-मरण के महान कष्ट पाते हैं। जहाँ आत्मा की शुद्धि के प्रयोजन से देव-पूजादि षट्कर्म किये जाते हैं, वहीं मोक्षमार्ग का उपाय हो रहा है – ऐसा कहा जायगा। राग-द्वेष-मोह संसार है, जहाँ इनकी पुष्टि है, वहाँ संसार की पुष्टि है।

॥ शुद्ध षट्कर्म विचार ॥

॥ श्लोक ३२० ॥

षट्कर्म शुद्ध उक्तं च, शुद्ध समय शुद्धं ध्रुवं।
जिनोक्त षट्कर्मस्य, केवलि दृष्ट जिनागमे॥

अन्वयार्थ – (शुद्ध षट्कर्म उक्त च) अब शुद्ध षट्कर्मों को कहा जाता है, जहाँ अभिप्राय (शुद्ध शुद्ध ध्रुव समय) रागादि भावों से शून्य तथा ज्ञानावरणादि से शून्य निश्चल शुद्धात्मा का लाभ है, वे ही शुद्ध षट्कर्म हैं। (जिनोक्त षट्कर्मस्य) ये जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए षट्कर्म (केवली दृष्ट जिनागमे) केवली की परम्परा से जिनागम में प्रमाणिक कहे गए हैं।

विशेषार्थ – शुद्ध षट्कर्म वे ही हैं, जहाँ आत्मा की शुद्धता का अभिप्राय हो। देवपूजादि हर एक कार्य को करते हुए भावना परिणामों की शुद्धि की हो, शुद्धोपयोग की प्राप्ति हो, अन्य कोई सांसारिक प्रयोजन जहाँ न हो। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव को यह निश्चय हो गया है कि उसका आत्मा वास्तव में शुद्ध है, मात्र कर्म-कलंक से मलीन हो रहा है। इस कर्म-मैल के धोने का उपाय निश्चय रत्नत्रय धर्म ही यथार्थ है, जहाँ शुद्धात्मा का श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र है – जिसको आत्मानुभव कहते हैं। इसी से कर्मों का मैल कटता है। श्री जिनेन्द्र भगवान की कही हुई वे ही छह क्रियाएँ यथार्थ हैं, जो शुद्धात्मा की तरफ ले जावें। जिन-आगम परम पूज्य ऋषियों के द्वारा निर्मापित है, जिनका मूल स्रोत तीर्थंकर भगवान का उपदेश है, उस जिनवाणी में जिन शुद्ध षट्कर्मों के पालने की आज्ञा है, उन्हें ही हराएक श्रद्धावान को पालना चाहिये। उनमें यही अभिप्राय है कि राग-द्वेष-मोह जो बंध के कारण भाव हैं, उनको दूर किया जावे और वीतराग-विज्ञानमय शुद्ध आत्मीक भाव को झलकाया जावे, जहाँ

रञ्च मात्र भी सांसारिक सुख की भावना न हो। ख्याति-लाभ-पूजादि की चाह न हो, वहीं शुद्ध षट्कर्म है। पद्मनंदि मुनि ने श्रावकाचार में रत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहकर शुद्ध षट्कर्म बताए हैं –

सम्यग्दृग्बोधचारित्रत्रितयं धर्म उच्यते। मुक्तेः पंथा स एव स्यात्प्रमाणपरिनिष्ठितः॥ ६-२॥
देवपूजा गुरूपास्तिः. स्वाध्यायः संयमस्तपः। दानञ्चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥ ६-७॥

भावार्थ – **प्रमाण से निश्चय किया गया सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही धर्म कहा गया है, यही मोक्षमार्ग है, इसीलिये गृहस्थों को नित्य प्रति देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान – इन छः कर्मों को नित्य करना चाहिये।**

॥ श्लोक ३२१-३२२ ॥

देवं देवाधिदेवं च, गुरु ग्रंथ मुक्तं सदा।
स्वाध्याय शुद्ध ध्यायंते, संयमं संयमं श्रुतं॥
तपश्च अप्प सद्भावं, दानं पात्रं च चिंतनं।
षट् कर्म जिन प्रोक्तं, सार्धं शुद्ध दृष्टितं॥

अन्वयार्थ – (देवाधिदेवं च देवं) **इन्द्रादि देवों करके पूज्यनीय वीतराग भगवान को देव मानकर पूजे,** (सदा ग्रंथ मुक्तं गुरु) **सदा ही परिग्रह रहित ही गुरु माने,** (शुद्ध स्वाध्याय ध्यायंते) **शुद्ध आत्मा का मनन रूपी स्वाध्याय को ध्यावे,** (संयमं सयमं श्रुतं) **शास्त्र के कहे प्रमाण मन व इंद्रिय निरोध करके प्रतिज्ञा ले सो संयम है,** (तपश्च अप्प सद्भावं) **आत्मा के स्वभाव में तपना सो ही तप है,** (दानं पात्रं च चिंतनं) **पात्रों को दान देने का चिंतवन करना दान है,** (जिनप्रोक्तं षट्कर्मं) **यह जिनेन्द्र कथित छह कर्म हैं,** (शुद्ध दृष्टितं सार्धं) **इन सबके साथ शुद्ध सम्यग्दर्शन होना उचित है।**

विशेषार्थ – **इन दो श्लोकों में छहों कर्म को बता दिया है, जो शुद्ध षट्कर्म हैं। जहाँ शुद्धात्मा की ओर दृष्टि हो, आत्मानुभव की तरफ प्रेम हो, जहाँ सच्चा सम्यग्दर्शन हो, वहीं ही शुद्ध षट्कर्म होते हैं। वीतराग-सर्वज्ञ अरहंत और सिद्ध की निरंतर भक्ति करें, जिनको सर्व ही मुनिगण, इन्द्रगण आदि नमन करते हैं। इनकी भक्ति के द्वारा शुद्धात्मा का मनन करता रहे, तब ही यह शुद्ध देवपूजा कर्म है। राग-द्वेषादि अन्तरंग १४ प्रकार व क्षेत्र-धनादि बाह्य १० प्रकार – इन २४ प्रकार के परिग्रह से रहित परम जितेन्द्रिय सौम्यदृष्टि यथाजात नग्नरूप सहित, आत्मध्यानी ही जैन गुरु हैं। उनको गुरु मानकर उनकी सेवा करके उनसे ज्ञान का लाभ लेवे – यह शुद्ध गुरुभक्ति है। अनेक प्रकार के शास्त्रों को पढ़ता हुआ व शुद्धात्मा के मनन करानेवाले ग्रन्थों को विशेष रूप से पढ़कर**

आत्मा का मनन करना स्वाध्याय है। शुद्धात्मा की दृष्टि की मुख्यता जिस पठन-पाठन में है, वही शुद्ध स्वाध्याय है। आत्मा के ध्यान के हेतु मन की एकाग्रता प्राप्त करने को जो जो भोग-उपभोग बाधक हैं, उनको त्याग करें या उपभोगने योग्य पदार्थों का नित्य सवेरे प्रमाण करके व उसी तरह चले सो शुद्ध संयम है। अनशन, ऊनोदर रसपरित्याग आदि बाहरी तपों को यथाशक्ति करता हुआ सवेरे-साँझ दो बार कुछ देर एकांत में बैठकर अपने शुद्ध आत्मा के स्वभाव में तन्मय हो तप करे, सो शुद्ध तप है। उत्तम, मध्यम, जघन्य तीन प्रकार के पात्रों में से जो मिल सकें, उनको भक्तिपूर्वक दान देने का विचार करके शुद्ध आहारदान, औषधिदान, अभयदान व ज्ञानदान देना सो शुद्ध पात्रदान है। इसतरह शुद्ध षट्कर्मों को जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। इनके साथ शुद्ध सम्यग्दर्शन का होना अत्यंत आवश्यक है। सम्यक्त्व सहित ये षट्कर्म गृहस्थ श्रावक को परम्परा से मोक्ष के कारण हैं। व उसी भव से स्वर्गगति के देनेवाले हैं। शुद्धात्मा की भावना सहित ही जैन के षट्कर्म एक जिन भक्त के लिये आवश्यक हैं, इस ही से परम कल्याण है।

॥ पाँच परमेष्ठी का स्वरूप ॥

॥ श्लोक ३२३ ॥

देवं च जिन उक्तं च, ज्ञानमय अप्प सद्भावं।
अनंत चतुष्टय जुत्तं, चौदस प्राण संजुदो॥

अन्वयार्थ – (देवं च उक्त च जिन) देव उसको कहा है जो जिन हों (ज्ञानमय अप्प सद्भाव) ज्ञानमय आत्मा के स्वभाव में लीन हों (अनत चतुष्टय जुत्त) अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख व अनंत वीर्य – इन चार चतुष्टय सहित हों तथा (चौदस प्राण सजुदो) चार प्राण या दस प्राण सहित हों।

विशेषार्थ – यहाँ अरहंत परमात्मा को पूज्यनीय आप्त देव कहा है। जो चार घातिया कर्मों के व रागादि के जीतनेवाले जिन हों, जो निरंतर आत्मा के रस में तन्मय हों, जिनको अनंतज्ञानादि चतुष्टय प्राप्त हों, जिनमें कोई प्रकार का अज्ञान व मोह न हो, जो शरीर सहित रहते हुए इंद्रिय, बल, आयु व श्वासोच्छवास – इन चार प्राणों को धारते हैं या इनके भेदरूप दस प्राणों को धारते हैं अर्थात् पाँच इंद्रिय, तीन शरीरादि बल, आयु व शासोच्छवास – ये १० प्राण जिनमें हों, वे ही अरहंत देव हैं। यद्यपि ये १० बाहरी प्राण अरहंत भगवान में होते हैं, तथापि इनमें से कर्म के उदय से शरीर व वचन बल तो काम करता है। मन में द्रव्यमन में हलन-चलन होता है, क्योंकि मनोवर्गणा भी उनके होती है। पाँच इंद्रियों से काम नहीं लेते, क्योंकि मतिज्ञान उनके नहीं रहा। इंद्रियों के आकार हैं, परंतु वे कुछ काम नहीं आते हैं। आयुकर्म समय-समय खिरता है। मंद-मंद श्वास आता है। इसतरह शरीर

सहित परमात्मा को पूज्यदेव मानकर भलेप्रकार पूजा व भक्ति करनी योग्य है। उनके गुणों में एकाग्र होना योग्य है। पद्मनंदी मुनि ने श्रावकाचार में कहा है –

ये जिनेन्द्रं न पश्यंति पूजयन्ति स्तुवन्ति न । निष्फलं जीवितं तेषां तेषां धिक् च गृहाश्रमम्॥ १५॥

भावार्थ – जो जिनेन्द्र का दर्शन, पूजन, स्तवन नहीं करते हैं, उनका जीवन निष्फल है, उनके गृहाश्रम को धिक्कार है।

॥ श्लोक ३२४ ॥

देवो परमेट्ठि मइओ, लोकालोकं विलोकितं।
परमप्पा ज्ञानमइओ, तं अप्पा देह मज्झंमि॥

अन्वयार्थ – (परमेट्ठि मइओ देवो) परम पद में तिष्ठनेवाला देव सिद्ध है (लोकालोकं विलोकितं) जिसने लोकालोक को देख लिया है, जो (ज्ञान मइओ) ज्ञानमयी (परमप्पा) परमात्मा है, (देह मज्झंमि तं अप्पा) इस देह के मध्यम वही आत्मा है।

विशेषार्थ – इसके पहले श्लोक में अरहंत देव का स्वरूप कहा है, यहाँ सिद्ध परमात्मा का स्वरूप कहते हैं। सिद्ध भगवान सर्वोत्कृष्ट पद में विराजित हैं आठ कर्म रहित होने से अशरीरी परमात्मा हैं ज्ञानाकार हैं व जिनके ज्ञान में लोकालोक दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह झलक रहा है। वे सर्व रागादि दोष, आठ कर्ममल व शरीरादि से रहित केवल आत्मा ही मात्र हैं। जैसा सिद्ध का स्फटिकमणिमय निर्मल स्वरूप है, वैसा ही इस शरीर के भीतर जो आत्मा है, उसका निश्चयनय से स्वरूप है अर्थात् जब द्रव्य की दृष्टि से देखा जावे तो अपने शरीर के भीतर यह आत्मा भी आत्मारूप सिद्धसम कर्मबंध-रहित दिखलाई पड़ता है। इस आत्मा में और परमात्मा में कोई अंतर नहीं है। दोनों के गुण स्वभाव समान हैं। मात्र प्रदेशों की अपेक्षा भिन्नता है। यद्यपि प्रदेशों की संख्या भी असंख्यात प्रदेशी समान है। वास्तव में जो अपने आत्मा को भेद-विज्ञान के द्वारा सर्व अनात्मा से निराला व सर्व कर्मजनित विकारी भावों से भिन्न अनुभव करेगा, वही सिद्ध परमात्मा को पहचान सकेगा। योगसार में योगीन्द्राचार्य कहते हैं –

जो परमप्पा सो जि हउं जो हउं सो परमप्पु। इउ जाणेविणु जोइआ अण्ण म करहु वियप्पु॥ २२॥

भावार्थ – जो परमात्मा है, वैसा ही मैं हूँ और जैसा मैं हूँ, वैसा परमात्मा है। हे योगी ! ऐसा जानकर अनुभव कर और विकल्प न कर। सो ऽहं शब्द इसी भाव को झलकाता है। सो ऽहं द्वारा अपने आत्मा की पूजा वही निश्चय से सिद्धपूजा है।

॥ श्लोक ३२५ ॥

देहह देवलि देवं च, उवइट्ठो जिनवरिंदेहिं।
परमेष्ठी संजुत्तं, पूजं च शुद्ध सम्यक्तं॥

अन्वयार्थ – (देहह देवलि) **शरीररूपी मंदिर में** (देवं च) **आत्मारूपी देव है – ऐसा** (जिनवरिंदेहिं उवइट्ठो) **जिनेन्द्रों ने कहा है** (परमेष्ठी सजुत्तं) **वही सिद्ध परमेष्ठी के गुणों सहित है** (पूजं च शुद्ध सम्यक्तं) **उसकी भक्ति-पूजा ही शुद्ध सम्यग्दर्शन है।**

विशेषार्थ – **शरीर के भीतर यदि शुद्ध द्रव्यदृष्टि से देखा जावे तो आत्मा आत्मारूप सिद्धसम शुद्ध विराजमान है, उसको जब परमात्मा-सम देखा जाता है तो वही पूज्यनीय देव दिखलाई पड़ता है। तब उस देव के तिष्ठने का मंदिर अपना शरीर ही हुआ। अतएव निश्चल मन के द्वारा अपने शरीर को देवस्थान मानो और अपने आत्मा को परमात्मा मानो और उपयोग को थिर करो अर्थात् उसकी पूजा करो, उसी का एकाग्रता से अनुभव करो। अपने ही आत्मा का स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा अनुभव करना यही शुद्ध सम्यग्दर्शन का अनुभव है व यही सिद्धपूजा है व यही देवपूजा है। पं. द्यानतराय कह गए हैं –**
"निज घट में परमात्मा, चिन्मूरति भइया। ताहि विलौकि सुदृष्टिधर पंडित परखैय्या।" **जो शुद्धात्मानुभवी हैं, वे ही सच्चे निज आत्मादेव के आराधक हैं, वे ही यथार्थ उपासक हैं। व्यवहार नय से सिद्धों का स्तवन व पूजन भी इसी हेतु से किया जाता है कि निज आत्मा में परिणति थमे। जब उपयोग सर्व विकल्पों को तजकर आत्मस्थ होता है, तब ही सच्ची देवपूजा या सिद्धपूजा है। यही वास्तविक मोक्षमार्ग है। योगसार में कहा है –**

जो अप्पा सुद्ध वि मुणइ असुहसरीरविभिण्णु । **सो जाणइ सच्छइ सयलु सासयसुक्खहलीणु॥ ९४॥**

भावार्थ – **जो कोई अपवित्र शरीर से भिन्न अपने आत्मा को शुद्ध अनुभव करता है, वह अविनाशी आनन्द में लीन होता हुआ सर्व शास्त्रों को जानता है। जिनवाणी का सार मात्र एक समयसार रूप परिणाम है।**

॥ श्लोक ३२६ ॥

देवं गुरुं विशुद्धं, अरहन्तं सिद्ध आचार्यं।
उवझायं साधु गुणं, पंच गुणं पंच परमेट्ठी॥

अन्वयार्थ – (विशुद्धं देवं गुरुं) **वीतराग देव व वीतरागी गुरु** (अरहंतं सिद्ध आचार्यं उवझायं साधु गुणं) **अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु गुणवान हैं,** (पंचगुणं) **वे पाँच गुणी आत्माएँ** (पंच परमेट्ठी) **पाँच परमेष्ठी कहलाती हैं।**

विशेषार्थ — जैनों में ३५ अक्षरी णमोकार मंत्र प्रसिद्ध है, उसमें इस लोक में सर्व अरहंत, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय तथा साधु को भाव पूर्वक नमस्कार किया गया है। वही भाव यहाँ पर भी बताया है कि जगत में जितने महान पद हैं, उन सबमें श्रेष्ठ शुद्ध गुणों के धारी ये पाँच ही परम पद हैं, उनमें अरहंत-सिद्ध तो वीतराग देव हैं तथा शेष तीन आचार्य, उपाध्याय और साधु परम गुरू हैं। इनकी दृढ़ भक्ति ,परमपद की परम्परा का कारण है।

इनको इस क्रम में रखने का कारण यह है कि जिनसे साक्षात् विशेष उपकार होता है, उनका नाम पहले लिया गया है। परमात्मा को पहले नमन करना चाहिये फिर अंतरात्मा को, इस हेतु से अरहंत-सिद्ध परमात्मा को नमन करके फिर तीन अंतरात्मा को नमन किया है। यद्यपि सिद्ध भगवान आठों कर्म रहित महान हैं, उनको पहले नमन करना चाहिये, तथापि जगत-जीवों का उपकार उनकी अपेक्षा अरहंत परमात्मा से विशेष होता है। अरहंत दिव्यध्वनि द्वारा धर्मोपदेश करते हैं, क्योंकि वे शरीर सहित हैं। सिद्ध के शरीर न होने से उपदेशपने का अभाव है, अरहंत ही की वाणी से सिद्धों का ज्ञान होता है — ऐसा उपकार विचारकर पहले अरहंतों को फिर सिद्धों को नमस्कार किया गया है, क्योंकि आचार्यादि तीनों अंतरात्मा भी अरहंत-सिद्ध की भक्ति करके ही अपनी उन्नति करते हैं, इसलिये अरहंत सिद्ध के बाद ही उनको नमन किया गया है, उन तीन अंतरात्माओं में से सर्वोच्च पदधारी व सबसे अधिक उपकारक आचार्य हैं, जो संघ के नायक, दीक्षा-शिक्षा दाता, संरक्षक व संचालक होते हैं, इसलिये उनको पहले नमन करके फिर उपाध्याय को नमन किया है, जो आचार्य की आज्ञानुसार शास्त्रों की शिक्षा देने का काम मुख्यता से करते हैं। साधुगण मात्र साधना करनेवाले हैं। साधुओं से अधिक उपकारी उपाध्याय हैं, इसलिये अंत में साधुओं को नमन किया गया है। इन सबमें रत्नत्रय के अस्तित्व की प्रधानता है। रत्नत्रय की पूर्णता के निकट अरहंत हैं, सिद्धों के रत्नत्रय की पूर्णता है। शेष तीनों रत्नत्रय के अभ्यासी हैं, निश्चय रत्नत्रयरूप निर्विकल्प समाधि व आत्मानुभव की प्रधानता से ही ये सर्व तीन लोक के प्राणियों से उच्च हैं, परम पदधारी हैं, अतएव इंद्रादि देवों से नमन योग्य हैं — भवनवासी देवों के ४०, व्यन्तर देवों के ३२, ज्योतिषियों के चन्द्र व सूर्य, कल्पवासी देवों के २४, चक्रवर्ती राजा व अष्टापद पशु — इसतरह १०० इन्द्र जिन-चरणों को पुनः पुनः नमन करते हैं, इसलिये ही वे परमेष्ठी हैं।

॥ श्लोक ३२७ ॥

अरहंतं ह्रियं कारं, ज्ञानमय त्रिभुवनस्य।
नंत चतुष्टय सहिओ, ह्रींकारं जाण अरहंतं॥

अन्वयार्थ – (अरहंतं) **पूजने योग्य** (ह्रियं कार) **ह्रीं मंत्र में चौवीस तीर्थंकर गर्भित हैं, जो** (त्रिभुवनस्य ज्ञानमयं) **तीनलोक के पदार्थों के ज्ञाता हैं** (अनंत चतुष्टय सहिओ) **और अनंत चतुष्टय सहित हैं, इसलिये** (ह्रींकारं जाण अरहंतं) **ह्रीं में अरहंतों को गर्भित जानना चाहिये।**

विशेषार्थ – **ह्रीं में ह एवं र अक्षरों की प्रधानता से र से २, ह से ४ इसलिये बाँयीं तरफ से जोड़ने से २४ तीर्थंकरों का बोध होता है। परमोपकारी धर्मोपदेशक व धर्मप्रचारक होने के कारण भरत व ऐरावत क्षेत्र में हरएक अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी काल की किरण में चौवीस चौवीस तीर्थंकर होते रहते हैं। जब धर्म का लोप-सा व धर्म में अंधकार-सा छा जाता है, तब एक-दूसरे के बहुत काल बाद तीर्थंकर होते हैं, जो जीवनपर्यंत धर्मबोध देते हुए विहार करते हैं। जिनके समवसरण में बारह प्रकार की सभाएँ होती हैं, जिनमें प्रत्येक में अलग-अलग भवनवासी की देवियाँ, व्यंनरों की देवियाँ, ज्योतिषियों की देवियाँ, स्वर्गवासी देवों की देवियाँ, भवनवासी देव, व्यंतर देव, ज्योतिषी देव, स्वर्गवासी देव, मुनिगण, आर्यिकागण, मानव तथा पशु विराजते हैं, जिनका उपदेश हरएक मानव व सैनी पंचेंद्रिय पशु व हर प्रकार का देव सुन सकता है, जहाँ किसी को जाने में रुकावट नहीं है। जो तीर्थंकर सवेरे, दोपहर, साँझ व मध्यरात्रि – इसतरह २४ घंटे में चार बार प्रत्येक में छह छह घड़ी पर्यंत धर्मोपदेश लगातार देते हैं। विशेष पुरुष के प्रश्नवश अन्य समय में भी उपदेश प्रदान करते हैं, जिनकी वाणी को सुनकर अनेक गृहस्थ मुनि, अनेक श्रावक व्रतधारी, अनेक देव, मानव, पशु सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं, सुख-शांति का परम लाभ कर लेते हैं। जो स्वयं अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख, व अनंत वीर्य के धनी हैं – ऐसे अरहंतों के स्वरूप का चिंतवन व मनन ही मंत्र द्वारा करना योग्य है।**

॥ श्लोक ३२८ ॥

सिद्धं सिद्ध ध्रुवं चिंते, ॐवंकारं च विंदते।
मुक्ति च ऊर्द्ध सद्भावं, ऊर्द्धं च शाश्वतं पदं॥

अन्वयार्थ – (सिद्ध सिद्ध ध्रुवं चिंते) **सिद्ध भगवान को ऐसा विचारे कि वे सिद्ध हैं व ध्रुव हैं** (ॐवंकारं च विंदते) **ॐ शब्द से जिनका अनुभव होता है** (मुक्ति च ऊर्द्ध सद्भाव) **जो मुक्ति में तीन लोक के ऊपर अग्रभाग में तिष्ठे हैं** (ऊर्द्ध च शाश्वतं पदं) **जो श्रेष्ठ अविनाशी पद के धारी हैं।**

विशेषार्थ – **यहाँ सिद्ध भगवान के स्वरूप को झलकाया है कि वे सिद्ध हैं, क्योंकि उन्होंने जो साधने योग्य कार्य आत्मा की शुद्धि करने का था, उसको साध लिया है, उनको अब कुछ करना नहीं रहा, वे कृतकृत्य हो गए हैं तथा वे ध्रुव हैं, अब उनकी स्वाभाविक अवस्था कभी वैभाविकरूप न**

होगी। वे कभी भी संसारी न होंगे, उनका कभी आवागमन न होगा। वे निश्चल अपने प्रदेशों में भी पुरुषाकार जैसे मोक्ष जाते समय शरीर में थे, वैसे विराजमान रहते हैं, इसलिये ध्रुव हैं। यद्यपि द्रव्य के स्वरूप की अपेक्षा उनमें भी स्वाभाविक परिणमन अगुरुलघु नामा गुण के द्वारा जल में सूक्ष्म कल्लोलवत् प्रतिसमय हुआ करता है, परंतु यह सदृश स्वाभाविक परिणमन कोई मलिनता पैदा नहीं करता है। स्वभाव की ध्रुवता को नहीं मिटाता है, इसलिये सिद्ध भगवान ध्रुव हैं। ॐ शब्द द्वारा जिनका ध्यान किया जाता है। यद्यपि ॐ में पाँचों परमेष्ठी गर्भित हैं, तथापि शुद्ध निश्चय नय से उनमें शुद्ध आत्मा के स्वरूप के झलकाने की प्रधानता है इसलिये ध्यातागण ॐ को भौहों के बीच, हृदय-कमल व मस्तक आदि पर चमकता हुआ विराजमान करके उस पर चित्त को रोककर फिर सिद्धस्वरूप में चले जाते हैं। व सिद्ध भगवान लोक के अग्रभाग तनु वातवलय में सबसे ऊपर सिद्धक्षेत्र में विराजमान हैं। उनका पद सबसे ऊँचा इस अपेक्षा से है कि वह अविनाशी पद है। अरहंत आदि अन्य चार परमेष्ठी के पद सब अनित्य हैं, नाशवन्त हैं, शरीर सहित होने से पतन सहित हैं, परन्तु सिद्ध का पद सर्व कर्म व सर्व शरीर रहित होने से सदा ही रहनेवाला अविनाशी है। इसतरह सिद्धों का ध्यान करना चाहिये।

॥ श्लोक ३२९ ॥

आचार्यं आचरणं शुद्धं, ती अर्थं शुद्ध भावना।
सर्वज्ञे शुद्ध ध्यानस्य, मिथ्या त्यक्तं त्रि भेदयं॥

अन्वयार्थ – (आचार्यं आचरणं शुद्धं) आचार्य शुद्ध आचरण करते-कराते हैं (ती अर्थं शुद्ध भावना) रत्नत्रय स्वरूप की शुद्ध भावना करते हैं (सर्वज्ञे शुद्ध ध्यानस्य) सर्वज्ञ परमात्मा के शुद्ध ध्यान में लगे रहते हैं (त्रि भेदयं मिथ्या त्यक्त) तीन प्रकार मिथ्यात्व से रहित हैं या तीन प्रकार मिथ्याज्ञान से रहित हैं।

विशेषार्थ – अब यहाँ आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप बताते हैं। जो निर्ग्रंथ मुनि पाँच महाव्रत, पाँच समिति व तीन गुप्ति – ऐसे १३ प्रकार चारित्र का व दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार – इन पाँच प्रकार आचार का निर्दोष पालन स्वयं करते हैं व दूसरों से पालन कराते हैं। जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भावना व्यवहार नय द्वारा करते हुए उसका अनुभव निश्चय नय से शुद्धोपयोगरूप करते हैं, क्योंकि शुद्धोपयोग में ही निश्चय रत्नत्रय का लाभ होता है व वीतरागता होती है। आचार्य महाराज के प्रमत्त व अप्रमत्त दो गुणस्थान ही होते हैं। जब ध्यान-मग्न निश्चल होते हैं तब सातवाँ अप्रमत्त और जब दीक्षा-शिक्षा आहार-विहार कार्यों में निरत होते हैं, तब प्रमत्त छठा गुणस्थान होता है। इन दोनों का काल अंतर्मुहूर्त से अधिक नहीं है, इसलिये उन आचार्यों का आत्मा

पुनः पुनः ध्यानमग्न होता हुआ आत्मानन्द का विलास करता रहता है, वे वचन व काय से बाहरी कार्य को करते हुए भी मन से आत्मकार्य में ही लवलीन रहते हैं। जो शुद्ध धर्मध्यान करते हैं, सर्वज्ञ परमात्मा का आलम्बन लेते हुए कभी स्तवन-वन्दना भी करते हैं। जो क्षयिक सम्यक्त्वी या उपशम सम्यक्त्वी होते हैं, उनके तीनों दर्शनमोह नहीं होते हैं। वे मिथ्यात्व, सम्यक्-मिथ्यात्व, व सम्यक्-प्रकृति से रहित होते हैं। क्षयोपशम सम्यक्त्व में सम्यक् प्रकृति का अतिमंद उदय होता है। अथवा जिनमें कुमति, कुश्रुत व कुअवधिज्ञान नहीं होते हैं अथवा जो मिथ्या, माया व निदान – इन तीन शल्य से रहित होते हैं। ऐसे परम मुनि वीतरागी परमोपकारी आचार्य हैं, उनका ध्यान करना चाहिये।

॥ श्लोक ३३० ॥

उपाध्याय उपयोगेन, उपयोगो लक्षणं ध्रुवं।
अंग पूर्वं च उक्तं च, सार्धं ज्ञानमयं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (उपाध्याय) उपाध्याय (उपयोगेन) ज्ञानोपयोग में लगे रहते हैं (उपयोगो ध्रुव लक्षणं) उपयोग जीव का निश्चित लक्षण है (अग पूर्व च उक्त च) जो ग्यारह व १४ पूर्व को कहते हैं (ज्ञानमयं ध्रुवं सार्धं) साथ में अविनाशी ज्ञानमय आत्मा का भी वर्णन करते हैं।

विशेषार्थ – यहाँ उपाध्याय परमेष्टी का स्वरूप कहते हैं कि जो साधु निरंतर ज्ञानोपयोग में लगे रहते हैं, पठन-पाठन में दत्त-चित्त हैं, द्वादशांग वाणी को भलेप्रकार जानकर दूसरों को पढाते हैं तथा जिनवाणी का सार जो शुद्धात्म तत्व है, उसको भी बताते हैं, वे उपाध्याय हैं।

बारह अंगों का स्वरूप संक्षेप से यह है –

१. आचारांग – इसमें मुनियों के बाहरी आचरण हैं, कैसे चलें, बैठें, उठें आदि।

२. सूत्रकृतांग – इसमें सूत्ररूप संक्षेप से ज्ञान का विनय आदि धर्म क्रिया का वर्णन है।

३. स्थानांग – इसमें दो तीन चार इसतरह बढते-बढते स्थानों का कथन है। जैसे संग्रह नय से जीव एक प्रकार है, व्यवहार नय से संसारी व मुक्त – ऐसे दो प्रकार व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप तीन प्रकार है इत्यादि।

४. समवायांग – जिसमें समानता से जीवादि पदार्थ बताए हों। जैसे धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय समान हैं, मुक्त जीव सब समान हैं, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा समानता बताई है।

५. व्याख्या-प्रज्ञप्ति – इसमें गणधर के साठ हजार प्रश्नों के उत्तर हैं। जैसे जीव अस्ति है कि नास्ति है, एक है कि अनेक है, नित्य है कि अनित्य है इत्यादि।

६. ज्ञातृ धर्मकथा या नाथ धर्मकथा – इसमें त्रेशठ शलाका पुरुषों के धर्म की कथा है।

७. उपासकाध्ययन – इसमें श्रावकों की ग्यारह प्रतिमा, क्रिया, मंत्र आदि का वर्णन है।

८. अंतःकृतदशांग – इसमें हर एक तीर्थंकर के समय दस-दस मुनि घोर उपसर्ग सहकर मोक्ष गए, उनका कथन है। श्री वर्द्धमानस्वामी के समय ऐसे मुनि – १. नमि, २. मतंग, ३. सोमिल, ४. रामपुत्र, ५. सुदर्शन, ६. यमलीक, ७. वलिक, ८. किष्कंबल, ९. पालंबष्ट, १०. पुत्र – ये १० हुए हैं।

९. अनुत्तरोपपादिक दशांग – इसमें हर एक तीर्थंकर के समय में दश मुनि उपसर्ग सह समाधि मरण कर विजयादिक अनुत्तरों में जन्मे, उनका कथन है। श्री वर्द्धमानस्वामी के समय ऐसे १० मुनि – १. ऋजुदास, २. धन्य, ३. सुनक्षत्र, ४. कार्तिकेय, ५. नंद, ६. नंदन, ७. सालिभद्र, ८. अभय, ९. वारिषेण, १०. चिलाती पुत्र – ये दश हुए हैं।

१०. प्रश्न व्याकरणांग – इसमें अतीत-अनागत-वर्तमान काल सम्बन्धी लाभ-अलाभ आदि प्रश्नों के उत्तर कहने की विधि तथा चार प्रकार कथाओं का वर्णन है। आक्षेपिणी – धर्म में दृढ़ करनेवाली, विक्षेपिणी – एकांत मत खण्डन कानेवाली, संवेजिनी –धर्मानुराग करानेवाली, निर्वेजिनी – संसार-शरीर-भोगों से वैराग्य करानेवाली।

११. विपाकसूत्र – कर्मों के उदय बंध सत्ता आदि का जिसमें वर्णन है।

१२. दृष्टिप्रवाद – इसके पाँच अधिकार हैं। १. परिकर्म, २. सूत्र, ३. प्रथमानुयोग, ४. पूर्वगत, ५. चूलिका।

परिकर्म वह है जिसमें गणितादि के सूत्र हों। उसके पाँच भेद हैं। चन्द्र प्रज्ञप्ति, सुर्य-प्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, द्वीपसागर-प्रज्ञप्ति, व्याख्या-प्रज्ञप्ति। इसमें जीवादि पदार्थों का स्वरूप है। सूत्र उसे कहते हैं जिसमें क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद, विनयवाद मतों के ३६३ भेदों का वर्णन हो।

प्रथमानुयोग में त्रेशठ सलाका पुरुषों का जीवनचरित्र हो।

पूर्व चौदह हैं, वे इसप्रकार हैं –

१. उत्पाद पूर्व – पदार्थों को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का कथन है।

२. अग्रायणीय पूर्व – ७०० सुनय, कुनय व सात तत्त्वादि का वर्णन है।

३. वीर्यानुवाद पूर्व – जिसमें जीव-अजीवादि के वीर्य का व क्षेत्र, काल, भाव व तप के वीर्यादि का कथन है।

४. अस्ति-नास्ति पूर्व – अस्ति-नास्ति आदि सात भंगों का स्वरूप है।

५ ज्ञान-प्रवाद पूर्व – **आठ प्रकार के ज्ञान का स्वरूप वर्णन है।**

६ सत्य-प्रवाद पूर्व – **१० प्रकार सत्य आदि का वर्णन है।**

७ आत्म-प्रवाद पूर्व – **आत्मा के स्वरूप का कथन है।**

८ कर्म-प्रवाद पूर्व – **कर्मों के बंधादि का कथन है।**

९ प्रत्याख्यान पूर्व – **त्याग का विधान कथित है।**

१० विद्यानुवाद पूर्व – **७०० अल्पविद्या, ५०० महाविद्या साधने के मंत्र, यंत्र व आठ निमित्तज्ञान का कथन है।**

११ कल्याणवाद पूर्व – **महापुरुषों के कल्याणकों का कथन है।**

१२ प्राणवाद पूर्व – **वैद्यक का कथन है।**

१३. क्रिया विशाल पूर्व – **संगीत, छन्द, अलंकार, ७२ पुरुष-कला २४ स्त्री-कला आदि का कथन है।**

१४ त्रिलोक बिंदुसार – **तीन लोक का स्वरूप बीजगणितादि का कथन है।**

चूलिका पाँच प्रकार हैं – जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता, आकाशगता।

इसमें जल, थल, आकाश में चलने के, रूप बदलने के मंत्रादि हैं।

इन बारह अंगों के अपुनरुक्त अक्षर –

१८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ **हैं अर्थात्** अ आ आदि ६४ **अक्षरों के सब भेद उतने होते हैं।**

यदि दो के अंक को छह बार वर्ग करें और एक घटा दें तो इतने अक्षर आएँगे। जैसे २ X२-४, ४ X४-१६, १६ X१६-२५६, २५६ X२५६-६५५३६ इसी तरह करने से निकलेंगे।

एक मध्यम पद में १६३४८३०७८८८ अपुनरुक्त अक्षर होते हैं तब कुल अक्षरों के ११२८३५८००५ पद निकलेंगे शेष ८०१०८१७५ अक्षर बचेंगे।

बारह अंगों में इतने पद नीचे प्रकार बांट दिये गए हैं –

१.	आचारांग	१८०००	२.	सूत्रकृतांग	३६०००
३.	स्थानांग	४२०००	४.	समवायांग	१६४०००
५.	व्याख्या प्रज्ञप्ति	२२८०००	६.	ज्ञातृ कथा	५५६०००
७.	उपासकाध्ययन	११७००००	८.	अंतकृतदश	२३२८०००
९.	अनुत्तरोपपादिक	९२४४०००	१०.	प्रश्न व्याकरण	९३१६०००
११.	विपाक सूत्र	१८४०००००	१२.	दृष्टिप्रवाद	१०८६८५६००५

इस प्रकार कुल पद ११२८३५५८००५ हुए

शेष ८०१०८१७५ अक्षरों में १४ प्रकीर्णक हैं, उनको अंग बाह्य कहते हैं।

१. मामायिक – सामायिक के भेद।

२. चतुर्विशतिस्तव – २४ तीर्थंकर की स्तुति।

३. वदना – एक तीर्थंकर की वंदना मुख्यता से।

४. प्रतिक्रमण – गत दोष निवारण ७ प्रकार।

५. वैनयिक – पाँच प्रकार विनय।

६. कृति कर्म – नित्य क्रिया कथन।

७. दशवैकालिक – काल विकाल कथन।

८. उत्तराध्ययन – मुनि का उपसर्ग-परीषह सहन कथन।

९. कल्प व्यवहार – मुनि योग्य आचरण कथन।

१०. कल्पाकल्प – मुनि के योग्य व अयोग्य द्रव्य-क्षेत्रादि कथन।

११. महाकल्प – जिनकल्पी स्थविरकल्पी मुनि कथन।

१२. पुण्डरीक – चार प्रकार देवों में उपजने के कारण दान-पूजादि।

१३. महापुण्डरीक – इन्द्र-अहमिन्द्र में उपजने के कारण।

१४. निषिद्धिका – प्रायश्चित्त कथन।

ये सब अंग प्रकीर्णक अब मिलते नहीं हैं। श्वेताम्बरों ने इन्हीं नाम के धारक ग्रन्थ वीर भगवान के मोक्ष के नौ सो वर्ष बाद संकलन किये हैं। उनमें कुछ-कुछ आंशिक कथन है।

उपाध्याय शास्त्र के विशेष ज्ञाता होते हैं। इन साधुओं का कर्तव्य पढ़ना-पढ़ाना है।

॥ श्लोक ३३१ ॥

साधुश्च सर्वसाध्यं च, लोकालोकं च साधये।
रत्नत्रयमयं शुद्धं, ति अर्थं साधु जोइतं॥

अन्वयार्थ – (साधुश्च) साधु महाराज भी (सर्वसाध्य च) सर्व प्रकार साधन करनेवाले हैं, (लोकालोकं च साधये) जो लोकालोक के दिखानेवाले केवलज्ञान को साधते हैं (रत्नत्रयमय शुद्ध) रत्नत्रयमयी शुद्ध आत्मा को साधते हैं (ति अर्थ साधु जोइत) जिन्होंने तीनों पदार्थों को भलेप्रकार जाना है।

विशेषार्थ – साधु परमेष्ठी की मुख्यता मोक्ष की सिद्धि करने की है। वे निरंतर व्यवहार रत्नत्रय

के द्वारा निश्चय रत्नत्रयमयी शुद्ध आत्मा का साधन करते हैं। उनको इन तीनों सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र पदार्थों का भलेप्रकार ज्ञान होता है। उनका ध्येय केवलज्ञान प्राप्ति है। छठवें प्रमत्त गुणस्थान से बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान तक सर्व मुनि साधु हैं। साधु मुनि ही तेरहवें गुणस्थान में जाकर अरहंत केवली हो जाते हैं। आचार्य व उपाध्याय पद के धारी मुनि छठवें व सातवें गुणस्थान में ही होते हैं। जब आगे का साधन करना होता है, तब ये मुनि आचार्य व उपाध्याय पद को छोड़ देते हैं। मात्र स्वयं साधन में लग जाते हैं। जिनको न तो संघ की रक्षा की चिंता है, न पठन-पाठन की चिंता है। जो नित्य आत्मध्यान में व वैराग्य की भावना में व बारह प्रकार के तप के साधन में लगे रहते हैं, कठिन-कठिन तपस्या करते हैं, उपसर्ग-परीषह सहते हैं, एकांतवास कर धर्मध्यान की शक्ति बढ़ाते हैं, फिर उपशमश्रेणी या क्षेपकश्रेणी पर शक्ति के अनुसार आरूढ़ होते हैं, कर्मों के क्षय का निरंतर उद्यम करते रहते हैं। सामान्य साधु से बारहवें गुणस्थान तक सब ही साधु हैं। उन्हीं में से आचार्य व उपाध्याय हो जाते हैं। सर्व का भेष नग्न होता है। पीछी-कमंडल, या शास्त्र रखते हैं, अन्य परिग्रह से रहित हैं।

॥ श्लोक ३३२ ॥

देवं पंच गुणं शुद्धं, पदवी पंच संयुतो।
देवं जिनं पण्णत्तं, साधए शुद्ध दृष्टितं॥

अन्वयार्थ – (पदवी पंच संजुतो) अरहंत आदि पाँच पदवी सहित (पंच गुणं) पाँच परमेष्ठी को (शुद्ध देवं) शुद्ध पूज्यनीय देव (देव जिनं) देव जिनेन्द्र (पण्णत्तं) कहा गया है (शुद्ध दृष्टित साधए) ये पांचों शुद्ध सम्यग्दर्शन को साध चुके हैं।

विशेषार्थ – यद्यपि अरहंत-सिद्ध को देव और आचार्य, उपाध्याय, साधु को गुरु कहते हैं, तथापि ये पाँच परमेष्ठी पद पूज्यनीय महान कहे जाते हैं। ये सभी शुद्ध आत्मीक अनुभव करनेवाले शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं, अपने-अपने यथार्थ गुणों के स्वामी हैं। व्यवहार नय से पाँच पद हैं, निश्चयनय से इन सबमें एक ही जाति का शुद्धात्मा विराजमान है। ऐसा विचार कर अपने शुद्धात्मा का ध्यान मुख्यता से करना योग्य है।

॥ श्लोक ३३३ ॥

अरहंतं भावनं येन, षोडशभाव भावितं।
ति अर्थं तीर्थकरं येन, प्रतिपूर्णं पंच दीप्तयं॥

अन्वयार्थ – (येन) जिसने (षोडशभाव भावितं) षोडशकारण भावना भायी हैं तथा (अरहंतं भावनं) अरहंत पद की भावना भाई है (येन) वह (ति अर्थं) तीन पदार्थ स्वरूप (तीर्थकरं) तीर्थंकर

(प्रतिपूर्णं पंच दीप्तयं) पूर्ण पाँच ज्ञानमयी होता है।

विशेषार्थ – अरहंत पद में यद्यपि तीर्थंकर व सामान्य केवली दोनों गर्भित हैं तथापि तीर्थंकर के पुण्यबंध विशेष होता है। उनकी इन्द्रादि देव भक्ति करते हैं। उनसे धर्म का प्रचार भी बहुत होता है। ऐसा तीर्थंकर वही महान आत्मा होता है, जो सोलह कारण भावना का हृदय से विचार करता है। उन भावनाओं के भाने से व केवली-श्रुतकेवली की निकटता से तीर्थंकर नामकर्म का बंध हो जाता है। तीर्थंकरों की इन्द्रादि देव पंचकल्याणक रूप भक्ति करते हैं, जो तीर्थंकर नामकर्म बाँधे हुए उत्पन्न होते हैं, उनके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण पाँचो कल्याणक होते हैं। जो उसी जन्म में तीर्थंकर नामकर्म बाँधकर तीर्थंकर होते हैं, उनके तप, ज्ञान, निर्वाण तीन अथवा ज्ञान, निर्वाण दो कल्याणक होते हैं। तीर्थंकर सम्यक्त्वी, सम्यग्ज्ञानी, सम्यक्चारित्री होते हैं। तीनों पदार्थ जो रत्नत्रय हैं, उनसे पूर्ण होते हैं। तीर्थंकर नामकर्म का बंध भी सम्यक्त्व के होते हुए होता है। वास्तव में तीर्थंकर नामकर्म का उदय केवलज्ञान अवस्था में होता है, जहाँ पाँचो ज्ञानों की पूर्णता या ज्ञान की पूर्णता हो जाती है। ये सोलह कारण भावना परमोपकार करनेवाली है। इनकी भावना करने से या इन पर चलने से यदि तीर्थंकर नामकर्म का बंध न भी हो तो भी महान पुण्यबंध होता है। वे भावनाएँ नीचे प्रकार हैं –

१. दर्शनविशुद्धि भावना – सम्यग्दर्शन शुद्ध रहे उसमें पच्चीस दोष न लगें – ऐसी भावना करनी।

२. विनयसम्पन्नता – रत्नत्रय धर्म व उनके धारकों की विनय करता रहूँ – ऐसी भावना करनी।

३. शीलव्रतेष्वनतीचार – शील स्वभाव व व्रतों के पालने में कोई दोष न लगे – ऐसी भावना करनी।

४. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग – निरंतर आत्मज्ञान व शास्त्रज्ञान के भीतर उपयोग लगा रहे – यह भावना करनी।

५. संवेग – संसार-शरीर भोगों से वैराग्य व धर्म में अनुराग बढ़ता रहे – ऐसी भावना करनी।

६. शक्तितस्त्याग – शक्ति के अनुसार आहार, अभय, औषध व ज्ञान दान करता रहूँ – ऐसी भावना करनी।

७. शक्तितस्तप – शक्ति के अनुसार बारह तप पालता रहूँ – ऐसी भावना करनी।

८. साधु-समाधि – साधुओं पर कोई उपसर्ग आवे तो उसको दूर करूँ – ऐसी भावना करनी।

९. वैयावृत्यकरण – धर्मात्माओं की सेवा करता रहूँ – यह भावना करनी।

१०. अर्हत् भक्ति – अर्हंतदेव की भक्ति करता रहूँ – यह भावना करनी।

११. आचार्य भक्ति – आचार्य की भक्ति करता रहूँ – यह भावना करनी।

१२. बहुश्रुत भक्ति – उपाध्याय की भक्ति करता रहूँ – यह भावना करनी।

१३. प्रवचन भक्ति – शास्त्र की व धर्म की भक्ति करता रहूँ – यह भावना करनी।

१४. आवश्यकापरिहाणि – नित्य आवश्यक धर्मक्रियाओं को न छोडूँ यह भावना करनी।

१५. मार्ग प्रभावना – जिन धर्म की उन्नति करता रहूँ – यह भावना करनी।

१६. प्रवचन वत्सलत्व – साधर्मियों से प्रेम रखता रहूँ – ऐसी भावना करनी।

क्योंकि इन भावनाओं में सर्व जीवों के कल्याण की भावना होती है, इसी से तीर्थंकर नामकर्म का बंध हो जाता है।

॥ श्लोक ३३४ ॥

तस्यास्ति षोडशं भावं, तीर्थं तीर्थंकरं कृतं।
षोडशभाव भावेन, अरहंतं गुण शाश्वतं॥

अन्वयार्थ – (तस्य षोडशभाव अस्ति) उसी के षोडश भावना यथार्थ भायी गई होती है, जिसके (तीर्थं कृत तीर्थंकर) तीर्थ जो धर्मरूपी जहाज उसको चलानेवाला तीर्थंकर कर्मबंध हो जावे (षोडशभाव भावेन) सोलह कारण भावना के भाने से (अरहंतं गुण शाश्वतं) अरहंत पद गुणमयी व अविनाशी आत्मा का स्वभाव प्रकट होता है।

विशेषार्थ – जिनके द्वारा सोलह कारण भावना सर्व ही या कुछ या एक भी परिपूर्ण भायी जाती है, उसी के तीर्थंकर नामकर्म बँधता है। तीर्थंकर के समान ऊँचा अरहंत पद दूसरा नहीं है। अविनाशी आत्मा का स्वभाव जब झलक जाता है, तब तीर्थंकर देव अपनी दिव्यध्वनि से उपदेश देकर अनेक भव्य जीवों का उद्धार करते हैं। उनके महान उपकार को स्मरण कर हमें श्री ऋषभादि महावीर पर्यंत चौबीस तीर्थंकरों की सच्चे भाव से भक्ति करनी योग्य है।

॥ श्लोक ३३५ ॥

सिद्धं च शुद्ध सम्यक्तं, ज्ञान दर्शन दर्शितं।
वीर्यं सुहमं अव्याधि, अवगाहना गुरु लघू॥

अन्वयार्थ – (सिद्धं च शुद्ध सम्यक्तं) सिद्ध भगवान के शुद्ध सम्यक्त्व होता है (ज्ञान दर्शन दर्शितं) अनंत ज्ञान व अनंत दर्शन प्रगट होता है (वीर्य सुहमं अव्याधि) अनंत वीर्य, सूक्ष्मपना, अव्याबाधपना (अवगाहना गुरु लघू) अवगाहना व अगुरुलघुपना – ये आठ गुण प्रगट हो जाते हैं।

विशेषार्थ – सिद्धात्मा पूर्णात्मा को कहते हैं। सर्व बाधक कर्मों का अभाव होने से आत्मा की पूर्ण शक्तियाँ वहाँ प्रकाशमान हो जाती हैं। उनमें गुण तो अनंत होते हैं, परंतु यहाँ आठ कर्मों के

नाश से जो आठ गुण प्रकाशमान होते हैं, उनका कथन किया गया है। मोहनीय कर्म के नाश से शुद्ध सम्यग्दर्शन व स्वरूपाचरण चारित्र सहित प्रगट हो जाता है। ज्ञानावरणीय कर्म के नाश से अनंत ज्ञान व दर्शनावरणीय कर्म के नाश से अनंत दर्शन प्रगट हो जाता है, जिससे वे सर्व द्रव्यों के गुण-पर्यायों को एक समय में ही देखते व जानते हैं। अंतराय कर्म के नाश से अनंत बल प्रगट हो जाता है। जिससे उनको कभी भी किसी प्रकार की आकुलता व निर्बलता नहीं होती है। वेदनीय कर्म के नाश से अव्याबाधपना प्रगट होता हैं। अब कोई पर वस्तु उनके सुख के भोग में बाधक नहीं रही है। गोत्र कर्म के नाश से अगुरुलघु गुण प्रगट हो गया है। उनमें अब यह कल्पना ही नहीं रही है कि हम गुरु हैं या लघु हैं, ऊँच हैं या नीच हैं, वे स्वयं समदर्शी हैं, परम साम्यभाव में लीन हैं, नामकर्म के नाश से सूक्ष्मपना प्रगट हो गया है, शरीरादि न रहने से वे सिद्ध भगवान इंद्रियगोचर नहीं हैं, ज्ञानगम्य हैं, आयुकर्म के नाश से अवगाहना गुण प्रगट हो गया है, जहाँ एक सिद्ध विराजते हैं, वहाँ अन्य सिद्धों को ठहरने में कोई बाधा नहीं होती है, सिद्धों का ऐसा स्वरूप विचार करना चाहिये।

॥ श्लोक ३३६ ॥

सम्यक्तं आदि गुण सार्द्धं, मिथ्यात्व मल विमुक्तयं।
सिद्धं गुणस्य संपूर्णं, साध्यं भव्य लोकयं॥

अन्वयार्थ – (सम्यक्तं आदि गुण सार्द्धं) सम्यग्दर्शन आदि गुणों के धारी (मिथ्यात्व मल विमुक्तयं) मिथ्यादर्शन रूपी मल से रहित (गुणस्य संपूर्णं) सर्व आत्मीक गुणों से पूर्ण (भव्य लोकयं साध्यं) भव्य जीवों के द्वारा साधने योग्य (सिद्धं) ऐसे सिद्ध होते हैं।

विशेषार्थ – सिद्धों में कर्मजनित कोई भी विभाव मिथ्यात्व आदि नहीं होता है, क्योंकि सर्व कर्मों से रहित आत्मा को ही सिद्ध कहते हैं, उनके सम्यग्दर्शन आदि अनंत गुण, जितने आत्मा के भीतर हैं, वे सर्व पूर्णपने विकास को प्राप्त हो जाते हैं, वे आदर्श परमात्मा हैं, निरन्तर आत्मीक आनन्द का स्वाद लेते रहते हैं, उनको ही ईश्वर, भगवान, परब्रह्म, परमेश्वर, निरंजन, चिदानंद प्रभु आदि नामों से भव्य जीव ध्याते हैं, वे ही साधने योग्य हैं। तीर्थंकर भी जब तक गृहस्थ व मुनि अवस्था में होते हैं, उन्हीं सिद्धों का ध्यान करते हैं। हर एक मुमुक्षु को उन सिद्धों के गुणों का स्मरण करके अपने आत्मा को सिद्ध-सम ध्याना चाहिये।

॥ श्लोक ३३७ ॥

आचार्यं आचरणं धर्मं, ती अर्थ शुद्ध दर्शनं।
उपाध्याया उपदेशंति, दशलक्षण धर्मं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (आचार्य ती अर्थ शुद्ध दर्शन आचरणं) आचार्य परमेष्ठी तीन अर्थरूप अर्थात् रत्नत्रय स्वरूप धर्म का तथा मुख्यता से शुद्ध सम्यग्दर्शन का आचरण आप करते हैं व कराते हैं (उपाध्याया ध्रुवं दशलक्षण धर्मं उपदेशंति) उपाध्याय परमेष्ठी यथार्थ दशलक्षणमय धर्म का पाठ पढ़ाते हैं।

विशेषार्थ – जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रत्नत्रयमय धर्म का व्यवहार नय तथा निश्चय नय से स्वयं आचरण करते हैं व अन्य साधुओं से आचरण कराते हैं, उनको आचार्य परमेष्ठी कहते हैं। मुख्यता से शुद्ध आत्मीक अनुभव का अभ्यास करते हैं, जहाँ शुद्ध सम्यक्त्व गर्भित है तथा इसी स्वात्मानुभव का अभ्यास कराते हैं, क्योंकि यही निश्चय रत्नत्रय की एकतारूप मोक्ष का मार्ग है, यही कर्मों का विध्वंस करनेवाला है।

उपाध्याय परमेष्ठी उत्तम दशलक्षण धर्म को स्वयं पालन करते हुए उन्ही की शिक्षा अन्य साधुओं को देते, हैं उनका काम पढ़ाने का है। वे दशलक्षण धर्म नीचे प्रकार हैं :–

१. उत्तम क्षमा – उत्कृष्ट क्षमा – दूसरों के द्वारा पीड़ित व वध व आक्रोशित किये जाने पर भी किंचित् भी क्रोध का विकार न पैदा करके पूर्ण क्षमा रखना, मात्र अपने कर्मोदय को विचारना, क्योंकि अपने कर्म के उदय बिना कोई किसी को कष्ट नहीं दे सकता है। शांतभाव से कर्म-निर्जरा विशेष होती है।

२. उत्तम मार्दव – विद्या, तप, वक्तापना, ध्यानादि में अति प्रवीण होने पर भी या अज्ञानियों द्वारा अपमानित होने पर भी किंचित् भी मान भाव चित्त में न लाकर परम कोमल भाव रखना, मान-अपमान में समता रखना तथा धर्म व धर्मधारियों की विनय करना। कोमल आत्मा में ही धर्म वृक्ष फलता है।

३. उत्तम आर्जव – अनेक कष्ट पड़ने पर भी, भोजन का अलाभ होने पर भी, लोभ के वश या मान के वश कभी भी कपट भाव चित्त में न लाना, अपना दोष सरलता से गुरु से कहते हुए शुद्ध भाव रखना। मायाचार रहित शुद्ध शास्त्रोक्त वर्तना, वैसा ही वर्ताना। कुटिलतारूप मन-वचन-काय को कभी न वर्ताना।

४. उत्तम शौच – लोभ कषाय को सर्व पापों का मूल जानकर परम संतोष की भावना से मन को पवित्र रखना। पंचेन्द्रिय के भोगों की कुछ भी कामना न करना। इष्ट व अनिष्ट संयोग में समभाव रखना। आत्मा की पवित्रता का साधन करना।

५. उत्तम सत्य – स्वयं सत्य धर्म पर चलना, सत्य ही विचारना, सत्य ही उपदेश देना, सत्य को जीवन का सार समझना। निर्भय होकर सत्य का अनुयायी रहना। असत्य के मैल से बचना।

६. उत्तम संयम – भलेप्रकार पाँच इंद्रिय व मन के विकल्पों को रोककर इंद्रिय संयम पालना। तथा पृथ्वी आदि छह काय के प्राणियों की दया-निमित्त उनकी रक्षा करना सो प्राणी संयम पालना। आत्मा को आत्मा में निरोध करना। मुनि के चारित्र को यथार्थ साधना।

७. उत्तम तप – भलेप्रकार उपवास आदि बारह प्रकार तप का साधन करना। तपस्या करते हुए उपसर्ग व परिषह आ जावे तो समता से सहना। किंचित् भी क्षोभित न होना। निर्जन स्थानों पर जाकर तप करना। परमानन्द का स्वाद लेते हुए तप साधना।

८. उत्तम त्याग – स्वयं संकल्प-विकल्प त्याग कर निर्विकल्प रहना तथा अन्य प्राणियों की रक्षा करते हुए अभयदान देना व मिथ्यात्वादि के मिटाने को सम्यक्ज्ञान का उपदेश अर्थात् ज्ञानदान करना। दुःखी-थके-रोगी साधुओं की सेवा करके औषधि दान देना। क्षुधा-तृष्णा की बाधा होने पर धर्मामृत पिलाकर तृप्त करना यही आहारदान देना।

९. उत्तम आकिंचन्य – इस जगत में परमाणु मात्र भी अपना नहीं है, आत्मा के गुण-पर्याय ही मेरी आत्मा के हैं – ऐसी भावना भाते हुए अंतरंग रागादि, बहिरंग क्षेत्रादि परिग्रह से निर्ममत्व रहना। एक केवल स्वयं आपको ध्याना।

१०. उत्तम ब्रह्मचर्य – निश्चय से अपने ब्रह्म स्वभाव में थिर रहना, व्यवहार से मन-वचन-काय व कृत-कारित-अनुमोदना से स्त्री मात्र से व काम के विकार से विरक्त रहना, शील को ही आत्मा का आभूषण समझना।

ये दश धर्म व्यवहार से दश भेदरूप हैं, निश्चय से सर्व एक आत्मारूप हैं। जहाँ आत्मा की स्थिरता आप में हुई, वहाँ क्रोधादि कषायों का विकार न होने से क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच स्वयं हो जाते हैं। सत्य पदार्थ एक आत्मा है, उसमें थिरता एक उत्तम सत्य है। आत्मा में संयमरूप रहना संयम, उसी में तपना तप है। अपने को अतीन्द्रिय आनन्द देना त्याग है। पर से ममत्व न होना आकिंचन्य व आप में आपी (अपनत्व) जमना ब्रह्मचर्य है।

इन दश धर्मों का एकदेश पालन गृहस्थ भी करते हैं। वे इन धर्मों को इतना पालन करेंगे, जिससे धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ साधे जा सकें, नीति न बिगड़े, दुष्टों का दमन हो, सज्जनों की रक्षा हो, जगत का उपकार हो, अन्याय का दमन हो, आप व पर सब सुख से निराबाध जीवन बिता सकें, पूर्ण साधन साधु ही कर सकते हैं। यदि दुष्टों पर क्षमा की जाय तो गृहस्थ व साधु दोनों का धर्म नहीं चल सकता, इसलिये गृहस्थ यथावसर विवेकपूर्वक इनका साधन करते हैं।

॥ श्लोक ३३८ ॥

सार्द्धं चेतनाभावं आत्मधर्मं च एक यं।
आचार्य उपाध्यायेन, धर्मं शुद्धं च धारिना॥

अन्वयार्थ – (शुद्ध धर्म च धारिना) **शुद्ध निश्चय धर्म को पालनेवाले** (आचार्य उपाध्यायेन) **आचार्य व उपाध्याय के द्वारा** (चेतनाभाव सार्द्धं) **चेतना भाव सहित** (एक य च आत्मधर्म) **एक ही आत्मधर्म की भावना की जाती है।**

विशेषार्थ – **यद्यपि व्यवहार नय से भेदरूप धर्म को आचार्य व उपाध्याय परमेष्ठी साधन करते हैं, परन्तु निश्चय से वे शुद्ध ज्ञान चेतनामयी एक आत्मधर्म की ही आराधना करते हैं व कराते हैं। यदि किसी आचार्य व उपाध्याय का ध्यान, मात्र व्यवहार धर्म के प्रवर्तने पर हो, निश्चय धर्म के चलाने पर न हो तो वे यथार्थ आचार्य व उपाध्याय परमेष्ठी नहीं हो सकते। वे परम गुरु जानते हैं कि साध्य जैसा होता है, वैसा साधन होना चाहिये। साध्य शुद्ध आत्मस्वरूप है, तब उसका साधन भी शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिरता है। इसके सिवाय जो कुछ अन्य भेदरूप धर्माचरण है, वह आत्मध्यान के लिये निमित्तमात्र है। इस तत्त्व को सदा सामने रखते हुए जिसतरह साध्य की सिद्धि हो, उसीतरह आप चलते हैं व अन्य शिष्यों को चलाते हैं। अंतरंग धर्म की वृद्धि करने पर ही इन दोनों परमेष्ठियों का ध्यान रहता है। कर्म की निर्जरा का मुख्य कारण शुद्धात्मा का ध्यान है। आचार्य व उपाध्याय स्वयं जब तक अपने पदों पर आरूढ़ हैं, तब तक धर्मध्यान को ध्याय सकते हैं, परन्तु शुक्लध्यान को नहीं पा सकते हैं। जब शुक्लध्यान करना होता है, तब वे इन पदों का त्यागकर सामान्य साधु पद में आ जाते हैं।**

॥ श्लोक ३३९ ॥

तत् धर्मं शुद्ध दृष्टी च, पूजितं च सदा बुधैः।
उक्तं च जिनदेवेन, श्रूयते भव्यलोकयं॥

अन्वयार्थ – (तत् धर्म) **वह धर्म** (शुद्धदृष्टी च) **शुद्ध आत्मा का दर्शन ही है** (सदा बुधै. च पूजित) **यह धर्म सदा ही बुद्धिमानों द्वारा आदरणीय है** (जिनदेवेन उक्त च) **जिनेन्द्रदेव ने उसका उपदेश दिया है** (भव्यलोकय श्रूयते) **भव्य लोगों ने इसी धर्म का श्रवण किया है।**

विशेषार्थ – **यह निश्चय धर्म एक शुद्ध आत्मीक अनुभव है, वचन व मन से अगोचर है, आत्मा का आत्मा में ही स्थिरता रूप है, इसी को चाहे शुद्ध सम्यग्दर्शन कहो, चाहे शुद्ध ज्ञान कहो, चाहे**

स्वरूपाचरण चारित्र कहो, चाहे संयम व तप कहो। इसी धर्म की जगत में गणधरादि द्वारा व संतों द्वारा पूजा की जाती है तथा जितने तीर्थंकर व अन्य सामान्य अर्हत् परमेष्ठी उपदेष्टा हुए हैं, उन्होंने इसी परम धर्म का उपदेश दिया है, इसी को सुनकर भव्य जीव आनन्द में मगन हो जाते हैं। प्रयोजन कहने का यह है कि आचार्य परमेष्ठी का कर्तव्य है कि इसी धर्म का प्रचार करावें। उपाध्यायों का धर्म यह है कि इसी धर्म का पाठ पढावें। जहाँ तक आत्मज्ञान न होगा, वहाँ तक अन्य अनेक शास्त्रों का ज्ञान उपकारी न होगा, सर्व शास्त्रों का सार अध्यात्म शास्त्र है, सर्व विद्याओं में श्रेष्ठ अध्यात्मविद्या है, सर्व कलाओं में उत्तम आत्मानुभव की कला है। इसीलिये जो इस कला का प्रचार करते हैं, वे ही सच्चे आचार्य व उपाध्याय हैं।

॥ श्लोक ३४० ॥

साधओ साधुलोकेन, दर्शनं ज्ञान संयुतं।
चारित्रं आचरणं येन, उदयं अवश्य शुद्ध यं॥

अन्वयार्थ – (साधुलोकेन) **साधुओं के द्वारा** (दर्शनं ज्ञान मयुतं साधओ) **ज्ञान सहित सम्यग्दर्शन का साधन किया जाता है** (येन चारित्रं आचरणं) **और जो सम्यक्चारित्र का आचरण करते हैं** (अवश्य शुद्ध य उदय) **तथा उनके अवश्य अर्थात् निर्विकल्प स्वावलम्बन रूप शुद्धभाव का भी प्रकाश होता हैं।**

विशेषार्थ – अब साधु परमेष्ठी का विशेष स्वरूप कहते हैं। जो रत्नत्रय का साधन करे, उसको साधु कहते हैं। उनमें मुख्यता ज्ञान सहित सम्यग्दर्शन की है, उनको तत्वों का यथार्थ ज्ञान होता है तथा दृढ़ विश्वास पदार्थों का होता है। पाँच महाव्रत, पाँच समिति तथा तीन गुप्ति रूप तेरह प्रकार या अट्ठाइस मूलगुण रूप चारित्र साधुजन भले भाव से पालते हैं। तथा शुद्ध आत्मीक भाव का प्रकाश करते रहते हैं। यदि कोई साधु, मात्र व्यवहार रत्नत्रय पाले और निश्चय रत्नत्रयमयी शुद्धात्मानुभव न पावे तो वह साधु परमेष्ठी पूज्य नहीं है, वह मात्र द्रव्यलिंगी साधु - मिथ्यादृष्टी है। भावलिंग सहित ही द्रव्यलिंग की शोभा है। भावलिंग बिना द्रव्यलिंग केवल पुण्यबंध का कारण है – मोक्ष का कारण नहीं है।

॥ श्लोक ३४१ ॥

उर्ध अधो मध्यं च, दृष्टि सम्यग्दर्शनं।
ज्ञानमयं च संपूर्ण, आचरणं संयुतं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (ऊर्ध अधो मध्य च) **ऊर्ध्वलोक, अधोलोक व मध्यलोक तीनों लोक में** (सम्यग्दर्शनं दृष्टि) **सम्यग्दर्शन के द्वारा जो देखनेवाले हैं** (संपूर्ण ज्ञानमयं च ध्रुवं आचरणं संयुतं) **व**

सम्पूर्ण ज्ञानमय निश्चल आचरण के करनेवाले हैं, वे साधु हैं।

विशेषार्थ -- सम्यग्दर्शन के प्रभाव से साधुजन तीनों लोकों को यथार्थ देखते व श्रद्धान करते हैं। जब व्यवहार नय से देखते हैं तो विचारते हैं कि अधोलोक अथात् नरक में नारकियों को महान कष्ट है। मध्यलोक में मानव व तिर्यंच अनेक मानसिक व शारीरिक कष्ट पा रहे हैं व भवनवासी-व्यन्तर-ज्योतिषी तीन प्रकार देव तथा ऊर्ध्व लोक के कल्पवासी देव भी मानसिक दु:ख से पीड़ित हैं। सर्व जीव तीन लोक में एकेंद्रिय से पंचेंद्रिय पर्यंत पर्यायों में जन्म ले-लेकर मरते हैं। एक सिद्धलोक ही सार है, जहाँ सिद्ध भगवान जन्म-जरा-मरण-रहित नित्य आनन्दमग्न रहते हैं। फिर निश्चय दृष्टि से देखते हैं तो इस जगत को छह द्रव्यों का समुदाय जानकर हर एक द्रव्य का भिन्न-भिन्न स्वभाव विचारते हैं। अनन्तानन्त जीवों को एकाकर शुद्ध ज्ञानदर्शनमय देखते हैं। परम समताभाव प्राप्त करते हैं, राग-द्वेष को मिटा देते हैं। वीतरागता को पाकर आत्मध्यान में निश्चिन्त हो जाते हैं। ज्ञानी साधु तत्त्वों पर यथार्थ ज्ञान सहित विश्वास रखते हुए मात्र आत्मशुद्धि के लिये व्यवहार आचरण को पालते हैं तथा निश्चय शुद्ध आचरण में आरूढ हो जाते हैं। जिनके मुख्य साधन आत्मध्यान है, वे ही साधु हैं।

॥ श्लोक ३४२ ॥

साधु गुणस्य संपूर्णं, रत्नत्रयालंकृतं।
भव्यलोकस्य जीवस्य, रत्नत्रयं प्रपूजितं॥

अन्वयार्थ – (साधु) साधु परमेष्ठी (गुणस्य संपूर्णं) अट्ठाईस मूलगुणों से पूर्ण होते हैं (रत्नत्रयालंकृतं) रत्नत्रय से शोभायमान होते हैं (भव्यलोकस्य जीवस्य) लोक के भव्य जीवों के द्वारा (रत्नत्रयं प्रपूजितं) रत्नत्रय पूजने योग्य हैं।

विशेषार्थ – साधु में २८ मूलगुण पूर्ण होने चाहिये, वे इसप्रकार हैं –

पाँच महाव्रत अहिंसादि – पाँच समिति ईर्य्या भाषा आदि – पाँच इन्द्रिय का दमन – छह आवश्यक – समता, वंदना, स्तुति, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान व कायोत्सर्ग – केशलोंच – नग्नपना – स्नान-त्याग – दंतधोवन-त्याग – खड़े-खड़े भोजन – एकबार भोजन – भूमि शयन – २८।

तथा वे निश्चय व व्यवहार रत्नत्रय के साधक होते हैं। व्यवहार सम्यग्दर्शन निमित्त है, जबकि निश्चय सम्यग्दर्शन साक्षात् मोक्षमार्ग है, व्यवहार सम्यग्ज्ञान निमित्त है, जबकि निश्चय सम्यग्ज्ञान साक्षात् मोक्षमार्ग है, व्यवहार सम्यक्चारित्र निमित्त है, जबकि निश्चय सम्यक्चारित्र साक्षात् मोक्षमार्ग है। तीनों की एकता मोक्षमार्ग है, पृथक्-पृथक् नहीं। जहाँ शुद्धात्मानुभव का अभ्यास है,

वहाँ स्वयं तीनों की एकता है। साधुओं के इसी का मुख्य साधन रहता है, क्योंकि साधुजन रत्नत्रय से विभूषित होते हैं, इसलिये भव्य जीव उनकी पूजा करते हैं, उनके गुणों का स्मरण करते हैं, उनको दान देते हैं, उनसे धर्मोपदेश लेकर स्वयं उस पर चलते हैं।

॥ श्लोक ३४३ ॥

देवं गुरुं पूज सार्धं च, अंग सम्यक्त शुद्धये।
सार्धं ग्यानमयं शुद्धं, सम्यग्दर्शनमुत्तमं॥

अन्वयार्थ – (देव गुरु अग मार्धं च पूज) देव, गुरु और शास्त्र की पूजा (सम्यक्त शुद्धये) सम्यग्दर्शन की शुद्धि के लिये कर्तव्य है (ज्ञानमय शुद्ध मार्धं) साथ में ज्ञानस्वरूप शुद्ध आत्मा का अनुभव करना (उत्तम सम्यग्दर्शन) उत्तम सम्यग्दर्शन हैं।

विशेषार्थ – यहाँ यह उपदेश दिया है कि पाँच परमेष्ठी जैसे पूज्य हैं, वैसे उनकी अंग पूर्वरूप वाणी भी पूज्य है। देव में अरहंत-सिद्ध, गुरु में आचार्य-उपाध्याय-साधु गर्भित हैं। देव-शास्त्र-गुरु की पूजा निश्चय सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये तथा यदि निश्चय सम्यक्त्व हो तो उसकी दृढ़ता व शुद्धि के लिये निरन्तर करना योग्य है। भक्ति करने से मन पर उनके पवित्र गुणों के स्मरण का प्रभाव पड़ता है। जिससे परिणामों में कषाय की मंदता होती है। एक वस्तु आतापमय हो रही है, उष्णता में जाज्वल्यमान है, उसको पुनः पुनः शांत जल में डुबोने से उसका आताप धीरे-धीरे शमन हो जाता है। उसीतरह हम संसारी जीव भव की आताप से संतापित हैं, विषय-कषाय के दोष से दूषित हैं, तब हमें उचित है कि हम अपने को परम वीतराग देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति में डुबावें। उनकी शांति हमारे भवाताप को शांत करने में व उनका वैराग्य विषय-कषायों से वैराग्यमय बनाने में निमित्त पड़ेगा, इसलिये नित्य व्रती श्रावक को देव-शास्त्र-गुरु की पूजा करनी योग्य है, भलेप्रकार भाव लगाकर करनी योग्य है, जिससें पूज्य में पूजक का भाव लवलीन हो जावे। इससे अनंतानुबन्धी कषाय व मिथ्यात्व को उत्पन्न करनेवाले कर्मों का बल घटेगा और यदि सम्यक्त्व होगा तो अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरणादि कषायों का बल घटेगा। इस व्यवहार सम्यग्दर्शन की सेवा करते हुए श्रावक को यह भी योग्य है कि वह ज्ञानमयी शुद्धात्मा की भावना भी करें। यही भावना उत्तम या निश्चय सम्यक्त्व की भावना है।

॥ श्लोक ३४४ ॥

ज्ञानं च ज्ञानशुद्धं च, शुद्ध तत्व प्रकाशकं।
ज्ञानमयं च संशुद्धं, ज्ञानं सर्वत्र लोकितं॥

अन्वयार्थ – (ज्ञानं च) **व्यवहाररूप अंग पूर्वादि का ज्ञान** (ज्ञान शुद्ध च) **तथा शुद्ध आत्मा का ज्ञान** (शुद्ध तत्त्व प्रकाशकं) **शुद्ध आत्मा के स्वरूप को प्रकाश करनेवाले हैं** (ज्ञानमयं च संशुद्धं ज्ञानं) **ज्ञानमयी परम शुद्ध केवलज्ञान** (सर्वत्र लोकिन) **सर्व पदार्थों को देखनेवाला है।**

विशेषार्थ – **यहाँ यह बताया है कि सम्यग्ज्ञान की आराधना परम कार्यकारी है। शुद्ध आत्मा के प्रकाश के लिये, आत्मा के आवरण को काटने के लिये, शुद्ध आत्मज्ञान का अनुभव, मनन, चिंतवन परमावश्यक है। समयसार कलश में कहा है –**

भावयेत् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया। तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठितं॥

भावार्थ – **जब तक पर-परिणति से छूटकर ज्ञान, ज्ञान में स्थिरता न पाले अर्थात् जब तक केवलज्ञान न हो बराबर भेदविज्ञान की भावना करते रहो अर्थात् अपने आत्मा को सर्व परभाव, परद्रव्य व कर्मजनित नैमित्तिक भावों से जुदा अनुभव करते रहो। इस आत्मीक भावना की शुद्धि व दृढ़ता के लिये जिनवाणी का अभ्यास परमावश्यक निमित्त कारण है। जहाँ तक निर्विकल्प समाधि न हो व शुक्लध्यान का प्रारम्भ न हो तथ छठवां सातवां गुणस्थान पुनः पुनः होता रहता हो, वहाँ तक शास्त्र का पढ़ना आवश्यक आलम्बन है। सम्यग्ज्ञान के आराधन से ही सम्यग्ज्ञान का प्रकाश होता है, श्रुतज्ञान ही केवलज्ञान का कारण है और जब शुद्ध केवलज्ञान हो जाता है, तब सर्व जानने योग्य जान लिया जाता है, क्योंकि ज्ञान का बाधक ज्ञानावरण का कोई अंश उदय में नहीं रहा है, तब सूर्य प्रकाश के समान पूर्ण ज्ञान का प्रकाश क्यों न हो। सर्वज्ञपना सर्वदर्शीपना शुद्धात्मा का मुख्य गुण है। अतएव सम्यग्ज्ञान की आराधना नित्य करनी योग्य है।**

॥ श्लोक ३४५ ॥

ज्ञानं आराध्यते येन, पूज्य तत्वं च विंदते।
शुद्धस्य पूज्यते लोके, ज्ञानमयं सार्थं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (येन ज्ञान आराध्यते) **जिसने ज्ञान की आराधना की हो व** (पूज्य तत्त्व च विंदते) **व पूज्यनीय आत्मतत्व का अनुभव किया – है ऐसे** (शुद्धस्य लोके पूज्यते) **शुद्ध ज्ञानधारी की ही लोक में प्रतिष्ठा होती है** (ज्ञानमय सार्थ ध्रुवं) **ज्ञानमय रहना ही निश्चल यथार्थ तत्त्व है।**

विशेषार्थ – **ज्ञानाराधना का महात्म्य बताते हैं कि पाँचों परमेष्ठी ज्ञान की आराधना करके ही हुए हैं। इस ही आराधना के द्वारा पूज्यपना है। जगत के भव्य जीव पाँच परमेष्ठी महाराज को ज्ञानाराधन के गुण के द्वारा पूजते हैं। सिद्ध भगवान सिद्ध अवस्था में शुद्ध आत्मा में तल्लीन होते हुए ज्ञानचेतना का आराधन कर रहे हैं। जब साधक अवस्था में थे तब भी यही आराधना थी।**

अरहंत परमेष्ठी भी निरंतर शुद्ध ज्ञानचेतना का स्वाद लेते रहते हैं। पहले भी इसी का ही आराधन किया था। आचार्य, उपाध्याय तथा साधु शुद्धात्मा की आराधना के कारण ही स्वयं मोक्षमार्गी हैं तथा भव्यों के द्वारा पूज्यनीय हैं।

इसलिये ज्ञानमयी शुद्ध आत्मीक तत्त्व ही यथार्थ निश्चल तत्त्व है। इस तत्त्व को जिस-जिसने ध्याया, वही यथार्थ ज्ञान का आराधक है। इसलिये सम्यग्दृष्टि को देव-शास्त्र-गुरु की पूजा भक्ति करते हुए उसी में ही संतोष मान कर न रह जाना चाहिये, परंतु एकांत स्थान में बैठकर शुद्ध आत्मीक तत्त्व का शुद्ध नय के द्वारा अवलोकन करके उसी का मनन करना चाहिये। उसी के सिवाय सर्व पर वस्तुओं से राग छोड़ देना चाहिये। कर्मफलचेतना व कर्मचेतना का व्यवहार बंद करके ज्ञानचेतना मय रहने का पुरुषार्थ करना योग्य है। इसी से मोक्ष की सीढ़ी पर चढ़ना होगा, यही परम दृढ़ आलंबन है।

॥ शास्त्र भक्ति ॥

॥ श्लोक ३४६ ॥

ज्ञानगुणं च चत्वारि, श्रुत पूजा सदा बुधैः।
धर्मध्यानं च संयुक्तं, श्रुतपूजा विधीयते॥

अन्वयार्थ – (ज्ञान गुण च चत्वारि) **ज्ञान गुण के देनेवाले चार अनुयोग हैं** (श्रुतपूजा सदा बुधै.) **उन शास्त्रों की पूजा सदा बुद्धिमानों को करनी चाहिये** (धर्मध्यान च सयुक्तं) **धर्मध्यान सहित ही** (श्रुतपूजा विधीयते) **श्रुतपूजा करनी योग्य है।**

विशेषार्थ – **जिनवाणी के शास्त्र चार अनुयोगों में बटे हैं – प्रथमानुयोग आदि। इन शास्त्रों को पढने से ज्ञान की प्राप्ति होती है। अतएव किसी प्रकार की लौकिक कांक्षा न रख कर मात्र आत्मकल्याण के हेतु ही उन शास्त्रों का पठन-पाठन करना उचित है। तथा भक्ति पूर्वक उनकी पूजा करनी उचित है। ज्ञानाभ्यास यह बहुत ही आवश्यक गृहस्थ कर्म है। शास्त्र के ध्यान पूर्वक पढने से मन के कुभाव बंद हो जाते हैं, चिंताएँ मिट जाती हैं, अज्ञान का नाश होता है, ज्ञान का प्रकाश होता है, कर्म की निर्जरा होती है। प्राचीन आचार्यों ने जो तत्त्वों का मनन किया है, उसका बोध होने से ज्ञान स्पष्ट होता है। यथार्थ भक्ति शास्त्र की यही है, जो उसका अर्थ भले प्रकार समझकर धारणा में लिया जावे – उसको कालांतर में भूला न जावे। रात-दिन तत्त्व का विचार मन को प्रसन्न रखने के लिये बड़ा भारी साधन है। विषय-कषायों के मार्ग से बचानेवाला ज्ञानोपयोग है, आत्मा व अनात्मा का भिन्न-भिन्न स्वरूप सामने रखनेवाला तत्त्व का अभ्यास है, एक ही विषय के अनेक शास्त्रों को पढ़कर हमें ज्ञान को निर्मल करना चाहिये। जितना अधिक शास्त्रों का विशेष ज्ञान होगा, उतना ही उपयोग**

अधिक देर तक वस्तु के विचार में लग सकेगा। व्यवहार में श्रुतपूजा यह है कि हम उच्चासन पर शास्त्रों को विराजमान करके उनकी स्तुति करके उनके भीतर अपनी गाढ़ भक्ति उत्पन्न करें। श्रुतभक्ति ज्ञान की प्राप्ति में दृढ़ निश्चय करानेवाली है। आत्महित के हेतु शास्त्र पढ़ना व श्रुतपूजा करना धर्मध्यान है।

॥ श्लोक ३४७ ॥

प्रथमानुयोग करणं, चरणं द्रव्याणि विदंते।
ज्ञानं ति अर्थ संपूर्ण, साध्यं पूजा सदा बुधैः॥

अन्वयार्थ – (प्रथमानुयोग करणं चरण द्रव्याणि विदंते) **प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग – ऐसे चार प्रकार शास्त्र जानने चाहिये।** (ज्ञान ति अर्थ सम्पूर्ण) तीन अर्थ **रत्नत्रय सहित जो ज्ञान है, उसी की** (पृजा मदा बुधै माध्यं) **पूजा सदा पंडितों को करनी योग्य है।**

विशेषार्थ – **अनुयोग के चार भेद हैं। प्रथम प्रथमानुयोग जिनमें प्रथम अवस्था के शिष्यों को धर्म में रुचि बढ़ाने के हेतु से भिन्न-भिन्न महापुरुषों के व महान महिलाओं के जीवनचरित्र दिखलाए हों, कर्मों का बंध व फल बताया हो, संसार का नाटक क्षणभंगुर दिखलाया हो, मिथ्यात्व के सेवन से क्या दुर्गति होती है, सम्यक्त्व के आराधन से क्या-क्या सुख व कैसी सुगति होती है, यह बताया हो, किन-किनने आत्मध्यान करके मोक्ष पाया। मोक्ष-प्राप्त आत्माएँ किसतरह अनंतकाल तक सुख भोगती हैं, ये सब दृष्टांत बताए हों। मोक्ष की सारता व संसार की असारता कथाओं के द्वारा झलकाई हो, धर्म में रुचि बढ़ाने व अधर्म से रुचि हटाने की युक्ति से कथाएँ लिखी गई हों सो** प्रथमानुयोग **बहुत ही उपयोगी शास्त्र विभाग है।** दूसरा करणानुयोग **है। जिसमें तीन लोक की रचना, कहाँ-कहाँ कौन-कौन जीव पैदा होते हैं, उनकी क्या व्यवस्था है, जीवों के परिणाम कितनी जाति के होते है, उनके कैसे-कैसे कर्मों का बंध होता है, कर्मों की माप उदय आदि व भावों के भेद आदि का गुणस्थान व मार्गणा के रूप में कथन हो, हर एक वस्तु का सूक्ष्म परिणमन जिससे मालूम हो, हर एक का हिसाब समझ में आवे। जैसी कुछ पर्यायें होती हैं, व नाश होती है उनकी सर्व चर्चाएँ मालूम पड़े सो** करणानुयोग **है।** तीसरा चरणानुयोग **है। जिनसे मुनियों के श्रावकों के बाहरी चारित्र पालने के नियम मालूम हों, क्या-क्या व्रत-उपवास किसतरह करना चाहिये, क्या-क्या अतिचार बचाने चाहिये, श्रावक के आचरण की ग्यारह श्रेणियों में क्या-क्या चारित्र पालना चाहिये, साधुओं का चारित्र क्या है, उनको कैसे भिक्षा करना, विहार करना, भाषण करना, किसतरह समय बिताना यह सब कथन किया हो, वह** चरणानुयोग **है। चौथा** द्रव्यानुयोग **है। जिन शास्त्रों में जीवादि छह द्रव्यों का**

व सात तत्त्वों का स्वरूप दिखलाते हुए आत्मा द्रव्य की विशेष महिमा बताई हो, शुद्ध निश्चय नय की मुख्यता से शुद्ध आत्मा का विशेष कथन किया हो, आत्मानुभव की रीति बताई हो, आत्मोन्नति के मार्ग झलकाए हों, अतीन्द्रिय आनन्द पाने का उपाय समझाया हो, व्यवहार नय व निश्चय नय से पदार्थ को बताकर निश्चय नय के विषय पर आरूढ़ कराया हो, वीतरागता का विशेष चित्रण जिसमें हो, द्रव्यों की सूक्ष्मता का विवेचन हो सो सब द्रव्यानुयोग शास्त्र है। इन चारों प्रकार के शास्त्र की पूजा करते हुए ज्ञान लाभ करना चाहिये।

॥ श्लोक ३४८ ॥

प्रथमानुयोग विंदंते, व्यञ्जन पद शब्दयं।
तदर्थं पद शुद्धं च, ज्ञानं आत्मालं गुणं॥

अन्वयार्थ – (प्रथमानुयोग विंदंते) प्रथमानुयोग शास्त्र का अनुभव करना चाहिये (व्यञ्जन पद शब्दयं तदर्थं पद शुद्धं च) उनके अक्षर, शब्द, वाक्य तथा उसके अर्थ व उसके भावार्थ व उससे प्रगट पदार्थ को शुद्ध जानना चाहिये (ज्ञान आत्मालं गुण) यथार्थ ज्ञान ही आत्मा का गुण है।

विशेषार्थ – प्रथमानुयोग में महान पुरुषों के जीवन-चरित्र होते हैं। उनमें कविता व अलंकार छंद व मनोहरता भी होती है, जिससे प्रथम अवस्था के रागी शिष्यों का मन कथाओं के पढ़ने में रंजायमान हो सके। अनेक दृष्टांत दे कर नगर की, शरीर की व अन्य पदार्थों की शोभा कही जाती है, युद्धादि का भी वर्णन आता है। धर्म, अर्थ, काम तीनों पुरुषार्थों को गृहस्थों ने कैसा साधा, उसका कथन आता है। कहीं श्रृंगार, कहीं वीर, कहीं भय, कहीं शोक, कहीं रुदन, कहीं रौद्रध्यान आदि अनेक भावों का कथन आता है। कहीं वैराग्य व संसार की असारता का वर्णन आता है। पढनेवाले को उचित है कि अक्षरों को ठीक-ठीक पहचाने, उनके मिले हुए शब्दों को अलग-अलग जाने, उन शब्दों के मिले हुए वाक्यों को अलग-अलग समझें, वाक्यों के अर्थ ठीक-ठीक लगावें, फिर उनका भावार्थ ठीक-ठीक समझें, फिर उनसे किस पदार्थ का वर्णन झलकता है सो जाने, नौ पदार्थों में से किस का वर्णन है सो पहचाने, जीव का है कि अजीव का है, आस्रव का है कि बंध का है, संवर का है कि निर्जरा का है, मोक्ष का है कि पुण्य तथा पाप का है। जहाँ आस्रव, बंध, पुण्य, पाप, अजीव का कथन आवे, उसको त्यागने योग्य जाने, जहाँ संवर, निर्जरा व मोक्ष तथा जीव का कथन आवे उसको व्यवहार नय से ग्रहण योग्य माने। प्रथमानुयोग के कथा-ग्रंथों को पढते हुए कथाओं के राग-द्वेषमयी वर्णन में रंजायमान न होवे, किन्तु उनको जानकर पाप-पुण्य कर्म का फल विचारे। किन-किन भावों से कैसा-कैसा कर्मों का आस्रव व बंध किस-किस जीव ने किया व कौन-कौन धर्म पाला, जिससे

पापों को रोका व कैसा-कैसा तप किया, जिससे कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष पाया, इसतरह पढ़नेवाले की दृष्टि धर्मध्यान की तरफ व तत्व के विचार की तरफ रहनी चाहिये, तब ही आत्मा में यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होगी। यह प्रथमानुयोग भी जीवन का चरित्र उत्तम बनाने के लिये बहुत उपयोगी है।

॥ श्लोक ३४९ ॥

व्यंजनं च पदार्थं च, शाश्वतं नाम सार्थयं।
ॐ वंकारं च विंदंते, सार्धं ज्ञानमयं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ — (व्यंजन च पदार्थ च शाश्वत नाम सार्थय) अक्षर, शब्द व पदार्थ, नाम व उनके अर्थ सब सदा से चले आ रहे हैं (ॐ वकार च विदते) ॐ के भाव को अनुभव करना चाहिये (ध्रुव ज्ञानमय सार्थ) निश्चल ज्ञानमयी आत्मा को साथ-साथ जानना चाहिये।

विशेषार्थ — यद्यपि देशकालानुसार भाषाओं का परिवर्तन हो जाता है, तथापि अनादिकालीन जगत में मानवों की वाणी प्रचलित है व शास्त्र का ज्ञान प्रचलित है, सदा ही तीर्थंकर होते रहे हैं, उनका उपदेश होता रहा है, उसको गणधरों ने सुना है। द्वादशांग वाणी की रचना की है। पदार्थों के नाम रखे हैं, नाम से अर्थ निकलता है, अर्थ से नौ पदार्थों के भाव झलकते हैं। ये सब श्रुतज्ञान व शास्त्रज्ञान प्रवाह की अपेक्षा शाश्वत है, चला आया है, चला जायगा। प्रवाह की अपेक्षा अनादि व अनन्त है। एक विशेष व्यक्ति की अपेक्षा सादि व शांत हो सकता है। ऐसे प्रथमानुयोग शास्त्र के भीतर भी ज्ञानी को ॐ का अनुभव करना चाहिये तथा अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु का स्वरूप जानना चाहिये। पढ़नेवाले की दृष्टि उनके स्वरूप की खोज पर रहनी चाहिये, जहाँ कहीं बारह भावना का, व्रतों के स्वरूप का, साधु के चारित्र का, उनके अरहंत होने का, उनके द्वारा वाणी के प्रकाश का, व सिद्ध होने का कथन आवे, उसको विशेष ध्यान में लेना चाहिये। चौबीस तीर्थंकरों के जीवन-चरित्रों में यह सब कथन आता ही है। फिर इनके भीतर शुद्ध निश्चय नय से ज्ञानमयी शुद्ध निश्चल आत्मा को भी पहचाने। जितने प्राणी सिद्ध हुए हैं, वे स्वभाव से वैसे ही थे, कर्मों के पटल में ढके हुए थे। पटल हट गया प्रकट हो गए। इसतरह हर एक जीव का स्वभाव निश्चय से शुद्ध-बुद्ध अविनाशी परमानंदमय है — ऐसा समझकर वस्तु का आनन्द लूटे। इस दृष्टि से प्रथमानुयोग के ग्रंथों को पढ़ने से यथार्थ शास्त्र की भक्ति का फल प्राप्त हो सकेगा।

॥ श्लोक ३५० ॥

करणानुयोग संपूर्णं स्वात्मचिंता सदा बुधैः।
स्व स्वरूपं च आराध्यं, करणानुयोग शाश्वतं॥

अन्वयार्थ – (करणानुयोग सम्पूर्ण) **करणानुयोग पूर्ण पढना चाहिये** (स्वात्मचिंता सदा बुधैः) **उसके द्वारा पंडितों को अपने आत्मा की चिंता करनी चाहिये** (च स्वस्वरूप आराध्यं) **फिर अपने स्वरूप का ध्यान करना चाहिये** (करणानुयोग शाश्वतं) **यह करणानुयोग सदा से वस्तु का स्वरूप बतानेवाला है।**

विशेषार्थ – **करणानुयोग सूक्ष्म पदार्थों का व उनकी सूक्ष्म से सूक्ष्म अवस्था का बतानेवाला है। रत्नकरंड श्रावकाचार में इसका स्वरूप है।**

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च। आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ॥४४॥

भावार्थ – **यह करणानुयोग लोक और अलोक के विभाग को, युग के परिवर्तन को, चार गति के जीवों के स्वरूप को दर्पण के समान यथार्थ बतलानेवाला है। करण तीसरी विभक्ति को भी कहते हैं, जो किसी वस्तु का साधन हो, उसे करण कहते हैं। अंकगणित, रेखागणित, बीजगणित, क्षेत्र समास आदि का ज्ञान भलेप्रकार करके तीन लोक का आकार, माप, नारकी, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी, मनुष्य, तिर्यंच, कल्पवासी देव व कल्पातीत अहमिंद्र व सिद्धलोक – इन सबका कहाँ-कहाँ क्षेत्र है, वह क्षेत्र कितना बड़ा है, किस तरह स्थित है – यह सब जानना चाहिये। अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल का परिवर्तन कहाँ होता है, कैसे होता है, वह कहाँ नहीं होता है – यह जानना चाहिये। चार गति के जीवों के भाव किसतरह के होते हैं, उनकी क्या-क्या अवस्थाएँ होती हैं, उनके परिणाम कैसे चढते हैं, कौन-कौन गुणस्थान किस गति में होते है, किस गति में किसके कितने कर्मों का बंध, उदय व कितने कर्मों की सत्ता रहती है, परिणामों का चढन किसतरह होता हैं, सूक्ष्म से सूक्ष्म हिसाब हर एक प्राणी की अवस्था का बतानेवाला यह करणानुयोग है। जिन परिणामों से सम्यक्त होता है, उन अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण भावों को झलकाता है। सम्यक्त्वी को बंधक क्यों कहते हैं व अबंधक क्यों कहते हैं – यह भेद करणानुयोग के हिसाब से मालूम पडता है कि वह मिथ्यात्व सम्बन्धी प्रकृतियों का बंध नहीं करता है, परंतु चारित्रमोह के उदय-जनित मलिनता की अपेक्षा बंध करता है। करणानुयोग बताता है कि किसतरह कषायों का धीरे-धीरे घटाव गुणस्थान-गुणस्थान पर होता है व किसतरह कषाय के यकायक उदय आ जाने से यह जीव छठवें गुणस्थान से मिथ्यात्व में व पाँचवें व चौथे से मिथ्यात्व में चला आता है। जो यह बाहरी क्रिया पर लक्ष्य न देता हुआ भावों की तौल करना बताता है। एक मुनि यदि संसारासक्त है, आत्मानुभव की कला से खाली है तो यह करणानुयोग उसको मिथ्यादृष्टि कहता है। तथा एक चंडाल यदि सम्यक्त्व से विभूषित है तो यह उसको सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी व मोक्षमार्गी कहता है। श्री त्रिलोकसार, गोमट्टसार, लब्धिसार, क्षपणासार आदि ग्रंथों से तीन लोक का व चार गति के जीवों का स्वरूप भलेप्रकार**

झलकाता है। इसतरह जानकर अपने आत्मा की अनादि संसार में कैसी-कैसी दुर्व्यवस्था हुई है, उसको विचारना चाहिये। यह किसतरह चतुर्गति में भ्रमण करके व किन-किन भावों से क्या-क्या कर्म बाँधकर दुःख उठा चुका है, इसतरह विचारकर संसार से वैराग्य व मुक्तिपद से रुचि करके उसके उपाय रूप अपने निज शुद्ध स्वरूप को ध्याना चाहिये, यही इस अनादिकालीन करणानुयोग शास्त्र को पढ़ने का प्रयोजन है।

॥ श्लोक ३५१ ॥

शुद्धात्मा चेतनं येन, ॐ वं ह्रियं श्रियं पदं।
पंच दीप्तिमयं शुद्धं, सुयं शुद्धात्मा गुणं॥

अन्वयार्थ – (येन) जिस कारण, योग की सहायता से (शुद्धात्मा चेतनं) शुद्ध आत्मा का अनुभव होवे तथा (ॐ वं ह्रियं श्रियं पदं पंच दीप्तिमयं शुद्धं) ॐ, ह्रीं, श्रीं पद को व पाँच परमेष्ठी के शुद्ध स्वरूप को तथा (शुद्धात्मा गुणं) शुद्धात्मा के गुणों को जाना जावे यही (सुयं) करणानुयोग श्रुत है।

विशेषार्थ – यहाँ इस बात को स्पष्ट किया है कि जो कोई मात्र तीन लोक का स्वरूप जान ले व गुणस्थान-मार्गणा का स्वरूप जान ले व कर्मों के बंध, उदय, सत्ता का स्वरूप जान ले व चार गति के जीवों का स्वरूप जान ले व कालचक्र के स्वरूप को जान ले और विशेष पंडित होकर ज्ञान का मद करे, मात्र पंडिताई का प्रकाश करे, मान कषाय को बढ़ावे, अपना सच्चा हित न करे, उनको शिक्षा दी है कि करणानुयोग के जानने का फल यह है कि हम ॐ, ह्रीं, श्रीं पदों से प्रकाशित अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के स्वरूप को गुणस्थान की अपेक्षा व कर्मों के उदय, बंध, क्षय की अपेक्षा तारतम्य सूक्ष्मता से जाने और इनके सच्चे स्वरूप को यथार्थ पहचानें, न कम जानें न अधिक जानें। तथा यह भी जाने कि शुद्धात्मा के गुण क्या-क्या हैं तथा उनको कर्म किस-किस तरह आवरण करते हैं। तथा कर्मों के क्षय का उपाय एक शुद्धात्मानुभव है – ऐसा समझकर निरंतर शुद्धात्मा का अनुभव व चेतना व ध्यान करना योग्य है। यदि करणानुयोग को जानकर अपने परिणामों को शांत, वीतराग व स्वस्वरूप रमणरूप न बनाया तो करणानुयोग के पढने का कोई सच्चा फल न हुआ। यदि शुद्ध वीतराग परिणति का उद्देश्य रखते हुए करणानुयोग का ज्ञान है तो वह सच्चा श्रुतज्ञान है व अवश्य मोक्ष का कारण है।

॥ श्लोक ३५२ ॥

शल्यं मिथ्यामयं त्यक्तं, कुज्ञान त्रिविध त्यक्तयं।
ऊर्ध च ऊर्ध सद्भावं, ॐ वं कारं च विंदते।

अन्वयार्थ – (मिथ्यामयं शल्यं त्यक्तं) **मिथ्यारूप तीन शल्य को त्यागना चाहिये** (कुज्ञान त्रिविध त्यक्तयं) **तीन प्रकार कुज्ञान को त्यागना चाहिये** (ऊर्ध्वं च ऊर्ध सद्भावं च ॐ वकारं विदतं) **तथा ऊर्ध अर्थात् सिद्ध भगवान को और उनके स्वभाव को तथा ॐ को भलेप्रकार जानना चाहिये।**

विशेषार्थ – **करणानुयोग से सूक्ष्मज्ञान करके उनका उपयोग मिथ्यात्व की पुष्टि में, मायाचार के प्रयोग में व किसी विषय-भोग की प्राप्ति की कामनारूप निदान में नहीं करना चाहिये। तीन शल्य को छोड़कर धर्मध्यान के हेतु उसका उपयोग करना चाहिये, तथा ज्ञान के तीन दोष बचाने चाहिये। संशय, विपरीत व अनध्यवसाय (बेपरवाही) इन तीन दोषों से रहित ज्ञान को यथार्थ स्पष्ट प्राप्त करना चाहिये। अथवा कुमति, कुश्रुत, कुअवधि तीन कुज्ञानों से बचना चाहिये अर्थात् मिथ्यात्व के परिणाम को दिल से निकाल डालना चाहिये। सर्व से उत्कृष्ट जो ऊर्धलोक में विराजमान ऐसे सिद्ध भगवान को भले प्रकार समझना चाहिए। तथा उनके शुद्ध गुणों का बार-बार मनन करना चाहिये। ॐ के भीतर गर्भित पाँच परमेष्ठी का स्वरूप विचार करके निश्चय नय से उनमें शुद्धात्मा को देखना चाहिये।**

॥ श्लोक ३५३ ॥

द्रव्यदृष्टी च सम्पूर्णं, शुद्धं सम्यग्दर्शनं।
ज्ञानमयं सार्थं शुद्धं, करणानुयोग चिंतनं॥

अन्वयार्थ – (द्रव्यदृष्टी सम्पूर्णं) **द्रव्यदृष्टि या द्रव्यार्थिक नय पूर्ण द्रव्य को देखनेवाली है, इसी के द्वारा** (शुद्धं सम्यग्दर्शनं) **शुद्ध सम्यग्दर्शन का लाभ होता है** (ज्ञानमयं सार्थं शुद्धं) **ज्ञानमयी यथार्थ शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है। यही** (करणानुयोग चिंतनं) **करणानुयोग की चिंता का फल है।**

विशेषार्थ – **करणानुयोग में यद्यपि मुख्यता से पर्यायार्थिक नय से अनेक भेद-प्रभेद का कथन है, उसको भलेप्रकार जान करके ही संतोष न कर लेना चाहिये, मात्र भेदरूप अशुद्ध ज्ञान अकेला सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं करा सकता है, इसलिये शुद्ध द्रव्यार्थिक नय या निश्चय नय से भी द्रव्यों का स्वरूप देखना चाहिये। शुद्ध नय आत्मा को शुद्ध एकाकार अभेद अपने शुद्ध गुणों से पूर्ण, सिद्ध-सम परमात्मा रूप झलकाता है। इस दृष्टि से जब बार-बार विचार किया जाता है और कर्मजनित भावों को व आठ कर्म की रचना को व शरीरादि को भिन्न अनुभव किया जाता है – इसी भेदज्ञान के अभ्यास से ही धीरे-धीरे अनतानुबन्धी कषाय व मिथ्यात्व कर्म का उपशम हो जाता है और शुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है। जिससमय यह निश्चय सम्यक्त्व पैदा होता है, उससमय ही मोक्षमार्ग का प्रारंभ है व तब ही स्वरूपाचरणचारित्र होता है, स्वात्मानुभव होता है, परमानन्द का लाभ होता है। शुद्ध ज्ञानमयी यथार्थ आत्मीक तत्त्व अपनी दृष्टि के सामने द्रव्यदृष्टि से ही रहता है, इसलिये**

व्यवहार या पर्याय दृष्टि से पर्यायों को ठीक-ठीक समझने का काम लेना चाहिये तथा स्वात्मानुभव के लिये शुद्ध द्रव्यदृष्टि का आलम्बन लेकर पुरुषार्थ करना चाहिये। जहाँ स्वानुभव होता है, वहाँ तो नय सम्बन्धी विकल्प रहता ही नहीं है। करणानुयोग के चिंतवन का यही फल है, जो शुद्ध सम्यग्दर्शन का लाभ हो।

॥ श्लोक ३५४ ॥

चरणानुयोग चारित्रं, चिद्रूपं रूप दिष्टते।
ऊर्द्ध अधो च मध्यं च, संपूर्णं ज्ञानमयं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ -- (चरणानुयोग चारित्रं) **चरणानुयोग चारित्र का वर्णन करता है, उसके द्वारा** (चिद्रूप रूप दिष्टते) **चैतन्य स्वभाव आत्मा का अनुभव होता है, जिससे** (उर्द्ध अधो च मध्यं च) **ऊपर, नीचे व मध्य में** (सम्पूर्ण ज्ञानमयं धुवं) **सर्व तरफ ज्ञानमय निश्चल आत्मा का दर्शन होता है।**

विशेषार्थ -- **चरणानुयोग में मुनि व गृहस्थ के व्यवहार चारित्र का वर्णन है। यह व्यवहार चारित्र निश्चय चारित्र का निमित्त कारण है। मन-वचन-काय की चंचलता ध्यान में बाधक है। जितना अधिक हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म व परिग्रह के प्रपंच में अनुरक्त रहा जायगा, उतना ही अधिक मन-वचन-काय का विशेष व अविवेकरूप प्रवर्तन होगा। इन पाँचों पापों का त्याग मन के संकल्पों को मिटानेवाला है। मन के अनेक विचार हटे कि वचन व काय की प्रवृत्ति थम जाती है। मन को निश्चलता में लाने के लिये चिंताओं का अभाव करना चाहिये। ये चिंताएँ गृह, स्त्री, पुत्र, कुटुम्बादि के निमित्त से ही अधिक होती है, इसलिये इनके पूर्ण निवारण के लिये सर्व परिग्रह का त्याग आवश्यक है, साधु का चारित्र धारना जरूरी है, साधु हो एकान्त में तिष्ठकर जब आत्मा का मनन किया जायगा, तब निश्चय चारित्र जो आत्मा का अनुभव है सो प्राप्त होगा। बिना व्यवहार चारित्र की सहायता के परिणामों में निराकुलता का लाभ होना कठिन है, इसलिये चरणानुयोग में कहे अनुसार सम्यग्दृष्टि जीव को श्रावक का चारित्र ग्यारह प्रतिमारूप व मुनि का चारित्र अट्ठाईस मूलगुण रूप पालते हुए मन को निर्विकल्प करते हुए निश्चय चारित्र को पाना चाहिये। यदि आत्मानुभव रूप निश्चय चारित्र न मिला तो व्यवहार चारित्र मोक्ष का साधक न हुआ। यहाँ श्लोक में निश्चय चारित्र की प्रधानता करके कहा है कि वहाँ शुद्धात्मा का स्वभाव ऐसी एकाग्रता से अनुभव किया जाता है कि तीनों लोक में सर्वत्र उस ध्याता को वही चिदानंद एक रूप ही दिखता है, उसके भीतर से अन्य विचार निकल जाते हैं। अथवा वह ध्याता भावना करता हुआ तीन लोक में भरें सूक्ष्म तथा स्थूल जीवों को शुद्ध निश्चय नय से देखता हुआ, सर्व को परमात्मा देखता हुआ परम समतामयी एक रस में मगन हो जाता है, वही आत्मीक चारित्र है।**

॥ श्लोक ३५५ ॥

षट् कमलं त्रि ॐ बं च, सार्द्धं शुद्ध धर्म संयुक्तं।
चिद्रूपं रूप दिष्टंते, चरणं पंच दीप्तयं॥

अन्वयार्थ – (षट् कमलं त्रि ॐ बं च) **छह अक्षरी मंत्र वाले व तीन ॐ सहित कमल के** (सार्द्धं) **साथ या सहारे से** (शुद्ध धर्म संयुतं) **शुद्ध धर्मध्यान सहित अभ्यास करने से** (चिद्रूपं रूप दिष्टंते) **चिदाकार स्वभाव अनुभव में आता है** (चरणं पंच दीप्तयं) **सम्यक्चारित्र ही पंच परमेष्ठी का प्रकाशक है।**

विशेषार्थ – **षट्कमलं आदि वाक्य पहले भी आ चुके हैं इनका जो अर्थ पहले किया है वही यहाँ कहा जाता है। ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः – इन अक्षरों को एक आठ पत्ते के कमल पर, जो कमल हृदय-स्थान पर हो, इसतरह विराजमान करें कि ॐ को मध्य कमल की कर्णिका में और पाँच पत्तों पर शेष ५ अथवा शेष तीन पत्तों पर ॐ सम्यग्दर्शनाय नमः, ॐ सम्यग्ज्ञानाय नमः, ॐ सम्यक्चारित्राय नमाः, इसतरह का कमल विचार करके कर्णिका के व एक-एक पत्ते पर के एक-एक अक्षर पद पर चित्त रोके, फिर गुणों का विचार करता जावे। इन सबमें व्यवहार नय से अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु गर्भित हैं। फिर निश्चय से उनही के भीतर शुद्धात्मा को देखें। इसतरह बार-बार अभ्यास करने से शुद्धात्मा का अनुभव होता है। यही स्वरूपाचरण निश्चय चारित्र है। इसी के साधक साधु, उपाध्याय तथा आचार्य होते हैं।**

अरहंत भगवान के प्रत्यक्ष आत्मा का साध्यरूप स्वरूपाचरण चारित्र विद्यमान है। सिद्ध भगवान के भी साक्षात् यही चारित्र है। पाँचों ही परमेष्ठियों के भीतर स्वरूपाचरणमयी निश्चय चारित्र की ही महिमा है। इसके बिना कोई भी परमेष्ठी नहीं हो सकता है। चरणानुयोग का अभ्यास निश्चय चारित्र का बहुत सहायी है।

॥ श्लोक ३५६ ॥

द्रव्यानुयोग उत्पाद्यं, द्रव्यदृष्टी च संयुतं।
अनंतानंत दिष्टंते, स्वात्मानं व्यक्तरूपयं॥

अन्वयार्थ – (द्रव्यानुयोग उत्पाद्यं) **द्रव्यानुयोग का अभ्यास करना चाहिये** (द्रव्यदृष्टि च संयुक्तं) **साथ में द्रव्यार्थिक नय से शुद्ध आत्मा की दृष्टी भी प्राप्त करनी चाहिये, जिससे** (स्वात्मानं अनंतानंत व्यक्तरूपयं दिष्टंते) **अपने शुद्ध आत्मा के समान जगत की अनंतानंत आत्माएँ प्रगट रूप से दिखलाई पड़ें।**

विशेषार्थ – **चौथा अनुयोग द्रव्यानुयोग है, जिसमें छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थों का स्वरूप निश्चय तथा व्यवहार नय से दिखलाया गया है। इन शास्त्रों का रहस्य भलेप्रकार जानकर बंध और मोक्ष का व संवर तथा निर्जरा का स्वरूप समझकर छह द्रव्यों का परस्पर कार्य व सम्बन्ध जानकर सर्व लोक की व्यवस्था को समझ ले, फिर द्रव्यदृष्टि को प्रधान करके सामने लावे और छहों द्रव्यों को जिनसे यह जगत भरा है, अलग-अलग शुद्ध अपने-अपने स्वरूप में देखे। तब सब पुद्गल परमाणु अलग-अलग, सर्व जीव शुद्ध अलग-अलग, सर्व असंख्यात कालाणु अलग-अलग धर्मास्तिकाय अलग, अधर्मास्तिकाय अलग, आकाश अलग दिखलाई पड़ेगा। जैसा आप अपने को द्रव्यदृष्टि के द्वारा शुद्ध आत्मा जानेगा, वैसा ही सर्व जगत में भरे हुए अनंतानंत जीवों को शुद्धात्मा जानेगा। ऐसा जानना ही द्रव्यानुयोग के जानने का फल है फिर वह अभ्यास करनेवाला सर्व विकल्पों को छोड़कर मात्र एक अपने शुद्धात्मा में लयता प्राप्त करेगा, स्वसमयरूप हो जायगा, स्व चारित्र में मगन हो जायगा, यही द्रव्यानुयोग के शास्त्रों को पढ़ने का फल है।**

॥ श्लोक ३५७ ॥

दिव्यं द्रव्यदृष्टी च, सर्वज्ञं शाश्वतं पदं।
नंतानंत चतुष्टं च, केवलं पद्मं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (द्रव्यदृष्टी च दिव्यं) **द्रव्यदृष्टि अपूर्व है, शोभनीक है** (सर्वज्ञं शाश्वतं पदं) **जो अपने आत्मा को सर्वज्ञ व अविनाशी पद में दिखाती है** (नंतानंत चतुष्टं च) **जो अनंतज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख व अनंत वीर्यमय** (केवलं) **केवल असहाय, पर संग रहित** (ध्रुवं) **निश्चल, अविनाशी** (पद्मं) **प्रफुल्लित कमल के समान विकसित व निर्लेप झलकाती है।**

विशेषार्थ – **यहाँ शुद्ध निश्चय नय या द्रव्यार्थिक नय की महिमा बताई है। जैसे भेद-विज्ञानी विवेकी को तिलों में तेल व भूसी अलग-अलग, धान्य में चावल व भूसी अलग-अलग, स्फटिक के माणिक में स्फटिक पाषाण व लाल डांक अलग-अलग, चांदी-सोने के गहने में चांदी-सोना अलग-अलग, माणक से जड़ी सोने के अँगूठी में माणक व सोना अलग-अलग खीर में दूध, मीठा, चावल अलग-अलग, रंगीन वस्त्र में वस्त्र और रंग अलग-अलग, दिखता है ;वैसे भेदविज्ञानी को शुद्धनय या द्रव्यदृष्टि के द्वारा देखते हुए अपना व पर का हर एक आत्मा, सर्व ही आत्माएँ एक रूप, शुद्ध, परमात्मा सर्वज्ञ के तुल्य सदा अविनाशी, अनंत चतुष्टयादि गुणों से अखण्ड भरपूर, सर्व परद्रव्य के संग रहित, एकाकी केवल स्वरूप, अपने स्वरूप में निश्चल, सर्व कर्मबंध की व शरीर की व रागादि मैल की रचना से जैसे जल से कमल अलिप्त है, वैसे अलिप्त दिखते हैं। इस दृष्टि के द्वारा देखने का**

अभ्यास समताभाव को जागृत कर देता है, राग-द्वेष का विलय कर देता है, वीतरागता की व आत्मानुभव की गुफा में पहुँचा जाता है, यह द्रव्यानुयोग द्रव्यदृष्टि को जो संसार के तम से आच्छादित थी, खोल देता है। यह मोक्षमार्ग में परम सहायी है।

॥ श्लोक ३५८ ॥

चतुरगुणं च जानंते, पूजा वेदंते बुधैः।
संसारभ्रमणं मुक्तस्य, सुयं मुक्तिगामिनोः॥

अन्वयार्थ – (बुधैः) **बुद्धिमान पंडितों को** (चतुरगुणं च जानंते) **इन चार अनुयोगों को जानना चाहिये** (पूजा वेदंतं) **व उनकी पूजा करनी चाहिये** (सुयं) **यह श्रुतज्ञान** (मुक्तिगामिनोः) **मोक्ष में जानेवाले प्राणी को** (संसारे भ्रमणं मुक्तस्य) **संसार के भ्रमण से छुड़ानेवाला है।**

विशेषार्थ – **जो गृहस्थ अपना परम कल्याण करना चाहें व मानव जीवन को सफल करना चाहें उनका कर्तव्य है कि वे चारों अनुयोगों के ग्रन्थों को भलेप्रकार स्वाध्याय करें, उन्हें प्रचलित वर्तमान दिगम्बर जैन ग्रंथों में ऋषिप्रणीत माननीय नीचे लिखे ग्रन्थ अवश्य पढ जाने चाहियेः–**

प्रथमानुयोग – **पद्मपुराण, आदिपुराण, हरिवंशपुराण, पार्श्वपुराण, महावीर-चरित्र, जम्बूस्वामी-चरित्र, जीवंधर-चरित्र, धन्यकुमार-चरित्र, भविष्यदत्त-चरित्र, सुदर्शनसेठ-चरित्र, सुकुमाल-चरित्र आदि।**

करणानुयोग – **त्रिलोकसार, गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, जयधवल, धवल, महाधवल, त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदि।**

चरणानुयोग – **मूलाचार, आचारसार, भगवती आराधना, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अमितगति श्रावकाचार, स्वामी कार्तिकेयानुपेक्षा आदि।**

द्रव्यानुयोग – **द्रव्यसंग्रह, तत्वार्थसूत्र, वृहत्‌द्रव्यसंग्रह, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, पंचस्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, परमात्मा-प्रकाश, ज्ञानार्णव, समाधि-शतक, इष्टोपदेश, आप्तमीमांसा, प्रमेयरत्नमाला आदि।**

चारों अनुयोगों के कुछ सुगम शास्त्रों को पढ़कर जिनवाणी का रहस्य जानना चाहिये, फिर स्वाध्याय को बराबर बढाते रहना चाहिये। इस चार अनुयोगरूप शास्त्र की भाव पूजा व द्रव्य पूजा भलेप्रकार करनी चाहिये। मुख्य भक्ति उनका ज्ञान प्राप्त करना है। जो संसार-भ्रमण से उदास हैं और मुक्ति प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिये आगम की सेवा बहुत ही जरूरी है। शास्त्रज्ञान के ही प्रताप से भेद-विज्ञान होगा। भेदज्ञान से स्वानुभव होगा, स्वानुभव से ही केवलज्ञान होगा और यह संसार से पार हो जायगा। श्रुत-भक्ति संसार-उद्धारक है।

॥ श्लोक ३५९ ॥

श्रियं सम्यग्दर्शन च, सम्यग्दर्शनमुद्यमं।
सम्यक्तं सम्पूर्ण शुद्धं च, ति अर्थ पंच दीप्तयं॥

अन्वयार्थ – (श्रियं सम्यग्दर्शन च) **श्री अर्थात् केवलज्ञानादि लक्ष्मी उसमें विश्वास अर्थात् देव, उनकी वाणी व उसके अनुसार चलनेवाले गुरु – इन तीन में भलेप्रकार श्रद्धान करके भक्ति करना,** (सम्यग्दर्शनमुद्यम) **वह सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उद्योग है,** (सम्यकतं संपूर्णशुद्धं च) **जो निश्चय सम्यग्दर्शन शुद्ध है,** (ति अर्थ पंचदीप्तय) **वह तीनों अर्थ अर्थात् रत्नत्रय स्वरूप है और पाँच परमेष्ठी पद का प्रकाशक है।**

विशेषार्थ – **देव-शास्त्र-गुरु जो परमार्थरूप हैं, जिनका स्वरूप कथन इस ग्रन्थ में बहुत से स्थलों पर किया है, उनका दृढ श्रद्धान रख कर उनकी भक्ति करना, यही निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उद्योग करना है। देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति करने से परिणामों में जितनी-जितनी उज्वलता होगी, उतनी-उतनी सम्यग्दर्शन के विरोधक अनन्तानुबंधी चार कषाय और मिथ्यात्व कर्म की कमी होगी, उनका बल घटता जायगा। इसतरह मनन करते-करते एक दिन पाँचों प्रकृतियों का उपशम होकर निश्चय शुद्ध सम्यग्दर्शन पैदा हो जायगा। हमें अपना उद्यम चार तरह का रखना चाहिये। (१) श्री जिनेन्द्रदेव की स्तुति, भक्ति व गुणानुवाद गाना, उनके स्वरूप को देखना, विचारना, उनकी पूजा करनी। (२) जिनवाणी का नित्य प्रति स्वाध्याय करके सात तत्त्वों को समझना। (३) अध्यात्म ज्ञाता परम ध्यान के अभ्यासी गुरुओं की भक्ति करके सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करना। (४) प्रातःकाल और संध्याकाल कुछ देर एकांत में बैठकर सामायिक करना, बारह भावना का विचार करना, आत्मा व अनात्मा का भिन्न-भिन्न स्वरूप भाना। इन चार उपायों के करने से कभी न कभी सम्यक्त्व हो जाना संभव है। जब तक सम्यक्त्व न होगा, तब तक भी परिश्रम वृथा नहीं जायगा। जितना पुण्य बाँधोगे, वह संसार में साता को पैदा करेगा, असाता से बचाएगा।**

निश्चय सम्यग्दर्शन जब उदय होगा, तब वहाँ सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र भी प्रगट हो जाता है। ऐसा ही सम्यक्त्व रत्नत्रयमयी स्वात्मानुभव में जब लिया जाता है, तब यही कषाय को मंद करता हुआ श्रावक से साधु, साधु से आचार्य व उपाध्याय, आचार्य-उपाध्याय से फिर साधु-साधु, से अरहंत, अरहंत से सिद्ध बना देता है। अतएव पाँच उत्तम पदों के प्रकाश का परम्परा कारण श्री की भक्ति है, देव-शास्त्र-गुरु की आराधना है।

॥ श्लोक ३६० ॥

श्रियं सम्यग्दर्शनं, श्रियं कारेण उत्पद्यते।
सर्व ज्ञानमयं शुद्धं, श्रियं सम्यग्दर्शनं।

अन्वयार्थ – (श्रियं सम्यग्दर्शनं) **परम ऐश्वर्यशाली महत्त्वपूर्ण निश्चय सम्यग्दर्शन** (श्रियं कारेण उत्पद्यते) **श्री अर्थात् देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति के द्वारा उत्पन्न होता है** (सर्व ज्ञानमयं शुद्ध श्रियं सम्यग्दर्शनं) **यह निश्चय सम्यग्दर्शन सर्व प्रकार से ज्ञानमई शुद्ध आत्मा का अनुभव करनेवाला है।**

विशेषार्थ – **जैसा पहले कहा गया है देव-शास्त्र-गुरु की सेवा उनके गुणों को पहचान करके करते हैं, सेवा करते हुए कोई विषय-कषाय की पुष्टि की चाहना नहीं रखते हैं। मात्र उनके पवित्र गुणों में इसी तरह रंजायमान होते हैं, जैसे भ्रमर कमल में आसक्त होता है। इसप्रकार जो शुद्ध आत्मा का लक्ष्य रखते हैं, उनके लिये यह देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति आत्मा का अनात्मा से भेद-विज्ञान कराने के लिये निमित्त कारण है। जैसा श्री मोक्षशास्त्र के मंगलाचरण में है –**

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये॥

भावार्थ – **मैं संसार से छूटने का मार्ग बतानेवाले, कर्मरूपी पर्वतों को तोडनेवाले व सर्व तत्त्वों के जाननेवाले – इन तीन गुण विशिष्ट देव को उन ही गुणों की प्राप्ति के हेतु से वंदना करता हूँ। निश्चय सम्यग्दर्शन आत्मा का स्वभाव है। जिसके भीतर यह प्रकाशमान हो जाता है, उसके शुद्धात्मा का अनुभव अवश्य होता है। तथा वह लोक के पदार्थों में यथार्थ ज्ञानी हो जाता है, आत्मा को आत्मा, अनात्मा को अनात्मा देखता है।**

॥ श्लोक ३६१ ॥

ज्ञानं च सम्यक्तं शुद्धं, संपूर्णं त्रिलोकमुद्यमं।
सर्वं ज्ञानमयं शुद्धं, पद वन्द्यं केवलं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (सम्यक्तं ज्ञानं च शुद्धं) **सम्यग्दर्शन सहित जो ज्ञान है वही शुद्ध है, उसी के द्वारा ही** (सम्पूर्णं त्रिलोकं उद्यम) **सर्व तीन लोक को देखनेवाले ज्ञान के लाभ का उद्यम होता है, वह ज्ञान** (सर्वं) **सर्व सम्पूर्ण है** (ज्ञानमयं शुद्धं) **ज्ञानमय है, सर्व आवरण रहित शुद्ध है,** (केवलं ध्रुव वंद्यं पद) **केवल असहाय है, नित्य है, वंदनीक पद उसी से होता है।**

विशेषार्थ – **सम्यग्ज्ञान बिना सम्यग्दर्शन के हुए सम्यक् नाम नहीं पाता है। यद्यपि न्याय शास्त्र द्वारा व युक्ति बल से व गुरु की आज्ञा प्रमाण या शास्त्र के वचन प्रमाण कोई जीवादि तत्त्वों को**

संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय रहित ठीक-ठीक जान ले, तथापि जब तक मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय के उपशम होने से सम्यग्दर्शन नामक आत्मीक गुण का प्रकाश नहीं होता है, तब तक ज्ञान को सम्यग्ज्ञान यथार्थ नहीं कह सकते हैं। आत्मप्रतीति बिना द्रव्यलिंगी साधु का ग्यारह अंग नौ पूर्व तक का ज्ञान भी मिथ्यात्व सहित होने से मिथ्याज्ञान नाम पाता है। जहाँ आत्मानुभूति जागृत हो जाती है, उसी ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यह सम्यग्ज्ञान वास्तव में दोज का चन्द्रमा है। इसी ज्ञान के द्वारा जितना-जितना शुद्ध आत्मा का अनुभव किया जायगा, ज्ञानावरण का क्षयोपशम होता जायगा। इसी ज्ञान के बल से सर्व श्रुतज्ञान का लाभ पाकर श्रुतकेवली मुनि हो जाता है, जो सर्व श्रुतज्ञान के बल से अपने शुद्धात्मा का अनुभव करते हैं। इसी ज्ञान के बल से किसी को अवधिज्ञान या मनःपर्यय ज्ञान हो जाता है, यही शुद्धात्मानुभव रूप सम्यग्ज्ञान पूर्ण मासी के चन्द्रमा समान केवलज्ञान को पैदा कर देता है। चाहे किसी को पूर्ण श्रुत ज्ञान या अवधिज्ञान या मनःपर्यय ज्ञान न भी हो तो भी शुद्धात्मानुभव में यह शक्ति है कि वह कम से कम एक अंतर्मुहूर्त मात्र के लगातार ध्यान से सर्व ज्ञानावरणीय कर्म को क्षय करके केवलज्ञान को जगा देता है। केवलज्ञान असहाय है, इसको किसी इंद्रिय या मन की जरूरत नहीं है, यह सर्व जानने योग्य पदार्थों को एक साथ जान सकता है, यह फिर कभी आवरण नहीं पाता हैं, सदा ही रहता है व इसी के प्रकाश से ही आत्मा अरहंत कहलाता है। सर्व ही अल्पज्ञानियों के द्वारा वंदनीक पद इसी से प्राप्त होता है।

॥ श्लोक ३६२ ॥

श्रियं सम्यक्ज्ञानं च, श्रियं सर्वज्ञ शाश्वतं।
लोकालोकमयं रूपं, श्री सम्यक्ज्ञान उच्यते॥

अन्वयार्थ – (श्रियं सम्यक्ज्ञानं च) **परम ऐश्वर्यशाली सम्यग्ज्ञान** (श्रिय सर्वज्ञ शाश्वत) **अतिशय रूप सर्व पदार्थों का ज्ञाता व अविनाशी है** (लोकालोकमय रूप) **लोकालोक के प्रकाश करने को दर्पण है,** (श्री सम्यक्ज्ञान उच्यते) **ऐसा प्रभावशाली सम्यग्ज्ञान कहलाता है।**

विशेषार्थ – **यहाँ केवलज्ञान की महिमा बताई है। यह केवलज्ञान पूर्ण शुद्ध स्पष्ट ज्ञान है, जिस ज्ञान के बल से मूर्तीक व अमूर्तीक पदार्थ सर्व प्रत्यक्ष दीख जाते हैं। मति-श्रुतज्ञान यद्यपि अमूर्तीक जीव धर्म अधर्म आकाश काल – इन पाँच पदार्थों को जानते थे, परन्तु प्रत्यक्ष नहीं जानते थे, पर की सहायता से जानते थे। यह मात्र केवलज्ञान में ही शक्ति है, जो सबको एक साथ प्रत्यक्ष जान ले। यही ज्ञान सर्वज्ञ का ज्ञान कहलाता है, इसका कभी न क्षय है, न अंत है। इस ज्ञान में यह शक्ति है कि सर्व लोक व अलोक के भीतर भरे हुए छह द्रव्यों की अनन्त गुण-पर्यायों को एक काल में जान सकता**

है। तथापि मोहनीय कर्म के उदय बिना इस ज्ञान में कोई राग-द्वेष-मोह नहीं होता है। यह परम शुद्ध वीतरागी बना रहता है। इसी को यथार्थ में सम्यक्ज्ञान कहते हैं। इसी का प्रकाशक आत्मानुभवरूप सम्यक्ज्ञान है। जो सम्यक्दर्शन सहित होता है, उसी को उपादेय जान कर उसका लाभ करना योग्य है।

॥ श्लोक ३६३ ॥

श्रियं सम्यक्चारित्रं, सम्यक् उत्पन्न शाश्वतं।
अप्पा परम पयं शुद्धं, श्री सम्यक् चरणं भवेत्॥

अन्वयार्थ – (श्रियं सम्यक्चारित्रं) ऐश्वर्यशाली सम्यक्चारित्र (सम्यक् शाश्वतं उत्पन्न) भले प्रकार श्री अविनाशी वीतराग यथाख्यात सम्यक्चारित्र को उत्पन्न कर देता है। तब (अप्पा परम पयं शुद्धं) आत्मा परम पद को प्राप्त हुआ शुद्ध हो जाता है (श्रीसम्यक्चरणं भवेत्) यही परम प्रभावशाली सम्यक्चारित्र है

विशेषार्थ – सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होते ही जो स्वरूपाचरण चारित्र पैदा होता है, वही सम्यक्चारित्र है। जितना-जितना स्वरूप का अनुभव बढ़ता जाता है, उतना-उतना कषायों का उपशम होता जाता है। उतना-उतना सम्यक्चारित्र भी बढ़ता जाता है, इसी उपाय से श्रावक का एकदेश संयम तथा मुनि का सकल संयम प्राप्त होता है। जब संज्वलन कषाय का अति मंद उदय होता है, तब श्रेणी चढ़कर चारित्रमोह को उपशम करे तो ग्यारहवें उपशांत मोह गुणस्थान में यथाख्यात चारित्र को पा लेता है। यदि चारित्रमोह को क्षय करे तो बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में यथाख्यात चारित्रवान हो जाता है। फिर तेरहवें गुणस्थान में जब केवलज्ञान होता है, तब वह परम यथाख्यात चारित्रवान हो जाता है, क्योंकि तब वह प्रत्यक्षपने आत्मा का थिरपना पा लेता है। आत्मा की परम शुद्धि चारित्र के प्रताप से ही होती है। जितनी-जितनी ध्यान की शक्ति बढ़ती जायगी, नवीन कर्मों का संवर अधिक होगा व पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा विशेष होगी। स्वात्मानुभव करते-करते यह परम एकाग्र स्वचारित्र में पहुँच जाता है, वही यथार्थ सम्यक्चारित्र है, जो अरहंत भगवान व सिद्ध परमेष्ठी के पाया जाता है।

॥ श्लोक ३६४ ॥

श्रियं सर्वज्ञ सार्थं च, स्वरूपं व्यक्त रूपयं
श्रियं सम्यक् ध्रुवं सार्थं, श्री सम्यक् चरणं बुधैः॥

अन्वयार्थ – (श्रियं सर्वज्ञ सार्थं च) श्री सर्वज्ञ भगवान यथार्थ आत्मीक गुणरूपी लक्ष्मी कर सहित हैं (स्वरूपं व्यक्त रूपयं) जिनके भीतर आत्मा का स्वरूप व्यक्त है, प्रगट प्रकाशमान है (श्रियं

सम्यक् ध्रुवं सार्थं) वहीं परम प्रभावशाली निश्चय यथार्थ सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है (श्री सम्यक्चरणं बुधैः) तथा वहीं परम सम्यक्चारित्र है – ऐसा बुद्धिमानों ने माना है

विशेषार्थ – व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान तथा व्यवहार सम्यक्चारित्र की सहायता से निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यक्चारित्र की एकता, जो आत्मा की निर्विकल्प समाधि उसके द्वारा अभ्यास करते-करते जब यह केवलज्ञानी अर्हत् हो जाता है, तब वहाँ निश्चय रूप से शुद्ध सम्यग्दर्शन भी है, शुद्ध सम्यक्ज्ञान भी है तथा शुद्ध सम्यक्चारित्र भी है। रत्नत्रय धर्म की अपूर्णता साधक है, रत्नत्रय धर्म की पूर्णता साध्य है। ऐसा जानकर बुद्धिमानों को रत्नत्रय धर्म की सेवा करनी योग्य है। इसी की प्राप्ति के लिये यथार्थ देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति सदा करनी चाहिये।

॥ श्लोक ३६५ ॥

पचहत्तर गुण वेदंते, सार्द्धं च शुद्धं ध्रुवं।
पूजितं संस्तुतं येन, भविजन शुद्ध दृष्टितं॥

अन्वयार्थ – (पचहत्तर गुण वेदंते) जो पचहत्तर गुणों को अनुभव करते हैं (सार्द्धं च शुद्धं ध्रुवं) साथ में आत्मा के शुद्ध निश्चल गुणों का अनुभव करते हैं (येन पूजितं संस्तुतं) जिसने इन गुणों की पूजा की व स्तुति की है (भविजन शुद्ध दृष्टितं) वही भव्य जीव शुद्ध सम्यग्दृष्टि है।

विशेषार्थ – पचहत्तर गुणों को जानना, विचारना, उनकी पूजा करना, उनकी स्तुति करना, उनका अनुभव करना – ऐसा उपदेश यहां भव्य जीव गृहस्थ सम्यग्दृष्टि को दिया गया है। वे ७५ गुण कौनसे हैं, उनका यहाँ खुलासा नहीं है। अपनी बुद्धि से विचारते हुए एक तो पाँच परमेष्ठी के ७५ गुण हो सकते हैं, दूसरे सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को ७५ गुण पालने चाहिये। दोनों ही अर्थ लेकर ७५ गुणों की संख्या नीचे प्रकार जाननी –

अरहंत परमेष्ठी के....	... ...	अनंत चतुष्टय	४
सिद्ध परमेष्ठी के	... ...	सम्यक्त्व आदि गुण	८
आचार्य परमेष्ठी के	... ...	दशलक्षण धर्म	१०
उपाध्याय परमेष्ठी के	... ...	११ अंग १४ पूर्व	२५
साधु परमेष्ठी के	... ...	मूल गुण	२८
पाँच परमेष्ठी के	... ...	कुल मुख्य गुण	७५

गृहस्थ को उचित है कि इन गुणों को चिंतवन करता हुआ ॐ के द्वारा पाँच परमेष्ठी का मनन करे। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के भीतर नीचे लिखे ७५ गुण होने चाहिये –

२५ मल दोष रहित पना २५ गुण

८	संवेगादि – अर्थात् १ संवेग या धर्मानुराग, २ निर्वेद या संसार-शरीर-भोगों से वैराग्य, ३ गर्हा या अपने मन में अपनी बुराई, ४ निन्दा या दूसरों से अपनी बुराई, ५ उपशम या शांत भाव, ६ भक्ति या अर्हंतादि की भक्ति, ७ वात्सल्य या धर्मात्माओं से प्रेम, ८ अनुकम्पा या दुःखियों पर दया।	८ गुण
५	अतिचार न लगाना – १ शंका, २ कांक्षा, ३ विचिकित्सा, ४ अन्यदृष्टि प्रशंसा, ५ अन्य दृष्टि संस्तव	५ गुण
७	भय न रखना – १ इस लोक, २, परलोक, ३ रोग, ४ अनरक्षा, ५ अगुप्ति, ६ मरण, ७ अकस्मात्	७ गुण
३	शल्य छोडना – माया, मिथ्या, निदान	३ गुण
८	मूलगुण – ३ मकार, पाँच उदम्बर फल का त्याग	८ गुण
७	व्यसन – द्यूतादि का त्याग	७ गुण
१२	व्रतों का अभ्यास – पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत	१२ गुण
		कुल ७५ गुण

यदि यहाँ अन्य तरह से ७५ गुणों का प्रयोजन हो तो विद्वान विचार लेवें।

गृहस्थी सम्यग्दृष्टी उन गुणों की पूजा, भक्ति, आदर, मनन करता हुआ शुद्ध निश्चल आत्मा का अनुभव अवश्य करता रहता है, क्योंकि वही साक्षात् मोक्षमार्ग है।

॥ श्लोक ३६६ ॥

एतत्तु गुण सार्द्धं च, स्वात्मचिंता सदा बुधैः।
देवाश्च तस्य पूजंते, मुक्तिगमनं न संशयः॥

अन्वयार्थ – (एतत्तु गुण सार्द्धं च) **इन गुणों को विचारते हुए** (बुधैः सदा स्वात्मचिंता) **बुद्धिमानों को सदा अपने आत्मा का चिन्तवन करना चाहिये।** (देवाश्च तस्य पूजंते) **ऐसे सम्यग्दृष्टि देवता भी पूजन करते हैं** (मुक्तिगमनं न संशयः) **तथा वह मोक्ष में अवश्य जायगा, इसमें कोई संशय नहीं है।**

विशेषार्थ – **बुद्धिमान गृहस्थ श्रावकों को प्रथम कहे प्रमाण ७५ गुणों को जो पाँच परमेष्ठी में पाए जाते हैं या जो सम्यग्दृष्टि गृहस्थ में होने चाहिये, भलेप्रकार ध्यान में रखना चाहिये तथा मुख्यता से अपने ही आत्मा को भेद-विज्ञान के द्वारा शुद्ध निश्चयनय की सहायता से, रागादि भाव कर्मों से, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों से, शरीरादि नो कर्मों से भिन्न अनुभव करना चाहिये। यह अपने आत्मा का**

मनन, विचार व ध्यान सदा ही प्रतिदिन प्रातःकाल, सायंकाल तो अवश्य कुछ देर एकांत में बैठकर करना चाहिये। जो सच्चे श्रद्धावान गृहस्थ हैं, पाँच परमेष्ठी के भक्त हैं व देव, शास्त्र, गुरु के भक्त हैं, उनकी महिमा इंद्रादि देव गाते हैं तथा कभी कोई संकट पड़ जावे तो उनकी सहायता भी करते हैं। ऐसा गृहस्थ अवश्य मोक्ष का पात्र हो जाता है। यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अनुकूल हुआ तो उसी भव से साधु हो ध्यान करके क्षपक श्रेणी चढ़कर केवलज्ञानी हो सिद्ध हो जाता है। यदि अनुकूल न हुआ तो कुछ जन्मों के पीछे वह अवश्य सिद्ध हो जाता है। क्योंकि जिसकी रात दिन भावना अपने आत्मा की तरफ है वह क्यों नहीं भवसागर से पार होगा व क्यों नहीं बंधन से मुक्त होगा व क्यों नहीं वह अनन्त सुख को प्राप्त करेगा।

॥ सुगुरु भक्ति ॥

॥ श्लोक ३६७-३६८ ॥

गुरुस्य ग्रंथमुक्तस्य, रागदोषं न चिंतए।
रत्नत्रय मयं शुद्धं, मिथ्या माया विमुक्तयं॥
गुरुं त्रिलोक वेदंते, धर्मध्यानं च संजुतं।
तद्गुरुं सार्द्धं नित्यं, रत्नत्रयालंकृतं॥

अन्वयार्थ – (ग्रन्थमुक्तस्य) परिग्रह रहित (गुरुस्य) गुरु की सेवा करनी चाहिये, वे गुरु (रागदोषं न चिंतए) राग-द्वेष की चिंता नहीं करते हैं, किंतु (मिथ्या माया विमुक्तय) मिथ्यात्व व मायाचार से रहित (शुद्धं रत्नत्रय मयं) शुद्ध रत्नत्रयमयी आत्मा का मनन करते हैं। (गुरु त्रिलोक वेदते) ऐसे गुरु तीन लोक के यथार्थ स्वभाव को जानते हैं (धर्मध्यानं च संजुतं) तथा धर्मध्यान सहित वर्तन करते हैं (रत्नत्रयालंकृतं) वे रत्नत्रय से शोभित रहते हैं (तस्य गुरुं नित्यं सार्द्धं) ऐसे गुरु का नित्य साथ करना चाहिये।

विशेषार्थ – यहाँ गुरु भक्ति को दृढ़ किया है। गृहस्थ श्रावक का मुख्य कर्तव्य है कि सच्चे गुरुओं की सेवा करे, उनकी संगति करे, उनके साथ रहे, उनकी वैयावृत्ति करे, उनके उपसर्ग दूर करे, तथा उनसे शास्त्रज्ञान व ध्यान का मार्ग जाने। गुरु बड़े अनुभवी होते हैं, थोड़े से परिश्रम से ही उनके द्वारा धर्म का लाभ हो जाता है। उनकी संगति से भावों में वैराग्य रहता है। ऐसे गुरुओं का स्वरूप यह है कि परिग्रह से रहित निर्ग्रन्थ हों। क्षेत्र, मकान, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कपड़े, वर्तन आदि बाहरी १० प्रकार के परिग्रह से तथा अंतरंग मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद – इन १४ प्रकार के परिग्रह से

बिलकुल ममत्व रहित हो, इनके बुद्धिपूर्वक त्यागी हों, नग्न दिगम्बर रूप के धारी हों, मात्र जीवदया के लिये मोर-पिच्छिका व शौच के लिये काष्ठ-कमंडलु, व ज्ञान के लिये आवश्यक हो तो शास्त्र को पास रखते हों। जो निर्भय हों, बालकवत् विहार करते हों, जिनमें राग-द्वेष न हो, परम समताभाव के धारी हों, शत्रु-मित्र, कनक-काँच, लाभ-अलाभ, मान-अपमान, जन्म-मरण, रोग-निरोग आदि अनेक संसार की राग-द्वेष मूलक अवस्थाओं की तरफ राग-द्वेष न करके समताभाव के धारी हों, मिथ्या-माया व निदान तीन प्रकार के शल्य से रहित होकर व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान व व्यवहार सम्यक्चारित्र का यथार्थ शास्त्रोक्त आचरण करते हुए निश्चय रत्नत्रयमयी शुद्ध आत्मा का निरंतर अनुभव करनेवाले हों, आत्मानन्द के स्वादी हों, इंद्रिय-विषयों के स्वाद से विरक्त हों तथा शास्त्रों के ऐसे ज्ञाता हों कि छह द्रव्यों का स्वरूप जानते हुए तीन लोक की वस्तुओं का मूल स्वरूप, कारण व भेद-प्रभेद यथार्थ जानते हों। स्वरूप-विपर्यय, कारण-विपर्यय, भेदाभेद-विपर्यय – इन तीन दोषों से रहित जिनका निर्मल ज्ञान हों, तथा जो कभी आर्तध्यान व रौद्रध्यान नहीं करते हो किंतु धर्मध्यान में आसक्त हों। पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत – इन ध्यानों का अभ्यास करते हों, ऐसे गुरुओं की सदा ही भक्ति करके अपने भावों को वैराग्यमय, ज्ञानमय बनाना गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य है। गुरुओं में और गृहस्थों में परस्पर उपकार होता है। गुरु महाराज तत्त्वों का उपदेश करते हैं, सच्चा मार्ग बताते हैं, जागृत करते हैं, मिथ्यात्वी को सम्यक्त्वी, अव्रतियों को व्रती बनाते हैं, तब गृहस्थ उनकी सेवा आहार-औषधि दान से व वैयावृत्य आदि से करते हैं। यह गुरुभक्ति नित्य करनी चाहिये, यही धर्मवृद्धि का साधन है।

॥ स्वाध्याय का लाभ ॥

॥ श्लोक ३६९-३७० ॥

स्वाध्याय शुद्धं ध्रुवं चिंते, शुद्ध तत्व प्रकाशकं।
शुद्ध संपूर्णदृष्टी च, ज्ञानमयं सार्थं ध्रुवं॥
स्वाध्याय शुद्ध चित्तस्य, मनवचनकाय रुंधनं।
विलोकं ति अर्थं शुद्धं, अस्थिरं शाश्वतं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (शुद्ध तत्व प्रकाशकं) शुद्ध आत्मीक तत्व के प्रकाश करनेवाले (शुद्धं स्वाध्याय) शुद्ध दोष रहित शास्त्र का पठन या मनन या श्रवण का (ध्रुवं चिन्ते) सदा ही विचार करता रहे। (शुद्ध संपूर्ण दृष्टी च) शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टि के द्वारा (ज्ञानमयं सार्थं ध्रुवं) ज्ञानयोग यथार्थ निश्चय आत्मद्रव्य का ज्ञान होता है। (स्वाध्याय चित्तस्य शुद्ध) स्वाध्याय करने से मन की शुद्धि होती है (मनवचनकाय

रुंधनं) मन, वचन, काय वश में हो जाते हैं। (शुद्ध अर्थ) शुद्ध पदार्थ को (अस्थिरं) विनाशनीक (शाश्वतं) व अविनाशी पदार्थ को (ध्रुवं) निश्चय से ठीक-ठीक जानता है।

विशेषार्थ – देवपूजा गुरुभक्ति को कह करके अब तीसरा नित्यकर्म जो स्वाध्याय है, उस पर कहते हैं कि वास्तविक स्वाध्याय – स्व अर्थात् अपने शुद्ध तत्व का अध्याय अर्थात् मनन है। जहाँ शुद्धात्मा के प्रयोजन से शास्त्रों को पढ़ा जाय, विचारा जाय, धारण किया जाय, वह स्वाध्याय है। जिनवाणी में कथन दो दृष्टि से हैं – पर्यायार्थिक दृष्टि और द्रव्यार्थिक दृष्टि। पर्यायार्थिक दृष्टि से या पर्याय की अपेक्षा से छहों द्रव्यों की जो जो अवस्थाएँ जगत में प्रगट हैं उन सबका व्याख्यान है। जीव और पुद्‌गल के सम्बन्ध से चार गतियां हैं व चार गति संबंधी भाव हैं, गुणस्थान व मार्गणा स्थान है, सात तत्व व नौ पदार्थ हैं – इन सबका स्वरूप भलेप्रकार जानना चाहिये और द्रव्यार्थिक नय से जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल – इन छह द्रव्यों का शुद्ध स्वरूप जानना चाहिये। दोनों नयों से जानकर द्रव्यार्थिक दृष्टि को मुख्य ध्यान में लेकर अपने आत्मा का द्रव्यस्वरूप शुद्ध ज्ञानानन्दमय स्वभाव अनुभव करना चाहिये। स्वाध्याय का प्रयोजन संसार से वैराग्य तथा निज स्वरूप की प्राप्ति का उत्साह है।

स्वाध्याय के पाँच भेद हैं। उसी तरह स्वाध्याय करे। पहले पढ़े सो वाचना है। किसी बात में शंका रह जावे तो विशेष ज्ञानी से पूछकर निर्णय करे यह पृच्छना है। जानी हुई बात को बार-बार विचार कर दिल में धारणा करे यह अनुप्रेक्षा है। शुद्ध शब्द व अर्थ को कण्ठस्थ करे यह आम्नाय है, फिर अन्य श्रोताओं को समझावे यह धर्मोपदेश है। स्वाध्याय करना बड़ा ही जरूरी है। हर एक गृहस्थ श्रावक व श्राविका को उचित है कि एक शास्त्र मुख्यता से स्थापित करके थोडी देर रोज बहुत विनय से बैठकर पढ़े, जो समझ में न आवे, उसको एक अलग पुस्तक पर लिखता जावे, जब बहुज्ञानी का निमित्त मिले तब उसका निर्णय कर ले। स्वाध्याय करने से तुरंत लाभ यह है कि चित्त शुद्ध हो जाता है। मन से शोक, भय, क्रोध, मान आदि कषाय का मैल शांत हो जाता है। यदि कोई तीनों मन-वचन-काय की गुप्ति को पालना चाहे तो शास्त्र-स्वाध्याय बड़ा भारी उपाय है। बिना तीनों के एकत्र हुए समझ में नहीं आयगा। यह तप इसी लिये कहा गया है कि उसके द्वारा ज्ञान में उपयोग तप जाता है जिससे कर्म की निर्जरा हो जाती है। शास्त्र-स्वाध्याय से, पर्याय की दृष्टि से सब जगत क्षणभंगुर है परंतु द्रव्य की दृष्टि से नित्य दीखता है। इस पंचमकाल में गृहस्थ का ध्यान सामायिक की अपेक्षा स्वाध्याय में विशेष सुगमता से लग जाता है। इसलिये ध्यान का परम सहकारी समझकर नित्य भाव सहित स्वाध्याय करनी योग्य है। जैसे शरीर की शुद्धि के लिये गृहस्थ को नित्य जल का स्नान जरूरी है, वैसे अंतःकरण के क्लेश व कुभावों को दूर करने के लिये यह स्वाध्याय एक प्रकार का स्नान है। चारों

अनुयोगों के ग्रंथों को पढ़ते हुए आध्यात्मिक साहित्य पर विशेष ध्यान देना चाहिये, शुद्धात्मा का मनन इस ही के द्वारा भले प्रकार होता है। स्वाध्याय के समान कोई उपकारी उपाय नहीं है।

॥संयम पालन॥

॥ श्लोक ३७१ ॥

संयमं संयमं कृत्वा, संयमं दुविधं भवेत्।
इन्द्रियाणां मनो नाथः, रक्षणं त्रस स्थावरं॥

अन्वयार्थ – (संयमं संयमं कृत्वा) **अपने को यम-नियम में रखने को संयम कहते हैं।** (संयमं दुविधं भवेत्) **संयम दो प्रकार का होता है – इंद्रिय संयम व प्राणि संयम।** (इन्द्रियाणां मनो नाथः) **पाँच इंद्रियों को और उनके स्वामी मन को वश में रखना इंद्रिय संयम है तथा** (त्रस स्थावरं रक्षणं) **त्रस और स्थावर प्राणियों की रक्षा करना प्राणि संयम है।**

विशेषार्थ – **चौथा कर्म गृहस्थ का संयम पालना है। अपने को यम-नियम में चलाना संयम है।** जो कार्य अन्याय व पापमय हैं, उनका आजन्म त्याग कर देना चाहिये। जैसे जूआ आदि सात व्यसन तथा अभक्ष्य भोजन। और जो भोग उपभोग आजन्म के लिये छोड़े न जा सकें, उनका गृहस्थ को रोज प्रमाण कर लेना चाहिये। नीचे लिखे १७ नियम का नित्य विचार करना चाहियेः–

भोजने 1 षट्रसे 2 पाने 3 कुंकुमादि 4 विलेपने, पुष्प 5 तांबूल 6 गीतेषु 7 नृत्यादौ 8 ब्रह्मचर्य 9 के। स्नान 10 भूषण 11 वस्त्रादौ 12 वाहने 13 शयनासने 14-15 सचित्तवस्तु 16 सख्यादौ 17 प्रमाण भज प्रत्यहं॥

१ भोजन – **कितनी बार करूँगा।** २. षट्रस – **दूध, दही, घी, नमक, तेल, मीठा, इनमें से क्या क्या त्याग किया।** ३. पान – **भोजन के सिवाय पानी कितनी बार पीऊँगा।** ४. कुंकुमादि विलेपन – **तेल, चंदन विलेपन कितनी बार लगाऊँगा या नहीं।** ५. पुष्प – **फूल सूँघूँगा या नहीं, या कितनी बार।** ६. ताम्बूल – **पान खाऊँगा या नहीं यदि खाऊँगा तो कितनी बार।** ७. गीत – **संसारी गीत सुनूँगा या नहीं।** ८. नृत्यादौ – **नाच देखूँगा या नहीं।** ९. ब्रम्मचर्य – **आज ब्रह्मचर्य पूर्ण पालूँगा या नहीं।** १०. स्नान – **कितनी बार नहाऊँगा।** ११ भूषण – **गहने कौन कौन पहनूँगा।** १२ वस्त्र – **कपड़े कितने जोड़ काम में लूँगा।** १३. वाहन – **सवारी कौन सी रखी या त्यागी।** १४. शयन – **सोने की शय्या आदि कौनसी रखी।** १५. आसन – **बैठने के आसन कौनसे रखे।** १६. सचित्त – **हरी तरकारी फल कौनसे रखे।** १७. वस्तु संख्या – **कुल खाने-पीने की वस्तुएँ कितनी रखीं।**

संयम के दो भेद हैं – पाँच इन्द्रिय व मन को अपने आधीन रख कर सदा ही उपयोगी कामों में लगाए रखना। वृथा के कार्यों में इनको उलझाना नहीं। उनका ऐसा उपयोग करना कि ये स्वस्थ रहे

और धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ के साधन में सहायक हो, यह इंद्रिय संयम है। छह काय के प्राणियों की दया पालना प्राणि संयम है। त्रस जंतुओं की भलेप्रकार रक्षा करना, स्थावर का भी वृथा घात नहीं करना। मिट्टी, पानी, आग, हवा, वनस्पति का उपयोग प्रयोजन से अधिक नहीं करना। हरएक काम देखभाल के करना, जिससे कीड़े, मकोड़े आदि की वृथा जान न जावे। पशुओं को सताना नहीं। मानवों के चित्त को दुखाना नहीं। जो गृहस्थ इन दो प्रकार के संयम का अभ्यास रखते हैं, वे मानवजन्म को सफल करते हैं और आत्मा की उन्नति भलेप्रकार कर सकते हैं, श्रावक का धर्म उत्तम प्रकार से निर्वाह कर सकते हैं। समय को वृथा न खोकर समय का सदुपयोग करना भी संयम है।

॥ श्लोक ३७२ ॥

संयमं संयमं शुद्धं, शुद्ध तत्व प्रकाशकं।
तीर्थ ज्ञानजलं शुद्धं, सुस्नानं संयमं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (संयमं) अपने आत्मा में तिष्ठना सो (शुद्ध संयमं) शुद्ध संयम या निश्चय संयम है। यह संयम (शुद्ध तत्व प्रकाशकं) शुद्ध आत्मीक तत्व को प्रकाश करनेवाला है। यही (शुद्ध ज्ञानजल तीर्थं) शुद्ध ज्ञानरूपी जल से भरा हुआ तीर्थ है अर्थात् समुद्र है (सुस्नानं) इसमें भले प्रकार स्नान करना (धुवं सयमं) निश्चय व निश्चल संयम है।

विशेषार्थ – इन्द्रिय संयम तथा प्राणि संयम पालना या नित्य प्रति नियम करना या श्रावक का संयम पालना यह सब व्यवहार संयम है। निश्चय या शुद्ध संयम यह है जो मन-वचन-काय को संयम में लाकर व इंद्रियों की सर्व इच्छाओं को निरोध कर अपने आत्मा के स्वरूप में आप ही तन्मय हो जाना। इस तरह संयम का अभ्यास करना, शुद्धात्मा का अनुभव करानेवाला है तथा आत्मा के कर्म रूपी मल को काटनेवाला है। तथा इसी संयम को तीर्थ की उपमा दी है। जिसमें तिरा जाय सो तीर्थ है। तीर्थ नदी या समुद्र को कहते हैं। जगत के लौकिकजन गंगा, यमुना, गोदावरी, नर्मदा, कृष्णा, कावेरी आदि नदियों को तीर्थ कहकर इनमें स्नान करना धर्म मानते हैं। ये तो वास्तव में तीर्थ नहीं हैं, क्योंकि जल का स्नान हिंसा का कारण होने से धर्म नहीं हो सकता। शरीर स्वच्छ करके यदि ध्यान स्वाध्याय करे तो यह जल-स्नान व्यवहार या बाहरी शौच का मात्र कारण हो सकता है। वास्तव में पवित्रपना आत्मा के भावों का शुद्ध होना तथा आत्मा के कर्ममैल का धुलना है, उसके लिये आत्मा में लवलीन होना ही सच्चा तीर्थ-स्नान है। जो निरन्तर आत्मारूपी गंगा में स्नान करते हैं, उनके कर्म के ढेर के ढेर गल जाते हैं। अतएव गृहस्थ श्रावक को उचित है कि व्यवहार संयम के आश्रय से आत्मीक ध्यान का अभ्यास करे। यही शुद्ध संयम परम हितकारी व यही सच्चा मोक्षमार्ग है, यही परम उपादेय है। यही निरंतर भावने योग्य है।

॥तप का अभ्यास॥

॥ श्लोक ३७३ ॥

तपश्च अप्प सद्भावं, शुद्ध तत्त्व सुचिंतनं।
शुद्ध ज्ञानमयं शुद्धं, तथा हि निर्मलं तपः॥

अन्वयार्थ – (तपश्च) **तप भी** (अप्प सद्भावं) **आत्मा के यथार्थ स्वभाव में ठहरना है** (शुद्ध तत्व सुचितनं) **शुद्ध आत्मीक तत्व का भलेप्रकार चिंतवन करना है** (शुद्ध ज्ञानमयं शुद्ध) **शुद्ध ज्ञान-चेतनामय होना ही शुद्ध तप है** (तथा हि निर्मलं तपः) **इसी को ही मल रहित निश्चय तप कहते हैं।**

विशेषार्थ – **गृहस्थी के छह कर्मों में जैसे नित्य देव-पूजा, गुरु-भक्ति, शास्त्र स्वाध्याय, संयम का नियम लेना जरूरी है, वैसे तप करना जरूरी है। मुख्य तप आत्मध्यान है। इसलिये गृहस्थ को प्रातःकाल और सायंकाल एकांत स्थान में तिष्ठकर सामायिक का अभ्यास करना चाहिये। सूर्योदय व सूर्यास्त के करीब ध्यान करने का अभ्यास करे। एकांत स्थान में मन-वचन-काय को शुद्ध करके आसन बिछाकर बैठें। सामायिक की विधि यह है कि पहले पूर्व या उत्तर की तरफ मुख करके कायोत्सर्ग हाथ लटका कर खड़े होकर नौ बार णमोकार मंत्र पढ़ें, फिर भूमि में दंडवत् करके सामायिक स्वीकार करें। यह प्रतिज्ञा करें कि जबतक सामायिक करता हूँ जो कुछ मेरे पास है व जितना क्षेत्र मैंने रोका है या इसके चारों तरफ दो दो गज और बाकी सब क्षेत्र व सर्व वस्तु का मुझको त्याग है, फिर उसी दिशा में खड़े होकर कायोत्सर्ग तीन या नौ बार णमोकार मंत्र पढकर हाथ जोड़कर के तीन आवर्त व एक शिरोनति करें। दोनों हाथ जोड़े हुए बाएँसे दाहनी तरफ तीन बार घुमावें, उसे आवर्त कहते हैं। तथा जोड़े हुए हाथों का मस्तक झुकाकर स्पर्श करें इसे शिरोनति कहते हैं। फिर हाथ जोड़कर खड़े ही खड़े दाहनी तरफ मुड़ जावे। इधर भी उसीतरह तीन या नौ बार णमोकार मंत्र पढ़कर तीन आवर्त तथा शिरोनति करें। ऐसा ही मुड़ते हुए शेष दोनों दिशाओं में करके पद्मासन या अर्द्ध पद्मासन बैठ जावें। बैठकर पहले कोई संस्कृत या भाषा सामायिक पाठ पढ़े, फिर जाप देवें, फिर पिंडस्थ-पदस्थ आदि ध्यान का अभ्यास करें, बारह भावनाओं को विचारें, निज आत्मा का स्वरूप ध्यावें व उसमें एकाग्र हो जावें। अन्त में खड़े होकर नौ बार णमोकार मंत्र पढ़कर कायोत्सर्ग करके दंडवत् करें। इस विधि से यदि गृहस्थ कम से कम दोनों संध्याओं में अभ्यास करें तो धीरे-धीरे ध्यान की सिद्धि होने लगे। वास्तव में निर्मल या शुद्ध तप वही है, जो आत्मा अपनी आत्मा में तपे, शुद्धात्मानुभवरूप हो, वही तप कर्म की अविपाक निर्जरा करनेवाला है, परमानन्द का देनेवाला परमोपकारी है। ज्ञान में रमण करना ही सच्चा तप है।**

॥नित्य कर्मः दान॥

॥ श्लोक ३७४ ॥

दानं पात्र चिन्तस्य, शुद्ध तत्व रतो सदा।
शुद्ध तत्व रतो भावः, पात्र चिंता दानसंयुतं॥

अन्वयार्थ – (पात्र चिन्तस्य दान) **पात्रों की भक्ति का भाव करना सो दान है** (सदा शुद्ध तत्व रतः) **सदा शुद्ध आत्मीक तत्व में रमना भी दान है।** (शुद्ध तत्व रतो भावः) **शुद्ध तत्व में लीन होना शुद्ध या निश्चय दान है अतः।** (पात्र चिन्ता दान संयुतं) **पात्रों की चिंता या पात्रों को दान सहित व्यवहार दान सहित होना योग्य है।**

विशेषार्थ -- गृहस्थ का छठवाँ कर्म दान करना है। शुद्ध दान यह है कि आप ही अपने आत्मा को आत्मीक रस का आहारदान दिया जावे। यह शुद्ध या निश्चय दान अपने आत्मा में लवलीनता रूप है। सच्चा पात्र रत्नत्रय स्वरूप अपनी आत्मा है। उसको स्वात्मानन्दामृत का दान देना परम शुद्ध दान है। व्यवहार दान यह है कि गृहस्थों को नित्य प्रति पात्रों का विचार करके भोजन के पहले दान करके भोजन करे। निरंतर पात्रदान की भावना भावे। उत्तम पात्र मुनि, मध्यम पात्र श्रावक, जघन्य पात्र व्रत रहित श्रद्धावान – इन तीनों में से जिनका संयोग मिल सके उनको पात्रदान करके बड़ा हर्ष माने। नित्य का दान तो भोजन के पहले आहारदान है, सो पात्रों को कराके अपना जन्म सफल माने, अपना घर पवित्र माने। गृहस्थी श्रद्धावान पुरुष या स्त्री को भी भक्तिपूर्वक निमंत्रण देकर दान करना धर्म का अंग है। जिसको भक्ति पूर्वक निमंत्रण दिया जावे उसको भी धर्म की प्रतिष्ठा करते हुए निमन्त्रण स्वीकार कर लेना चाहिये। हम दान क्यों लें – ऐसा अभिमान नहीं रखना चाहिये। परस्पर श्रावक व श्राविका पात्र दान कर सकते हैं, इससे धर्म की वृद्धि होती है, धर्मप्रेम बढ़ता है।

यदि भोजन के पहले किसी पात्र का लाभ न होवे तो दुःखित, बुभुक्षित, दयापात्र, किसी को भी दान देकर भोजन करे, यदि न मिले तो उसके लिये निकाल दे। कम से कम हरएक जीमनेवाले को भोजन से पहले आधी रोटी अलग निकाल कर भोजन करना चाहिये। वह निकली रोटी किसी मानव या पशु को दी जा सकती है। इसके सिवाय गृहस्थी को अपनी कमाई में से चौथाई, छठवाँ, आठवाँ व कम से कम दशवाँ भाग निकालना चाहिये। उसे आहार, औषधि, अभय व विद्यादान में खर्च करना चाहिये। जैन श्रावक श्राविकाओं को औषधि का प्रबन्ध कर देना। गरीब कुटुम्बों को अन्नादि की सहाय करना। अनाथ, विधवा आदि की पालना करनी, शास्त्रों का प्रकाश करना, शास्त्र व पुस्तकें बाँटना, विद्यालय खोलना, छात्रवृत्तियाँ देना आदि जो चार दान के कार्य जैनधर्म के धारी जैन समाज-

के लिये किये जायेंगे, वे सब पात्रदान में आ जायेंगे। करुणाभाव करके जगतमात्र के मानव व पशुओं को अन्नादि देना, उनकी औषधि करना, उनके प्राणों को बचाना, सर्व मानवों में विद्या का प्रचार करना, यह करुणादान है। गृहस्थ को उचित है कि निरंतर पात्रदान व करुणादान दोनों प्रकार का दान भावपूर्वक करें। दान से गृहस्थ की शोभा है। दान करते हुए कभी आकुलित नहीं होना चाहिये। जितना धन दान में निकल जाय वह बो दिया गया है – ऐसा समझना चाहिये। दानी गृहस्थ उदार-चित्त होते हैं। कषाय मंद रहती है जिससे निरन्तर पुण्य बाँधते हैं व असाता के कारणों से बचने का साधन करते हैं।

॥शुद्ध षट्कर्म संक्षेप॥

॥ श्लोक ३७५ ॥

ये षट्कर्म शुद्धं च, जे साधंति सदा बुधैः।
मुक्ति मार्गं ध्रुवं शुद्धं, धर्मध्यानरतो सदा॥

अन्वयार्थ – (सदा बुधैः) सदा ही बुद्धिमानों को उचित है कि (ये षट्कर्म शुद्ध च साधन्ति) इन छह कर्मों को शुद्धता के साथ साधन करें (जे मुक्तिमार्ग ध्रुव शुद्ध) वे निश्चल शुद्ध मोक्षमार्गपर चलनेवाले हैं (धर्मध्यानरतो सदा) वे सदा ही धर्मध्यान में लवलीन हैं।

विशेषार्थ – सम्यग्दर्शन या दृढ श्रद्धा पूर्वक देवपूजादि छह कर्मों को व्यवहार व निश्चय दोनों नयों के द्वारा जानकर सेवन करना चाहिये। श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा करना व्यवहार देवपूजा है। उनके शुद्ध आत्मीक गुणों के समान अपने आत्मीक गुणों का अनुभव करना निश्चय देवपूजा है। श्री निर्ग्रंथ गुरु की भक्ति करना, उनसे धर्मोपदेश लेना व्यवहार गुरुभक्ति है। उनकी संगति से अपने शुद्ध आत्मा का साधन करना निश्चय गुरुभक्ति है। शास्त्रों को पढ़कर ज्ञान प्राप्त करना व्यवहार स्वाध्याय है। तथा अपने आत्मा के शुद्ध स्वभाव का आराधन निश्चय स्वाध्याय है।

पाँच इंद्रिय व मन का दमन व छह काय के प्राणियों की रक्षा के हेतु यम-नियमरूप संयम पालना व्यवहार संयम है। निश्चल शुद्धात्मा में रमण करना निश्चय संयम है। उपवास आदि बारह प्रकार तप का, शक्ति के अनुसार आराधन करना व्यवहार तप है। अपने ही शुद्ध आत्मा में अपने आत्मा को तपाना निश्चय तप है। पात्रों को भक्तिपूर्वक व दुःखियों को दयापूर्वक दान देना व्यवहार दान है। तथा अपने ही आत्मा को अनुभव करके ज्ञानामृत का दान करना निश्चय दान है। ये छह कर्म गृहस्थों को मोक्षमार्ग में परम सहायी हैं। इनको निरंतर पालते हुए धर्मध्यान में तन्मय रहना योग्य है।

॥ श्लोक ३७६ ॥

षट्कर्मं च आराध्यं, अव्रतं श्रावकं ध्रुवं।
संसार सरनि मुक्तस्य, मोक्षगामी न संशयः॥

अन्वयार्थ – (अव्रतं श्रावकं) **व्रत रहित श्रावक को** (ध्रुवं) **सदा** (षट्कर्मं च आराध्यं) **देवपूजादि छह कर्मों का आराधन करना चाहिये** (संसार सरनि) **संसार के मार्ग से** (मुक्तस्य) **छूट करके यह** (मोक्षगामी) **मोक्षमार्ग पर चलनेवाला है** (न संशयः) **इसमें कोई संशय नहीं है।**

विशेषार्थ – **निश्चय तथा व्यवहार नय से ऊपर कहे हुए छह कर्मों को जो कोई नित्य भक्ति व भाव से सेवन करता है, अपने लौकिक कार्यों की बहुतायत होने पर भी, बहुत आरंभ काम धंधा होने पर भी, इनके लिये समय निकालता है ;वही सच्चा धर्मप्रेमी है। जिस काम के लिये अधिक प्रेम होता है, उसके लिये समय अपने आप निकाल लिया जाता है। गृहस्थ श्रावक व्रतों को प्रतिमारूप से पालने का नियम न रखने पर भी बड़ा ही दृढ़ श्रद्धावान होता है। जिस आत्मानन्द का एक बार स्वाद पा चुका है, उसी की बार-बार प्राप्ति की भावना से यह देवपूजादि छह व्यवहार कार्यों के आलम्बन से शुद्धात्मा का मनन करके संसार के मार्ग से हटा हुआ है और मोक्ष के मार्ग पर जा रहा है। इसके जीवन का ध्येय ही आत्मोन्नति करना है।**

॥ श्लोक ३७७ ॥

एतत्तु भावनं कृत्वा, श्रावक सम्यक् दृष्टितं।
अव्रतं शुद्ध दृष्टी च, सार्थं ज्ञान मयं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (एतत्तु भावन कृत्वा) **इन छह कर्मों के करने की भावना करके** (श्रावक सम्यग्दृष्टितं) **यह श्रावक सम्यक्दर्शन का आचरण करता है।** (अव्रत शुद्धदृष्टी च) **भले ही यह व्रत रहित है तथापि विशुद्ध सम्यग्दृष्टि है।** (सार्थं ज्ञान मय ध्रुव) **यह यथार्थ ज्ञानमयी निश्चल परमात्मा का ध्यान करनेवाला है।**

विशेषार्थ – **यहाँ तक ग्रंथकर्ता ने मुख्यता से अविरत सम्यग्दृष्टि का चरित्र-वर्णन किया है। यह धर्म का प्रेमी व संसार से वैरागी होकर देवपूजादि छह कर्मों की उन्नति की भावना रखता है। तथा आठ मूलगुण पालता है, सात व्यसनों से बचता है, रत्नत्रय की भावना भाता है, पाँच परमेष्ठी की दृढ़ भक्ति रखता है। जल छानकर पीता है। रात्रि के भोजन-त्याग का अभ्यास करता है। कुदेवादि की भक्ति भूलकर भी नहीं करता है। इसके आत्मोन्नतिका उत्साह रहता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय का जबतक उपशम न हो जावे, तबतक यह पाँचवें देशविरत गुणस्थान में नहीं जा सकता है। तथापि**

सम्यग्दर्शन होने के बाद आत्मतत्व की भावना भाते हुए जितना जितना अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय कम-कम होता जाता है, उतना उतना इसका चारित्र ऊँचा होता जाता है। चारित्र के प्रभाव से इसका भाव कोमल, विवेकी, धर्मयुक्त, न्यायमार्गी व दया धर्म से गर्भित होता है। यह व्रती न होने पर भी व्रती के समान आचरण करता है। धर्मध्यान का प्रारम्भ चौथे गुणस्थान से हो जाता है। यह सदा संसार-शरीर-भोगों से वैराग्ययुक्त होकर आत्मा के शुद्ध स्वरूप की भावना करता है। जगत में सुख-दुःख की प्राप्ति के नाटक को दृष्टा के समान देखकर न उन्मत्त होता है और न विषाद करता है, भीतर से समता भाव का प्रेमी है।

॥ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप॥

॥ श्लोक ३७८ ॥

श्रावकधर्म उत्पाद्यंते, आचरणं उत्कृष्टं सदा।
प्रतिमा एकादशं प्रोक्तं, पंच अनुव्वय शुद्धयं॥

अन्वयार्थ – (श्रावकधर्म उत्पाद्यंते) **श्रावक का धर्म उत्पन्न करना चाहिये** (सदा उत्कृष्टं आचरणं) **जिससे निरंतर आचरण बढ़ता हुआ उत्कृष्ट मुनि होने तक हो जावे। श्रावक की** (एकादशं प्रतिमा प्रोक्तं) **ग्यारह प्रतिमा या श्रेणी कही हैं** (पंच अनुव्वय शुद्धयं) **जिनके द्वारा पांचों अणुव्रतों की शुद्धता होती है।**

विशेषार्थ – **अविरत सम्यग्दृष्टि में मात्र यथाशक्ति आचरण का अभ्यास है। नियमरूप व्रतों का पालन नहीं है। प्रतिमाएँ पाँचवें देशविरत गुणस्थान में प्रारम्भ होती हैं। यहाँ जो श्रेणी होती है, उसमें प्रतिज्ञाएँ दोष रहित पाली जाती हैं व आगे की श्रेणी का अभ्यास किया जाता है, इनमें नियम आगे आगे बढ़ते जाते हैं, पिछले नियम छूटते नहीं हैं। ये ग्यारह श्रेणियाँ बाहरी आचरण की उन्नति रूप होते होते मुनिपद के चारित्र में बड़ी सुगमता से आरूढ़ कर देती हैं। मुख्य बाहरी आचरण पाँच व्रत हैं – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, व परिग्रह-त्याग। इनको पूर्ण पालनेवाले महाव्रती मुनि होते हैं तथा उनको एकदेश थोड़ा शक्ति के अनुसार पालनेवाले श्रावक होते हैं। पहली प्रतिमा में इनका पालन प्रारम्भ होता है सो ग्यारहवीं प्रतिमा तक महाव्रत के निकट पहुँच जाता है। जैसे किसी कार्य के १०० अंश हों, प्रथम १० अंश करे, फिर बढ़ते-९९ अंश तक पहुँचे, वहाँ तक वह कार्य अपूर्ण किया गया। जब १०० अंश हो जावे तब वह पूर्ण हुआ। जैसे बाहरी चारित्र बढ़ता जाता है, वैसे अन्तरंग शुद्धात्मानुभव की शक्ति भी बढ़ती जाती है। वैराग्य भी बढ़ता जाता है। कषाय का उदय भी मंद होता जाता है। प्रत्याख्यानावरण का उदय जितना जितना मंद होता जाता है, प्रतिमा का दरजा**

बढ़ता जाता है। जब वह बिलकुल बंद हो जाता है मात्र संज्वलन का उदय रहता है, तब श्रावक से साधु हो जाता है।

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है –

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु। स्वगुणा: पूर्वगुणै: सह संतिष्ठंते क्रमविवृद्धा:॥ १३६॥

भावार्थ – श्री गणधर देवों ने श्रावकों के ग्यारह पद कहे हैं उनमें पहले पहले के गुणों के साथ आगे आगे के गुण क्रम से बढ़ते हुए चले जाते हैं। अंतरंग आत्मशुद्धि व बाहरी चारित्र दोनों बढ़ते जाते हैं, इनका पालन गृहस्थ श्रावकों को भले प्रकार कर्तव्य है।

॥ श्लोक ३७९-३८० ॥

दंसण वय सामाइक, पोसह सचित्त चिंतनं।
अनुरागं वं भवयं, आरम्भ परिग्रहस्तथा॥
अनुमति उद्दिष्ट देशं, प्रतिमा एक दशानि च।
व्रतानि पंच उत्पाद्यंते, श्रूयते जिन आगमं॥

अन्वयार्थ – (दंसण वय सामाइक) दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामायिक प्रतिमा (पोसह सचित्त चितनं) प्रोषधोपवास प्रतिमा, सचित्त-विरत प्रतिमा (अनुराग व भवय) अनुराग-भक्ति प्रतिमा, ब्रह्मचर्यव्रत प्रतिमा (आरम्भ परिग्रहस्तथा) आरम्भ त्याग प्रतिमा तथा परिग्रह त्याग प्रतिमा (अनुमति उद्दिष्ट देशं च) अनुमति त्याग प्रतिमा उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा यहाँ तक एक देशव्रत है (प्रतिमा एकदशानि च) ये ग्यारह श्रेणियाँ हैं (पचव्रतानि उत्पाद्यते) यहाँ पाँच व्रतों की शक्ति पैदा की जाती है (जिनागम श्रूयते) व जिन आगम को सुना जाता है।

विशेषार्थ – जो जिनवाणी को साधुओं के मुखारविंद से प्रेमपूर्वक व भक्तिपूर्वक सुनें उसको श्रावक कहते हैं यह शब्दार्थ है। जिन आगम का अभ्यासी व भक्त हो वह श्रावक है, जो शास्त्रज्ञान से अपने भीतर संसार-शरीर-भोगों से वैराग्य बढ़ाता चला जावे। यहाँ जो ग्यारह प्रतिमा के नाम आए हैं, इनमें छठवीं प्रतिमा का नाम अनुराग-भक्ति प्रतिमा है। जबकि रत्नकरंड में इसका नाम रात्रि-भुक्ति-त्याग प्रतिमा है व अमितगति श्रावकाचार में दिवा-मैथुन-त्याग प्रतिमा है। इस भेद का कारण यह समझ में आता है कि सम: श्री भद्राचार्य के मत में रात्रि-भोजन का त्याग छठवीं प्रतिमा के पहले तक यथाशक्ति अभ्यास रूप था, कोई यदि पूर्णतया त्यागे तो उचित ही था, परंतु यदि न त्याग कर सके तो छठवीं श्रेणी में भले प्रकार त्यागना उचित था, स्वयं करे भी नहीं, करावे भी नहीं, अन्य आचार्यों ने यह विचारा होगा कि रात्रि-भोजन का त्याग तो दर्शन व व्रत प्रतिमा में ही हो जाना

चाहिये, छठवीं तक शेष न रहना चाहिये। इसलिये दिवा-मैथुन-त्याग कराया है। तारणतरणजी ने अनुराग भी नाम रखा है कि गृहस्थी का राग हटा देना, आत्मा में विशेष भक्ति रखना, जिससे आगे ब्रह्मचर्य पाल सके। दिवा-मैथुन-त्याग में करीब-करीब अनुराग त्याग आ जाता है। जब राग घटाएगा तब दिवस में मैथुन से पूर्णपने विरक्त रहेगा। शेष सब नाम श्री समन्तभद्राचार्य के अनुकूल हैं। इनमें पाँच अणुव्रतों को अधिक अधिक बढ़ाया जाता है।

॥ श्लोक ३८१-३८२ ॥

अहिंसा अनृतं येन, स्तेयं पंच परिग्रहं।
शुद्ध तत्व हृदये चिंते, सार्द्धं ज्ञानमयं ध्रुवं॥
प्रतिमा उत्पाद्यते येन, दर्शनं शुद्ध दर्शनं।
ॐवंकारं च विंदंते, मल पच्चीस विमुक्तयं॥

अन्वयार्थ - (येन अहिंसा अनृत) **जो अहिंसा, असत्य त्याग** (स्तेय पंच परिग्रहं) **चोरी त्याग, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग इनको अणुव्रत रूप से पाले** (हृदये शुद्ध तत्व चिंते) **हृदय में शुद्ध तत्वों को - यथार्थ सात तत्वों को चिंतवन करे** (सार्द्ध ज्ञानमय ध्रुव) **साथ में ज्ञानमयी निश्चय शुद्धात्मा का अनुभव करे** (येन प्रतिमा उत्पाद्यते) **तब यह प्रतिमा को प्रारम्भ करता है** (दर्शनं शुद्ध दर्शन) **दर्शन प्रतिमा में सम्यग्दर्शन अतिचार रहित शुद्ध होना चाहिये**(ॐ वंकार च विदंते) **ॐ मंत्र का जहाँ अनुभव किया जावे** (मल पच्चीस विमुक्तय) **जहाँ पचीस दोष छोड़े जावें।**

विशेषार्थ - **दर्शन प्रतिमा का स्वरूप यह है कि श्रावक अहिंसादि पाँच अणुव्रतों का पालना प्रारम्भ कर दे। भले ही स्थूलपने यथाशक्ति पाले। इनके अतिचारों का विचार व्रत प्रतिमा में हो सकेगा, यहाँ अभ्यास मात्र अतिचार बचाने की कोशिश करे तथा स्व-पर तत्व को भिन्न-भिन्न विचारे तथा मुख्यता से शुद्धात्मानुभव का विशेष अभ्यास करे। सम्यग्दर्शन को २५ दोष रहित शुद्ध पाले। ॐ के द्वारा पाँच परमेष्ठी का ध्यान करे। परिणाम सदाकाल मोक्षमार्ग में उमंगरूप रखे।**

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है -

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः, पंचगुरुचरणशरणो, दार्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः॥ १३७॥

भावार्थ -- **जो दर्शन प्रतिमा का धारी है वह शुद्ध सम्यग्दर्शन को पाले, संसार-शरीर व भोगों से वैरागी हो, पंच परमेष्ठी के चरणों का भक्त रहे व मोक्षमार्ग पर चलने लगे अर्थात् पाँच अणुव्रतों का स्थूलपने अभ्यास करे।**

अहिंसा अणुव्रत में – संकल्पी हिंसा त्यागे, आरंभ के त्याग का मात्र अभ्यास करे, वृथा न करे।

श्री अमितगति श्रावकाचार में जैसा कहा है –

स्थावरघाती जीवस्त्रससंरक्षी विशुद्धपरिणामः । यो ऽक्षविषयान्निवृत्तः सः संयतासंयतो ज्ञेयः ॥५-६॥
हिंसाद्वेधा प्रोक्ता ऽरंभानारभजत्वतोदक्षैः । गृहवासतो निवृत्तो द्वेधापि त्रायते तां च ॥६-६॥
गृहवाससेवनरतो मंदकषाय प्रवृत्तिरम्भाः । आरम्भजां स हिंसां शक्नोति न रक्षितुं नियतम् ॥७-६॥

भावार्थ – **जो जीव स्थावरों की हिंसा को त्यागने में असमर्थ है तथा त्रस जीवों की भलेप्रकार रक्षा सहित है, इंद्रियों के विषयों से विरक्त है, विशुद्ध परिणामधारी है वह देशव्रत का धारी श्रावक होता है। हिंसा दो प्रकार की है – आरम्भी, दूसरी अनारम्भी या संकल्पी जो गृहवास के त्यागी मुनि हैं वे दोनों प्रकार की हिंसा के त्यागी होते हैं। जो गृहवास में हैं मंद कषाय धारी हैं व आरम्भ में प्रवृत्ति रखते हैं, वे नियम रूप से आरम्भ जनित हिंसा के छोड़ने को असमर्थ होते हैं।**

आरम्भी हिंसा तीन प्रकार से हो सकती है।

१. उद्यमी – **असिकर्म (शस्त्र प्रयोग द्वारा), मसिकर्म (लेखन कर्म), कृषि कर्म, वाणिज्य कर्म, शिल्प कर्म, विद्या कर्म (कला नृत्य गानादि) – इन छह प्रकार के कार्यों के द्वारा न्यायपूर्वक गृहस्थी को आजीविका करनी पड़ती है तब इन उद्यमों में विचार पूर्वक करते हुए भी जो त्रस-स्थावर की हिंसा होती है वह उद्यमी हिंसा है।**

२. गृहारंभी – **जो घर के कामकाज में, भोजनादि आरंभ में, मकान, कूप-बावड़ी, बाग बनाने में हिंसा होती है वह गृहारंभी हिंसा है।**

३. विरोधी – **जो कोई दुष्ट, चोर, बदमाश या शत्रु जान-माल को कष्ट देने को उतारू हो व देश का नाश करे तथा किसी अन्य उपाय से उनका निरोध न हो सके तो उनसे अपनी व अपने आधीनों की रक्षा के हेतु जो शस्त्र का प्रयोग करना, उसमें जो विरोधी मानवों की हिंसा होगी वह विरोधी हिंसा है।**

गृहस्थ श्रावक इन तीन प्रकार की हिंसा को छोड़ नहीं सकता, यथाशक्ति कम करता है परंतु संकल्पी हिंसा त्रस जंतुओं की नहीं करता है। वृथा त्रस घात नहीं करता है। जैसे शिकार खेलकर, पशुबलि करके व माँसाहार के निमित्त वध नहीं करता व कराता है।

जैसा अमितगति महाराज कहते हैं –

देवातिथिमंत्रौषधिपित्रादिनिमित्ततोपि सपन्ना। हिंसा धत्ते नरके किं पुनरिह नान्यथा विहिता॥ २९-६॥

भावार्थ – **देव, गुरु, औषधि, पितर आदि के निमित्त की गई हिंसा भी नरक में डालती है तो और प्रकार से की हुई नरक में क्यों न डाले?**

हिंसादि पाँच पापों से गृहस्थी को छह कोटि त्याग होता है, साधुओं को ९ कोटि होता है। जैसा अमितगति कहते हैं –

त्रिविधा द्विविधेन मता विरतिर्हिंसादितो गृहस्थानां।
त्रिविधा त्रिविधेन मता गृहचारकतो निवृत्तानां॥ १९-६॥

भावार्थ – गृहस्थों के हिंसादि पापों का त्याग तीन मन-वचन-काय के द्वारा करना व कराना नहीं, इसतरह छह प्रकार त्याग है। मुनियों के जो गृह त्यागी हैं – मन, वचन, काय के द्वारा करना, कराना व अनुमोदना – ऐसे ९ प्रकार त्याग है। गृहस्थी के अनुमोदना त्याग १० वीं प्रतिमा में होता है। ९ वीं तक करना व कराना मात्र का त्याग है। जहाँ तक गृहस्थ हैं वहाँ तक अनेक कार्यों में अनुमति देनी पड़ जाती है।

सत्य अणुव्रत में गृहस्थी को आरम्भ कार्य सम्बन्धी वचन, जो हिंसा के कारण हैं उनके सिवाय अन्य प्रकार असत्य वचन का त्याग होता है। जैसा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है –

भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुं। ये तेपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुंचंतु॥ १०१॥

भावार्थ – गृहस्थी भोग व उपभोग के साधन करने के लिये हिंसाकारी वचन बोलना छोड़ नहीं सकता। उसके सिवाय समस्त प्रकार असत्य को नित्य ही छोड़ता है। जैसे प्रमत्त भाव सहित प्राणी वध करना हिंसा है, वैसे प्रमत्त भाव सहित अप्रशस्त या प्राणी पीड़ाकारी वचन बोलना अनृत है। प्रमत्त भाव सहित परवस्तु को बिना दिये लेना चोरी है। प्रमत्त भाव सहित मैथुन करना अब्रह्म है। परिग्रह में मूर्छा रखना परिग्रह है।

असत्य चार प्रकार है – १. वस्तु 'हो', कहना 'नहीं है'। २. वस्तु 'नहीं है', कहना 'है'। ३. वस्तु हो कुछ, कहना कुछ, ४. गर्हित, सावद्य, अप्रिय। कठोर, हास्यमय, बकवादमय, मर्मछेदक वचन कहना गर्हित है, आरंभ सम्बन्धी वचन कहना सावद्य है। अरति, भय, शोक, वैर कलह करानेवाला वचन कहना अप्रिय है। इन सबमें मात्र सावद्य वचनों का त्याग गृहस्थी अणुव्रती के नहीं बन सकता है, परन्तु अन्य सर्व प्रकार के असत्य वचनों का वह त्याग करता है। गिरी, पड़ी, भूली हुई, बिना दी वस्तु को कषाय भाव से उठा लेना चोरी है, इसका त्याग गृहस्थ को जरूरी है। अपनी विवाहिता स्त्री के सिवाय परस्त्री का त्याग ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है –

असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम्। तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम्॥ १०६॥

भावार्थ – गृहस्थ श्रावक कूपादि का जल बिना दिये लेने का त्याग नहीं कर सकते, इसीतरह अन्य फल, लकड़ी, मिट्टी आदि को भी बिना दिये ले सकते हैं, जिनके लिये मनाई नहीं है। अन्य सर्व बिना दी हुई वस्तु को लेने का त्याग करना उचित है। ईमानदारी व सच्चाई का पैसा लेना यही अचौर्य

अणुव्रत है। ब्रह्मचर्य अणुव्रत का स्वरूप वहीं कहा है –

ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवंति न हि मोहात्। निःशेषशेषयोषिन्निषेपणं तैरपि न कार्यम्।।११०।।

भावार्थ – **जो मोह के कारण अपनी विवाहिता स्त्री मात्र का त्याग नहीं कर सकते, उनको उचित है कि शेष सर्व प्रकार की स्त्रियों के सेवन का त्याग करें। वेश्या, परस्त्री, दासी आदि से विरक्त रहें।**

योपि न शक्तस्त्यक्तु धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि।
सोपि तनूकरणीयोः निवृत्तिरूपं यतस्तत्वम्।।१२८।।

भावार्थ – **जो धन-धान्यादि परिग्रह को बिलकुल छोड़ न सके, उसको कम करना योग्य है क्योंकि त्यागरूप ही मोक्षतत्व है।**

१० प्रकार के परिग्रह का जन्म-पर्यंत के लिये नियम करना चाहिये। १. क्षेत्र – **जगह कितनी रखी,** २. वास्तु – **अपनी मालकी के कितने मकान रखे,** ३. हिरण्य – **चाँदी या रुपये कितने रखे,** ४ सुवर्ण – **सोना या जवाहरात क्या क्या रखे,** ५. धन – **गाय-भैंसादि कितने रखे,** ६ धान्य – **अपने खर्च के लिये अनाज एक साथ कितना रखूँगा,** ७. दासी – **दासी कितनी रखूँगा,** ८ दास – **दास कितने रखूँगा,** ९. कुप्य – **कपड़े कितने रखूँगा,** १०. भांड – **बर्तन कितने रखूँगा।**

इनका प्रमाण जन्म-पर्यंत कर ले। कुल जायजाद कितने की रखूँगा यह एक मुश्त (साथ) भी प्रमाण कर ले। जब उतना प्रमाण पूरा हो जावे, तब आप फिर कमाना छोड़ दे। अपनी मिलकियत हटा ले। पुत्रादि अपनी सम्पत्ति के लिये स्वयं उत्तरदायी हैं। इन पाँच अणुव्रतों को सरलपने धारण दर्शन प्रतिमा से ही हो जाना चाहिये। इन पाँच व्रतों को दृढ़ता से पालने के लिये व उनकी वृद्धि के लिये हरएक व्रत की पाँच पाँच भावनाएँ हैं उनको विचारते रहना चाहिये। ये भावनाएँ मुनि के लिये पूर्ण हैं, श्रावक के लिये यथाशक्ति हैं।

१. अहिंसा अणुव्रत की पाँच भावनाएँ –

वाग्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पंच।।५।।

अर्थात् – **१. वचन गुप्ति – वचन की सम्हाल कि हिंसाकारी वचन न बोलूँ, २. मनोगुप्ति – मन में हिंसक भाव न लाऊँ, ३. ईर्या समिति – आगे जमीन देखकर चलूँ, ४. आदान निक्षेपण समिति – कोई वस्तु उठाऊँ व धरूँ तो देखकर, ५. आलोकित पान भोजन – खानपान देखकर बनाऊँ व करूँ।**

२. सत्य अणुव्रत की पाँच भावनाएँ –

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पच।।५-७।।

अर्थात – १. क्रोध का त्याग करूँ, वश रखूँ, २. लोभ का त्याग करूँ, ३. भीरुता या भय का त्याग करूँ, ४. हास्य का त्याग करूँ क्योंकि क्रोध लोभ भय हास्य के कारण असत्य बोला जाता है, ५. अनुवीची भाषण – शास्त्र के अनुसार वचन बोलूँ।

३. अचौर्यव्रत की पाँच भावनाएँ –

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्म्माविसंवादाः पंच॥ ६-७॥

अर्थात् – १. शून्य स्थान में ठहरना, २. छोड़े हुए स्थान में ठहरना, ३. दूसरा मना करे वहाँ न ठहरना व आप दूसरे को आने से मना न करना, ४. भोजन की शुद्धि रखना, अंतराय का कारण होने पर भोजन न करना, ५. साधर्मी भाई व बहनों से झगड़ा धर्म वस्तु के निमित्त न करना कि यह मेरी या तेरी नहीं है –

४. ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाएँ –

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरागनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसम्कारत्यागाः पंच॥ ७-७॥

अर्थात् – १. स्त्रियों में राग बढ़ानेवाली कथाओं को पढ़ना, २. उनके मनोहर अंगों को देखना, ३. पूर्व भोगों की स्मृति, ४. कामोद्दीपक पदार्थ खाना, ५. अपने शरीर का श्रृंगार करना – इन पाँच का त्याग करना।

५. परिगह-त्याग व्रत की पाँच भावनाएँ –

मनोज्ञामनोज्ञेंद्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच॥ ८-७॥

अर्थात – पाँचों इन्द्रियों के भोग्य पदार्थ मनोज्ञ या अमनोज्ञ हों, उनमें राग-द्वेष नहीं करना। व्रती को और भी भावनाएँ भानी चाहिये।

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनं॥ ९-७॥

भावार्थ – ये हिंसादि पाँच पाप इस लोक व परलोक में नाशकारी व निन्दाकारी हैं।

दुःखमेव वा – ॥१०-७॥

ये पाँच पाप दुःखरूप ही हैं, दुःखों के कारण हैं।

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्वगुणाधिकक्लिश्यमाना ऽ विनयेषु॥ ११-७॥

अर्थात् – १. सर्व प्राणियों पर मैत्रीभाव रहे, २. गुणवानों पर प्रमोदभाव रहे, ३. दुःखियों पर दयाभाव रहे, ४. विनय रहितों पर माध्यस्थभाव रहे।

जगत्कायस्वभावे संवेगवैराग्यार्थं वा॥ १२-७॥

अर्थात् – जगत का दुःखमय स्वभाव व काय का अशुचि स्वभाव धर्मानुराग व वैराग्य के लिये विचारते रहना चाहिये।

– इन भावनाओं को ध्यान में लेते हुए पहली प्रतिमावाले को पाँच अणुव्रतों का अभ्यास करना चाहिये। देवपूजादि षट्कर्म पालते रहना चाहिये। पाँच परमेष्ठी में दृढ़ भक्ति रखना चाहिये तथा सम्यक्त्व को २५ दोष रहित पालना चाहिये।

॥ श्लोक ३८३ ॥

मूढत्रयं न उत्पाद्यंते, लोकमूढं न दिष्टते।
जेतानि मूढ़दृष्टी च, तेतानि दृष्टि न दीयते॥

अन्वयार्थ – (मूढत्रयं उत्पाद्यंते) **दर्शन प्रतिमाधारी के तीन मूढता नहीं उत्पन्न होती हैं** (लोकमूढं न दिष्टते) **पहली लोकमूढ़ता नहीं दिखलाई पड़ती है** (जेतानि मूढदृष्टी च) **जितनी जगत में मूढ़ताई की श्रद्धाएँ हैं** (तेतानि दृष्टि न दीयते) **उन पर यह श्रावक अपनी दृष्टि नहीं देता है, उनपर कभी श्रद्धा नहीं लाता है।**

विशेषार्थ – **यद्यपि** २५ मल दोष **का कथन पहले कह चुके हैं, तथापि प्रकरणवश उपयोगी जानकर यहाँ पुनः कहते हैं।** तीन मूढ़ता में **यह श्रावक नहीं फँसता है। प्रथम** लोकमूढ़ता में **जितने प्रकार की लोक में मूढ़ताएँ फैली हुई हैं, उन सबको मूढ़ता समझकर कभी उन पर श्रद्धा नहीं लाता है। जैसे नदी में स्नान से व समुद्र में स्नान पुण्य होगा, पर्वत से गिरने से व नदी में डूबने से पुण्य होगा, अग्नि में सती होने से पतिव्रत धर्म पलेगा, थैली पूजने से रुपया आयगा, तलवार पूजने से विजय होगी, कलम दावात पूजने से खूब व्यापार चलेगा, दूकान की देहरी पूजने से बहुत व्यापारी आएँगे, दिन में भूखा रहने से व रात्रि को खाने से पुण्य होगा, दिवाली में जूआ खेलने से बहुत धन मिलेगा, होली में भाँग पीना धर्म है, होली जलाना व होली में बकना धर्म है इत्यादि हजारों लोकमूढ़तायें है, उन सबको विचारवान दार्शनिक नहीं मानता है।**

॥ श्लोक ३८४ ॥

लोकमूढं देवमूढं च, अनृत अचेत दिष्टते।
त्यक्तये शुद्धदृष्टी च, शुद्ध सम्यक् रतो सदा॥

अन्वयार्थ – (लोकमूढं च देवमूढं) **लोकमूढ़ता के समान देवमूढ़ता को भी** (अनृत अचेत दिष्टते) **मिथ्यारूप व अज्ञानरूप ज्ञानी सम्यग्दृष्टि देखता है। इसलिये** (शुद्धदृष्टि च त्यक्तये) **शुद्ध सम्यग्दृष्टि इन मूढताओंको छोड देता है** (शुद्ध सम्यक् रतः सदा) **वह सदा ही शुद्ध आत्मानुभव रूप सम्यग्दर्शन में तन्मय रहता है।**

विशेषार्थ – जैसे लोकमूढता मिथ्यात्व व अज्ञान है वैसे देवमूढता भी मिथ्यात्व व अज्ञान है। रागी-द्वेषी देव तो स्वयं संसारासक्त हैं, उनकी पूजा करना वीतरागता का कारण नहीं हो सकता है। अतएव किसी लौकिक प्रयोजनवश इन देव जाति के जीवों की भक्ति करना बिलकुल मूर्खता है अथवा जिनमें देवपना बिलकुल नहीं है – ऐसे गाय, मोर, घोड़ा आदि को देव मानकर पूजना या किसी पत्थर के खंड को रागी-द्वेषी देव की स्थापना में पूजना सो सब देवमूढता है। सम्यग्दृष्टि सम्यग्ज्ञानी होता है। वह जानता है कि परिणामों को उज्वल करना चाहिये। उसका उपाय मात्र सर्वज्ञ-वीतराग देव का आराधन है। तथा किसी विषय की चाह करके किसी देव को पूजना मिथ्यात्व का अंग है, निःकांक्षित अंग से विरुद्ध है। इसतरह वह ज्ञानी कभी भी मिथ्याश्रद्धान व मिथ्याज्ञान के वश हो मूढता से देखा-देखी किसी कुदेव को या किसी अदेव को पूज्यनीय देव नहीं मान बैठता है। वह तो शुद्ध सम्यक्त्व भाव में प्रेमी बन रहा है। हरसमय आत्मानुभव का खोजी है, आत्मानन्द का विलासी है, वह संसार शरीर भोगों से उदास है, वह क्षणभंगुर भोगों की कामना से कभी भी देव मूढता नहीं करता।

॥ श्लोक ३८५ ॥

पाखण्डी मूढ उक्तं च, अशाश्वतं असत्य उच्यते।
अधर्म च प्रोक्तं येन, कुलिंगी पाखण्ड त्यक्तयं॥

अन्वयार्थ – (पाखंडी मूढ उक्तं च) पाखंडी या गुरु मूढता को कहते हैं। जो (अशाश्वतं असत्य उच्यते) क्षणिक पदार्थों को क्षणिक न कह कर चिरस्थायी कहे। (येन च अधर्म प्रोक्तं) अधर्म का भाषण करे सो (कुलिंगी पाखण्ड) कुभेषधारी साधु हैं उनकी भक्ति (त्यक्तयं) छोड़नी योग्य है।

विशेषार्थ – जो निर्ग्रंथ आरम्भ-परिग्रह रहित वीतरागी तत्वज्ञानी साधु हैं, वे मोक्षमार्गी हैं, उनकी भक्ति मोक्षमार्ग में प्रेरक है, परन्तु जो साधु भेष धारकर आरम्भ-परिग्रह में लीन हैं, हिंसा होते हुए अहिंसा मानते हैं, संसार के प्रपंच से बाहर नहीं हैं – ऐसे साधुओं की कोई बाहरी महिमा या उनका चमत्कार देखकर या जानकर उन पर मोहित हो जाना व उनकी भक्ति करने लग जाना सो पाखंड या गुरु मूढता है। सम्यक्त्वी कभी भी शास्त्र के मार्ग से विरुद्ध चलनेवालों की भक्ति नहीं करता है। बहुधा कोई लौकिक आशा से शिथिल श्रद्धावान कुभेषी साधुओं की सेवा करने लग जाता है जो उसके सम्यक्त्व भाव को मलीन करनेवाली है। सम्यक्त्वी भलेप्रकार गुरु मूढता के दोष से बचता है।

॥ श्लोक ३८६-८७ ॥

अज्ञान षट्कश्चैव, त्यक्तते ये विचक्षणाः।
कुदेव कुदेव धारी च, कुलिंग कुलिंगी मान्यते॥
कुशास्त्रं विकहा रागं च, त्यक्तते शुद्ध दृष्टितं।
कुशास्त्रं राग वर्द्धंते, अभव्यं नरयं पतं॥

अन्वयार्थ – (अज्ञान षट्कश्चैव) **अज्ञान स्वरूप छह अनायतन सेवा भी है।** (ये विचक्षणाः त्यक्तते) **जो चतुर हैं वे इनकी संगति त्याग देते हैं** (कुदेव कुदेव धारी च) **एक तो कुदेव, दूसरे कुदेवों के भक्त,** (कुलिंगी कुलिंग मान्यते) **कुभेषी साधु और उनके मानने वाले** (कुशास्त्र विकहा रागं च) **खोटे शास्त्र जिनमें विकथाएँ हों व राग-वर्द्धक हों व उनके पढ़ने व माननेवाले** (शुद्ध दृष्टितं त्यक्तते) **– इन छह की संगति सम्यग्दृष्टि छोड़ देता है** (कुशास्त्रं राग वर्द्धंते) **खोटे शास्त्र राग बढ़ानेवाले होते हैं** (अभव्यं नरयं पतं) **अभव्य जीव का पतन नरक में हो जाता है।**

विशेषार्थ – **सम्यग्दर्शन पालने के लिये जैसे तीन मूढ़ता से बचना चाहिये वैसे छह अनायतन से भी बचना चाहिये। संगति का बड़ा भारी असर बुद्धि पर पड़ता है, इसलिये सम्यग्दर्शन की रक्षा के हेतु यह सम्हाल बताई है कि वह ऐसी संगति न रखे व इसतरह संगति कोई न करे जिससे व्यवहार व निश्चय सम्यक्त्व में कोई प्रकार की बाधा हो जावे। धर्म की वृद्धि के स्थानों को आयतन कहते हैं। जो इनके प्रतिकूल हों वे अनायतन हैं। सर्वज्ञ-वीतराग देव की संगति जब धर्मायतन है, तब रागी-द्वेषी देवों की संगति अधर्मायतन है। क्योंकि उनकी संगति करने से उनकी भक्ति की अनुमोदना होना व बुद्धि में विपरीत भाव हो जाना संभव है।**

इसीतरह रागी-द्वेषी देवों के जो भक्त हैं वे भी धर्मायतन नहीं हैं। जो वीतराग-सर्वज्ञ भगवान के भक्त हैं, उनकी संगति से सच्चा श्रद्धान दृढ़ होगा, परंतु जो उनसे विपरीत देव के श्रद्धानी हों उनकी संगति शिथिलता करनेवाली हैं, इससे ऐसी संगति न करे जिससे अपने धार्मिक ज्ञान व आचरण में व श्रद्धा में कमी आ जावे। बहुधा रागी-द्वेषी देवों के आराधकों की संगति से उनके मोक्षमार्ग-विपरीत सेवा-भक्ति की अनुमोदना करनी पड़ती है तथा दबाव में आकर इच्छा न रहते हुए भी उनके समान भक्ति करने में बाध्य होना पड़ता है। वे यदि अनछना पानी पीते हैं तो कभी कभी अपने को भी वे लाचार कर सकते हैं। वे यदि अभक्ष्य भक्षण करते हैं तो संगति करनेवाले को भी ऐसे अभक्ष्य खाने में झुक जाना पड़ता है। इसीतरह कुलिंगी रागी-द्वेषी साधुओं की भी सेवा न

करनी चाहिये। वे यदि मोक्षमार्ग से विपरीत जा रहे हैं तो उनकी संगति का ऐसा असर मन में पड़ेगा कि यह जीव भी सुमार्ग से कुमार्ग पर आ जायगा व उनके यथार्थ न प्रवर्तावनेवाले उपदेशों को सुनकर बुद्धि में बुरा असर पड़ने से यह व्यवहार सम्यग्दर्शन से गिर जायगा, इसीतरह जो कुगुरु ओं के भक्त नर-नारी हैं उनकी भी संगति मना है क्योंकि वे अपनी बातों से इस श्रद्धालु का मन कुगुरु की भक्ति में प्रेरित करके इसीतरह स्त्री कथा, आहार कथा – देश कथा, व राजा कथा, ऐसी चार विकथा को पुष्ट करनेवाले, संसार से राग बढ़ानेवाले शास्त्रों को पढ़ने-सुनने की संगति भी न करनी चाहिये, न इनके पढ़ने व सुननेवालों की संगति करनी चाहिये।

परिणामों में शुद्ध सम्यग्दर्शन बना रहे इसलिये ऊपर लिखित छह अनायतनों से बचना चाहिये और जो सुदेव, सुगुरु, सुशास्त्र हैं व उनके सेवक हैं उनकी संगति रखनी चाहिये, जिससे ज्ञान व श्रद्धान व चारित्र की दृढ़ता हो। यहाँ इतना ही प्रयोजन है कि धार्मिक भावों में शिथिलता आवे ऐसा व्यवहार नहीं रखना चाहिये। किंतु लौकिक लेन-देन व्यवहार की यहाँ कोई मनाई नहीं है। प्रेम व एकता रखने की कोई मनाई नहीं है। जैसे एक ही घर में चार भाई हों। दो तो शुद्ध मर्यादा का भोजन खाते हैं व दो को इसका कोई परहेज न हो तो वे जो शुद्ध भोजन करनेवाले हैं वे अपने दूसरे दोनों भाइयों के साथ रहते हुए भी ऐसी सम्हाल जरूर रखते हैं कि उनके शुद्ध खान-पान के नियम में बाधा नहीं आवे। इसीतरह सम्यग्दृष्टि जगत के मानवों के साथ भाईपने का व्यवहार रखता है। तो भी अपने श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र को मलिन नहीं होने देता है। अपने रत्नत्रय धर्म की भलेप्रकार रक्षा रहे, इसतरह वर्तन करता है। यही प्रयोजन छह अनायतन से बचने का है। जो अभव्य जीव ऐसा सम्हाल नहीं रखता है, वह धीरे-धीरे शिथिल श्रद्धानी होता हुआ कुमार्गी बन जाता है और मिथ्यात्व की कीच में फँसकर नरक चला जाता है।

॥ श्लोक ३८८ ॥

अज्ञानी मिथ्यासंयुतं, त्यक्तते शुद्ध दृष्टितं।
शुद्धात्मा चेतना रूपं, सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (अज्ञानी) अज्ञानी जीव या शिथिलज्ञानी जीव (मिथ्यासंयुतं) मिथ्यात्व पोषक संगति के कारण (शुद्ध दृष्टितं त्यक्तते) शुद्ध सम्यग्दर्शन को छोड़ बैठता है तथा (सार्थं ज्ञानमयं ध्रुवं शुद्धात्मा चेतना रूपं) यथार्थ ज्ञानमयी निश्चल शुद्धात्मा के चैतन्यमयी स्वभाव को भी छोड़ बैठता है।

विशेषार्थ – ज्ञानी जीव कुसंगति के प्रभाव से जरा भी शिथिल हुआ कि श्रद्धान को मलिन कर सकता है। तब जहाँ व्यवहार सम्यक्त्व बिगड़ा तब निश्चय सम्यक्त्व भी बिगड़ने का अवसर आ जाता

है। रागभाव की अधिकता होने से शुद्धात्मानुभव की रुचि घटती जाती है और यह उपशम या क्षयोपशम सम्यक्त्वी जीव अनन्तानुबन्धी तथा मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यात्वी हो जाता है। परिणामों की विचित्र गति हैं। इससे बोधिदुर्लभ भावना भानी चाहिये कि जिस रत्नत्रय का लाभ बड़े ही भाग्य से व बड़ी ही कठिनता से मिला है। उस रत्नत्रय का सम्बन्ध बना रहे, वह हाथ से न निकल जावे – ऐसी भावना भाते हुए सदा ही सम्यक्त्व भाव बर्द्धक संगति में रहना चाहिये। जैसे मदिरा व माँस त्यागी को व द्यूतरमण त्यागी को मदिरा व माँस की व द्यूत की व इनके सेवनवालों की ऐसी संगति बचाना उचित है जिससे वह उन व्यसनों में न उलझ जावे। सम्यक्त्व का मिलना बड़ा ही दुर्लभ है इससे भले प्रकार रक्षित रखना चाहिये।

॥ श्लोक ३८९ ॥

मदाष्टं संशय अष्टं च, त्यक्तते भव्य आत्मना।
शुद्ध पदं ध्रुवं सार्थं, दर्शनं मल मुक्तयं॥

अन्वयार्थ – (मदाष्टं) **आठ मद** (सशय अष्ट च) **आठ शंकादि दोष इन्हें** (भव्य आत्मना त्यक्तते) **भव्य आत्मा छोड़ दे क्योंकि** (शुद्ध पद ध्रुवं सार्थ दर्शन मल मुक्तय) **शुद्ध पद मय निश्चल यथार्थ सम्यग्दर्शन मल रहित ही शोभता है।**

विशेषार्थ – तीन मूढ़ता छह अनायतन के त्याग के साथ आठ प्रकार का मद न करे। जाति, कुल, धन, अधिकार, रूप, बल, विद्या व तप – इन बातों की उत्तमता व अधिकता होने पर भी सम्यक्त्वी इनका सम्बन्ध क्षणिक व कर्मजनित जानकर इनके संयोग में अभिमान नहीं करता हैं। इन आठों मदों से बचकर मार्दव भाव व नम्रता से व्यवहार करता है तथा आठ शंकादि दोष से बचता है। जिनमत में शंका नहीं रखता है व कोई भय मन में लाकर जिनधर्म की सेवा नहीं छोड़ता है। कोई प्रकार संसार के विषयभोगों की इच्छा करके धर्म सेवन नहीं करता है। किसी को दुःखी, रोगी, दरिद्री देखकर ग्लानि भाव नहीं लाता है। मूढ़ताई से कोई धर्मक्रिया नहीं करता है, अपने आत्मीक धर्म को बढ़ाता है, दूसरों के अवगुणों को प्रगट करने की आदत नहीं रखता है, धर्म में अपने को व दूसरों को दृढ़ रखता है। साधर्मी भाइयों से गौ-वत्स सम प्रेम रखता है तथा धर्म की प्रभावना करता है। हर प्रकार से उन्नति का साधन मिलाता है।

इसतरह जो आठ अंग न पालें तो आठ दोष हो जाते हैं। सम्यक्त्वी २५ दोषों को भलेप्रकार टालकर सम्यक्त्व को निर्मल रखता है, यही दार्शनिक श्रावक पहली प्रतिमा के धारी का कर्तव्य है।

॥ श्लोक ३९० ॥

जे के वि मल संपूर्णं, कुज्ञानं त्रिरतो सदा।
एतानि संग त्यक्तति, न किंचिदवि चिंतए॥

अन्वयार्थ – (जे के वि मल संपूर्णं) **जो कोई भी इन पच्चीस दोषों से पूर्ण हैं** (सदा कुज्ञानं त्रिरतः) **व हमेशा कुमति आदि तीन कुज्ञान में रत हैं** (एतानि सग त्यक्तंति) **इनकी भी संगति नहीं करनी चाहिये** (किंचिदपि न चिंतए) **कुछ भी चिंतवन न करना चाहिये।**

विशेषार्थ – **जैसे मल-लिप्त कपड़ा शोभता नहीं वैसे मल-लिप्त सम्यक्त शोभता नहीं। मल लिप्त वस्त्रवाले से भेंट करना, उससे मिलना-जुलना, मिलनेवाले को भी मल-लिप्त करनेवाला है। उसी तरह हरएक सम्यक्त्व के रक्षक को उचित है कि वह इन ऊपर कथित २५ दोषों को स्वयं अपने में न लगावे, निर्मल सम्यक्त्व रखे तथा जो कोई अन्य स्त्री या पुरुष मल सहित हैं, शंकाशील हैं, विषयों की आकांक्षावान हैं, मानी हैं, मूढताई से कुधर्म को सेते हैं, परम निदक हैं, धर्मप्रेम रहित हैं, कुसंगति के धारी हैं तथा मिथ्यात्व की बुद्धि रखते हैं व मिथ्या शास्त्रों के व रागवर्द्धक पुस्तकों के पाठी हैं व राग-द्वेष लिप्त अधर्म का उपदेश देनेवाले हैं व कु-अवधिज्ञान धारी हैं उन सबकी भी संगति नहीं करनी चाहिये, न उनकी संगति का विचार करना चाहिये।**

मन, वचन, काय से मिथ्यात्व में व तीव्र राग में पटकनेवाली संगति से बचकर रहना चाहिये। अनन्तानुबन्धी व मिथ्यात्व कर्म के बंध कराने वाले निमित्त कारणों को बचाना चाहिये क्योंकि बहुत से कर्मों का बंध बाहरी निमित्त के आधीन होता है। जिन निमित्तों से सम्यक्त्व भाव दृढ़ होता जावे उन्हीं का प्रसंग सदा मन, वचन, काय से करना चाहिये। सम्यक्त्व में बाधाकारक प्रसंगों में माध्यस्थ भाव रखना चाहिये। सम्यग्दर्शन की निर्मलता का उपाय दर्शनप्रतिमाधारी को भलेप्रकार करना चाहिये।

॥ श्लोक ३९१ ॥

मलमुक्तं दर्शनं शुद्धं, आराध्यते बुधजनैः।
सम्यग्दर्शन शुद्धं च, ज्ञानं चारित्र संजुतं॥

अन्वयार्थ – (मलमुक्तं दर्शनं शुद्धं) **मल रहित शुद्ध सम्यग्दर्शन होता है उसी को** (बुधजनैः आराध्यते) **बुद्धिमानों को आराधना करना योग्य है** (सम्यग्दर्शन शुद्धं च) **जहाँ सम्यग्दर्शन शुद्ध है, वहाँ** (ज्ञानं चारित्र संजुतं) **ज्ञान और चारित्र भी शुद्ध है।**

विशेषार्थ – ज्ञान कितना भी हो यदि सम्यक्त्व शुद्ध नहीं है तो ज्ञान भी शुद्ध नहीं है। चारित्र कितना भी पाले, यदि सम्यग्दर्शन शुद्ध नहीं है तो चारित्र शुद्ध नहीं है। सम्यग्दर्शन के होते हुए ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान और चारित्र सम्यग्चारित्र नाम पाता है। अन्यथा ग्यारह अंग नौ पूर्व तक का ज्ञान तथा श्रावक का अनेक प्रकार का चारित्र तथा मुनियों का आचरण व तप सर्व ही मिथ्याज्ञान व मिथ्या चारित्र है। जहाँ अंतरंग में मिथ्यात्व की वासना होगी – विषयाकांक्षा होगी, ख्याति-लाभ-पूजादि की चाह होगी वहीं सर्व ज्ञान व चारित्र मिथ्या कहलायेगा। इसलिये यह बहुत आवश्यक है कि सम्यग्दर्शन की शुद्धता को दृढ़ता से रखे। उसके दृढ़ रहने का उपाय यह है जैसा कि शांतिपाठ में कहा है –

शास्त्राभ्यासो जिनपदनुतिः संगतिः सर्वदार्य्यै, सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनं।
सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्त्वे। संपद्यंतां मम भव-भवे यावदेते ऽपवर्गः।।

भावार्थ – धर्मप्रेमी सम्यग्दर्शन के रक्षक को निरंतर यह भावना भानी चाहिये व ऐसा ही वर्ताव रखना चाहिये कि जब तक मोक्ष न हो मैं हर एक जन्म में इन सात बातों का अभ्यास करता रहूँ – (१) नित्य प्रति सम्यक्त्व वर्द्धक शास्त्रों को पढ़ता रहूँ। (२) जिनेंद्र भगवान के चरणों की भक्ति करता रहूँ। (३) सदा ही साधु पुरुषों की संगति करता रहूँ। (४) उत्तम चारित्रवान स्त्री-पुरुषों की कथा करता रहूँ। (५) पर के दोषों को कहने में मौन रहूँ। (६) सर्व से प्यारे हितकारी वचन बोलूँ। (७) तथा आत्मा के स्वरूप की भावना करता रहूँ। – इन सात बातों का अभ्यास सम्यक्त्व की दृढ़ता करनेवाला है। यदि इनके विरुद्ध वर्ता जायगा तो सम्यक्त्व के छूटने का अवसर आ सकता है या सम्यक्त्व मलीन रहेगा। मेरा श्रद्धान पत्थर के खंभ के समान अटल बना रहे – ऐसी सम्हाल श्रावक को रखनी योग्य है।

।। श्लोक ३९२ ।।

दर्शनं यस्य हृदये शुद्धं, दोषं तस्य न पश्यते।
विनाशं सकलं जानंते, स्वप्नं तस्य न दिष्टते।।

अन्वयार्थ – (यस्य हृदये दर्शनं शुद्धं) जिसके हृदय में सम्यग्दर्शन शुद्ध है (तस्य दोषं न पश्यते) उसके भीतर कोई दोष नहीं दिखलाई पड़ता है (सकलं विनाशं जानंते) वह सर्व जगत की धन-वस्त्रादि परिग्रह को विनाशीक जानता है (स्वप्नं तस्य न दिष्टते) उसको स्वप्न में भी नाशवंत वस्तु का राग पैदा नहीं होता है।

विशेषार्थ – जहाँ शुद्धता होगी वहाँ मैल नहीं व जहाँ मैल होगा वहाँ शुद्धता नहीं। दोनों का विरोध है। इसलिये जो कोई सम्यग्दर्शन को रखते हुए २५ मलों में से एक भी मल को नहीं लगाता

है, सदा ही मूढ़ता से बचता है, किसी तरह का अभिमान नहीं करता है, परम दृढ़ता से आत्मा की भावना भाता है, धर्मात्माओं से प्रेम रखता है, धर्म की वृद्धि का यथाशक्ति उपाय करता है, उसके भीतर कोई दोष प्रवेश नहीं कर सकते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव, जितनी संसार की पर-संयोग-जनित अवस्थाएँ हैं उनको नाशवंत जानता रहता है इसीलिये उनमें राग-द्वेष-मोह नहीं करता है। वह जानता है कि शरीर, धन, यौवन, बल, पुस्तकों के आश्रय विद्या, कुटुम्ब, सेवकों का समागम तथा यह जीवन सर्व जल के बुद्बुद्वत् चंचल हैं। देखते देखते नष्ट हो जाते हैं, इसकारण इन क्षणिक पदार्थों से सदा ही उदासीन रहता है। सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती भी हो तो भी बाहर से छह खण्ड का राज्य करता दिखलाई पड़ता है, अंतरंग में मात्र अपने आत्मीक राज्य को ही सम्हालता है। मेरा परमाणु मात्र भी नहीं है – ऐसी दृढ़ भावना सम्यक्त्वी के अंतरंग में होती है। जैसे कोई न्यायवान गृहस्थ दूसरे की वस्तुओं को कभी भी अपनी नहीं मानता है, उसीतरह सम्यक्त्वी शरीरादि परवस्तुओं को कभी भी अपनी नहीं मानता है। कभी स्वप्न में भी उसका विचार नहीं होता है। जिस बात का संकल्प-विकल्प स्वप्न रहित अवस्था में हुआ करता है, प्रायः स्वप्न में ये ही सब बातें आया करती हैं। अथवा यहाँ यह बताया है कि उसको स्वप्न नहीं दीख पड़ते हैं। इसका भाव यह भी झलकता है कि वह ऐसा निश्चिंत होकर शयन करता है कि उसे अच्छी निद्रा आ जाती है। अच्छी निद्रा में स्वप्न नहीं दिखता है। जब निद्रा अच्छी नहीं होती है तब ही स्वप्न आते हैं। सम्यक्त्वी शुद्धात्मा की भावना करता हुआ ही शयन करता है व जब नींद खुल जाती है तब उसी शुद्धात्मा की भावना में लगता है। ज्ञान-वैराग्य व शुद्ध स्वरूप की भावना के प्रताप से उसका शयनादि बड़ा ही शांत व क्षोभ रहित होता है इससे यदि अभ्यास के बल से सम्यक्त्वी को स्वप्न न आवे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

॥ श्लोक ३९३ ॥

सम्यग्दर्शनं शुद्धं, मिथ्या ज्ञानं विलीयते।
शुद्ध समयं उत्पादंते, रजनी उदय भास्करं॥

अन्वयार्थ – (शुद्धं सम्यग्दर्शनं) जहाँ मल रहित शुद्ध सम्यग्दर्शन है (मिथ्याज्ञानं विलीयते) वहाँ मिथ्याज्ञान का विलय हो जाता है (शुद्ध समयं उत्पादंते) शुद्ध आत्मीक भाव पैदा हो जाता है अथवा शुद्ध चारित्र झलक जाता है (रजनी उदय भास्करं) जैसे सूर्य के उदय होने से रात्रि का अंधकार विला (नष्ट हो) जाता है और प्रभात का सुहावना प्रकाश फैल जाता है।

विशेषार्थ – शुद्ध सम्यग्दर्शन के प्रकाश के सामने मिथ्याज्ञान उसी तरह नहीं ठहर सकता है जैसे सूर्य के उदय होने से रात्रि नहीं ठहर सकती है। सम्यक्त्वी के भीतर कुमति, कुश्रुति, कुअवधि

कभी नहीं होते हैं। नारकी के भीतर भी सम्यग्दर्शन का प्रकाश होते हुए सर्व तीन ज्ञान सुन्दर मोक्षप्राप्ति के अभिप्राय को लिये हुए होने से सुज्ञान रूप ही रहते हैं। सम्यग्दर्शन के होते हुए स्वरूपाचरण चारित्र का उदय हो जाता है या शुद्धात्मा का अनुभव प्रगट हो जाता है। आत्मज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश में फिर संसार का मोहतम कैसे रह सकता है? वह ज्ञानी शुद्ध-नय की दृष्टि का विशेष अभ्यास रखता है। उसको हरएक संसारी आत्मा के भीतर भी पुद्गल से भिन्न आत्मा का दर्शन होता है। जैसे ज्ञानी किसान धान्य के ढेर में चावलों को अलग व भूसी को अलग देखता है व तेली तिलों के ढेर में तेल को भूसी से भिन्न देखता है व जौंहरी खान से निकले हुए माणिक-पन्ने के पाषाण में रत्न को अलग व मैल को अलग देखता है व चतुर धोबी वस्त्र में वस्त्र को अलग व मैल को अलग देखता है, वैसे ही सम्यग्दर्शनधारी महात्मा आत्मा से अनात्मा को भिन्न देखता है, सदा ही शुद्धात्मा की भावना में दृढ़ रहता है। सूर्यसम तत्वज्ञान में चमकता रहता है।

॥ श्लोक ३९४ ॥

दर्शनं तत्व सर्धानं, तत्व नित्य प्रकाशकं।
ज्ञानं तत्व न वेदंते, दर्शनं तत्व सार्थयं॥

अन्वयार्थ -- (तत्व सर्धान दर्शनं) **तत्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है** (नित्य तत्त्व प्रकाशक) **अविनाशी शुद्ध तत्व का प्रकाश करनेवाला है।** (ज्ञानं तत्व न वेदंते) **सम्यग्दर्शन रहित ज्ञान तत्व को अनुभव नहीं कर सकता है** (दर्शन तत्व सार्थयं) **परन्तु सम्यग्दर्शन आत्मतत्व के अनुभव के साथ ही होता है।**

विशेषार्थ -- **यद्यपि व्यवहारनय से जीव आदि सात तत्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, परन्तु निश्चयनय से शुद्ध आत्मा का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। जहाँ तक शुद्ध आत्म तत्व का प्रकाश नहीं होता है, वहाँ तक ज्ञान मात्र तो है परन्तु सम्यक्त्व नहीं है। सम्यक्त के बिना ज्ञान का कुछ भी मूल्य नहीं है। बिना सम्यक्त्व के ज्ञान जान तो सकता है परन्तु स्वानुभव नहीं कर सकता है। जब तक स्वात्मा में थिरता न हो तबतक स्वाद नहीं आ सकता है। अनंतानुबंधी कषाय के उपशम होने से स्वरूपाचरण चारित्र का प्रकाश होता है, तब ही मिथ्यात्व के उपशम से शुद्ध स्वरूप की सच्ची रुचि होती है। यदि सम्यक्त्व की बाधक कर्मप्रकृतियों का उदय हो तो कदापि शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता है। इसीलिये सम्यग्दर्शन के लिये प्रयत्न कर्तव्य है। नित्य तत्व का विचार परम उपयोगी है। आत्मा रागादि से, आठ कर्मादि से, शरीरादि नोकर्मों से भिन्न है -- ऐसा बार-बार विचार करना चाहिये। सम्यक्त्व की ज्योति में ही आत्मीक तत्व का अनुभव होता है।**

॥ श्लोक ३९५ ॥

सम्यग्दर्शनं शुद्धं, ॐ वं कारं च विंदते।
धर्मध्यानं उत्पाद्यंते, ह्रियं कारेण दिष्टते॥

अन्वयार्थ – (शुद्धं सम्यग्दर्शनं) **जब शुद्ध आत्मा का अनुभव करानेवाला निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है तब ही** (ॐ वं कारं च विंदते) **ॐ का अनुभव होता है** (धर्मध्यान उत्पाद्यंते) **धर्मध्यान पैदा होता है** (ह्रियं कारेण दिष्टते) **व ह्रीं मंत्र की सहायता से आत्मा का दर्शन होता है।**

विशेषार्थ – **ॐ मंत्र में अरहंतादि पाँच परमेष्ठी गर्भित हैं उनका स्थूलपने विचार तो मिथ्यादृष्टि के भी हो सकता है परन्तु उनका व्यवहारनय से फिर निश्चयनय से विचार व उनके भीतर से शुद्ध आत्मा को पहचानकर उसके अनुभव की शक्ति सम्यग्दर्शन के द्वारा ही हो सकती है। यद्यपि सम्यक्त्व के बिना भी मुनिगण ध्यान लगाते, तपस्या करते, उपवास करते, ईर्य्या समिती पालते, जीवों की रक्षा का ध्यान रखते, कठोर वचन नहीं कहते, व शास्त्रानुसार सर्व आचरण पालते हैं तथा गृहस्थगण देवपूजा, स्वाध्याय, सामायिक, संयम, गुरुभक्ति व दानादि धर्म के कार्य करते हैं ;तथापि इन सर्व मुनि व श्रावक की क्रिया को धर्मध्यान सम्यग्दर्शन के बिना नहीं कहा जा सकता क्योंकि सम्यक्त्व के उदय बिना साधक मुनि व गृहस्थ के भीतर किसी कषाय का अभिप्राय रहता है। या तो मानवश या मायावश या इंद्रिय सुख के लोभवश या संसार-भ्रमण के भय से धर्म का साधन है – शुद्धात्मा के अनुभव के लिये नहीं है। इसलिये उन सब साधन को धर्मध्यान नहीं कह सकते। जहाँ शुद्धात्मानुभव के अभिप्राय से धर्म साधन होता है, वहीं धर्मध्यान कहा जाता है। ह्रीं में चौबीस तीर्थंकर गर्भित हैं। इस मंत्र द्वारा भी तीर्थंकरों के गुणों का विचार होता है। परन्तु शुद्धात्मा का अनुभव तब ही होगा जब सम्यक्त्व होगा। इस हेतु संसारतारक परमोपकारक सम्यग्दर्शन को बड़ी चेष्टा के साथ शुद्ध रखना चाहिये, उसमें कोई दोष नहीं लगाना चाहिये।**

॥ श्लोक ३९६ ॥

ॐ वं कारं ह्रींकारं च, श्रींकारं प्रतिपूर्णयं।
ध्यानं च शुद्ध ध्यानं च, अनुव्रतं सार्धं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (ॐ वं कारं ह्रींकारं च) **ॐ मंत्र, ह्रीं मंत्र तथा** (श्रींकारं प्रतिपूर्णयं) **श्रीं मंत्र – इन तीन मंत्र की पूर्णता सहित अर्थात् ॐ ह्रीं श्रीं द्वारा** (ध्यानं च) **ध्यान करना चाहिये तथा फिर** (शुद्ध ध्यानं च) **शुद्ध आत्मा के ध्यान में लवलीन होना चाहिये** (अनुव्रतं सार्द्धं ध्रुवं) – **ऐसा ध्यान पाँच अणुव्रतों के साथ निश्चलता से करना योग्य है।**

विशेषार्थ – यहाँ यह बताया है कि दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक का कर्तव्य है कि २५ दोष रहित सम्यक्त्व को पालते हुए व स्थूलपने पाँच अणुव्रतों का साधन करते हुए ॐ ह्रीं श्रीं मंत्र के द्वारा पाँच परमेष्ठी का व चौबीस तीर्थंकरों का स्वरूप विचार करें। दर्शन प्रतिमाधारी को उनके स्वरूप को, फिर अपने आत्मा के स्वरूप से मिलान करना चाहिए। शुद्ध नय से अपने को सिद्धरूप शुद्ध अनुभव करना चाहिये। केवल मात्र व्यवहार चारित्र में ही लीन होकर व मात्र ज्ञान से संतोष मानकर न बैठ रहना चाहिये। किंतु प्रातःकाल और संध्याकाल अवश्य एकांत में बैठकर सामायिक का अभ्यास करना चाहिये। शांत चित्त हो अनेक मंत्रों के द्वारा पदस्थ ध्यान का व पृथ्वी आदि पाँच धारणाओं के द्वारा पिंडस्थ ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। शुद्धात्मा का अनुभव ही यथार्थ में धर्म का सच्चा अनुभव है। इसके अभ्यास के लिये अन्य सब चारित्र किया जाता है। ऐसा निश्चय रख कर आत्मध्यान का अभ्यास करना चाहिये।

॥ श्लोक ३९७ ॥

आज्ञा वेदकश्चैवं, पदवी दुतिय आचार्यं।
ज्ञानं मति श्रुतं चिंते, धर्मध्यानरतो सदा॥

अन्वयार्थ – (आज्ञा वेदकश्चैवं) आज्ञा सक्यक्त्व तथा वेदक सम्यक्त्व को इसतरह पालते हुए (पदवी दुतिय आचार्यं) दूसरे पद का आचरण करना योग्य है (ज्ञानं मति श्रुतं चिंते) मतिज्ञान श्रुतज्ञान का चिंतवन करना योग्य है (धर्मध्यानरतो सदा) ऐसा दर्शन प्रतिमा धारी सदा धर्मध्यान में रत रहता है।

विशेषार्थ – पहली पदवी अविरत सम्यक्त्व की है उसके आगे दूसरी पदवी दर्शन प्रतिमा की है। यद्यपि दर्शन प्रतिमावाले के सामान्य से व्यवहार सम्यक्त्व तथा निश्चय सम्यक्त्व तीनों ही प्रकार संभव हैं – उपशम, वेदक व क्षायिक। परन्तु पंचमकाल की अपेक्षा विचारते हुए ग्रन्थकर्ता का ऐसा आशय सूचित होता है कि क्षायिक सम्यक्त्व तो अब संभव नहीं है तथा उपशम सम्यक्त्व की स्थिति ही अन्तर्मुहूर्त है, अधिक काल ठहर नहीं सकता है – तब व्यवहार सम्यक्त तथा वेदक सम्यक्त ये ही दोनों दीर्घकाल तक इससमय इस भरतक्षेत्र में ठहर सकते हैं। जिनेंद्र भगवान की आज्ञा प्रमाण देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान तथा जीवादि सात तत्वों का श्रद्धान रखना व्यवहार सम्यक्त्व है। इसी को यहाँ आज्ञा सम्यक्त्व कहा है। क्षयोपशम सम्यक्त्व को ही वेदक सम्यक्त्व कहते हैं वहाँ अनंतानुबन्धी चार कषाय तथा मिथ्यात्व व सम्यक् मिथ्यात्व का तो उदय नहीं रहता है, किंतु सम्यक् प्रकृति का उदय होता है जिसके उदय से सम्यक्त्व में कुछ मलीनता रहती है, फिर भी सम्यक्त्व बना रहता है। इस सम्यक्त्व का काल बहुत है। दर्शन प्रतिमावाले को इसप्रकार के आज्ञा सम्यक्त्व व वेदक सम्यक्त्व की

दृढ़ता रखते हुए दर्शन प्रतिमा का आचरण भलेप्रकार पालना चाहिये। मतिज्ञान व श्रुतज्ञान के द्वारा शास्त्र का विचार, मनन, चिंतवन करते रहना चाहिये तथा विवेक से जगत में व्यवहार करना चाहिये, कभी दुर्बुद्धि चित्त में न लाना चाहिये, न मिथ्यात्व पोषक शास्त्रों की संगति करनी चाहिये। किंतु तत्व विचार के सहकारी शास्त्रों का मनन करके धर्मध्यान की शक्ति बढ़ानी चाहिये तथा धर्मध्यान में सदा लीन रहना चाहिये।

॥ श्लोक ३९८ ॥

अनेयव्रत कर्तव्यं, तप संजमं च धारणं।
दर्शनं शुद्ध न जानंते, वृथा सकल विभ्रमः॥

अन्वयार्थ – (अनेयव्रत कर्तव्यं) जो अनेक व्रतों का कर्तव्य करे (तप संजमं च धारणं) तप तथा संयम को भी धारण करे परन्तु (शुद्ध दर्शन न जानंते) शुद्ध निश्चय सम्यग्दर्शन को न जाने, न अनुभवे (वृथा) तो उसका व्रतादि वृथा है (सकल विभ्रमः) सर्व ही विपरीत है, मोक्षमार्ग नहीं है।

विशेषार्थ – यहाँ यह जोर देकर कहा है कि शुद्धात्मा का अनुभव करानेवाला यदि शुद्ध सम्यक्त्व न हो तो सर्व ही चारित्र मिथ्या व संसारवर्द्धक है, मोक्ष का मार्ग नहीं है। कोई श्रावक अपने को व्यवहार में श्रद्धावान समझकर कुदेव, कुधर्म का सेवन न कर जैन तत्वों को मनन करे, जिनेन्द्र की भक्ति करे, व्यवहार में पाँच अणुव्रतों को पाले, ऊपवास, अनोदर, रसत्याग आदि नाना प्रकार तप करे तथा इंद्रियसंयम व छह काय की दयारूप प्राणिसंयम पाले, व्यवहार चारित्र में कोई कमी न करे तो भी यदि उसके निश्चय सम्यक्त्व नहीं है, जिसके शुद्धात्मा के अनुभव का लक्ष्य नहीं है तो उसका यह सब आचरण मोक्षमार्ग नहीं हो सकता है। वह मोक्षमार्ग की अपेक्षा मिथ्या है या विपरीत है या कुचारित्र है। जहाँ सर्व ही व्यवहार चारित्र के पालन का हेतु अंतरंग आत्मानुभवरूप चारित्र की प्राप्ति है, वहाँ यह सर्व मोक्षमार्ग में निमित्त या सहकारी होने से व्यवहारनय से मोक्षमार्ग कहे जा सकते हैं। सम्यक्त्वी को यह दृढ़ निश्चय है कि शुद्धात्मा का अनुभव ही वास्तव में सम्यक्त्व है, ज्ञान है व चारित्र है। व्यवहार धर्म तो वास्तव में निमित्त कारण है। जहाँ शुद्धात्मा के लाभ की दृष्टि से व्रतादि पालन हो वही सफल है व मोक्षमार्ग में सहकारी है। जहाँ यह दृष्टि न हो वहाँ मात्र पुण्य बंध होता है, उस पुण्य से सुगति व सुसामग्री की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु संसार का भ्रमण दूर नहीं हो सकता है।

॥ श्लोक ३९९ ॥

अनेकपाठ पठनं च, अनेक क्रिया संजुतं।
दर्शनं शुद्ध न जानंते, वृथा दान अनेकधा॥

अन्वयार्थ – (अनेकपाठ पठनं च) **अनेक पाठों का पढ़ना** (अनेक क्रिया संजुतं) **अनेक प्रकार व्यवहार चारित्र का पालना** (अनेकधा दान) **अनेक प्रकार का दान देना** (वृथा) **निरर्थक है, यदि** (शुद्ध दर्शनं न जानंते) **शुद्ध सम्यग्दर्शन को अनुभव नहीं किया जाय।**

विशेषार्थ – **यहाँ पर भी यही दृढ़ किया है कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी की दृष्टि सदा ही शुद्धात्मा पर रहनी चाहिये। केवल परिणामों की शुद्धि के लिये, कषायों को घटाने के लिये वह शास्त्रों को पढ़ता है, पूजा-व्रत-उपवासादि क्रिया साधता है तथा चार प्रकार का दान देता है, तब ये सब बाहरी साधन उसके लिये शुद्धात्मा पर लक्ष्य रखने के लिये निमित्त हो जाते हैं। ज्ञानी सम्यक्त्वी किसी विषयवासना के अभिप्राय से या किसी मान बढ़ाई प्रसिद्धि के लिये या किसी मायाचार से कोई धर्म की क्रिया नहीं करता है। यदि शुद्धात्मा की तरफ लक्ष्य न रख कर मात्र गृहस्थ का बाहरी चारित्र पाला जावे, दानादि दिया जावे, अनेक शास्त्रों का पठन-पाठन किया जावे तो वह पुण्यबंध कारक तो होगा, परन्तु मोक्षमार्ग न होगा। मोक्षमार्ग तो निश्चयनय से एक अभेद शुद्धात्मा का अनुभव स्वरूप है। यही परमानन्द का कारण है। जब तक सम्यक्त्वी का उपयोग आत्मा के ध्यान में लगता है, तब तक वह आत्मा का ध्यान ही करता रहता है। जब उपयोग में निर्बलता हो जाती है, तब विषय-कषायों से बचने के लिये तथा पुनः फिर शुद्धात्मध्यान में पहुँचने के लिये मंद-कषाय के कारणरूप कार्यों में प्रवृत्ति करता है। अर्थात् पूजा, दान, व्रतादि करता है। तथापि उनको बंध का कारण जानता है, निश्चय मोक्षमार्ग नहीं मानता है।**

॥ श्लोक ४०० ॥

दर्शनं यस्य हृदि दृष्टं, सुयं ज्ञान उत्पाद्यते।
कमठी दृष्टि यथा अंडं, स्वयं वर्धंति यं बुधैः॥

अन्वयार्थ – (यस्य हृदि दर्शनं दृष्टं) **जिसके मन में सम्यग्दर्शन विद्यमान है** (सुयं ज्ञान उत्पाद्यते) **वहाँ ही श्रुतज्ञान बढ़ता जाता है** (यथा कमठी दृष्टि अंडं स्वयं वर्धंति यं बुधैः) **जैसे कछवी की दृष्टि से ही अंडा स्वयं बढ़ता है, इसीतरह बुद्धिमानों का शास्त्रज्ञान बढ़ता है।**

विशेषार्थ – **सम्यग्दर्शन के होते ही जितना शास्त्र ज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञान नाम पाता है। तथा थोड़े से ही अभ्यास से व शुद्धात्मा के अनुभव के प्रताप से उसका शास्त्र ज्ञान दिन पर दिन बढ़ता जाता है, यहँ पर दृष्टांत दिया है जैसे – कछुवी का अंडा होता है वह अंडा कछुवी की दृष्टि से ही बढ़ता जाता है। इसका कारण यह है कि कछुवी का निरन्तर ध्यान अंडे की तरफ रहता है। उसके इस संकल्प के निमित्त से ही अंडा बढ़ता जाता है। उसीतरह सम्यक्त्वी का ध्यान निरंतर तत्व के अभ्यास में रहता है। उसकी गाढ़ रुचि आत्मीक चर्चा पर रहती है इससे उसका शास्त्र ज्ञान दिन पर दिन**

उन्नति करता जाता है। वह अति रुचिपूर्वक शास्त्रों को देखता भी है, पढ़ता भी है। उसका मन एकाग्र हो शास्त्ररूपी वन में क्रीड़ा करता है, इससे उसको शास्त्र बोध बहुत जल्दी होता है। यहाँ यह भी अभिप्राय है कि सम्यक्त्वी का श्रुतज्ञान आत्मध्यान के प्रताप से इसलिये बढ़ जाता है कि उसके श्रुतज्ञान संबंधी ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम हो जाता है। सम्यक्त्वी साधु बिना अभ्यास के ही द्वादशांग का पाठी हो जाता है। यह सब सम्यक्त्व की महिमा है। जब सम्यक्त्व के प्रभाव से केवलज्ञान हो जाता है तब श्रुतज्ञान के लाभ में कोई विशेष कठिनाई नहीं है। शास्त्र का सेवन जैसे सम्यक्त्व होने में सहाई है वैसे सम्यक्त्व होने के पीछे सम्यक्त्व की दृढ़ता व ज्ञान की वृद्धि के लिये भी सहकारी है। सम्यक्त्व की भले प्रकार रक्षा कर्तव्य है।

॥ श्लोक ४०१ ॥

दर्शनं यस्य हृदि शुद्धं, सुयं ज्ञानं च संभवं।
मच्छिका अंड जथा रेते, स्वयं वर्धंति यं बुधैः॥

अन्वयार्थ – (यस्य हृदि शुद्धं दर्शन) **जिसके मन में शुद्ध सम्यग्दर्शन है** (सुयं ज्ञानं च संभयं) **वहाँ ही श्रुतज्ञानकी वृद्धि होती है** (जथा रेते मच्छिका अण्ड) **जैसे रेती में मछली का अंडा** (स्वयं वर्धंति यं बुधैः) **स्वयं बढ़ता जाता है वैसे ज्ञानायों का ज्ञानि बढ़ता जाता है।**

विशेषार्थ – **यहाँ दूसरा दृष्टांत दिया है। जैसे रेती में बड़ी रक्षा के साथ रखा हुआ मछली का अण्डा स्वयं बढ़ता जाता है, क्योंकि उस मछली को निरन्तर अण्डे का ध्यान है, उसी तरह जहाँ शुद्ध व दोष रहित सम्यग्दर्शन होता है, शास्त्र ज्ञान बढ़ता है। यों तो हर एक आत्मा सहज शुद्ध पूर्ण ज्ञानमय है, उस पर ज्ञानावरण कर्म का आवरण होने से यह बहुत कम जानता है। जितना जितना आवरण हटता जाता है, उतना-उतना ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। आवरण के होने का मूल कारण कषाय है। कषाय भावों से ही ज्ञानावरणादि कर्म का बंध अंतर्मुहूर्त या उससे अधिक स्थितिरूप पड़ता है। तब निःकषाय या वीतराग भाव से अवश्य ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है, अर्थात् ज्ञान बढ़ता है। निश्चय शुद्ध सम्यग्दर्शन का अनुभव परिणामों में अपूर्व वीतराग भाव पैदा कर देता है। बस यही भावों की शुद्धता ज्ञानावरण का क्षयोपशम करानेवाली है, श्रुतज्ञान को बढ़ानेवाली है। अतएव शुद्ध सम्यग्दर्शन सदा बना रहे – ऐसा यत्न करना योग्य है।**

॥ श्लोक ४०२ ॥

दर्शनहीन तपं कृत्वा व्रत संजम पढं क्रिया।
चपलता हिंडि संसारे, जल सरणि तालु किट्टका॥

अन्वयार्थ – (दर्शनहीन तपं कृत्वा व्रत संजम पढं क्रिया) **जो सम्यग्दर्शन के बिना तप करते हैं, व्रत-संयम पालते हैं, पठन-पाठन करते हैं** (चपलता) **तथा चपलता या कषायभाव का विकार अंतरंग में रखते हैं, वे** (संसारे हिंडि) **संसार में भ्रमण करते हैं, जैसे** (जल सरणि तालु किट्टका) **ताड़ वृक्ष का मैल नाला आदि में बहता है।**

विशेषार्थ – **जैसे ताड़ वृक्ष का मैल नदी, नाले आदि जल के मार्ग में दूर तक बह कर भ्रमण करता है, वैसे ही जो कोई मुनि या श्रावक का चारित्र ठीक पालें परन्तु अंतरंग में चपल हो माया, मिथ्या, निदान किसी शल्य सहित हो, सम्यग्दर्शन से शून्य हो, आत्मानुभव के अभ्यास से रहित हो, आत्मानन्द की रुचि रहित हो, अंतरंग में इंद्रिय सुख की वासना सहित हो तो उसका वह बाहरी चारित्र मोक्ष का कारण नहीं सकता। वह मंद कषाय से पुण्य कर्म बाँध लेगा, देवगति में चला जायगा, वहाँ विषयों में लीन हो जायगा। वहाँ से चयकर दूसरे स्वर्ग तक का जीव एकेंद्रिय व बारहवें स्वर्ग तक का जीव पशु व आगे के स्वर्ग का जीव अतिशय रहित मनुष्य जन्म धारण कर सम्यक्त्व रहित अन्य अन्य गतियों में जा जाकर कष्ट ही भोगेगा, जन्म-जरा-मरण से रहित नहीं हो सकता है।**

॥ श्लोक ४०३ ॥

दर्शनं सुस्थिरं यस्य, ज्ञानं चारित्र सुस्थिरं।
संसारे त्यक्त मोहं यं, मुक्ति सुस्थिर सदा भवेत्॥

अन्वयार्थ – (यस्य दर्शनं सुस्थिरं) **जिसका सम्यग्दर्शन भलेप्रकार स्थिर है** (ज्ञानं चारित्र सुस्थिरं) **जिसका ज्ञान व चारित्र भलेप्रकार स्थिर है** (संसारे त्यक्त मोहं यं) **जिसने संसार से मोह त्याग दिया है** (मुक्ति सुस्थिर सदा भवेत्) **उसको भलेप्रकार स्थिर मोक्ष अवश्य होगी।**

विशेषार्थ – **मोक्ष का साधन निश्चय रत्नत्रयमयी आत्मा का अनुभव है। जिसके शुद्धात्मा की रुचि दृढ़ है, शुद्धात्मा का ज्ञान दृढ़ है, शुद्धात्मा में थिरता दृढ है वह अवश्य मोक्षमार्ग का अनुयायी है, वही श्रावक है। दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक को व्यवहार व निश्चय सम्यग्दर्शन दृढ़तापूर्वक शुद्धतापूर्वक पालना चाहिये। तथा शास्त्रज्ञान द्वारा आत्मज्ञान की शक्ति बढ़ानी चाहिये तथा अपने योग्य चारित्र के द्वारा मन-वचन-काय की थिरता को पाकर आत्मध्यान की योग्यता बढ़ानी चाहिये। इसतरह जो भेदविज्ञानी उत्तम प्रकार से रत्नत्रय की आराधना करता है उसके बंध थोड़ा होता है व निर्जरा अधिक होती है। सम्यग्दृष्टि उदासीन भावों से कर्म के उदय को भोग लेता है, सुख में उन्मत्त नहीं होता है, दुःख में घबराता नहीं है इससे कर्म फल देकर झड़ तो जाते हैं, परन्तु बंध बहुत ही अल्प होता है। इसके सिवाय आत्मानुभव के प्रताप से बहुत अधिक अविपाक निर्जरा होती है। बस, वह धीरे धीरे मुक्ति के मार्ग में चलता रहता है।**

॥ श्लोक ४०४ ॥

एतत्तु दर्शनं दिष्टं, ज्ञानाचरण शुद्धए।
उत्कृष्टं व्रतं शुद्धं, मोक्षगामी न संशयः॥

अन्वयार्थ – (एतत्तु दर्शनं दिष्टं) **इसतरह सम्यग्दर्शन का महात्म्य विचारना चाहिये** (ज्ञानाचरण शुद्धए) **जिससे ज्ञान और चारित्र की शुद्धता हो जावे** (उत्कृष्ट व्रतं शुद्ध) **जिससे व्रत उत्कृष्ट व शुद्ध होता चला जावे** (मोक्षगामी न संशयः) **ऐसा श्रावक मोक्षगामी है, इसमें संशय नहीं करना चाहिये।**

विशेषार्थ – **जिसने दर्शन प्रतिमा के नियम पालने प्रारंभ किये हों, उसको मुख्यता से सम्यग्दर्शन की भले प्रकार दृढ़ता रखनी योग्य है।** २५ दोष रहित सम्यक्त्व पालना योग्य है। अंतरंग शुद्धात्मा का चिंतवन व ध्यान करना योग्य है। इसी के प्रताप से उसका शास्त्र ज्ञान व चारित्र बढ़ता चला जायगा व शुद्ध होता जायगा। जितनी जितनी कषाय मंद होगी उतना उतना ही ज्ञान व चारित्र उज्ज्वल होगा। दर्शन प्रतिमा वाले के अनन्तानुबन्धी व अप्रत्याख्यान कषायों का उदय तो नहीं है। प्रत्याख्यान-संज्वलन कषायों का उदय है सो इसके आत्माभ्यास से मंद मंद होता जाता है। इसी प्रयोग से इसका चरित्र बढ़ते बढ़ते ग्यारह प्रतिमा तक पहुँच जायगा फिर यह साधु के आचरण को, उत्कृष्ट महाव्रतों को पालने लग जायगा। अवश्य कभी न कभी मोक्ष प्राप्त कर लेगा। सम्यक्त्व सहित के मोक्षलाभ में कोई शंका नहीं।

॥ श्लोक ४०५ ॥

दर्शनं सार्द्धं यस्य, व्रतं तस्य यदुच्यते।
व्रत तप नियम संयुक्तं, सार्द्धं स्वात्मदर्शनं॥

अन्वयार्थ – (यस्य दर्शनं सार्द्धं) **जिसके साथ सम्यग्दर्शन है** (तस्य यत् व्रतं उच्यते) **उसी के व्रतों का होना है या व्रत प्रतिमा कही जाती है। वह दूसरी प्रतिमा धारी व्रती** (व्रत तप नियम संयुक्तं) **अपनी श्रेणी के योग्य व्रत तप व नियम सहित होता है तथा** (स्वात्मदर्शनं सार्द्धं) **अपने आत्मा के अनुभव को करनेवाला होता है।**

विशेषार्थ – **इस श्लोक में बहुत संक्षेप में व्रत प्रतिमा का स्वरूप कहा है। उसका स्वरूप रत्नकरंड श्रावकाचार में इसी भांति है –**

निरतिक्रमणमणुव्रतपंचकमपि शीलसप्तकं चापि।
धारयते निःशल्यो यो ऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः ॥१३८॥

भावार्थ – जो पाँच अणुव्रतों को अतिचार रहित पाले तथा सात शीलों को भी पाले तथा जो शल्य रहित होकर उनको पालता है, वह श्रावक व्रत धारियों में व्रत प्रतिमावाला है।

पाँच अणुव्रत का स्वरूप पहले कह चुके हैं। सात शील जो अणुव्रत के उपकारी हैं उनका स्वरूप यह है –

तीन गुणव्रत – जो पाँच अणुव्रतों के मूल्य को बढ़ा देते हैं, इसलिये गुणव्रत कहलाते हैं।

(१) दिग्विरति – लौकिक कार्य के हेतु दशों दिशाओं में जन्म पर्यंत के लिये इतनी इतनी दूर से आगे न जाऊँगा, न चीज मँगाऊँगा, न भेजूँगा – ऐसी प्रतिज्ञा इच्छा को मिटानेवाली है।

(२) देशविरति – जो प्रतिज्ञा गमनागमन की दिग्विरति में जन्म भर के लिये की थी, उसमें से प्रयोजनभर मर्यादा रोज सबेरे २४ घण्टे के लिये रख ले, शेष स्थान का राग छोड़ दे, सो देशविरति है।

(३) अनर्थदण्ड विरति – रखे हुए क्षेत्र के भीतर भी बिना प्रयोजन मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को न करें, मतलब पाप न करें, ये पाँच तरह के होते हैं –

१. पापोपदेश – दूसरों को पाप करने का उपदेश देना।

२. अपध्यान – दूसरों का अहित मन में भावना (लाना)।

३ हिंसादान – हिंसाकारी बर्छी, ढाल, तलवार आदि किसी को माँगने पर देना।

४. दुःश्रुति – धर्ममार्ग से हटानेवाली स्त्री, भोजन आदि की व श्रृंगाररस की कथा करनी व ऐसी पुस्तकों का पढ़ना व सुनना आदि।

५ प्रमादचर्या – प्रमाद से व्यवहार करना, वृथा पानी फेंकना, वृक्ष काटना आदि। बिना विचारे

चार शिक्षाव्रत हैं। ये मुनिपद की शिक्षा देते हैं।

(१) सामायिक – शांतभाव चित्त में लाकर सबेरे व शाम ४८ मिनिट या थोड़ी देर भी आत्मध्यान व समताभाव करना – राग-द्वेष छोडकर सम रहना।

(२) प्रोषधोपवास – प्रोषध जो अष्टमी चौदस पर्वका दिन, उस रोज उपवास करना या एकभुक्त करना, धर्मध्यान में मन लगाना।

(३) भोगोपभोग परिमाण – सत्रह नियम विचार लेना, जिनका कथन पहले कर चुके हैं।

(४) अतिथि संविभाग – अपने लिये बने हुए भोजनमें से अतिथि जो मुनि उनको या आर्यिका, ब्रह्मचारी, क्षुल्लक आदि को आहारदान देकर फिर भोजन करना।

सात शील और पाँच अणुव्रत बारह व्रत कहलाते हैं, इनको जो पाले वह व्रती श्रावक है। पाँच अणुव्रत के पच्चीस अतिचार पूर्णपने बचावे, सात शीलों के अतिचारों के बचाने का यथाशक्ति अभ्यास करे। तथा मेरा मरण समाधिभाव से शांति के साथ हो – ऐसी भावना सो सल्लेखना है। इस

१२ व्रत व समाधिमरण हरएक के पाँच पाँच अतिचार हैं।

(१) – अहिंसा अणुव्रत के ५ अतिचार –

१. कषायवश होकर मानव वा पशु को बंधन में डाल देना सो बंध है।

२. कषाय के वश हो, लाठी-चाबुक से मारना सो वध है।

३. कषाय के वश हो किसी के अंग व उपांग छेद डालना सो छेद है।

४. पशु मानव आदि पर मर्यादा रहित अधिक बोझा लाद देना सो भी अतिभारारोपण है।

५. अपने आधीन मानव व पशुओं के अन्नपान को रोक देना अन्नपान-निरोध है।

(२) – सत्य अणुव्रत के ५ अतिचार –

१ – दूसरों को मिथ्या उपदेश देना सो मिथ्योपदेश है।

२ – स्त्री-पुरुष के एकांत की बात कहना सो रहोभ्याख्यान है।

३ – झूठा लेख कागज हिसाबादि लिखाना सो कूटलेख क्रिया है।

४ – असत्य बोलकर किसी की अमानत लेना, उसके द्वारा भूल से कम माँगने पर इतना ही तेरी अमानत है, – ऐसा कहकर देना, हिसाब ठीक ठीक न बताना सो न्यासापहार है।

५ – किसी की सलाह को अंग के आकार से जानकर कह देना साकार मंत्रभेद है।

(३) – अचौर्य अणुव्रत के ५ अतिचार –

१ – चोरी का उपाय बताना – चोर प्रयोग है।

२ – चोरी का लाया हुआ माल लेना – तदाहृतादान है।

३ – विरुद्ध-राज्य होने पर, राज्य प्रबन्ध ठीक न होने पर मर्यादा उल्लंघन करके लेन-देन करना, नीति से न चलना विरुद्ध-राज्यातिक्रम है।

४ – कम तौल नाप करके देना, अधिक तौल नाप करके लेना हीनाधिक मानोन्मान है।

५ – झूठा सिक्का चलाना व खरी में खोटी वस्तु मिलाकर खरी कहकर विक्रय करना, प्रतिरूपक व्यवहार है।

(४) – ब्रह्मचर्य अणुव्रत के ५ अतिचार –

१ – अपने सम्बन्धी सन्तानों के सिवाय अन्य की सन्तानों के लिये सगाई संबंध ढूँढना परविवाहकरण है।

२ – विवाहिता व्यभिचारिणी स्त्री से हास्यादि व लेन-देन व्यवहार रखना इत्वरिका परिग्रहीता गमन है।

३ – बिना विवाही वेश्यादि व्यभिचारिणी स्त्रियों से हास्यादि से लेन-देन रखना सो इत्वरिका अपरिग्रहीता गमन है।

४ – काम सेवन के अंगों को छोडकर अन्य अंगों से काम सेवन करना अनंग क्रीड़ा है।

५ – काम सेवन की तीव्र लालसा रखनी कामतीव्राभिनिवेश है।

(५) – परिग्रह परिणाम अणुव्रत के ५ अतिचार –

१ – क्षेत्र मकान, २ – चांदी सोना, ३ – धन धान्य, ४ – दासी दास, ५ – कपड़े बर्तन – इन दो दो में जो परिणाम किया हो, उनमें से एक के परिणाम को घटाकर दूसरे के परिणाम को बढ़ा लेना ऐसे ५ अतिचार होंगे।

(६) – दिग्विरति के ५ अतिचार –

१ – ऊपर की मर्यादा को भूल से उलंघ जाना ऊर्द्ध व्यतिक्रम है।

२ – नीचे की मर्यादा को भूल से उलंघ जाना अधो व्यतिक्रम है।

३ – आठ दिशाओं की मर्यादा को उलंघ जाना तिर्यक् व्यतिक्रम है।

४ – किसी तरफ क्षेत्र की मर्यादा को बढ़ाकर किसी तरफ घटा देना क्षेत्रवृद्धि है।

५ – मर्यादा को याद न रखना, भ्रम में चले जाना स्मृयन्तराधान है।

(७) – देशविरति के ५ अतिचार –

१ – मर्यादा के क्षेत्र के बाहर से वस्तु मँगाना आनयन है।

२ – मर्यादा से बाहर वस्तु भेजना प्रेष्य प्रयोग है।

३ – मर्यादा से बाहर बात करना व शब्द भेजना शब्दानुपात है।

४ – मर्यादा से बाहर रूप दिखाकर काम निकालना रूपानुपात है।

५ – मर्यादा से बाहर पुद्गल फेंककर काम निकालना पुद्गल क्षेप है।

(८) – अनर्थदंड विरति के ५ अतिचार –

१ – भांड वचन बोलना कंदर्प है।

२ – भांड वचनों के साथ काया की कुचेष्टा भी करनी कौत्कुच्य है।

३ – वृथा बकबक करना मौखर्य है।

४ – बिना विचारे काम करना असमीक्ष्य अधिकरण है।

५ – भोगोपभोग वृथा संग्रह करना भोगोपयोग अनर्थक्य है।

(९) – सामायिक के ५ अतिचार –

१ – मन में दुष्ट विचार करना मनः दुःप्रणिधान है।

२ – वचनों को सांसारिक कामों में लगाना वचन दुःप्रणिधान है।

३ – काया को आलस्यरूप रखना काय दुःप्रणिधान है।

४ – सामायिक आदर से न करना अनादर है।

५ – सामायिक करना व उसका पाठादि भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान है।

(१०) – प्रोषधोपवास के ५ अतिचार –

१ – बिना देखे बिना झाड़े मल-मूत्र करना व रखना अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित उत्सर्ग है।

२ – बिना देखे बिना झाड़े कुछ उठाना सो अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित आदान है।

३ – बिना देखे बिना झाड़े चटाई आदि बिछाना सो अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण है।

४ – उपवास में प्रेम न रखना अनादर है।

५ – उपवास करना व धर्म की विधि को भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान है।

(११) – भोगोपभोग परिमाण के ५ अतिचार –

ये सचित्त वस्तु त्याग की अपेक्षा से है –

१ – सचित्त या हरी तरकारी फलादि जो छोड़े हों, भूल से खा लेना सचित्त है।

२ – सचित्त पर रखी हुई व सचित्त से ढकी हुई चीजें खाना सचित्त सम्बन्ध है।

३ – सचित्त को अचित्त में मिलाकर खाना सचित्त सम्मिश्र है।

४ – कामोद्दीपक गरिष्ट पदार्थ खाना अभिषव है।

५ – खराब पका हुआ व जो न पचे उसे खाना दुःपक्वाहार है।

(१२) – अतिथि संविभाग के ५ अतिचार –

सचित्त त्यागी श्रावक व मुनि को आहार देते समय –

१ – सचित्त पर रखा हुआ देना सचित्त निक्षेप है।

२ – सचित्त से ढका देना सचित्त अभिधान है।

३ – दूसरे को दान देने को कहकर आप न देना परव्यपदेश है।

४ – ईर्ष्या भाव से दान देना मात्सर्य है।

५ – काल उलंघ करके देना कालातिक्रम है।

समाधिमरण के ५ अतिचार –

१ – अधिक जीने की लालसा रखनी जीविताशंसा है।

२ – जल्दी मरने की इच्छा करनी मरणाशंसा है।

३ – मित्रों से प्रेम बताना मित्रानुराग है।

४ – पिछले सुखों को याद करना सुखानुबंध है।

५ – आगे भोग मिले ऐसा चाहना निदान है।

यह व्रती श्रावक धर्म साधन में बड़ा सावधान होता है व संतोषी होता है, शुद्ध भोजन मर्यादा का मौन सहित जीमता है जिससे शांत भाव रहे। लालसा न हो व भोजन पर ध्यान रखे तथा अंतरायों को टालकर भोजन करता है।

ज्ञानानंद निजरस प्रकाशक श्रावकाचार के अनुसार अंतराय इस भाँति हैं –

१. मदिरा २. माँस ३. गीला हाड़ ४. काचा चमड़ा ५. चार अँगुल लोहू की धारा ६. बड़ा पंचेन्द्रिय मरा हुआ ७. विष्टा-मूत्र ८ – चांडालादि। इसको आंखों से देख लेवे तो भोजन करते हुए छोड़ दे।

१. सूखा चमड़ा, २. नख, ३. केश, ४. ऊन, ५. पंख, ६. असंयमी स्त्री या पुरुष, ७. बड़ा पंचेन्द्रीय तिर्यंच, ८. रितुवंती स्त्री, इनका स्पर्श हो तो अंतराय, ९. छोड़ी हुई चीज का भोजन, १०. मल-मूत्र की शंका, ११. मुरदा का स्पर्शन, १२. थाली में त्रस जंतु मरा निकले, १३. थाली में बाल निकले, १४. अपने से द्वीन्द्रियादि का घात हो जावे तो अंतराय पाले। मरणादिक व भयानक दु:खमयी रुदन के शब्द सुने, अग्नि लगी सुने, नगरादि में मारने का लूटने का, धर्मात्मा के उपसर्ग का, मृतक मनुष्य का, कान नाक छेदने का, चोरादि से मारे जाने का, लूटे जाने का, चांडाल के बोलने का, जिनबिम्ब जिनमंदिर की अविनय का, धर्मात्मा के अविनय का शब्द सुने तो अंतराय पाले। मन में यह शंका हो कि यह भोजन माँस तुल्य है व ग्लानिरूप है तो अंतराय, इसतरह अंतराय पाले। यह व्रत प्रतिमाधारी बड़ा संतोषी होता है। अपने शुद्धात्मा का मनन सामायिक द्वारा भले प्रकार करता है।

॥ श्लोक ४०६ ॥

सामायिकं कृतं येन, समसम्पूर्ण सार्द्धयं।
ऊर्ध च अधो मध्यं च, मनरोधो स्वात्मचिंतनं॥

अन्वयार्थ – (येन सामायिकं कृतं) जो सामायिक तीन काल करे सो सामायिक प्रतिमाधारी है (सम सम्पूर्ण सार्द्धयं) जो समताभाव से पूर्ण सामायिक करे (ऊर्ध च अधो मध्यं च मनरोधो) जो ऊर्ध्वलोक, अधोलोक व मध्य लोक सबसे मन को रोक लेवे (स्वात्म चिंतनं) तथा अपने आत्मा का चिंतवन करे।

विशेषार्थ – यहाँ तीसरी सामायिक प्रतिमा का कथन है। सामायिक दूसरी प्रतिमा में भी थी,

परंतु वहाँ अभ्यास रूप थी, कभी कोई कारणवश नहीं भी करे। यहाँ नियम से प्रातः, मध्यान्ह व सायंकाल सामायिक करनी चाहिये सो भी ४८ मिनिट या दो घड़ी प्रति समय से कम नहीं। यदि कोई विशेष लाचारी हो तो ४८ मिनट से कम अंतर्मुहूर्त भी कर सकता है। इस प्रतिमा में अतिचार रहित थिरता से सामायिक करनी चाहिये। तीनों लोक में किसी पदार्थ से राग नहीं करना चाहिये। निश्चयनय से सर्व द्रव्यों को अपने स्वभाव में देखना चाहिये। व्यवहार दृष्टि को बंद कर देना चाहिये। तब अपना आत्मा भी शुद्ध ही दीखेगा व राग-द्वेष का अभाव हो जायगा व परमसमता भाव प्राप्त हो जायगा। सामायिक के समय गृहस्थ श्रावक को भी साधु के समान निर्मोही रहना चाहिये व ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। रत्नकरंड में कहा है –

चतुरावर्तत्रितयश्चतुःप्रणामस्थितो यथाजातः । सामयिको द्विनिषिद्यस्त्रियोगशुद्धत्रिसंध्यमभिवन्दी॥ १३९॥

भावार्थ – जो चार आवर्त के हैं त्रितय जिसके अर्थात् एक एक दिशा में तीन तीन आवर्त का करनेवाला इसतरह १२ हैं अर्थात् जिसके चार हैं प्रणाम जिसके, कायोत्सर्ग सहित बाह्याभ्यंतर परिग्रह की चिंता से रहित, दो हैं आसन जिसके, (खड्गासन व पद्मासन) तीनों योग हैं शुद्ध जिसके, तीनों कालों की संध्याओं में अभिवंदन करनेवाला ऐसा व्रती सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक है। सामायिक की विधि यह है कि पूर्व या उत्तर को मुख करके कायोत्सर्ग से खड़ा हो ९ बार णमोकार मंत्र पढ़कर दण्डवत करे फिर सर्व त्याग की प्रतिज्ञा जहाँ तक सामायिक करता हो ले ले। फिर उसी दिशा में खड़ा हो तीन या ९ बार णमोकार मंत्र पढ़कर हाथ जोड़ तीन आवर्त एक शिरोनति करे। जोड़े हुए हाथ बाएँ से दाहने लावे यह आवर्त है, उसपर मस्तक झुकावे यह शिरोनति है। ऐसा ही अन्य तीन दिशा में तीन आवर्त व एक शिरोनति करे, फिर आसन से बैठकर सामायिक पाठ पढें। जाप दे, ध्यान करे, अंत में कायोत्सर्ग से खड़ा हो, नौ बार मंत्र पढ़कर दंडवत् करे। वास्तव में सामायिक ही मोक्षमार्ग है। श्रावक को बड़े प्रेम से तीनों काल आत्मध्यान करना चाहिये व पहली दो प्रतिमाओं के सब नियम पालने चाहिये।

॥ श्लोक ४०७ ॥

आलापं भोजनं गच्छं, श्रुतं शोकं च विभ्रमं।
मनो वचन कायं शुद्धं, सामाई स्वात्मचिंतनं॥

अन्वयार्थ – (सामाई) सामायिक करनेवाला (आलापं) वार्तालाप, (भोजनं) भोजन, (गच्छं) गमन, (श्रुतं) सुनना, (शोकं) शोक (च विभ्रमं) तथा संदेह (मनो वचन काय) व मन वचन काय का हलन-चलन इनसे (शुद्धं) रहित हो (स्वात्म चिंतनं) मात्र अपने शुद्ध आत्मा का चिंतवन करे।

विशेषार्थ – सामायिक का अर्थ ही आत्मा सम्बन्धी भाव है। समय आत्मा को कहते हैं। इसलिये सामायिक के समय शांत चित्त हो मात्र एक अपने आत्मा का ही चिंतवन करे, और कोई चिंता न करे, न किसी से बातचीत का विचार करे और न बात करे, न भोजन की चिंता करे, न जाने आने का विचार करे, न किसी की बात सुनने में उपयुक्त हो, न शोक करे, न कोई संदेह की बात मन में लावे। मन, वचन, काय को निश्चल रखकर केवल निजात्मा में उपयोग जोड़े। उससमय अपने को शरीरादि से रहित परम शुद्ध निर्विकार अनुभव करे। जैसे समुद या नदी में स्नान करते हुए उसमें गोता लगाते हैं वैसे ही अपने आत्मा के यथार्थ स्वरूप को ध्यान में लेकर उसे नदी के समान समझकर उसी में अपने आपको मग्न करे। सच्ची सुख-शांति पाने का उपाय यह सामायिक है, जिसको सर्व कामों की चिंता छोड़कर करे।

॥ श्लोक ४०८ ॥

पोषह प्रोषधश्चैव, उपवासं येन क्रीयते।
सम्यक्तं यस्य शुद्धं च, उपवासं तस्य उच्यते॥

अन्वयार्थ – (पोषह प्रोषधश्चैव) **पोषह रूप प्रोषध या पर्व के दिन** (येन उपवासं क्रीयते) **जो उपवास किया जावे तथा** (यस्य शुद्धं सम्यक्तं च) **जिसका सम्यग्दर्शन भी शुद्ध हो** (तस्य उपवास उच्यते) **उसको प्रोषधोपवास प्रतिमा कहते हैं।**

विशेषार्थ – दूसरी प्रतिमा में अष्टमी व चौदस को उपवास का नियम नहीं था, कभी कोई विशेष कारण से नहीं भी करता था, या एकासन करता था व अतिचार भी नहीं बचाता था, व आरंभ-त्याग नहीं भी करता था। यहाँ चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमा में वह माह में दो बार हर एक अष्टमी व चौदस को उत्कृष्ट १६ पहर का उपवास करेगा व धर्मध्यान में समय बिताएव, अतिचार रहित पाले। जैसा रत्नकरण्ड में कहा है –

चतुराहारविसर्जनमुपवामः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः । स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति॥१०९॥
पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य प्रोषधनियमविधायी प्रणधिपरः प्रोषधानशनः ॥१४०॥

भावार्थ – खाद्य, स्वाद्य, लेह्य (चाटने योग्य), पेय – चार तरह के आहार का त्याग उपवास है, एक बार भोजन प्रोषध है, आरम्भ त्यागे सो प्रोषधोपवास है। एक मास में चार पर्वो में अपनी शक्ति को न छिपाकर प्रोषध का नियम लेकर धर्मध्यान करे सो प्रोषधोपवास प्रतिमा है।

पहले दिन एक भुक्त तीसरे दिन एक भुक्त करे, १६ पहर धर्मध्यान करे, गमनागमन छोड़े सो उत्कृष्ट है, यदि पहले दिन संध्या को आहारादि त्याग कर तीसरे दिन सबेरे पारणा करे, १२ पहर

उपवास करे आरम्भ छोड़े सो मध्यम है। यदि पहले दिन रात को आरम्भ न छोड़ सके व अष्टमी चौदस के सबेरे छोड़े तो ८ पहर का प्रोषधोपवास है। वसुनंदि श्रावकाचार के अनुसार यह भी विधि है कि मध्यम में १६ पहर उत्कृष्ट के समान धर्मध्यान करे परन्तु जल रख ले, आवश्यकता पर लेवे। जघन्य यह है कि जल के सिवाय बीच में एक भुक्त भी करे, १६ पहर धर्मध्यान करे। इनमें से जैसी अपनी शक्ति हो उसके अनुसार उपवास करे। यह उपवास मन, वचन, काय तथा अतिचारों को शुद्ध करनेवाला है व आत्मध्यान की शक्ति बढ़ानेवाला है। सम्यग्दर्शन की शुद्धता सहित तीन पहली प्रतिमाओं के सर्व नियम पालनेवाला ही चौथी प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है।

॥ श्लोक ४०९ ॥

संसार विरचितं येन, शुद्ध तत्त्वं च सार्धयं।
शुद्ध दृष्टी स्थिरीभूतं, उपवासं तस्य उच्यते॥

अन्वयार्थ – (येन संसार विरचितं) **जिसने संसार से राग छोड़ दिया है** (शुद्ध तत्त्व च सार्द्धयं) **शुद्ध आत्मीक तत्वरूप हो गया है** (शुद्ध दृष्टी स्थिरीभूतं) **शुद्ध दृष्टी स्थिर हो गई है** (उपवासं तस्य उच्यते) **उसी के उपवास कहा जाता है।**

विशेषार्थ – **वास्तव में जहाँ मन व इंद्रियों के सर्व विषयों से उदासीन होकर आत्मा के अनुभव में व विचार में तल्लीन रहा जावे वह उपवास है। ज्ञानी धीर-वीर श्रावक प्रोषध के दिन जितनी देर को उपवास करते हैं उतनी देर के लिये १६ या १२ या ८ पहर के लिये बहुत ही एकांत स्थान वन, उपवन, जिनमंदिर, पर्वत आदि पर साधु के समान तिष्ठते हैं, शौच को जल व भूमि झाड़ने को मुलायम कपड़ा व कम से कम शरीर पर वस्त्र व एक चटाई या आसन रखकर आत्मध्यान का अभ्यास करते हैं, ध्यान में मन न लगे हो शास्त्र का स्वाध्याय करते हैं। पाँचों दोषों को बचाते हुए साधु के समान वैराग्यवान व उपसर्ग परीषह सहते हुए अपना उपवास का काल बिताते हैं। यदि स्वाध्याय में मन कम लगे तो जिनमंदिर में प्रासुक द्रव्यों से पूजा भक्ति करते हैं, भजन भाव गाते हैं, धर्मचर्चा करते हैं – जिसतरह उपयोग धर्मध्यान में लीन रहे वैसा साधन बनाते हैं। संसार-शरीर-भोगों से वैराग्य बढ़ाने को बारह भावना का चिंतवन करते हैं।**

॥ श्लोक ४१० ॥

उपवासं इच्छनं कृत्वां, जिन उक्तं इच्छनं यथा॥
भक्ति पूर्वं च इच्छंते, तस्य हृदये स मान्यते॥

अन्वयार्थ – (उपवास इच्छनं कृत्वा) **उपवास करने की बड़ी रुचि रखना योग्य है** (यथा जिन उक्तं इच्छनं) **जैसा जिनेन्द्र ने कहा है वैसा तत्व का स्वरूप विचार करे** (भक्ति पूर्वं च इच्छंते) **भक्तिपूर्वक जहाँ रुचि हो** (तस्य हृदये स मान्यते) **उसी के मन में उपवास की मान्यता है।**

विशेषार्थ – **उपवास बड़े आदर व प्रेम से करे, जिनेन्द्र के कहे अनुसार सब करे, तत्वों में प्रेम करे, आत्मा की विशेष रुचि रखे, भक्ति सहित उपवास करे, अपने जन्म को सफल माने। आज मैंने आरंभ त्याग करके धर्मध्यान में अपना समय लगाकर सफल किया है ऐसा समझे। सर्व चिंताओं को छोड़ कर उपवास करे। यदि अधिक परिग्रहवान राजा, मंत्री, या व्यापारी हो तो अपना सर्व कामकाज उपवास के दिन दूसरे के आधीन कर दे व कह दे कि मैंने चिंता छोड़ दी है तुम सर्व प्रकार से गृही कर्तव्य पालना, प्रजा की रक्षा करना, मेरे से कुछ पूछने की जरूरत नहीं है। मैंने तो सर्वतः से उपवास के समय तक मोह त्याग दिया है। मेरे तो इससमय अरहंत, सिद्ध आदि पाँच परमेष्ठी ही शरण हैं, मैं तो इनही का ध्यान करूँगा, इनही के गुण गाऊँगा, अपने आत्मा के विचार में मगन रहूँगा, आत्मध्यान का अभ्यास करूँगा। ऐसा दृढ़ निश्चय करके एक नियत स्थान पर रहकर बड़े ही शांत भाव से उपवास करे, शुद्धात्मा में परिणाम जमावे, आत्मानुभव करे। इस उपवास के कारण जो आत्मध्यान की थिरता हो तो बहुत अधिक कर्मों की निर्जरा हो जाती है। इसी से उपवास को तप में गिना गया है। बड़े ही प्रेम से करना योग्य है।**

॥ श्लोक ४११ ॥

उपवासं व्रतं शुद्धं, शेष संसार त्यक्तयं।
पश्चात् त्यक्त आहारं, उपवासं तस्य उच्यते॥

अन्वयार्थ – (उपवासं व्रत शुद्ध) **उपवास में पाँच पाप के त्याग रूप व्रत की शुद्धता करना चाहिये** (शेष संसार त्यक्तयं) **सर्व संसार का त्याग करना चाहिये** (पश्चात् त्यक्त आहार) **फिर आहार को त्यागना चाहिये** (तस्य उपवास उच्यते) **उसी को ही उपवास कहा जाता है।**

विशेषार्थ – **उपवास करनेवाला पहले अपने मन में यह दृढ़ संकल्प करे कि मुझे हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म व परिग्रह का आज भुक्ति के समान त्याग करना है, इन सम्बन्धी सर्व विकल्पों को हटाना है, उसे संसार के सर्व कामों से विरक्त रहना है, मुझे निश्चिंत हो मात्र एक शुद्धात्मा का ही शरण लेना है, ऐसा निश्चय करके फिर जितने काल के लिये थिरता जाने, उतने काल के लिये चार तरह का आहार या तीन तरह का आहार या यथाशक्ति विधिपूर्वक त्याग करें। आलस्य-प्रमाद जीतने के लिये व धर्मध्यान में आसक्त होने के लिये उपवास करे। जिस श्रावक को ऐसी उच्च भावना है,**

उसी के प्रोषधोपवास कहा जाता है। जितना अधिक आरंभ-परिग्रह का निमित्त होता है, उतना अधिक मन उनमें फँसा रहता है। तब ध्यान के करते समय भी वैसे ही विचार मन में आ जाते हैं। इसलिये मन की निश्चलता के लिये यही उचित है कि आरंभ व परिग्रह का त्याग किया जावे। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी तो निरंतर साधु रूप में रहने की आकांक्षा रखता है, परंतु कषाय के शमन न होने से गृह का त्याग नहीं कर सकता है, तब वह प्रोषधोपवास धार कर नियमित काल के लिये साधु के समान आचरण करता है, परमानन्द के लाभ में आसक्त रहता है, मोक्षमार्ग में साक्षात् चलकर जन्म के समय को सफल करता है।

॥ श्लोक ४१२ ॥

उपवास फलं प्रोक्तं, मुक्तिमार्गं च निश्चयं।
संसार दुःख नासंते, उपवासं शुद्धं फलं॥

अन्वयार्थ – (उपवास फल प्रोक्तं) उपवास करने का फल यह कहा गया है कि (निश्चयं च मुक्तिमार्गं) निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति हो (ससार दुःख नासन्ते) संसार के दुःखों का नाश हो (उपवासं शुद्ध फलं) व उपवास से शुद्धभाव की प्राप्ति हो, यह फल है।

विशेषार्थ – यद्यपि उपवास करना, आहार न करना, आरम्भ त्यागना, एकांत में रहना यह सब व्यवहार चारित्र है परन्तु यह तब सफल है जबकि निश्चय रत्नत्रयरूप शुद्धात्मा के श्रद्धान-ज्ञान-चारित्ररूप निश्चय मोक्षमार्ग का लाभ हो। शुद्ध भावों की प्राप्ति से कर्मों की विशेष निर्जरा होती है, जिससे संसार के दुःखों का नाश होता है व आत्मा के शुद्धभाव की वृद्धि होती जाती है। उपवास करना बड़ा भारी तप है, परन्तु जिस उपवास में आर्तध्यान हो जावे, आदर न रहे, वह उपवास सफल नहीं होगा। जहाँ धर्मध्यान का दृढ़ उत्साह रहे, परिणाम वैराग्य में आरूढ़ होते रहें, अध्यात्मिक-तत्व का ध्यान हो, असली मोक्षमार्ग मिले, वही उपवास सफल है। श्रावकों को बड़े ही प्रसन्न मन से परिणामों की उज्वलता के हेतु से ही प्रोषधोपवास करके आत्मा का कर्म मैल छुड़ाना चाहिये।

॥ श्लोक ४१३ ॥

सम्यक्त विना व्रतं येन, तपं अनादि कालयं।
उपवासं मास पाषं च, संसारे दुःखदारुणं॥

अन्वयार्थ – (सम्यक्त विना) सम्यग्दर्शन के बिना (येन अनादि कालयं व्रत तपं) जिसने अनादिकाल से व्रत पाले हों, तप किया हो (मास पाषं च उपवासं) एक मास या पंद्रह दिन का उपवास

किया हो, (संसार दुःखदारुणं) वह सब संसार में भयानक दुःख का ही कारण है।

विशेषार्थ – सम्यग्दर्शन मोक्ष के मार्ग का बीज है। सम्यग्दर्शन के बिना जितना भी ज्ञान है वह कुज्ञान है, जितना भी चारित्र है कुचारित्र है, इसका कारण यही है कि मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी कषाय की वासना नहीं छूटती है। इसलिये यदि यह मुनि या श्रावक का चारित्र भी पालता है, मास मास भर के या पंद्रह पंद्रह दिन के उपवास भी करता है तो भी कोई न कोई कषाय का अभिप्राय भीतर जमा रहता है। या तो मानवश, या मायावश, या लोभवश चारित्र पाला जाता है। उत्तम गतियों में सुख मिले, दुर्गति में दुःख न मिले ऐसी भावना मिथ्यादृष्टि के भीतर बनी रहती है। इसलिये कठोर व्रत व तपश्चरण भी सच्ची वीतरागता को नहीं बढा सकता है क्योंकि बीज बिना वृक्ष कैसे बढ़े। शुद्धात्मा की श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन बीज है। इसके होते हुए व्रत-चारित्र-तप आदि वीतरागता के वृक्ष को बढ़ाते हैं। यदि संसार से वैराग्य की श्रद्धा को जमानेवाला सम्यग्दर्शन नहीं है तो व्रत-तपादि कुछ मंद कषाय से पुण्य का बंध कर देता है, जिससे देवगति में या साताकारी मानव गति में जन्म लेता है, वहाँ विषयभोगों में रंजायमान होकर नरक या पशु गति में चला जाता है या निगोद में चला जाता है जहाँ से निकलना दीर्घकाल में भी दुर्लभ है। संसार के भयानक दुःखों को सहना पड़ता है। इसलिये यह उपदेश है कि श्रावक की श्रेणियों को सम्यक्त्व सहित पालन करो। सम्यक्त्व के बिना व्रत-उपवास भूसी को पेलना है। सम्यक्त्व सहित चारित्र ही धान्य में से चाँवल अलग करना है।

॥ श्लोक ४१४ ॥

उपवासं एक शुद्धं च, मन शुद्धं तत्व सार्द्धयं।
मुक्ति श्रियं पथं येन, प्राप्तं नात्र संशयः॥

अन्वयार्थ – (येन) जिसने (एक उपवासं शुद्धं च) एक भी उपवास शुद्धता से किया हो (मन शुद्धं) मन में मैल न हो (तत्व सार्द्धयं) आत्मतत्व की भावना सहित हो (मुक्ति श्रियं पथं प्राप्तं) उसने मोक्षलक्ष्मी के मार्ग को पा लिया (नात्र संशयः) इसमें कोई संशय नहीं है।

विशेषार्थ – यहाँ कहते हैं कि उपवास चाहे जितने करो। हरएक उपवास में शुद्धता होनी चाहिये। मन में आर्तध्यान, रौद्रध्यान न होना चाहिये। तत्वों की भावना की जानी चाहिये। आत्मा का अनुभव किया जाना चाहिये। ऐसा ही उपवास यथार्थ है। मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति का एक मार्ग है, इसमें कोई शंका नहीं है। जहाँ शांतभाव, ज्ञानभाव, आनन्दभाव समय समय बढ़ता रहे, वही उपवास है। एक भी उपवास विधिपूर्वक व भावपूर्वक किया जाय तो अधिक फलदायी है। परन्तु जो अनेक उपवास किये जावे व आत्म-शांति व आत्म-विचार न हों तो वे मोक्षमार्ग नहीं है। प्रयोजन यह है कि चौथी

प्रतिमाधारी को एक मास में चार उपवास तो शुद्ध भाव से अवश्य ही करना योग्य है। जो सामायिक प्रतिदिन तीन काल वह करता था, उपवास के दिन उसे बहुत अधिक काल तक साम्यभाव रखने का अवसर मिलता है। उपवास धर्मध्यान का एक अच्छा अवसर प्राप्त कर देता है। उपवास के दिन परमात्म प्रकाश, समयसार, समाधिशतक आदि अध्यात्म ग्रंथों का विशेष मनन करना चाहिये। ध्यान का अभ्यास जितना अधिक हो सके, किया जाना चाहिये। यह उपवास आत्मोन्नति का विशेष उपकारी है।

॥ श्लोक ४१५ ॥

सचित्तं चिंतनं कृत्वा, चेतयंति सदा बुधैः।
अचेतं असत्य त्यक्तंते, सचित्त प्रतिमा उच्यते॥

अन्वयार्थ – (सचित्तं चिंतनं कृत्वा) **सचित्त अर्थात् शुद्धात्मा का चिंतवन करके** (चेतयंति सदा बुधैः) **सदा बुद्धिमान अनुभव करते हैं** (अचेत असत्य त्यक्तंते) **अज्ञान व मिथ्या वस्तु को त्याग देते हैं** (सचित्त प्रतिमा उच्यते) **उसे सचित्त प्रतिमा कहते हैं।**

विशेषार्थ – **पाँचवीं सचित्त प्रतिमा या सचित्त त्याग प्रतिमा है। इस श्लोक में निश्चयनय की मुख्यता से कथन है कि चेतना सहित जो शुद्धात्मा, उसके गुणों का चिंतवन करके, उसका अनुभव बुद्धिमानजन करते हैं। किसी मूढ भक्ति का व असत्य तत्व का चिंतवन नहीं करते हैं और न अज्ञान स्वरूप पुद्गलादि का चिंतवन करते हैं, न नाशवंत असत्य जगत की क्षणभंगुर पर्यायों का चिंतवन करते हैं। आर्त व रौद्रध्यान के सब विषय छोड़कर धर्मध्यान में भी एक आत्मा को ही विषय करके जो अनुभव करते हैं, निरन्तर स्वरूप में सावधान हैं, वे निश्चय से सचित्त प्रतिमाधारी श्रावक हैं। आत्मध्यान के अभ्यास की उन्नति ही वास्तव में प्रतिमा की उन्नति है।**

॥ श्लोक ४१६-४१७ ॥

सचित्तं हरितं येन, त्यक्तंते न विरोधनं।
सचित्त सन्मूर्छनं च, त्यक्तंते सदा बुधैः॥
सचित्त हरितं त्यक्तं च, अचित्त सार्द्धं च त्यक्तयं।
संचेतं चेतना भावं, सचित्त प्रतिमा सदा॥

अन्वयार्थ – (येन) **जो** (सचित्तं हरितं त्यक्तंते न विरोधनं) **सचित्त वनस्पति का त्याग करे उनको (वृथा) तोड़े व नाश न करे।** (बुधैः सदा सचित्त सन्मूर्छनं च त्यक्तंते) **बुद्धिमान जन सदा हरएक सचित्त**

एकेन्द्रिय सन्मूर्छन का त्याग करे (सचित्त हरितं त्यक्तं च) **सचित्त वनस्पति का त्याग करके** (अचित्त मार्द्धं च त्यक्तय) **अचित्त के साथ मिली हुई सचित्त का भी त्याग करे।** (चेतनाभावं सचेतं) **चैतन्य भाव का अनुभव करे** (सदा सचित्त प्रतिमा) उसके सदा सचित्त प्रतिमा होती है।

विशेषार्थ -- **इस पाँचवीं प्रतिमा में जीव सहित वस्तु को खाने का त्याग है। इसलिये एकेंद्रिय जल, पृथ्वी, वनस्पति आदि का सचित्त अवस्था में यह आहार नहीं करेगा। उनको अचित्त अवस्था में लेगा, कच्चा पानी न पीकर प्रासुक या गर्म पानी पीवेगा। तरकारी फल आदि पकाकर सूखे व प्रासुक दशा में खाएगा, सचित्त अवस्था में न खाएगा। अभी इसके आरम्भ का त्याग नहीं है इसलिये इनको सचित्त के व्यवहार का व विराधना का सर्वथा त्याग नहीं है। यह पानी को प्रासुक व गर्म कर सकता है व वनस्पति को सचित्त से अचित्त कर सकता है। यह सचित्त जल व वनस्पति को कभी खाएगा नहीं तो भी वृथा जल व वनस्पति का विराधन नहीं करेगा। दयावान होकर जितना कम आरम्भ सचित्त का हो सके उतना करेगा। रत्नकरण्ड में कहा है** --

मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनबीजानि ।
नामानि यो ऽत्ति सोयंसचित्तविरतो दयामूर्तिः ॥१४१॥

भावार्थ -- **जो कच्चे या अप्रासुक मूल, फल, शाक, शाखा, गांठ व केर, कंद, फल व बीज नहीं खाता है सो दयावान सचित्त प्रतिमाधारी है।**

प्रासुक करने की रीति यह है या प्राशुक किसे कहते हैं सो लिखा है --

सुक्कं पक्कं तत्तं अंबलिलवणेहिं मिस्सियं दव्वं । जं जंतेण हि छण्णं त सव्वं पासुय भणियं॥

भावार्थ -- **जो वस्तु सूखी है -- पक गई हो जैसे फल का गूदा, गर्म की हुई या खट्टी लवणादि कसायली वस्तु से मिली हुई हो व यंत्र से छिन्न भिन्न की गई हो वह सब प्रासुक कही गई है। वह सूखी वनस्पति जो उगने लायक है वह भी योनिभूत सचित्त है, उसे भी सचित्त प्रतिमाधारी नहीं खाता है, जैसे -- सूखा चना, गेहूँ। बहुत करके यह सूखी वस्तुओं को जरूरत पड़ने पर काम में लेता है, जिनका ऊपर नाम लिया गया है। अपने हाथ से यदि अचित्त करना हो तो जिव्हा इंद्रिय को वश करके जिसमें कम हिंसा हो उन्हीं वस्तुओं को प्रासुक करके खाता है। जिह्वा के स्वाद वश अनन्त काय वाली साधारण वनस्पति का घात नहीं करता है। जैसे यह स्वयं सचित्त खाता नहीं है, पीता नहीं है वैसे यह दूसरों को भी नहीं देता है। एकेंद्रिय के आरंभ से व जिव्हा इंद्रिय के स्वाद दोनों से विरक्त है। तथापि इस प्रतिमा में मात्र सचित्त के खाने-पीने का ही त्याग है, व्यवहार का नहीं। तथा यह श्रावक आत्मा का ध्यान विशेष करता है, इसलिये भी इसे सचित्त कहते हैं। यह भोगोपभोग व्रत के पाँच अतिचारों**

को बचावेगा, सचित्त या हरे पत्ते पर रखा व उससे ढका व उससे मिली कोई अचित्त वस्तु भी नहीं खाएगा। निरंतर प्राणी संयम व इंद्रिय संयम का साधक रहेगा।

॥ श्लोक ४१८-४१९ ॥

अनुराग भक्तिं दिष्टं च, राग दोषं न दिष्टते।
मिथ्या कुज्ञान तिक्तं च, अनुरागं तत्र उच्यते॥
शुद्ध तत्वं च आराध्यं, असत्यं तस्य त्यक्तयं।
मिथ्या शल्यं त्यक्तं च, अनुराग भक्ति सार्थयं॥

अन्वयार्थ – (अनुराग भक्ति दिष्ट च) **अनुराग-भक्ति प्रतिमा को विचारना चाहिये, जहाँ** (राग दोष न दिष्टते) **राग-द्वेष न दिखलाई पड़ें** (मिथ्या कुज्ञान तिक्त च) **जहाँ मिथ्यात्व व मिथ्याज्ञान छूट गए हों** (तत्र अनुराग उच्यते) **वहाँ अनुराग कहा जाता है** (शुद्ध तत्व च आराध्य) **शुद्ध तत्व की भक्ति करना चाहिये** (असत्य तस्य त्यक्तय) **असत्य तत्व का त्याग करना चाहिये** (मिथ्या शल्य त्यक्तं च) **मिथ्या शल्य को छोड़ना चाहिये** (अनुराग भक्ति सार्थय) **तब यथोचित अनुराग भक्ति छठवीं प्रतिमा है।**

विशेषार्थ – **यहाँ ग्रंथकार ने छठवीं प्रतिमा का नाम अनुराग भक्ति लिया है। किन्हीं आचार्यों ने दिवा-मैथुन-त्याग लिया है। प्राचीन आचार्यों ने रात्रि-भुक्ति-त्याग लिया है। कारण यही है कि रात्रि को भोजन-त्याग ग्रंथकर्ता के मत में पहली प्रतिमा में या उससे पहले ही हो जाता है, तब यहाँ पर रखना उनके परिणामों में ठीक नहीं दीखा होगा, इससे इसका नाम अनुराग भक्ति रखा है। जहाँ शुद्ध आत्मीक तत्व का अनुराग विशेष बढ़ जावे, संसार के कर्मों में राग-द्वेष बहुत घट जावे, स्व-स्त्री प्रसंग भी न सुहावे, गृहस्थ के कार्यों से बहुत उदासीनता आ जावे, सिवाय शुद्ध आत्मीक तत्व की प्राप्ति के और बात सब असत्य दीखती हो, संसार से वैराग्य बढ़ गया हो, मोक्ष में तीव्र भक्ति हो गई हो, वह अनुराग भक्ति प्रतिमा है।**

श्री समन्तभद्राचार्य ने रात्रि-भुक्ति-त्याग नामक छठवीं प्रतिमा का स्वरूप ऐसा कहा है –

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम् ।
स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः॥ १४२॥

भावार्थ – **जो सर्व प्राणियों के ऊपर दयाभाव को रखनेवाला रात्रि को अन्न, पान, खाद्य व लेह्य (चाटने योग्य) – ऐसे चारों प्रकार के सर्व आहार को नहीं खाता है वह रात्रि-भोजन-त्यागी श्रावक है। यहाँ पर भाव यही है कि इस श्रेणी में गृहस्थ के ऐसी उदासी आ जाती है कि वह रात्रि को न तो**

स्वयं खाता है, न खिलाता है, न भोजन सम्बन्धी आरम्भ-क्रिया करता व कराता है, न वार्तालाप करता है। भोजन के सर्व विचारों से छूटकर अधिकतर धर्मध्यान में लीन रहता है। इसके पहले यथाशक्ति रात्रि-भोजन का त्याग था। यहाँ पर अतिचार रहित पूर्ण त्याग हो जाता है। इसके पहले रात्रि को यदि स्वयं न खाता था तो भी दूसरों को खिलाता था। सम्यक्त्वी दयावान होता है। अविरत सम्यक्त्वी भी रात्रि को खाना पसन्द नहीं करता है। यदि उससे बने तो वह दिन ही में खाता है, परन्तु गृहस्थी अनेक प्रकार के व्यवसायवाले होते हैं, किसी को काम से छुट्टी ही न मिल सके, दूर जाता आता हो व और लाचारी हो इससे आचार्यों ने छठवीं प्रतिमा से पहले अभ्यास बताया है। जितना शक्य हो उतना छोड़े, छठवीं प्रतिमा में पूर्ण त्याग होना ही चाहिये। सम्यग्दृष्टि श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार जीवदया को पालता हुआ रात्रि भोजन पहले भी नहीं करेगा परंतु यदि किसी को कोई लाचारी हो तो और व्रतों व प्रतिमाओं को पालता हुआ रहकर वह रात्रि भोजन का पूर्ण त्यागी छठवीं श्रेणी में होगा। ऐसा अभिप्राय आचार्यों का दिखता है

॥ श्लोक ४२० ॥

बंभं अबंभ त्यक्तं च, शुद्ध दिष्टि रतो सदा।
शुद्ध दर्शन समं शुद्धं, अबंभं त्यक्त निश्चयं॥

अन्वयार्थ – (बंभ) ब्रह्मचर्य प्रतिमा सातवीं है, जहाँ (अबभ त्यक्तं च) अब्रह्म या कुशील का त्याग किया जावे (सदा शुद्ध दिष्टि रतः) सदा शुद्ध सम्यग्दर्शन में लवलीन रहा जावे (शुद्ध दर्शनं समं शुद्धं) शुद्ध सम्यग्दर्शन के समान शुद्धता भावों की रखी जावे (अबभं त्यक्तं निश्चयं) ब्रह्म के सिवाय अब्रह्म ध्यान छोड़ा जावे सो निश्चय ब्रह्मचर्य प्रतिमा है।

विशेषार्थ – ब्रह्मचर्य प्रतिमा को धारते हुए श्रावक स्व-स्त्री का भी राग छोड़ देता है। मन, वचन, काय से शील धर्म पालता है। शील धर्म के विरोधी निमित्तों को बचाता है। ब्रह्मचर्य व्रत की पाँचों भावानाओं पर पूरा पूरा ध्यान रखता है। यह गृहस्थ के राग योग्य वस्त्राभूषण त्याग देता है, उदासीन कपड़े वैराग्य वर्द्धक पहनता है, सादा वस्त्र, सादा शुद्ध भोजन जहाँ तक सम्भव हो एक बार करता है, एकांत में शयन करता है यदि घर में रहे तो अलग कमरे में सोता-बैठता है, जहाँ स्त्रियों का आगमन व कोलाहल न सुनाई पड़े, अन्यथा घर छोड़कर वैराग्यभाव धार देशाटन करता है। व्यवहार ब्रह्मचर्य को भले प्रकार पालता हुआ निश्चय ब्रह्मचर्य को भी अच्छी तरह पालता है। शुद्ध आत्मीक तत्व जो आप स्वयं ब्रह्म स्वरूप है उसका ध्यान करता है। आत्मीक तत्व के सिवाय और तत्व का राग छोड़ देता है। अंतरंग बाहर शांत भाव व वैराग्य की छटा को प्रकाश करता है। ब्रह्मरस

का प्याला होता है। रत्नकरण्ड में कहा है –

मलबीज मलयोनिं गलन्मल पूतगन्धिबीभत्सम् । पश्यन्नंगमनंगाद्विरमति यो ब्रह्मचारी स ॥१४३॥

भावार्थ – **जो श्रावक अपने शरीर को व स्त्री के शरीर को मल से उत्पन्न, मल को उत्पन्न करनेवाला, मलों को बहानेवाला, दुर्गंध व अशुचि से भरा हुआ, ग्लानि योग्य विचारता है और काम भाव से विरक्त होता है; वह ब्रह्मचारी है।**

इस प्रतिमा में अभी आरंभ का त्याग नहीं है। सातवीं प्रतिमा का धारी श्रावक पहले के सर्व नियम पालता हुआ देशाटन करता हुआ, धर्म का प्रचार सुगमता से कर सकता है, इसे वाहन का त्याग नही है। यह मध्यम पात्र में भी मध्यम पात्र है। यदि गृहस्थ भक्तिपूर्वक निमंत्रण करें तो शांत भाव से जो कुछ मिले आहार करके संतोष मानता है। स्वयं भी भोजन का प्रबन्ध कर सकता है व अपने घर मे भी जीम सकता है।

॥ श्लोक ४२१ ॥

यस्य चित्तं ध्रुवं निश्चय, ऊर्ध अधो च मध्ययं।
यस्य चित्तं न रागादिः, प्रपंचं तस्य न पश्यते॥

अन्वयार्थ – (यस्य चित्त ध्रुव निश्चय) **जिस ब्रह्मचर्य प्रतिमा के धारी के चित्त में निश्चयता से अपने स्वरूप का निश्चय होता है** (यस्य चित्त ऊर्ध अधो च मध्यय रागादि न) **जिसका चित्त ऊपर-नीचे-मध्यलोक तीनों लोकों में राग-द्वेष-मोह को प्राप्त नहीं होता है** (तस्य प्रपच न पश्यते) **उसके मन में प्रपंच नहीं दिखलाई पड़ता है।**

विशेषार्थ – **सप्तम प्रतिमा धारी का चित्त वैराग्य में बहुत अधिक लवलीन रहता है, उसको इन्द्र, अहमिंद्र, धरणेंद्र, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि के सर्व ही भोग रोग के समान दीखते हैं, जो तीन लोक में किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं रखता है। केवल अपने शुद्ध आत्मीक स्वभाव का ही प्रेमी है, वही मैं हूँ ऐसा उसके दृढ़ श्रद्धान है, वह अंतरंग से राग-द्वेष-मोह नहीं रखता है, बहुत ही सरलता से या मोह रहितपने से यदि घर में रहे तो घर में, यदि परदेश घूमें तो लोक में व्यवहार करता है, ब्रह्मचर्य की दृढ़ता रखता है।**

॥ श्लोक ४२२ ॥

विकहा व्यसन उक्तं च, चक्र धर्णेन्द्र इंद्र यं।
नरेन्द्रं विभ्रमं रूपं, वर्णत्व विकहा उच्यते॥

अन्वयार्थ – (व्यसन उक्त च विकहा) **सात व्यसनों के सम्बन्ध में रागवर्द्धक चर्चा विकथा है**

(चक्र धर्णेन्द इंद्र नरेन्द्रं विभ्रमं रूप वर्णत्व विकहा उच्यते) **तथा चक्रवर्ती, धरणेन्द्र, इंद्र, महाराजा आदि के मोह को उत्पन्न करनेवाले भोगादि का वर्णन करना विकथा कही जाती है।**

विशेषार्थ — **ब्रह्मचारी खोटी कथाओं से विरक्त रहता है। जूआ खेलन, मॉस भक्षण, मदिरा सेवन, वेश्या सेवन, चोरी, शिकार खेलना, परस्त्री सेवन — इन सात व्यसनों में राग बढ़ानेवाली कथाओं को यह न तो करता है और न सुनता है। तथा इन्द्र धरणेन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, महामंडलीक, मंडलीक, महाराजा, राजा, धनवान आदि की मोहवर्द्धक कथाओं को भी विकथा कहते हैं, उनसे विरक्त होता है। न कहता है, न सुनता है, ऐसे नाटक खेल-तमाशे नहीं देखता है, न करता है, जिनसे राग बढ़े। परिणामों में वैराग्य बढ़े ऐसे निमित्तों को मिलाता है। स्त्री, भोजन, देश व राजाओं की ऐसी कथाएँ, जिनसे स्त्री में राग बढ़े, भोजन में राग बढ़े, जगत के आरंभ-परिग्रह में राग बढ़े, राज्यलक्ष्मी का लोभ उत्पन्न हो, उनको न सुनता है और न करता है। प्रमादवर्द्धक वार्तालाप आत्मविचार में बाधक है — ऐसा जान उनसे विरक्त रहता है।**

॥ श्लोक ४२३ ॥

व्रतभंगं राग चिंतते, विकहा मिथ्यातरंजितं।
अबंभं त्यक्त बंभं च, बंभ प्रतिमा स उच्यते॥

अन्वयार्थ — (व्रतभंगं राग चिंतते) **ब्रह्मचर्य व्रत को भंग करनेवाले राग भाव की चिंताओं को** (विकहा) **चारों विकथाओं को** (मिथ्यात रजितं) **मिथ्यात्व में रंजायमान होने को** (अबभ) **व अब्रह्म को** (त्यक्तं च) **त्याग करके** (बंभं) **जहाँ ब्रह्मचर्य पाला जावे** (बभ प्रतिमा स उच्यते) **वही ब्रह्मचर्य प्रतिमा कहलाती है।**

विशेषार्थ — **ब्रह्मचारी श्रावक को काम भोग आदि की ऐसी चिंताएँ पिछले भोगों की व आगे के भोगों की बिलकुल न करनी चाहिये, जिससे परिणाम ब्रह्मचर्य से डिग जावे व ब्रह्मचर्य का भंग होने लगे और न चार विकथाओं को करना चाहिये और न संसार-शरीर-भोगों के मोह में व मिथ्या-वासना वासित धर्म-क्रिया में रंजायमान होना चाहिये तथा मन, वचन, काय से कुशील को त्याग देना चाहिये। निरंतर निर्विकार भावों को रखते हुए वैराग्य भावना भाते हुए ब्रह्मचर्य प्रतिमा पालनी चाहिये। पूर्व की प्रतिमाओं के सर्व नियम यथेष्ट पालना चाहिये।**

॥ श्लोक ४२४ ॥

यदि बंभचारिनो जीवो, भावशुद्धं न दिष्टते।
विकहा राग रंजंते, प्रतिमा बंभगतं पुनः॥

अन्वयार्थ – (यदि बभचारिनो जीवो) **यदि ब्रह्मचारी जीव में** (भावशुद्धं न दिष्टते) **भाव की शुद्धता नहीं दिखलाई पड़े** (विकहा राग रंजते) **विकथा के राग में रंजायमान हो** (पुनः प्रतिमा बंभगत) **तो उसकी प्रतिमा भंग हो गई – ऐसा समझना चाहिये।**

विशेषार्थ – **ब्रह्मचारी श्रावक को वैराग्यवान व आत्मानुभवी व निर्मल भावधारी होना योग्य है। अंतरंग व बहिरंग दोनों प्रकार से ब्रह्मचर्य पालना योग्य है। अतरंग ब्रह्मचर्य, आत्म समाधि व शुद्ध कामरहित शील भाव तथा बहिरंग शुद्धि वचनों से व काय से कुशील की चेष्टा का सर्वथा त्याग। राग वर्द्धक कथाओं को न कभी करता है और न कभी सुनता है। यदि कोई ब्रह्मचारी होकर भी शुद्ध भाव न रखे, परिणामों में इंद्रिय विषयों का राग रखे, राग सहित बात कहे, राग की बातें सुने, जगत के प्रपंचों में अपने को उलझावे, स्त्रियों से रागवर्द्धक वार्तालाप करे, एकांत में स्त्री का संगम करे, काम विकार होने का निमित्त लावे, आत्मा की शुद्धि का ध्यान न रखे तो वह ब्रह्मचर्य प्रतिमा का खंडन करनेवाला हो गया – ऐसा समझना चाहिये।**

॥ श्लोक ४२५ ॥

चित्तं निरोधितं येन, शुद्ध तत्वं च सार्थयं।
तस्य ध्यानं स्थिरीभूतं, बंभ प्रतिमा स उच्यते॥

अन्वयार्थ – (येन चित्त सार्थयं शुद्ध तत्व निरोधितं) **जिसने मन को यथार्थ शुद्ध आत्म तत्व के भीतर रोका हो** (तस्य ध्यान स्थिरीभूत) **व जिसका ध्यान स्थिर रहता हो उसी के** (बभ प्रतिमा स उच्यते) **ब्रह्मचर्य प्रतिमा कही जाती है।**

विशेषार्थ – **सारांभ यह है कि ब्रह्मचर्य प्रतिमा में अंतरंग शुद्धि की मुख्यता है। अंतरंग परिणाम यदि निर्मल होंगे तो बाहरी क्रिया उसके विरुद्ध नहीं हो सकती है। वह ब्रह्म स्वरूप शुद्ध आत्मीक तत्व में अपने मन को रोकने का अभ्यास करके आत्मध्यान की विशेष थिरता करता है। निरंतर जिसकी लौ या लगन शुद्ध आत्मा के स्वात्मानन्द के पाने में लगी रहे व जो जगत मात्र की आत्माओं को निश्चय नय के द्वारा समभाव से समान देखे, राग-द्वेष का त्याग करे, सर्व का बंधुत्व भाव रखे, जिसको परमात्मा का दर्शन हर एक संसारी प्राणी के भीतर शुद्ध नय के प्रताप से होता हो, ब्रह्ममय जिसका भाव हो रहा हो, ब्रह्म विचार में ही जो रंजायमान हो, जिसकी वचन व काय की चेष्टा से भी ब्रह्मरस टपकता हो, जो पाँच इंद्रियों का विजयी होकर वैराग्यवान हो, रस-नीरस जो आहार प्राप्त हो, उसमें संतोषी हो, अल्पाहारी हो, आरंभ यद्यपि कुछ करता है, परंतु त्याग के सन्मुख हो, निरंतर मोक्ष की भावना में वर्तता हो, प्राणी मात्र का हितैषी हो, परोपकार में लीन हो, आत्मधर्म**

व शील धर्म की प्रभावना करनेवाला हो, वैराग्यमय वस्त्रों का धारी हो, अल्प से अल्प वस्त्र धारता हो ; वही ब्रह्मचर्य प्रतिमा का धारी श्रावक कहा जाता है।

॥ श्लोक ४२६ ॥

आरंभे मन पसरस्य, दिष्ट अदिष्ट संजुते।
निरोधनं च कृतं येन, शुद्ध भावं च संजुतं॥

अन्वयार्थ – (येन) जिसने (दिष्ट अदिष्ट संजुते आरंभे) देखे हुए व सुने हुए व संयोग प्राप्त आरम्भों में (मन पसरस्य निरोधनं च कृतं) फँसे हुए मन का निरोध किया हो (शुद्ध भावं च संजुतं) तथा शुद्ध भावों का धारी हो, वह आरम्भ त्याग प्रतिमा धारी श्रावक है।

विशेषार्थ – अब यहाँ आठमी आरम्भ त्याग प्रतिमा को कहते हैं। यद्यपि अभी परिग्रह का त्यागी नहीं है तो भी अब यह अपने संयोग में जो कुछ लौकिक आरम्भ करता था, व्यापार-खेती लेन-देन, गृहारंभ आदि उन सबको त्याग करके संतोषी हो जाता है। मन से वैराग्यवान होकर देखे, सुने व अनुभव किये हुए आरम्भों में भी मन को नहीं उलझाता है। यदि घर में रहे तो एकांत में रहता है। अपने लिये कोई आरम्भ नहीं कराता है। जब भोजन के समय उसका कुटुम्बी पुत्र आदि कोई बुलाता है, तब भोजन संतोष से कर लेता है। वह स्वयं न बनाता है, न बनवाता है। दूसरे उसके कुटुम्बी उसकी आवश्यकताओं पर ध्यान रखकर उसको प्रासुक पानी आदि देते रहते हैं। यदि वह गृहत्यागी होता है तो दूसरे श्रावकगण उसकी सम्हाल रखते हैं। वह पहले से निमंत्रण तो मानता है परंतु मेरे लिये अमुक वस्तु बनाई जाय ऐसा जो सातवीं प्रतिमा तक कह सकता था सो अब नहीं कहता है। यदि कोई पूछे क्या त्याग है तो जिस किसी रस या वस्तु का त्याग होता है उसको बता देता है। संतोष से जो मिले उसको अल्पाहार करके शरीर रक्षा करता है तथा निरंतर एकांत में बैठकर शुद्ध भावों के लिये सामायिक, ध्यान, आध्यात्मिक ग्रंथों का विचार व धर्मध्यान व धर्मोपदेश करता रहता है। परम वैराग्यवान हो आत्मीक उन्नति का आरंभ करता रहता है। धर्म प्रभावना का आरंभ करता है परंतु सांसारिक आरम्भ से पूर्णतया विरक्त हो जाता है।

श्री रत्नकरंड श्रावकाचार में इसका स्वरूप है –

सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारंभतो व्युपारमति । प्राणातिपातहेतोर्यो ऽसावारंभविनिवृत्तः॥ १४४॥

भावार्थ – जो सेवा-खेती-व्यापारादि आरंभों से विरक्त हो जाता है क्योंकि इन सबसे प्राणों का घात होता है वह आरंभ-त्यागी श्रावक है। यहाँ वह त्रस-स्थावर दोनों की हिंसा से विरक्त हो जाता है। सातवीं प्रतिमा तक आरंभी हिंसा का पूर्ण त्याग न था, मात्र अभ्यास था, यहँ पूर्ण त्याग कर

देता है। यहाँ सचित्त जल व वनस्पति को स्वयं अचित्त भी न करेगा, यहाँ वह हिंसाकारी वाहनों पर नहीं चढ़ेगा। अपने न जानते हुए गाड़ी घोड़े, बैल आदि द्वारा बहुत से त्रस प्राणियों की – जो मार्ग में चलते हैं – हिंसा हो जाती है, इसलिये वह हिंसाकारी वाहनों पर नहीं चढ़ के पैदल ही भूमि निरखकर चलता है। आरंभी हिंसा के त्याग की अपेक्षा ही यह आठवीं श्रेणी है। यही गृहत्यागी श्रावक संतोष से देशाटन करता है। जहाँ आसपास ग्रामों में श्रावकों के घर होंगे, उसी प्रदेश में भ्रमण करेगा। आरंभ करानेवाली यात्राओं को स्वयं न करेगा। यदि कोई संघ अपने आप किसी तीर्थयात्राओं को जाता हो व संघवाले साथ चलने की प्रार्थना करें तो साथ हो लेता है व पैदल ही गमन करता है। आत्मरस का मगन रहनेवाला परम संतोषी यह श्रावक होता है। यदि घर में परिग्रह के भीतर रहता है, पुत्रादि सब काम करते हैं, उनको वह किसी काम की प्रेरणा नहीं करता है। जब वह किसी लौकिक काम की सलाह पूछें तो उदासीन भाव से बता देता है।

॥ श्लोक ४२७ ॥

अनृत अचेत असत्त्यं, आरंभं येन क्रीयते।
जिन उक्तं च न दिष्टंते, जिनद्रोही मिथ्या तत्परा॥

अन्वयार्थ – (येन) जिसके द्वारा (अनृत अचेत असत्त्य आरभ क्रीयते) मिथ्या, अज्ञानमय व पीड़ाकारी आरम्भ किया जाता है (च जिन उक्त न दिष्टते) व जो जिनेन्द्र की आज्ञा का भी विश्वास नहीं रखता है, वह (जिनद्रोही मिथ्या तत्परा) जिन-आज्ञा का लोपी व मिथ्यात्व के आधीन है।

विशेषार्थ – यहाँ आरंभ का स्वरूप कहते हैं। जो द्रव्य कमाने में अति आशक्त हो जाते हैं वे इस बात का विचार छोड़ देते हैं कि कौनसा आरंभ योग्य है या अयोग्य है, कौनसा मिथ्या वचनों से होता है, कौनसा सत्य वचनों से होता है। ज्ञानमय व अज्ञानमय का विचार नहीं रखता है। अति पीड़ाकारी आरंभ भी कर लेता है। जैसे लकड़ी कटवाना, मादक वस्तु बनवाना, पशुओं का विक्रय, शस्त्र विक्रय आदि आदि तथा आरंभ में सच्चाई से नहीं वर्तता है। दूसरों को ठग करके धन कमाता है। जिनेन्द्र की आज्ञा तो यह है कि सत्यता के साथ पर को दुःख न पहुँचे, इसतरह आजीविका का साधन करके गृहस्थ का कर्तव्य पालो। यह आरंभासक्त होकर न्याय-अन्याय को भूलकर जिसतरह अधिक धन संचय हो वैसा करता रहता है, विश्वासघात भी कर लेता है, भोलों को समझाकर लूट लेता है। ऐसा आरंभी मिथ्यादृष्टि है, जिन भगवान की आज्ञा को न पालनेवाला हिंसक व पापी है व नरकादि कुगति का बाँधनेवाला है। अतएव आरंभ का मोह त्यागना ही हितकर है।

॥ श्लोक ४२८ ॥

अदेवं अगुरं यस्य, अधर्मं क्रियते सदा।
विश्वासं येन जीवस्य, दुर्गतिं दुःखभाजनं॥

अन्वयार्थ – (यस्य सदा अदेवं अगुरं अधर्मं क्रियते) **जो सदा ही मिथ्या देव, मिथ्या गुरु, मिथ्या धर्म की सेवा किया करता है** (येन जीवस्य विश्वासं) **जिन जीव का विश्वास ही ऐसा होता है** (दुर्गतिं दुःखभाजन) **वह कुगति में जाकर दुःखों का भाजन हो जाता है।**

विशेषार्थ – **आरंभ-परिग्रह में जो गृहस्थ आसक्त हो जाता है, धन का लोलुपी हो जाता है ;वह वैराग्यवर्द्धक जिनदेव, जिनगुरु व जिनधर्म की श्रद्धा नहीं करता हुआ रागी-द्वेषी देव, परिग्रहधारी गुरु, व हिंसामयी धर्म की श्रद्धा कर लेता है। उसको जब ऐसा उपदेश मिलता है कि अमुक देव-देवी की पूजा करने से धनलाभ-पुत्रलाभ अथवा राज्यलाभ होगा। अमुक साधु की भक्ति करने से धन, पुत्र, राज्य का संरक्षण रहेगा। अमुक पूजा-पाठ, जप-तप, यात्रा करने से धनादि का समागम होगा। तब यह आरंभी मोही जीव उनमें विश्वास करके उन्हीं की भक्ति किया करता है तथा बहुधा मान्यता मानता है कि मेरा अमुक काम सिद्ध हो जायगा तो मैं ऐसी भक्ति करूँगा, यह दान दूँगा इत्यादि। ऐसी मान्यता कर लेने पर कदाचित् काम सिद्ध हो गया तो यह ऐसा मान लेता है कि अमुक कुदेव, कुगुरु व कुधर्म के प्रताप से ही सिद्ध हुआ है। यद्यपि वह कार्य तो पुण्य के उदय से हुआ है, परंतु मिथ्यात्वी को मिथ्या मानने में कुछ संकोच नहीं होता है। ऐसा मानकर वह और अधिक मिथ्या श्रद्धानी हो जाता है। इसतरह धन का लोलुपी आरंभी होकर तीव्र पाप बाँधकर नरकादि में जाकर घोर दुःख उठाता है। आरंभ का मोह संसार के दुःखों का हेतु है।**

॥ श्लोक ४२९ ॥

आरंभं परिग्रहं दिष्टं, अनंतानंत चिंतए।
ते नरा ज्ञान हीनस्य, दुर्गतिगमनं न संशयः॥

अन्वयार्थ – (आरंभ परिग्रहं दिष्टं) **आरंभ व परिग्रह को देखकर** (अनंतानंत चिंतए) **वह अनंतानंत परिग्रह की प्राप्ति की चिंता किया करता है** (ते नरा ज्ञान हीनस्य) **वे मानव सम्यग्ज्ञान से शून्य हैं** (दुर्गति गमनं न सशयः) **उनका कुगति में गमन होगा, इसमें कोई संशय नहीं है।**

विशेषार्थ – **अज्ञानी देखे-सुने परिग्रह को विचार कर व देखे-सुने आरम्भ को जानकर निरंतर अधिकाधिक धन की प्राप्ति की चिंता किया करता है। कथाओं में चक्रवर्ती की सम्पदा पढ़कर व इंद्र की विभूति जानकर व उनकी अमोघ शक्ति को सुनकर तथा परदेश या स्वदेश में बड़े बड़े**

कोट्याधीश मानवों की सम्पत्ति सुनकर व उनका बड़ा भारी व्यापार जानकर यह चिंता किया करता है कि कब मैं ऐसा आरम्भ करूँ, कब मैं इतना बड़ा धनी हो जाऊँ, मैं ऐसा क्या काम करूँ जिससे चक्रवर्ती नारायण, प्रतिनारायण, राजा, महाराजा, इन्द्र, धरणेन्द्र आदि की भोग-सामग्री को प्राप्त कर सकूँ, इसतरह अनन्तानुबंधी कषाय के उदय से आरंभ-परिग्रह की घोर चिंता करके कुभावों के अनुसार धन अल्प रहते हुए व अल्पारम्भ करते हुए भी तीव्र कर्म बाँध लेता है। बहुधा नरक आयु बाँधकर नरक चला जाता है। अतएव आरम्भ महान दुःखदायी है।

॥ श्लोक ४३० ॥

आरंभं शुद्ध दिष्टं च, सम्यक्तं शुद्धं ध्रुवं।
दर्शनं ज्ञान चारित्रं, आरंभ शुद्ध शाश्वतं॥

अन्वयार्थ – ज्ञानी के (शुद्ध आरंभं दिष्टं च) शुद्ध भाव के पाने का आरंभ देखा जाता है उसके (शुद्धं ध्रुवं सम्यक्तं) शुद्ध निश्चय सम्यग्दर्शन होता है (दर्शनं ज्ञान चारित्रं) उसके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रत्नत्रय का (आरंभ शुद्ध शाश्वतं) आरंभ शुद्ध नित्य होता है।

विशेषार्थ – आरंभत्यागी श्रावक सम्यग्दृष्टि होता है, वह सर्व लौकिक आरंभ को महा पाप का कारण समझकर त्याग देता है, मात्र शुद्धात्मीक भावों की प्राप्ति का आरंभ अर्थात् धर्मध्यान का आरंभ करता रहता है। अपने निर्मल सम्यक्त्व भाव के कारण वह रत्नत्रय की शुद्धि का यत्न करता रहता है। वह जानता है कि निश्चय रत्नत्रय स्वात्मानुभव को कहते हैं। उसके निरंतर स्वात्मानुभव का अभ्यास रहता है। जब आत्मा के मनन में उपयोग नहीं लगाता है, तब जिनवाणी का अभ्यास करता है – उनमें आध्यात्म शास्त्रों पर विशेष लक्ष्य देता है, जो जो नियम पहले से हैं, उनको भलेप्रकार पालता है। व्यवहार सम्यग्दर्शन के द्वारा निश्चय सम्यग्दर्शन को, व्यवहार सम्यग्ज्ञान के द्वारा निश्चय सम्यग्ज्ञान को व व्यवहार सम्यक्चारित्र के द्वारा निश्चय सम्यक्चारित्र को दृढ़ता से साधन करता है। शुद्ध नित्य आत्मा के अनुभव में उपयोग को जमाने का मुख्य आरंभ करता है, हिंसामयी आरंभ से बचता है, अहिंसा के आरंभ में प्रवर्तता है।

॥ श्लोक ४३१ ॥

आरंभं शुद्धं तत्वं च, संसार दुःख त्यक्तयं।
मोक्षमार्गं च दिष्टंते, प्राप्तं शाश्वतं पदं॥

अन्वयार्थ – (शुद्ध तत्वं च आरंभं) शुद्ध आत्मीक तत्व का विचार (संसार दुःख त्यक्तयं) संसार के दुःखों से छुड़ानेवाला है (मोक्षमार्गं च दिष्टंते) मोक्ष का मार्ग दिखानेवाला है (शाश्वतं पदं प्राप्तं) व

अविनाशी पद को प्राप्त कराने वाला है।

विशेषार्थ – सांसारिक कार्यों का आरम्भ संसार के भ्रमण का कारण है, तब आत्म कार्य का आरंभ संसार के दुःखों को छुड़ानेवाला है तथा मोक्ष प्राप्त करानेवाला है। अविनाशी निर्वाण पद का साधन स्वात्म ध्यान है, जहाँ शुद्ध आत्मा का अनुभव है, वहीं रत्नत्रय स्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग है, आरंभ-त्यागी श्रावक सर्व संकल्प-विकल्प त्यागकर निश्चिंत होकर दिन-रात आत्मा के उद्धार में ही दत्त-चित्त रहता है, धार्मिक आरंभ का इसके त्याग नहीं है, इसलिये धर्मोन्नति के कार्यों को करता रहता है, पूजा-पाठ-स्तुति करता रहता है। दान-धर्म करता व कराता है। अभी यह परिग्रह का स्वामी है, धन को शुभ कार्यों में लगाकर सफल करता है। ज्ञान की उन्नति में विशेष लक्ष्य देता है। यह बडा दयालु है, दुःखी प्राणियों के दुःख मेटता है, जगत में जीवदया का प्रचार करता है, सर्व से प्रेम भाव रखता हुआ धर्म की प्रभावना करता है।

॥ श्लोक ४३२ ॥

परिग्रहं पुद्गलार्थं च, परिग्रहं न चिंतए।
ग्रहणं दर्शनं शुद्धं, परिग्रह न विदिष्टते॥

अन्वयार्थ – (परिग्रहं पुद्गलार्थं च) धन धान्य आदि परिग्रह पौद्गलिक जो शरीर उसके लिये होता है। यह श्रावक (परिग्रहं न चिंतए) परिग्रह की चिंता छोड़ देता है (शुद्धं दर्शनं ग्रहणं) इसके शुद्ध सम्यग्दर्शन का ग्रहण है (परिग्रह न विदिष्टते) और परिग्रह नहीं दिखलाई पड़ता है।

विशेषार्थ – अब नौवीं परिग्रह त्याग प्रतिमा को कहते हैं। इस श्रेणी में आकर वह श्रावक अपने पास सर्व सम्पत्ति को जिसे देना हो दे देता है। धर्मकार्यों में व दान धर्म में लगा देता है। अब अवश्य नियम से घर को त्याग कर धर्मशाला में व उपवन में, सर्वसाधारण के उपयोग योग्य स्थान में – जहाँ अपना स्वामीपना नहीं है – वहाँ रहता है। शरीर से ममता छोड़ दी है। मात्र शरीर रक्षा के हेतु कुछ वस्त्र व बर्तन रखता है। रुपया-पैसा कुछ नहीं रखता है। निमंत्रण किये जाने पर जो आहार करावे, उसे संतोष से कर लेता है। यह अपना स्वामीपना अपने ज्ञान-दर्शन आत्मा के स्वभाव में ही रखता है। और सर्व तरह से ममता दूर कर देता है। इसके निरंतर भावना मुनिपद धारने की रहती है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है –

बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः। स्वस्थः संतोषपरः परिचितपरिग्रहाद्विरतः ॥१४५॥

भावार्थ – यह परिग्रह त्यागी श्रावक बाह्य १० प्रकार की वस्तुओं से ममता छोड़ देता है, उनका त्याग कर देता है। क्षेत्र, मकान, चांदी, सोना, धन, धान्य, दासी, दास, कपड़े, बर्तन – इन

सबसे स्वामीपना हटा लेता है। परम वैराग्य में लीन होकर आत्मा के ध्यान में तिष्ठता है। परम संतोष रखता है। तत्वविचार में लगा रहता है व धर्म के स्वामी साधुओं की संगति रखता है। ग्रामादि में विहार करता हुआ स्व-पर कल्याण करता है।

॥ श्लोक ४३३ ॥

अनुमतिं न दातव्यं, मिथ्यारागादिदेशनं।
अहिंसा भावशुद्धं च, अनुमतिं न चिंतए॥

अन्वयार्थ — (मिथ्यारागादिदेशन अनुमति न दातव्य) मिथ्या राग-द्वेष सम्बन्धी भाव को उपदेश करनेवाली सम्मति न देना चाहिये (अनुमति न चितए) न ऐसी सम्मति देने की चिंता ही करनी चाहिये (अहिसा भावशुद्ध च) अहिंसाभाव व शुद्ध आत्मीक भाव सदा रखना चाहिये सो अनुमति त्याग श्रावक है।

विशेषार्थ — दसवीं प्रतिमा अनुमति त्याग है। इस श्रेणी में श्रावक धर्म सम्बन्धी चर्चा के सिवाय और कोई लौकिक चर्चा नहीं करता है। कोई लौकिक सम्मति गृहस्थ के क्षणभंगुर मिथ्याकार्य सम्बन्धी व व्यापार सम्बन्धी व विवाहादि सम्बन्धी पूछे तो कुछ नहीं कहता है और न मन में ही उस सम्बन्धी का अच्छा या बुरा चिंतवन करता है। नौवीं प्रतिमा तक तो यदि कोई सम्मति सांसारिक कार्य सम्बन्धी पूछता तो यह उदासीन भाव से मात्र उसके लाभ व हानि बता देता, प्रेरक रूप से कुछ नहीं कहता। इस श्रेणी में वह इन बातों से भी विरक्त हो जाता है। आत्मकल्याण सम्बन्धी व धर्म की उन्नतिकारक बात ही कहता है व इसी में सम्मति देता है। इसके परिणामों में अहिंसा भाव बहुत अधिक है। किंचित् भी उसके निमित्त से हिंसा हो — यह इसे पसंद नहीं है। इसीलिये यह श्रावक पहले से निमंत्रण नहीं मानता है। भोजन के समय कोई बुलावे तो चला जाता है, सदा शुद्ध आत्मा के ध्यान का लक्ष्य रखता है। रत्नकरण्ड में कहा है —

अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा ।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्य :॥१४६॥

भावार्थ — जो समभाव धारक ज्ञानी श्रावक बाहरी काया के सम्बन्ध में आरम्भ करने व धनादि परिग्रह एकत्र करने की सम्मति नहीं देता है वह अनुमति त्याग श्रावक है — ऐसा जानना चाहिये। यह मध्यम पात्र में उत्तम गिना गया है।

॥ श्लोक ४३४-४३५ ॥

उद्दिष्टं उत्कृष्ट भावेन, दर्शन ज्ञान संयुतं।
चरणं शुद्ध भावस्य, उद्दिष्टं आहार शुद्धये॥
अंतराय मनं कृत्वा, वचनं काय उच्यते।
मन शुद्धं वच शुद्धं च, उद्दिष्टं आहार शुद्धये॥

अन्वयार्थ – (उत्कृष्ट भावेन) **श्रेष्ठ भावों के साथ** (दर्शन ज्ञान संयुतं चरणं उद्दिष्टं) **सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान सहित चारित्र पालने का जिसका उद्देश्य हो ऐसे** (शुद्ध भावस्य) **शुद्ध भाव धारी के** (उद्दिष्टं आहार शुद्धये) **उद्दिष्टाहार का त्याग होता है।** (मनं वचनं काय कृत्वा अतराय उच्यते) **मन, वचन, काय सम्बन्धी अंतराय को बचाना इसके लिये कहा गया है,** (मनशुद्धं वच शुद्धं च) **इसका मन शुद्ध व वचन शुद्ध होता है सो** (उद्दिष्टं आहार शुद्धये) **उद्दिष्ट आहार का त्यागी श्रावक है।**

विशेषार्थ – **ग्यारहवीं प्रतिमा उद्दिष्टाहार त्याग है, इस श्रेणी में यह उत्कृष्ट श्रावक हो जाता है, साधु समान वैराग्य के भाव रखता है। यह नहीं चाहता है कि इसके उद्देश्य से व इसको लक्ष्य में लेकर कोई आहार बनाया गया हो उसे यह लेवे। जिस आहार को कुटुम्बी श्रावक ने अपने ही कुटुम्ब के लिये बनाया हो उसी में से जो विभाग भिक्षावृत्ति से जाते हुए मिले उसे ही लेकर यह संतुष्ट रहता है। यह मन में भोजन की लालसा नहीं रखता है, न ऐसा वचन कहता है, जिससे भोजन की लालसा व याचना प्रगट हो। इसका उद्देश्य या प्रयोजन रत्नत्रय धर्म को परम समताभाव से पालना है। यह भोजन के अंतरायों को मन, वचन, काय से टालकर भोजन करता है।**

रत्नकरण्ड में कहा है –

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकंठे व्रतानि परिगृह्य। भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः॥ १४७॥

भावार्थ – **जो गृहवास से उदास हो मुनिराज के पास जाकर वन में उनके समीप व्रतों को लेकर उनके पास तपस्या करे व भिक्षा से भोजन करे व खंड वस्त्र रखे सो उत्कृष्ट ग्यारहवीं प्रतिमाधारी है।**

अनुमति त्याग प्रतिमा तक धर्मशाला में व एकांत घर में व नसिया आदि में ठहरकर धर्म साधन कर सकता था। ग्यारहवीं प्रतिमावाला मुनिराज की संगति में रहेगा, क्योंकि यह मुनिधर्म पालने का अभ्यास करनेवाला हो जाता है। जैसे मुनि वर्षा के चार मास सिवाय विहार करते हैं, शेष नगर के पास पाँच दिन व ग्राम के पास एक दिन ही ठहरते हैं, पग से विहार करते हैं, वैसे ही यह श्रावक करेगा। क्षुल्लक श्रावक एक खंड वस्त्र जिससे पग ढके तो मस्तक खुला रहे, मस्तक ढका हो तो पग खुला रहे व एक लंगोट रखता है। सर्दी-गर्मी दंस-मशकादि की बाधा सहने का अभ्यास करता

है। जीवदया के लिये मोर पिच्छी व कमंडल में शौच के लिये जल रखता है व कोई कोई भिक्षा लेने का पात्र भी रखते हैं, मुनिवत् भिक्षा को जाते हैं। जहाँ तक मनाई नहीं है, वहाँ तक गृहस्थी के घर जाते हैं। भिक्षा लेने का जो पात्र रखते हैं वे पात्र में भोजन थोड़ासा लेकर अन्य निकट घर में जाते हैं। इसतरह पंक्तिबंध ५-७ घरों से भोजन एकत्र करके अंतिम घर में बैठकर भोजनपान करके पात्र को शुद्ध करके वन में चले जाते हैं। जो एक घर लेनेवाले होते हैं वे एक ही घर में बैठकर थाली में संतोष से भोजन कर लेते हैं। २४ घंटे में एक ही बार भोजन-पान करते हैं, ये केशों को कतराते हैं। इनमें एक भेद ऐलकों का है, ये ऐलक एक लंगोट मात्र रखते हैं। ये मुनि के समान केशों का लोंच करते हैं, काष्ट का कमंडल रखते हैं, भिक्षा से एक घर बैठकर अपने हाथ में ही भोजन ग्रास रूप लेकर करते हैं, मुनिधर्म का अभ्यास करते हैं। ये दोनों क्षुल्लक-ऐलक ग्यारह प्रतिमाओं के नियमों को जो उत्कृष्ट चारित्र में बाधक नहीं हैं, सब पालते हैं, मुनिराज होने की भावना भाते हैं, आत्मध्यान का विशेष अनुराग रखते हैं। ऐलक विशेष विरक्त हैं, रात्रि को मौन रखकर ध्यान करते हैं, उद्दिष्टाहार के त्यागी इसीलिये होते हैं कि उनके आशय से श्रावक कोई आरम्भ न करे। स्वयं के लिये आरम्भ करे उसी में से दान रूप जो मिले उसी में यह संतोष करे। यहाँ तक प्रत्याख्यानावरण कषाय का जितना जितना मंद उदय होता जाता है, उतना उतना बाहरी व अंतरंग चारित्र बढ़ता जाता है।

॥ श्लोक ४३६ ॥

प्रतिमा एकादशं येन, जिन उक्तं जिनागमे।
पालंति भव्यजीवानां, मन शुद्धं स्वात्मचिंतनं॥

अन्वयार्थ – (जिन-आगमे जिन-उक्तं) **जिनागम में जिनेन्द्र भगवान के कथन प्रमाण** (येन एकादशं प्रतिमा) **जो यह ग्यारह प्रतिमा हैं** (भव्य जीवानां पालंति) **भव्य जीव पालते हैं** (मन शुद्धं) **मन को शुद्ध रखते हैं** (स्वात्मचिंतनं) **व अपने आत्मा का ध्यान करते हैं।**

विशेषार्थ – **इन ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदेशित व ऋषि प्रणीत जिनागम में जैसा कहा गया है, वैसा जानकर श्रावकों को उचित है कि शुद्ध भावों के साथ माया, मिथ्या, निदान – तीन शल्य छोड़कर पालें, मुख्यता से शुद्धात्मा के चिंतवन की भावना रखें। निश्चय धर्म आत्मा का अनुभव है उसकी उन्नति करते जावें, मात्र बाहरी चारित्र कार्यकारी नहीं है। बाहरी चारित्र सहायकारी है, निश्चय चारित्र ही परमोपकारी है।**

॥ श्लोक ४३७ ॥

अनुव्रतं पंच उत्पादंते, अहिंसानृत उच्यते।
अस्तेयं ब्रस्म व्रतं शुद्धं, अपरिग्रहं स उच्यते॥

अन्वयार्थ – (अनुव्रतं पंच उत्पादंते) **ये ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावक पाँच अणुव्रतों को बढ़ाते जाते हैं उन अणुव्रतों में** (अहिंसानृत उच्यते) **अहिंसा व्रत है, अनृत त्याग व्रत कहा जाता है** (अस्तेयं) **चोरी का त्याग है** (शुद्धं ब्रस्म व्रतं) **शुद्ध ब्रह्मचर्य व्रत है** (अपरिग्रहं स उच्यते) **व परिग्रहत्याग व्रत कहा जाता है।**

विशेषार्थ – **अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग – इन पाँच व्रतों को एकदेश पालने का अभ्यास पहली दर्शनप्रतिमा से प्रारंभ होता है, फिर बढ़ता हुआ चला जाता है। महाव्रतों में कुछ ही कमी रह जाती है, वहाँ तक उत्कृष्ट श्रावक ग्यारह प्रतिमाधारी होता है। ये पाँच व्रत ही संवर के कारण हैं। अविरत भाव से जो कर्मों का आस्रव-बंध होता है, वह इन व्रतों के पालने से बंद होता जाता है, वीतरागता बढ़ती जाती है।**

॥ श्लोक ४३८ ॥

हिंसा असत्य सहितस्य, रागदोष पापादिकं।
थावरं त्रस आरंभ, त्यक्तते ये विचक्षनाः॥

अन्वयार्थ – (ये विचक्षनाः) **जो चतुर श्रावक हैं, वे** (हिंसा असत्य सहितस्य) **हिंसा व असत्य – इन प्रयोजनों को लेकर** (रागदोष पापादिकं) **राग-द्वेष को व पाप आदि को** (थावरं त्रस आरंभ) **स्थावर व त्रस के आरम्भ को** (त्यक्तते) **छोड़ देते हैं।**

विशेषार्थ – **अहिंसाव्रत यह बताता है कि पर-पीड़ाकारी भाव व मिथ्या वचनों के द्वारा पर को ठगने का भाव दिल से निकाल डाला जावे तथा भावहिंसा व द्रव्यहिंसा दोनों से बचा जावे। राग-द्वेष-क्रोधादि भाव व पाप करने के परिणाम भावहिंसा है, क्योंकि उनसे आत्मा के शुद्ध ज्ञानादि का व शांत भाव का घात होता है। तथा स्थावर व त्रस – छह काय के प्राणियों का घात द्रव्यहिंसा है। श्रावकों के भाव ये ही रहने चाहिये कि हम भावहिंसा व द्रव्यहिंसा दोनों से बचें। इस पूर्ण अहिंसाव्रत की भावना को दृढ़ता से रखते हुए ये श्रावक गण ग्यारह श्रेणियों के द्वारा इस अहिंसाव्रत को यथाशक्ति प्रारंभ करते हुए अंत में पूर्णता के निकट पहुँचा देते हैं, साधु होने तक पूर्ण अहिंसा के अभ्यासी हो जाते हैं। अंतरंग में वीतराग भाव, बाहर में आरंभ की कमी – ये ही उपाय अहिंसा**

पालने के हैं। धर्म अहिंसामय है, मेरे भाव भी निराकुल रहें व दूसरे भी प्राणी मेरे द्वारा कष्ट न पावें – ऐसा दयाभाव श्रावकों के भीतर रहना योग्य है।

॥ श्लोक ४३९ ॥

अनृतं अनृतं वाक्यं, अनृतं अचेत दिष्टते।
अशाश्वतं वचन प्रोक्तं च, अनृतं तस्य उच्यते॥

अन्वयार्थ – (अनृतं) **अनृत त्याग में** (अनृतं वाक्यं) **मिथ्या वाक्यों का त्याग होता है।** (अनृतं अचेत दिष्टते) **जो वचन मिथ्या हैं, वे अज्ञानरूप कहे जाते हैं।** (अशाश्वतं वचन प्रोक्तं च) **जो नाशवंत पदार्थोंको थिर रखने का वचन कहता है,** (तस्य अनृतं उच्यते) **उसके भी असत्य वचन कहा जाता है।**

विशेषार्थ – **दूसरा व्रत असत्य त्याग है अर्थात् सत्य व्रत है। इस व्रत में श्रावकों को न तो असत्य वचन कहना चाहिये, न मिथ्यात्व पोषक वचन कहना चाहिये, न अज्ञान मूलक वचन कहना चाहिये। माया-भाव चित्तमें से निकाल कर सरलता के वचन कहना चाहिये, जिसमें दूसरों को धोखा न दिया जावे। जो वस्तु जैसी है, उसको वैसी कहा जावे। वस्तु अनेक धर्म स्वरूप है, उसको एक ही धर्मरूप कहना असत्य है। जगत की सर्व क्रियाएँ नाशवंत हैं उनको थिर कहना असत्य है। संसार में राग बढ़ानेवाला वचन व आरम्भ परिग्रह का प्रेरक वचन भी असत्य है। कठोर, मर्म-छेदक, अप्रिय व हिंसाकारी सत्य वचन भी असत्य है। जिनवाणी के प्रतिकूल कोई वचन कहना भी असत्य है। हरएक वचन जिनसूत्र की दृढ़ता करानेवाला बोलना ही सत्यव्रत है। आरम्भी वचन भी असत्य है, इस मात्र असत्य का त्याग वहाँ तक नहीं बन सकता है, जहाँ तक आरम्भ का त्याग न हो। आरम्भ त्यागी कें आरम्भ करने-कराने सम्बन्धी वचन भी नहीं निकलते हैं। श्रावकों को अधिकतर मौन रहना चाहिये। प्रयोजनवश कुछ वचन योग्यता से विचार पूर्वक बोलना चाहिये।**

॥ श्लोक ४४० ॥

अस्तेयं स्तेय कर्मस्य, चौर भावं न क्रीयते।
जिन उक्तं वचनं शुद्धं, अस्तेयं लोप न कृतं॥

अन्वयार्थ – (अस्तेयं) **चोरी को त्यागरूप अस्तेय व्रत यह है कि** (स्तेय कर्मस्य चौर भावं न क्रीयते) **चोरी कर्म व चोरी के भाव को नहीं किया जावे।** (जिन उक्तं वचनं शुद्धं लोप न कृतं अस्तेयं) **जिनेन्द्र द्वारा कथित उपदेश को शुद्धता से पाले व करे व कभी उसका लोप न करे सो अस्तेय व्रत है।**

विशेषार्थ – **तीसरा अचौर्यव्रत यह है कि बिना दिया हुआ किसी का गिरा, पड़ा, भूला, बिसरा आदि माल को न लिया जावे। कभी भी चोरी का भाव दिल में न लाया जावे, न चोरी करने-कराने**

सम्बन्धी वचन बोलना चाहिये, न चोरी की अनुमोदना करनी चाहिये। नीति से धर्मानुकूल धनादि ग्रहण किया जावे व आरम्भ त्यागी को शुद्धता के साथ अन्तराय व दोष टालकर शुद्ध आहार ग्रहण करना चाहिये। जो धर्म साधन की वस्तु है, उसमें अपनापन कभी न मानना चाहिये। जिनेंद्र की आज्ञा-प्रमाण वस्तु का स्वरूप विचारना चाहिये। वैसा ही कहना चाहिये व वैसा ही पालना चाहिये। जो जिन की आज्ञा के विरुद्ध सोचते, कहते व करते हैं वे जिनाज्ञा-लोपी चोरी के दोष के भागी होते हैं। शुद्ध मन,वचन, काय, रख कर कपट त्याग में वर्तन करना ही अचौर्यव्रत है।

॥ श्लोक ४४१ ॥

ब्रह्मचर्यं च शुद्धं च, अबंभं भाव त्यक्तयं।
विकहा राग मिथ्यात्वं, त्यक्तं बंभ व्रतं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (ब्रह्मचर्यं च शुद्धं च) शुद्ध ब्रह्मचर्य व्रत पालना चाहिये (अबंभं भाव त्यक्तय) अब्रह्म या कुशील के भाव को त्याग देना चाहिये। (विकहा राग मिथ्यात्वं त्यक्तं) विकथा का राग व मिथ्यात्व को छोड़ना चाहिये। तब (बंभ व्रतं ध्रुवं) ब्रह्मचर्य व्रत निश्चल होता है।

विशेषार्थ – चौथा व्रत ब्रह्मचर्य है। छठवीं प्रतिमा तक श्रावक एकदेश ब्रह्मचर्य पालता है, सातवीं प्रतिमा से फिर पूर्ण पालता है। कुशील के भाव को त्यागना ब्रह्मचर्यव्रत है, स्पर्शन इंद्रिय के विषय की चाह को रोकना, मन को ब्रह्मस्वरूप आत्मा के मनन में लगाना ब्रह्मचर्य व्रत है। स्त्री, भोजन, देश व राजा की खोटी रागवर्द्धक कथाओं को त्यागना व संसारासक्ति रूप अगृहीत मिथ्यात्व का भाव त्यागना व सदा वैराग्य की भावना भाना, विषयों को विष के समान समझना – ये सब साधन ब्रह्मचर्य की रक्षा के हैं। बाहर में सर्व स्त्री मात्र को माता, बहिन, पुत्री के समान देखना। अंतरंग में शुद्ध स्वरूप का मनन करना ब्रह्मचर्य व्रत है। यह ब्रह्मचर्य व्रत वीर्य का परम रक्षक है। मन, वचन, काय की सर्व शक्तियों की रक्षा करनेवाला है। आत्मध्यान का परम सहायक है। ध्यान का परम मित्र है। मोक्षमार्ग में बड़ा उपकारी है। श्रावकों को उचित है कि इसके पालन में दृढ़ता से वर्तन करें।

॥ श्लोक ४४२ ॥

मन वचन कायं शुद्धं, शुद्ध समयं जिनागमं।
विकहा काम सद्भावं, त्यक्तते ब्रह्मचारिना॥

अन्वयार्थ – (मन वचन कायं शुद्धं) ब्रह्मचारी को मन, वचन, काय को अब्रह्म के संसर्ग से शुद्ध रखना चाहिये। (शुद्ध समयं जिनागमं) शुद्ध आत्मा व जिनवाणी का मनन करना चाहिये (ब्रह्मचारिना)

ब्रह्मचारी को (विकहा काम सद्भाव) खोटी कथा जिनमें कामभाव का अस्तित्व हो, (त्यक्तनं) छोड़ देना चाहिये।

विशेषार्थ – ब्रह्मचर्य की रक्षा के हेतु ब्रह्मचारी को मन में भी कामभाव को व रागभाव को न लाना चाहिये। हास्यजनक, रागवर्द्धक, कामोत्पादक वचनों को भी नहीं बोलना चाहिये, न शरीर की कोई कुचेष्टा करना चाहिये, शुद्ध समय जो शुद्ध आत्मा उस पर लक्ष रखना चाहिये, उसका ध्यान करना चाहिये। जब आत्मा के स्वरूप में उपयोग स्थिर न हो सके तब जिनवाणी का अभ्यास, पठन-पाठन-मनन करना चाहिये। श्रुत का विचार मन को ज्ञान-वैराग्य में रमाने का बड़ा भारी अपूर्व आलम्बन है। काम भाव को जागृति करने वाली विकथा व काम कथा व श्रृंगार कथा न कभी करनी चाहिये और न कभी सुननी चाहिये। ब्रह्मचर्य की रक्षा के साधनों को जोड़ना चाहिये।

॥ श्लोक ४४३ ॥

परिग्रहं प्रमाणं कृत्वा, पर द्रव्यं न दिष्टते।
अनृत असत्य त्यक्तं च, परिग्रह प्रमाणं तथा॥

अन्वयार्थ – (परिग्रह प्रमाण कृत्वा) इसप्रकार के परिग्रह का परिमाण करके (पर द्रव्य न दिष्टते) उसके सिवाय पर के द्रव्य पर दृष्टि न डाले (अनृत असत्य त्यक्त च) मिथ्या भाव व मिथ्या वचन व मिथ्या आचरण छोड़े (तथा परिग्रह प्रमाण) इसतरह परिग्रह परिमाण व्रत को पाले।

विशेषार्थ – श्रावकों का पाँचवा व्रत परिग्रह परिमाण है। इस व्रत को प्रारंभ करते हुए जन्मपर्यंत के लिये क्षेत्र, मकान आदि परिग्रह का परिमाण अपनी इच्छा के अनुसार कर ले। फिर आगे जितनी जितनी इच्छा घटे घटाता जावे। ११ वीं प्रतिमा तक सर्व इच्छा मिट जाने से एक लंगोट मात्र परिग्रह रह जाती है। ऐसा श्रावक अपने पुण्य योग से प्राप्त सम्पत्ति में संतोष रखे, पर के द्रव्य की चाह न करे और न मिथ्या संकल्प धन के कमाने का करे, न वचन कहकर धन कमावे, न मिथ्या अन्यायरूप व्यवहार करके धन कमावे। परिग्रह परिणाम व्रती बहुत ही संतोष से रहे। अपने धन की मर्यादा पूरी करने के लिये अन्याय से धन-संग्रह का विचार भी न करे। आवश्यकतानुसार परिग्रह रखते हुए भी अन्तःकरण से निर्मोही रहे।

॥ श्लोक ४४४ ॥

एता तु क्रिया संयुक्तं, सम्यक्तं सार्द्ध ध्रुवं।
ध्यानं शुद्ध समयस्य, उत्कृष्टं श्रावकं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (एता तु क्रिया संयुक्तं) इन ऊपर लिखित क्रियाओं को जो भलेप्रकार पालता हुआ उन्नति करे (ध्रुव सम्यक्त सार्द्धं) निश्चल सम्यग्दर्शन को साथ में रखे (शुद्ध समयस्य ध्यानं) तथा शुद्ध आत्मा का ध्यान करे (ध्रुवं उत्कृष्टं श्रावकं) वही निश्चय से उत्कृष्ट श्रावक होता है।

विशेषार्थ – ग्यारह प्रतिमाओं की क्रिया बताई हैं उन सबको यथायोग्य साधन करता हुआ तथा पाँच अहिंसादि अणुव्रतों की भलेप्रकार उन्नति करता हुआ जो श्रावक शुद्ध सम्यग्दर्शन सहित वर्ते। न सम्यक्त्व में अतिचार लगावे, न बारह व्रतों में अतिचार लगावे, मुख्य लक्ष्य शुद्धात्मा के ध्यान पर रखे। वही उत्कृष्ट श्रावक है। यही श्रद्धा रखे कि बाहरी चारित्र मोक्षमार्ग नहीं है, किंतु अंतरंग निश्चय मोक्षमार्ग का निमित्त साधक होने से उसे भी व्यवहार मोक्षमार्ग कह देते हैं। वह श्रावक शुभोपयोग रूप व्यवहार चारित्र को हेय समझता हुआ, उपादेय न समझता हुआ, मात्र आलम्बन जान कर सेवता है परंतु निश्चय रत्नत्रय स्वरूप आत्मध्यान को ही मोक्षमार्ग समझ, उसीका ही निरंतर अभ्यास रखता है। परिणामों में वीतरागता आवे, शुद्धात्मानुभव हो, उसी को समझता है कि मैंने कुछ मोक्षमार्ग का वास्तव में साधन किया है। आत्मज्ञान व आगमज्ञान की निर्मलता से ही उत्कृष्ट श्रावक की महिमा है। यह उत्कृष्ट श्रावक देशाटन करता हुआ अपने जीवन में अनेक जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देता हुआ मोक्षमार्गी बनाता है, धर्म रस आप पीता है तथा औरों को पिलाता है, मुनि तुल्य भावना भाता है।

॥साधु का चारित्र॥

॥ श्लोक ४४५ ॥

साधुओ साधयं लोके, रत्नत्रयं च संयुतं।
ध्यानं तिअर्थ शुद्धं च, अबद्धं ते न दिष्टते॥

अन्वयार्थ – (साधुओ) साधु महाराज (लोके) इस लोक में (रत्नत्रयं च संयुक्तं) व्यवहार रत्नत्रय सहित (ति अर्थ शुद्ध च ध्यानं) निश्चय रत्नत्रयमयी शुद्ध ध्यान को (साधयं) साधन करते हैं (तेन) इस कारण से वे (अबद्धं) बंध रहित व वीतरागी (दिष्टते) दिखाई पड़ते हैं।

विशेषार्थ – जो व्यवहार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र के द्वारा निश्चय रत्नत्रयमयी शुद्ध आत्मध्यान का साधन करते हैं वे साधु हैं। ये साधु परिग्रह रहित होते हैं, मात्र पीछी-कमण्डलु रखते हैं। वीतरागमय ही उनकी सर्व चेष्टा दिखलाई पड़ती है। वे समताभाव से वर्तन करते हैं। निंदा व प्रशंसा में समभाव रखते हैं। उपसर्ग व परीषहों को शांतभाव से सहते हैं। जगत के प्रपंच से बिलकुल

उदासीन हैं। ख्याति-लाभ-पूजादि की चाह रहित शुद्ध धर्म पालते हैं। अवसर पाकर धर्मोपदेश देकर भव्य जीवों को सुमार्ग पर आरूढ़ करते हैं।

॥ श्लोक ४४६ ॥

ज्ञान चारित्र संपूर्णं, क्रिया त्रेपन संजुतं।
पंचव्रत पंच समितिं, गुप्ति त्रय प्रतिपालकं॥

अन्वयार्थ – (ज्ञान चारित्र संपूर्णं) **साधु सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से परिपूर्ण हैं** (त्रेपन क्रिया संयुतं) **त्रेपन श्रावक की क्रिया सहित हैं** (पंचव्रत पच समिति) **पाँच महाव्रत पाँच समिती** (गुप्ति त्रय प्रतिपालकं) **और तीन गुप्ति के पालनेवाले हैं।**

विशेषार्थ – **निर्ग्रंथ जैन साधु शास्त्र ज्ञाता व आत्मज्ञानी होते हैं। पूर्ण चारित्र के अभ्यासी होते हैं। जहाँ तक श्रावक थे, चारित्र अपूर्ण था। श्रावक की त्रेपन क्रिया साध चुके हैं, मुनिपद में भी जो जो योग्य हैं, उनको अब भी साधते हैं। ये ५३ क्रियाएँ हैं - ८ मूलगुण - १२ व्रत १२ तप, - समताभाव - ११ प्रतिमा - ४ दान - जल गालन - रात्रि भोजन त्याग - ३ रत्नत्रय धर्म – कुल ५३।**

इनमें १२ तप, समताभाव, रात्रिभुक्ति त्याग, रत्नत्रय – इनका अभ्यास साधुपद में भी रहता है। दान में ज्ञानदान व अभयदान साधु देते हैं। शेष नियम आरम्भ त्याग होने से आवश्यक नहीं हैं। उनमें से जो आवश्यक हैं, वे तेरह प्रकार साधु के चारित्र में गर्भित हैं।

पाँच महाव्रत – १ अहिसा – **स्थावर व त्रस सर्व जन्तुओं की पूर्णपने रक्षा करना, कोई आरम्भी क्रिया भी नहीं करना।** २ सत्य – **सदा शास्त्रोक्त वचन स्व-पर हितकारी कहना, प्राण जाने पर भी असत्य न कहना।** ३ अचौर्य – **बिना दी हुई वस्तु जल आदि भी व वृक्ष का पत्ता आदि भी कभी नहीं लेना।** ४ ब्रह्मचर्य – **मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से ९ प्रकार शीलव्रत पालना। देवी, तिर्यंचनी, मनुष्यनी व काष्ट-चित्राम की स्त्रियों से पूर्णपने वैरागी रहना। उनकी संगति से बचना जिससे कामविकार हो।** ५ परिग्रह त्याग – **क्षेत्र, मकान, वस्त्रादि परिग्रह का त्याग कर नग्न होकर तप करना, मात्र धर्म साधक उपकरण रखना। जैसे जीव रक्षा हेतु मोरपिच्छिका, शौच के लिये काष्ट के कमण्डल में जल व ज्ञान के लिये शास्त्र रखना।**

पाँच समिति – १ ईर्य्या – **चार हाथ भूमि निरखकर दिन में रौंदे मार्ग (जिससमय तक मार्ग में आवागमन हो गया हो) में समभाव से गमन करना।** २ भाषा – **शुद्ध मिष्ट अल्प वचन कहना।** ३ एषणा – **शुद्ध भोजन जो उनके उद्देश्य से न बनाया हो, गृहस्थ ने अपने लिये बनाया हो, उसमें से भिक्षा विधि पूर्वक दिये जाने पर संतोष से दिन में एक बार लेना, हाथ में ही ग्रास लेना।** ४

आदान-निक्षेपण – अपना शरीर, पीछी, कमण्डलु, शास्त्रादि देखकर उठाना व धरना। ५. प्रतिष्ठापना – मल-मूत्रादि शरीर का मल निर्जंतु भूमि पर क्षेपण करना।

तीन गुप्ति – १ मनगुप्ति – मन में धर्मध्यान रखना, आर्त व रौद्रध्यान से व सांसारिक चिंता से बचाना। २.वचनगुप्ति – मौन रहना, यदि कहना पड़े तो धर्म साधक वचन कहना। ३.कायगुप्ति – शरीर का निश्चल रखना, देख करके व झाड़ करके आसन बदलना, आलस्यरूप न रहना, दो घड़ी से अधिक लगातार न सोना। – इन १३ प्रकार चारित्र को साधुगण भलेप्रकार पालते हैं।

॥ श्लोक ४४७ ॥

चारित्रं चरणं शुद्धं, समय शुद्धं च उच्यते।
संपूर्णं ध्यान योगेन, साधओ साधुलोकयं॥

अन्वयार्थ – (साधु लोकयं) साधु महाराज (शुद्धं चारित्रं चरण) शुद्ध निर्दोष व्यवहार व निश्चय चारित्र को पालते हैं (समय शुद्धं च उच्यते) निश्चय चारित्र शुद्ध आत्मा रूपी कहा जाता है(संपूर्ण ध्यान योगेन साधओ) उसे पूर्णपने ध्यान समाधि द्वारा साधन करते हैं।

विशेषार्थ – निर्ग्रंथ साधुगण तेरह प्रकार चारित्र को निर्दोष पालते हुए मुख्य शुद्ध आत्मा के अनुभव रूप स्वरूपाचरण या निश्चय चारित्र पर ध्यान रखते हैं। पिंडस्थ, पदस्थ रूपस्थ, रूपातीत ध्यान के अभ्यास से नाना प्रकार कठिन स्थानों में तिष्ठकर परम वैराग्य के साथ निज आत्मा का अनुभव करते हैं। उपसर्ग-परीषहों को शांत भाव से सहन करते हैं। ध्यान के द्वारा निश्चय चारित्र की पूर्णता करते हैं – ऐसा साधन करते हैं। धर्मध्यान को पूर्ण करके फिर श्रेणी चढ़ने की योग्यता होने पर उपशम या क्षपकश्रेणी पर चढ़कर शुक्लध्यान का अभ्यास करते हैं। अरहंत पद पर जाकर सिद्ध होने की भावना साधुगण सदा रखते हैं।

॥ श्लोक ४४८ ॥

सम्यग्दर्शनं ज्ञानं, चारित्रं शुद्ध संयमं।
जिनरूपं शुद्ध द्रव्यार्थं, साधओ साधु उच्यते॥

अन्वयार्थ – जो (सम्यग्दर्शनं ज्ञानं चारित्रं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को (शुद्ध संयमं) शुद्ध संयम को (जिनरूपं) जिनेन्द्र के स्वरूप को (शुद्ध द्रव्यार्थं) शुद्ध आत्मद्रव्य के भाव को (साधओ) साधन करते हैं, वे (साधु उच्यते) साधु कहलाते हैं।

विशेषार्थ – जो साधन करै वह साधु है। मोक्ष की सिद्धि के लिये जो मोक्षमार्ग साधै, वह साधु है

जिसको और कोई तीन लोक की किसी पर्याय की सिद्धि की भावना नहीं है। इन्द्र, अहमिंद, चक्रवर्ती आदि क्षणभंगुर पदों से जो उदास है। सिद्ध होने के लिये वे साधु दृढ़ता से अपने श्रद्धान को शुद्ध दोष रहित रखते हैं – यह सम्यग्दर्शन का साधन है। शास्त्रों का रहस्य बड़े भाव से विचारते रहते हैं। ज्ञान की उन्नति करते रहते हैं – यह सम्यग्ज्ञान का साधन है। तेरह प्रकार चारित्र को दोष रहित पालते हैं – यह सम्यक्चारित्र का साधन हैं। पाँच इंद्रिय व मन का दमनरूप इंद्रिय संयम तथा षट्काय के जीवों की रक्षारूप प्राणि संयम – इन दो प्रकार संयम को अथवा सामायिक, छेदोपस्थापना आदि संयम को शुद्धता के साथ साधन करते हैं जिनेन्द का स्वरूप ध्यान में लेकर उसी तरह आप वर्तन करते हुए अरहंत होने की भावना करते हैं तथा शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के आलम्बन से शुद्ध आत्मा का मनन करते करते शुद्धोपयोग में जमनेका साधन करते हैं। जो इतनी क्रिया साधे, वह साधु है।

॥ श्लोक ४४९ ॥

ऊर्द्ध अधो मध्यं च, लोकालोक विलोकितं।
आत्मानं शुद्धात्मानं, महात्मा महाव्रतं॥

अन्वयार्थ – (ऊर्द्ध अधो मध्य च) ऊपर, नीचे व मध्य में सम्पूर्ण तीन लोक में (लोकालोक विलोकितं) लोक व अलोक को देखनेवाले (आत्मानं) आत्मा को (शुद्धात्मानं) अर्थात् शुद्धात्मा को जो ध्यावे, यही (महात्मा महाव्रतं) महान आत्मा साधु का महाव्रत है।

विशेषार्थ – व्रत नाम प्रतिज्ञा का है। साधुओं के यही दृढ़ प्रतिज्ञा है कि वे शुद्धात्मा को ध्यावें। जो सर्वज्ञ-वीतराग प्रभु हैं, उस रूप अपने आत्मा को द्रव्य-दृष्टि से जानकर निज आत्मा का एकाग्र हो ध्यान करे। तीन लोक में भरे हुए सर्व आत्माओं को शुद्ध नय के बल से जो शुद्धात्मा देखें। सर्व जगत के जीवों को एक आत्मामय देखें। परम समताभाव में लय हो जावे यही परम सामायिक है व यही निश्चय महाव्रत है। यदि यह महाव्रत न हुआ और मात्र बाहरी पाँच महाव्रत पाले गए तो मोक्ष का साधन नहीं हुआ। वास्तव में शुद्धात्मा के अनुभव को ही मोक्ष का साधन कहते हैं – यही साधु का चारित्र है। इसको जो साधे, वही साधु है।

॥ श्लोक ४५० ॥

धर्मध्यानं च संयुक्तं, प्रकाशनं धर्म शुद्धयं।
जिन उक्तं यस्य सर्वज्ञं, वचनं तस्य प्रकाशनं॥

अन्वयार्थ – (धर्मध्यानं च सयुक्तं) वे साधु धर्मध्यान सहित रहते हैं (शुद्धय धर्म प्रकाशनं) शुद्ध दोष रहित धर्म का प्रकाश करते हैं। (सर्वज्ञ वचन) सर्वज्ञ भगवान का कथन (यस्य जिन उक्त)

जिसको जितेन्द्रिय साधुओं ने कहा हो, गणधरों ने बताया हो (तस्य प्रकाशनं) उसी का ही प्रकाश करते हैं।

विशेषार्थ – जैन के साधु बड़े विनयवान हैं, वे जिनेन्द्र की आज्ञानुसार चलने वाले होते हैं। आप स्वयं चार प्रकार धर्मध्यान ध्याते हैं। १. आज्ञा विचय – जिनेन्द्रकी आज्ञा के अनुसार छह द्रव्य, पाँच, अस्तिकाय, सात तत्व, नौ पदार्थ का विचार करना। २. अपाय विचय – अपने रागादि दोषों का व जगत के प्राणियों के मिथ्यात्वादि दोषों का किसतरह नाश हो, यह विचारना। ३. विपाक विचय – अपने में व दूसरों में साता व असाताकारी अवस्थाओं को देखकर कौन से कर्म का विपाक है या फल है, ऐसा विचारना। ४. संस्थान विचय – तीन लोक का स्वरूप, सिद्ध लोक का स्वरूप व अपने ही आत्मा का ध्यान करना। पिंडस्थादि चार ध्यान इस संस्थानविचय धर्मध्यान में गर्भित हैं। जैसे वे साधु स्वयं निर्दोष धर्म का साधन करते हैं, वैसे ही वे जगत के प्राणियों को प्रकाश करते हैं। जिन-वचनों पर उनका विश्वास है कि यह श्री सर्वज्ञ-वीतराग अर्हंत भगवान की परम्परा से कहा हुआ यथार्थ है, उसी ही का वे उपदेश देते हैं। परम साम्यभाव से व मायाचार न करके जो जिनेन्द्र की आज्ञा है, उसी के अनुसार कथन करते हैं वे ही जैन के साधु हैं।

॥ श्लोक ४५१ ॥

मिथ्यात्वं त्रय शल्यं च, कुज्ञानं त्रिति उच्यते।
रागदोषादि येतानि, त्यक्तंते शुद्ध साधवः॥

अन्वयार्थ – (मिथ्यात्वं) मिथ्यादर्शन को (त्रय शल्यं च) तीन शल्य, माया-मिथ्या-निदान को (कुज्ञानं त्रिति उच्यते) तीन कुज्ञान कहे जाते हैं उनको (रागदोषादि) राग-द्वेषादि विभावों को (येतानि) इन सबको (शुद्ध साधवः) शुद्ध साधु महाराज (त्यक्तंते) छोड़ देते हैं।

विशेषार्थ – निर्दोष साधु का चारित्र पालनेवाले के भीतर न तो बहिरंग, न अंतरंग मिथ्यात्व है, न वहाँ कोई मायाचार व निदान का भाव होता है। वह कपट रहित व भोगों की इच्छा रहित होकर साधु-धर्म पालता है। कुमति, कुश्रुत, कुअवधि – तीन कुज्ञान नहीं होते हैं। सम्यक्त्व के प्रभाव से उसका सब ज्ञान सुज्ञान रूप होता हैं, राग-द्वेषादि भावों को जीतता हुआ साधु जिन-धर्म को पालकर आत्मा की उन्नति करता है।

॥ श्लोक ४५२ ॥

अप्पं च तारणं शुद्ध, भव्यलोकैकतारणं।
शुद्धं च लोक लोकांतं, ध्यानारूढं च साधवः॥

अन्वयार्थ – (अप्पं च तारणं शुद्धं) **अपने आपको शुद्धता से जो तारनेवाले हैं** (भव्यलोकैक तारणं) **तथा भव्य जीवों के भी वे तारनेवाले हैं** (लोकांत शुद्ध च लोक) **लोक पर्यंत शुद्ध द्रव्य को ही देखनेवाले हैं** (ध्यानारूढं च साधवः) **ऐसे साधु ध्यान में आरूढ़ रहते हैं।**

विशेषार्थ – **निर्ग्रंथ साधु तारणतरण होते हैं।** जैसे जहाज आप तैरता है व **बैठनेवाले को तार ले जाता है, वैसे ही साधु स्वयं अपने आत्मा का साधन करते हैं और अपने उपदेश व शिक्षा से अनेक भव्यों को मार्ग में लगा देते हैं, जो परम समताभाव के धारी हैं, सर्व ही लोक में भरी आत्माओं को शुद्ध रूप से एकाकार देखनेवाले हैं तथा जो ध्यान का अभ्यास उत्तम प्रकार से करते रहते हैं।**

॥ श्लोक ४५३ ॥

मननं शुद्ध भावस्य, शुद्ध तत्वं च दिष्टते।
सम्यग्दर्शनं शुद्धं, शुद्धं तिअर्थ संयुतं॥

अन्वयार्थ – (शुद्ध भावस्य मननं) **वे साधु शुद्ध आत्मीक भाव का मनन करते हैं** (शुद्ध तत्वं च दिष्टते) **शुद्ध आत्म तत्व का अनुभव करते हैं** (सम्यग्दर्शन शुद्धं) **जिनके निर्दोष वीतराग सम्यग्दर्शन होता है।** (शुद्ध तिअर्थ संयुतं) **वे तीनों रत्नत्रय सहित शुद्ध भाव के धारी होते हैं।**

विशेषार्थ – **निर्ग्रंथ साधु का मुख्य ध्यान आत्मा की तरफ रहता है, वे आध्यात्मिक ग्रन्थों का विशेष मनन करते रहते हैं तथा शुद्धात्मा के ध्यान को भलेप्रकार अनुभव में लाते हैं। शुद्ध सम्यक्त्व को रखते हुए शुद्ध रत्नत्रय स्वरूप आत्मीक भाव को ध्याते हैं। जैन के साधु परम निस्पृही व परम वीतरागी होते हैं। शुद्धात्मा की चर्चा सिवाय और चर्चा जिनको नहीं सुहाती है। वे आत्मरस के रसीले होते हैं। वे भलेप्रकार मोक्षमार्ग पर चलते हैं।**

॥ श्लोक ४५४ ॥

रत्नत्रय शुद्ध संपूर्णं, संपूर्णं ध्यानारूढयं।
रिजु विपुलं उत्पादंते, मनःपर्यय ज्ञानं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (रत्नत्रय शुद्धं संपूर्णं) **वे साधु शुद्धता से रत्नत्रय धर्म की पूर्ति करते हैं।** (संपूर्णं ध्यानारूढयं) **पूर्ण प्रकार से ध्यान में लगे रहते हैं। जिसके प्रताप से** (रिजु मन पर्यय ज्ञान ध्रुव विपुल उत्पादंते) **साधु ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान को व निश्चल विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान को पा लेते हैं।**

विशेषार्थ – **आत्मध्यान के प्रताप से साधु को बड़ी बड़ी ऋद्धियाँ सिद्ध हो जाती हैं।** शुद्ध ध्यान **जहाँ होता है, वहाँ किसी साधु को ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान पैदा हो जाता है,** जिसके प्रताप से साधु

प्रत्यक्ष रूप से दूसरों के मन में तिष्ठे हुए वर्तमान के सूक्ष्म विषय को जान लेता है। यह मनःपर्यय ज्ञान छूट भी सकता है। किसी साधु के ध्यान के बल से विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान हो जाता है, यह छूटता नहीं है। केवलज्ञान को अवश्य उत्पन्न करता है। तद्भव मोक्षगामी के ही यह विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान होता है। यह दूसरे के मन में स्थित वर्तमान काल के व भूत व भविष्य काल के भी पदार्थों को जान सकता है।

॥ श्लोक ४५५ ॥

वैराग्यं त्रितयं शुद्धं, संसारं त्यक्तयं तृणं।
भूषण रत्नत्रयं शुद्धं, ध्यानारूढ स्वात्मदर्शनं॥

अन्वयार्थ – (वैराग्य त्रितय शुद्ध) जिन साधुओं के वैराग्य संसार-शरीर-भोगों से तीन तरह का निर्मल है (ससारं तृण त्यक्तय) ससार का मोह तृण के समान जान कर जिन्होंने छोड़ दिया है (भूषण शुद्ध रत्नत्रय) जिनका आभूषण निर्दोष रत्नत्रय का सेवन है (ध्यानारूढ स्वात्मदर्शन) ऐसे साधु ध्यान में आरूढ़ रहते हुए अपने आत्मा का अनुभव करते हैं।

विशेषार्थ – संसार असार है, दुःखों का घर है, जन्म-जरा-रोग से पीड़ित है। शरीर अशुचि है, नाशवंत है, राग योग्य नहीं है। भोग रोग के समान आताप के बढ़ानेवाले हैं, कभी तृप्ति देनेवाले नहीं हैं। – ऐसा समझकर जिनके भावों में इन तीनों से पूर्ण वैराग्य है तथा जो संसार के पदार्थों का सम्बन्ध तृण के समान तुच्छ समझते हैं, अकिंचित्कर जानते है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को जिन्होंने अपने आत्मा का आभूषण बनाया है, जो निरन्तर ध्यान में आरूढ़ होकर आत्मा का आनन्द लेते हैं, वे ही सच्चे साधु हैं।

॥ श्लोक ४५६ ॥

केवलं भावनं कृत्वा, पदवी अर्हत् सार्थयं।
चरणं शुद्ध समयं च, भावनानंत चतुष्टयं॥

अन्वयार्थ – (केवल भावनं कृत्वा) साधु महाराज केवलज्ञान की प्राप्ति की भावना भाते हैं (भावनानन्त चतुष्टय) तथा अनंत चतुष्टय की भावना करते हैं (पदवी अर्हत् सार्थयं) यथार्थ अर्हत्पद का उद्देश्य रखते हैं, इसीलिये (शुद्ध समय च चरण) शुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं।

विशेषार्थ – साधुओं को मात्र यही भावना है कि हम अर्हत् परमात्मा का पद प्राप्त करें। जिससे अनंत दर्शन, अनंतज्ञान, अनंत सुख, अनंत वीर्य – इन चार अनंत चतुष्टय का प्रकाश हो जावे।

इसीलिये वे शुद्ध आत्मा का निश्चय चारित्र पालते हैं। अर्थात् शुद्धोपयोग में तल्लीन रहते हैं, धर्मध्यान करते हैं, फिर शुक्लध्यान ध्याते हैं, जिससे चार घातीय कर्मों का नाश कर सकें।

॥ श्लोक ४५७ ॥

साधओ साधुलोकेन, तव व्रत क्रियासंजुतं।
साधओ शुद्ध ज्ञानस्य, साधओ मुक्तिगामिनो॥

अन्वयार्थ – (साधुलोकेन) **साधु महाराज** (क्रिया संजुतं तव व्रत साधओ) **क्रिया सहित तप व व्रत को साधनेवाले हैं व** (शुद्ध ज्ञानस्य साधओ) **शुद्ध ज्ञान के साधनेवाले हैं।** (साधओ मुक्तिगामिनो) **ऐसे साधु मोक्षगामी हैं।**

विशेषार्थ – **निर्ग्रंथ साधु शास्त्रोक्त मार्ग से विधि सहित अनशनादि बारह व्रतों का तथा पाँच महाव्रतों का साधन करते हैं। व्यवहार चारित्र के बल से शुद्धात्मा का ध्यान बढ़ाते हैं। ध्यान के बल से ज्ञान की उन्नति करते चले जाते हैं – ऐसे ही साधु अवश्य मोक्ष का लाभ करते हैं।**

॥ श्लोक ४५८ ॥

अर्हंतं अर्हं देवं, सर्वज्ञं केवलं ध्रुवं।
नंतानंत दिष्टं च, केवल दर्शन दर्शनं॥

अन्वयार्थ – (अर्हंतं अर्हं देवं) **अरहंत भगवान ही पूजने योग्य देव हैं** (सर्वज्ञं केवलं ध्रुवं) **सर्वज्ञ हैं, स्वाधीन हैं, निश्चल हैं** (नन्तानन्त दिष्टं च) **अनन्तानन्त लोकालोक के सर्व पदार्थों को जाननेवाले हैं** (केवल दर्शन दर्शनं) **केवल दर्शन व सम्यक्त्व के धारी हैं।**

विशेषार्थ – **साधु महाराज जिस पद की भावना भाते हैं, वह शरीर सहित जीवन्मुक्त परमात्मा का पद अर्हंतपद है। जहाँ निर्मल ज्ञान स्वाधीन लोकालोक प्रकाशक व निर्मल दर्शन स्वाधीन लोकालोक दर्शक प्रगट हो जाता है। सर्व ही गणधरदेव, मुनिराज व चक्रवर्ती, महाराजा, राजा, इन्द्र धरणेंद्र उन ही की पूजा-भक्ति करते हैं, उनके आत्मीक गुण अनंतकाल के लिये प्रगट हो गए हैं। उन पर पुनः आवरण नहीं आने का है। आयुप्रमाण शरीर में है, फिर अवश्य सिद्ध हो जावेंगे।**

॥ श्लोक ४५९ ॥

सिद्धं सिद्धि संयुक्तं, अष्ट गुणं च संयुतं।
अनाहतं त्यक्तरूपेण, सिद्धं शाश्वतं ध्रुवं॥

अन्वयार्थ – (सिद्धं) सिद्ध भगवान (सिद्धि संयुक्तं) आत्मा की सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं (अष्ट गुणं च संयुतं) आठ गुणों करके भूषित हैं (अनाहतं) अव्याबाध हैं (त्यक्तरूपेण सिद्धं) त्यक्त रूप से प्रगटपने सिद्ध हैं (शाश्वतं) अविनाशी हैं (ध्रुवं) निश्चल हैं।

विशेषार्थ – अर्हंत भगवान के चार अघातीय कर्म, नाम, गोत्र, वेदनीय, आयु शेष रहते हैं, वे इन कर्मों को नाश करके सर्व देहादि रहित मात्र शुद्ध आत्मा रूप रह जाते हैं। उनके आठ प्रसिद्ध गुण प्रगट हो जाते हैं। सम्यग्दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अव्याबाधपना, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व व अगुरुलघुत्व। इसके सिवाय वचनातीत अनन्तगुण धारी सिद्ध हैं। कोई प्रकार की बाधा जिनको नहीं हो सकती है, जिनकी आत्मा प्रकाशमान हो गई है। फिर कभी उनकी आत्मा पर परदा नहीं आएगा। वे सदा ही शुद्ध रहेंगे। व आवागमन रहित सिद्धालय में लोक के अग्रभाग में विराजमान रहेंगे। साधु महाराज ही ध्यान के बल से ऐसे सिद्ध पद को पा सकते हैं।

॥ श्लोक ४६० ॥

परमेष्ठी शरणं कृत्वा, शुद्ध सम्यक्त धारिनः।
ते नरा कर्म क्षपयंति, मुक्तिगामी न संशयः॥

अन्वयार्थ – (परमेष्ठी शरणं कृत्वा) जो पाँच परमेष्ठी का शरण ग्रहण करके (शुद्ध सम्यक्त धारिनः) शुद्ध सम्यग्दर्शन के धारी हैं (ते नरा) वे मानव (कर्म क्षपयंति) कर्मों का नाश करते हैं। (मुक्तिगामी न संशयः) वे मोक्ष जानेवाले हैं इसमें संशय नहीं है।

विशेषार्थ – मोक्ष प्राप्ति का मुख्य मूल साधन यह है कि अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु – इन पाँच परमेष्ठी की भक्ति, पूजा, वंदना, स्तुति व उनके गुणों का मनन भलेप्रकार किया जावे तथा शुद्धात्मा का पक्का श्रद्धान करके शुद्ध सम्यक्त्व प्राप्त किया जावे। शुद्ध सम्यक्त्व ही आत्मध्यान को बढ़ानेवाला है और शनैः शनैः गुणस्थानों के क्रम से शुद्ध करता हुआ सिद्ध परमात्मा बना देता है, यह निःसंदेह है।

॥ श्लोक ४६१ ॥

त्रिविधि ग्रंथं च प्रोक्तं च, सार्थं ग्यानमयं ध्रुवं।
धर्मार्थ काम मोक्षं च, प्राप्तं परमेष्ठिनं नमः॥

अन्वयार्थ – (त्रिविधि ग्रंथं च प्रोक्तं च) तीन प्रकार से ग्रंथ आगम कहा गया है (सार्थं ग्यानमयं ध्रुवं) शब्द रूप, अर्थ रूप व ज्ञानमय सो ध्रुव है (धर्मार्थं काम मोक्षं च) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों

पुरुषार्थों की सिद्धि का बतानेवाला है (प्राप्तं परमेष्ठिनं) व पाँच परमेष्ठी पद को प्राप्त करानेवाला है (नमः) उसको नमस्कार हो।

विशेषार्थ — ग्रन्थकर्ता प्रवाहरूप से अनादि से चले आए हुए जिन आगम को नमस्कार करते हैं। जिन आगम तीन प्रकार है — शब्दागम, अर्थागम व ज्ञानागम। अक्षरों का समूह जिनमें पदार्थों का स्वरूप लिखा गया हो, वह शब्दागम है। इनमें जो पदार्थ समूह वर्णित हैं, वह अर्थागम है। उन पदार्थों का जो ज्ञान है, वह ज्ञानागम है। ऐसे जिन आगम के द्वारा धर्म का उपाय मालूम होता है जिस धर्म की सहायता से ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों की सिद्धि होती है तथा अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु के पद भी इसी आगम के अनुसार चलने से प्राप्त होते हैं। यह जिनागम परम कल्याणकारी है। जिनको सुख की इच्छा हो व मानव जन्म को सफल करना हो उनके लिए उचित है कि वे चित्त लगाकर जिनागम का भलेप्रकार अभ्यास करें।

॥ श्लोक ४६२ ॥

परमानंद आनंदं, जिन उक्तं शाश्वतं पदं।
एकोदेश उपदेशं च, जिनतारण पंथं श्रुतं॥

अन्वयार्थ — (जिन उक्तं शाश्वतं पदं) जिनेन्द्र भगवान कथित अविनाशी सिद्धपद (परमानंद आनंदं) परमानन्द से भरपूर है (एकोदेश उपदेशं च) उसको एकदेश किंचित् उपदेश करनेवाला (जिनतारण पंथं श्रुतं) यह संसार से तारनेवाला जिन-मार्गरूपी शास्त्र है अथवा जिन-भक्त तारणतरण रचित यह शास्त्र है।

विशेषार्थ — शास्त्र के कहने का उद्देश्य यही है कि प्राणियों को अविनाशी सिद्धपद की प्राप्ति हो, उसी का जिसमें उपदेश हो वही शास्त्र है। जिन तारणतरण स्वामी रचित यह शास्त्र है, इसमें थोड़ा-सा उपदेश मोक्ष-प्राप्ति का कहा गया है। जो कोई भव्य जीव इस शास्त्र को पढ़ेंगे, मनन करेंगे उनको संसार से उद्धारक मोक्षमार्ग का ज्ञान होगा। इस ग्रंथ में मुख्यता से श्रावकाचार का कथन है, इसीकारण इसमें एकदेश मार्ग का या अणुव्रतों का उपदेश है। तथा मोक्ष का पूर्ण साधक साधुधर्म का उपदेश है, लेकिन उसकी इसमें गौणता है।

इति श्रावकाचार ग्रंथ की जिन तारणतरण विरचित हिन्दी टीका पूर्ण की।

मिती आश्विन सुदी १०, रविवार

वीर सं. २४५८, विक्रम स. १९८८, ता. ९ अक्टूबर १९३२, सागर (म.प्र.)

ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद

टीकाकार कृत प्रशस्ति।

अग्रवाल कुल वैश्य में, गोयल गोत्र महान। लक्ष्मणपुर अवधहिं बसे, नगर सुभृत धन धान॥१॥
लाला मक्खनलालजी, पुत्र तृतीय जिनदास। विक्रम उन्निस पैंतिसा, जन्म सुकार्तिक मास॥२॥
सीतल नाम धरे सुभग, करै सुविद्याभ्यास। बत्तिस वय अनुमान में, तज गृह हो वृषदास॥३॥
भ्रमत धरत श्रावक सुव्रत, पालत चित उमगाय। जैन शास्त्र को पठत नित, धर्म ध्यान उर ध्याय॥४॥
विक्रम उन्निस शतक पर, नब्बासी शुभ जान। वर्षाकाल बिताइयो, सागर नगर महान॥५॥
मध्य प्रान्त विच राज ही, गिरि मंडल दरम्यान। सागर सम सर शोभता, ता तट पुर यह जान॥६॥
जैनी जन बहु बसत हैं, कर वाणिज्य प्रधान। जिन मंदिर शोभैं महा, शिखरबंद बहु जान॥७॥
आठ बड़े बाजार में, कटरा में त्रय जान। काका गज शनीचरी, तिली माहिं त्रय मान॥८॥
तारणतरण समाज कृत, चैत्यालय सुखदाय। धरत शास्त्र वेदीन पर, पूजत पठत स्वाध्याय॥९॥
मोराजी पर राजती, संस्कृत शाला एक। परदेशी बहु छात्र तहँ, पंडित बनत अनेक॥१०॥
वर्णी न्यायाचार्य हैं, नाम गणेशप्रसाद। दयाचन्द पंडित प्रवर, देत ज्ञान अप्रमाद॥११॥
गोलापूरव तीन सौ, परवारों के साठ। जाति समैया तीस घर, गोलालारे आठ॥१२॥
पन्द्रह विनैकवाल के, जैन दिगम्बर धर्म। सेवत शक्ति प्रमाण हैं, जानत धर्म अधर्म॥१३॥
सिंघई कुन्दनलालजी, रतनलाल सुवकील। पण्डित मुन्नालालजी, हुकमचन्द्र धनवीर॥१४॥
धर्म चन्द मोदी लसै, मुन्शी भइयालाल। पूरणचन्द बजाज हैं, सिंघई मुन्नीलाल॥१५॥
नाथूलाल विशाखिया, मूलचन्द सुखवान। नन्हेंलाल बजाज हैं, मोहनलाल सुजान॥१६॥
हुकमचन्द हैं जौहरी, पण्डित हैं मूलचन्द। डालचन्द सिंघई लसैं, शिक्षक हैं मूलचन्द॥१७॥
परोपकार व्रत धारते, हैं मथुरा परसाद। बालचन्द कोछल लसैं, और गणेशप्रसाद॥१८॥
भजनानन्दी आत्म-प्रिय, नाथूराम गृहस्थ। वृषधारी के संग में, रहे सदा हो स्वस्थ॥१९॥
भविजिन तारणतरणकृत, श्रावकाचार महान। ताकी भाषा-वचनिका, लिखी धर्मरुचि आन॥२०॥
पढो विचारो जैनगण, शुद्ध कथन सुखकार। जैन दिगम्बर धर्मधर, मुनिवर वच अनुसार॥२१॥
अध्यातम रस पूर्ण है, है मिथ्यात्व कृपान। जो बाँचैं मन लायके, पावैं आतमध्यान॥२२॥
बुद्धि नहीं पर धर्म रुचि, तावश टीका कीन। भूल चूक जो हो सुधी, करो शुद्ध रुच हीन॥२३॥
मंगल श्री अरहन्त हैं, मंगल सिद्ध महान। मंगल श्री आचार्य हैं, मंगल हैं उवझान॥२४॥
मंगल साधु महंत हैं, मंगल है जिनधर्म। मन वच तन सेवा करत, भागत है सब भर्म॥२५॥
मंगल हो या नगर को, सुखी रहें सब लोक। आत्मज्ञान को पायके, करैं स्वहित-परलोक॥२६॥
सब साधर्मी जनन में, बाढै प्रेम अपार। धर्म अहिंसा जगमणी, हो प्रभावना सार॥२७॥
विद्या का विस्तार हो, अर्थ काम वृष पाल। "सुखसागर" में लीन हों, कटैं दुःख जंजाल॥२८॥
आश्विन सुद दशमी दिना, है रविवार महान। ग्रन्थ पूर्ण ता दिन कियो, श्री जिनवर कर ध्यान॥२९॥